

प्रेमचंद रचनावली

12

प्रेमचंद रचनावली

12

कहानियां : 1917-1923

प्रेमचंद रचनावली

खण्ड : बारह

भूमिका एवं मार्गदर्शन

डॉ० रामविलास शर्मा





प्रकाशकीय

'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन **जनवाणी** के लिए गौरव की बात है। कॉपीराइट समाप्त होने के बाद प्रेमचंद साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित-प्रचारित हुआ। पर उनका सम्पूर्ण साहित्य अब तक कहीं भी एक जगह उपलब्ध नहीं था। लगातार यह जरूरत महसूस की जा रही थी कि उनके सम्पूर्ण साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन हो।

श्रेष्ठ और कालजयी साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। इसी आलोक में **'प्रेमचंद रचनावली'** की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख बहुत आवश्यक है। इस रचनावली में पहली बार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक मूल पाठ के साथ सामने आया है। सम्पूर्ण रचनाओं का विभाजन पहले विधावार तत्पश्चात् कालक्रमानुसार किया गया है। रचनाओं के प्रथम प्रकाशन एवं उनके कालक्रम संबंधी प्रामाणिक जानकारी प्रत्येक रचना के अन्त में दी गई है जिससे प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और मूल्यांकन में विशेष सुविधा होगी। इसकी अधिकांश सामग्री प्रथम संस्करणों या काफी पुराने संस्करणों से ली गई है। प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के लिए इस रचनावली का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रेमचंद की अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण तथा अद्यतन सामग्री का समावेश कर लिया गया है। रचनावली के बीस खण्डों का क्रमबद्ध प्रारूप इस प्रकार है—

> **खण्ड 1-6 :** मौलिक उपन्यास; **खण्ड 7-9 :** लेख, भाषण, संस्मरण, संपादकीय, भूमिकाएं, समीक्षाएं; **खण्ड 10 :** मौलिक नाटक; **खण्ड 11-15:** सम्पूर्ण कहानियां (302); **खण्ड 16-17 :** अनुवाद (उपन्यास, नाटक, कहानी); **खण्ड 18 :** जीवनी एवं बाल साहित्य; **खण्ड 19 :** पत्र (चिट्ठी-पत्री); **खण्ड 20 :** विविध।

रचनावली की विस्तृत भूमिका मूर्धन्य आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखी है, जो इस रचनावली की सबसे बड़ी उपलब्धि है। डॉ० शर्मा ने अपनी साहित्य-साधना के व्यस्त क्षणों में भी हर कदम पर हमारा मार्गदर्शन किया। रचनावली का जो यह उत्कृष्ट रूप सामने आया है यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है। इस कृपा और सहयोग के लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं।

बिहार विधान परिषद् के माननीय सभापति, हिन्दी और उर्दू के वरिष्ठ साहित्यकार प्रो० जाबिर हुसेन ने प्रेमचंद रचनावली के संपादक-मण्डल का अध्यक्ष होना स्वीकार किया और रचनावली के संपादन कार्य में हमारा उचित मार्गदर्शन किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही संपादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

श्री केशवदेव शर्मा ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद सम्पादन कार्य में जिस गहरी लगन, समझदारी और आत्मीयता से सहयोग किया है उसके लिए उनके प्रति अनेकशः धन्यवाद। उनका अहर्निश सानिध्य मुझे स्फूर्ति प्रदान करता रहा। डॉ० गीता शर्मा एवं डॉ० अशोक कुमार शर्मा, वेद प्रकाश सोनी तथा डॉ० विनय के प्रति भी उनके हार्दिक सहयोग के लिए आभारी हूं।

भाई राम आनंद साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही प्रेमचंद द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्थान **'सरस्वती प्रेस'** से जुड़ गए थे। लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने स्व॰ श्रीपत राय (प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र) के मार्गदर्शन में अप्राप्य प्रेमचंद साहित्य पर शोध कार्य किया। वे स्व॰ श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने वाली विख्यात कथा-पत्रिका **'कहानी'** के सहायक संपादक रहे। श्रीपत राय के देहांत के बाद उन्होंने **'कहानी'** का स्वतंत्र रूप से संपादन किया और उसे नया रूप तथा गरिमा प्रदान की। उन्होंने जिस गहरी सूझ-बूझ, लगन, धैर्य और निष्ठा से इस रचनावली के संपादन कार्य को इतने सुरुचिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से संपन्न किया, इसके लिए वे हम सबों के साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हरीशचन्द्र वार्ष्णेय, श्री प्रेमशंकर शर्मा, श्री उदयकान्त पाठक ने प्रूफ-संशोधन और सम्पूर्ण मुद्रण कार्य में विशेष जागरूकता और मनस्विता का परिचय दिया; इनके साथ विमलसिंह, आर॰ के॰ यादव, सुनील जैन, शिवानंदसिंह तथा संस्था के अन्य सभी सहकर्मियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं क्योंकि इन सबके सहयोग और सद्‌भाव के बिना यह काम पूरा होना लगभग असंभव था।

मेरी भ्रातृजा रीमा और भ्रातृज संदीप, संजीव, मनीष, विक्रांत, चेतन की लगन और सूझबूझ ने भी मुझे सदैव प्रेरित और उत्साहित किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

रचनावली के मुद्रण का कार्य श्री कान्तीप्रसाद शर्मा की देखरेख में हुआ है। उनकी सूझबूझ और श्रमनिष्ठा के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वश्री विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', रामकुमार कृषक, स्वामी प्रेम जहीर, डॉ॰ कुसुम वियोगी, रामकुमार शर्मा आदि सभी मित्रों के सुझावों के लिए भी आभारी हूं।

इस कार्य में पूज्य माताजी श्रीमती जसवन्ती देवी का आशीर्वाद और पिताश्री प्रेमनाथ शर्मा का दीर्घकालीन प्रकाशन-व्यवसाय का अनुभव और आशीर्वाद मेरे विशेष प्रेरणा स्रोत रहे। इनके साथ मातृतुल्या भाभी श्रीमती ललिता शर्मा, अग्रज राजकुमार शर्मा, चमनलाल शर्मा, धर्मपाल शर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी इन्दु शर्मा के साथ भाई हरीशकुमार शर्मा एवं सुभाषचन्द्र शर्मा के साथ ही चाचा श्री दीनानाथ शर्मा का भी आभारी हूं जिन्होंने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। और सबसे अंत में सहधर्मिणी श्रीमती गीता शर्मा ने जो सहयोग और संबल प्रदान किया उसके लिए आभार अथवा धन्यवाद जैसा शब्द बहुत कम होगा। सारा श्रेय उन्हीं का है।

नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता के सहयोग से दुर्लभ पुस्तक 'महात्मा शेखसादी' लगभग सत्तर वर्ष बाद एक बार फिर इस रचनावली के मार्फत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। मैं नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। उन समस्त संस्थानों, पुस्तकालयों, विभागों, संस्थाओं, लेखकों, संपादकों, अधिकारियों और व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने इस रचनावली के आयोजन में सहयोग किया।

अन्त में विद्वान पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस रचनावली की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें ताकि आगामी संस्करणों में उन्हें दूर किया जा सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस बहु-प्रतीक्षित रचनावली का हार्दिक स्वागत करेगा।

अरुण कुमार
(प्रबंध निदेशक)



स्व॰ श्रीपत राय

(प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र, ऐतिहासिक कथा-पत्रिका 'कहानी' के यशस्वी संपादक, प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी के संरक्षक)



स्वर्गीया शिवरानी प्रेमचंद : अपनी प्रपौत्री के साथ

कथाक्रम

दरवाज़ा

मेरी जान हमेशा आफ़त में रहती है। अव्वल तो घर के लड़के दम नहीं लेने देते। मेरे दोनों पट्टों को ज़ोर से टकराना उनका खेल है। मेरी पसलियाँ चूर हो जाती है। दूसरे हवा के तेज झोंके और भी बलाये-जाँ इस बेरहमी से मुझे ज़ेरोज़बर (अस्त-व्यस्त, उथल-पुथल) करते हैं कि अलामान (परमात्मा ख़ैर करे), इस पर तुर्रा ये कि मेरी फुग़ाने-दर्द (दुःखभरी चीख) पर साहबेख़ाना (गृहस्वामी) को भी तरस नहीं आता। वह उल्टे मुझी पर नाराज़ होते हैं। मैं घर का राजदार हूँ और ज़ाहिरदारी (दिखावा, बनावट) को निभाना मेरा काम है। अक्सर घर में साहबेख़ाना के मौजूद होने पर भी मुझे बन्द कर दिया जाता है। ख़ासकर किसी चंदे की वसूलियाँ, बजाज के तक़ाज़े के दिन मुझे बंद कर दिया जाता है और वे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाते हैं। मैं सीनासिपर (छाती तानकर) अपने आक़ा को नदामत (लज्जा) और हीलागाज़ी (बहानेबाज़ी, चालबाज़ी) से बचा लेता हूँ। मगर पिछले दिनों जब मुझे बंद देखकर डाकिया मनीऑर्डर वापिस ले गया तो साहबेख़ाना मुझी को कोसने लगे। मेरी नेकियों का कोई भी नाम नहीं लेता, मगर बुराइयों पर सबके सब बरहम (क्रोधित) हो जाते हैं।

ज़माने का अज़ब ढंग है। मुझे अपने फ़राहिज़े मंसबी (कर्त्तव्यों का पालन) देने में कितनी गालियाँ खानी पड़ती हैं। मुझे बन्द पाकर लुक्माये लज़ीज़ (स्वादिष्ट भोजन) की ख़्वाहिश से बेताब कुत्ते कितने बरहम (क्रुद्ध) हो जाते हैं और कितने मायूस, और चोर तो मेरी जान के गाहक हैं। कभी बग़ली घूँसें मारते हैं, कभी चूल खिसका देते हैं। कभी कुछ हत्ता (जहाँ तक) के गदागरों (भिखारियों) को भी मुझसे बुग्ज़ (अप्रकट द्वेष) है। मुझे बन्द पाकर कोसते हैं और नाकाम वापिस लौट जाते हैं।

आह ! उम्रे-रफ़्ता (व्यतीत आयु) की याद कितनी हसरतनाक (दुःखपूर्ण) है ? मैंने कभी अच्छे दिन देखे हैं। वह दिन नहीं भूलता, जब मलिका (स्वामिनी) नयी-नवेली दुल्हन बनी, गहनों से लदी, शर्म मे सर झुकाये पालकी से उतरी थीं। उस वक़्त पहले मैंने ही उनकी रुख़रोशन (मुख-दीप्ति) का नज़ारा किया था और उनके कमल-से नाजुक पैरों का बोसा लिया था। एक रोज़ जब बाबूजी शाम को किसी वज़ह से घर नहीं आये, तो इन्तज़ार में बैठे-बैठे उकता कर वह नवेली दुल्हन हया से गर्दन झुकाये, दीवारों से लजाती मेरी गोद में आकर खड़ी हो गयी और कितनी देर तक मेरे पहलुओं में लिपटी हुई सामने के वसीह मैदान की तरफ़ ताकती रही। उसके दिल में उस वक़्त कैसी धड़क थी और आँखों में कितना फ़िकर आमेज इश्तियाक़ (चिन्तापूर्ण उत्कण्ठा)। बाबू साहब को आड़े से आते देखकर वह किस तरह ख़ुशी से उमड़ी हुई जल्दी से घर में चली गयी, यह पुरमज़ा

(आनन्दपूर्ण) बातें कभी भूल सकती हैं ? बाबूजी ज्यूँ-ज्यूँ बूढ़े होते जाते हैं, उन्हें मुझसे उस होता जाता है। अब वह अक्सर मेरे पहलुओं में बैठे रहते हैं, शायद उन्हें मेरी जुदाई का ग़म सताया करता है। अभी जब वह बीमार थे तो मालकिन कितनी बार मुझसे लिपट-लिपटकर रोईं थीं, मालूम नहीं क्या !

इस घर में कौन क़दम रखेगा, अगर उसे मालूम हो जाये कि उसे कभी यहाँ से जाने का अख़्तियार नहीं है। मैं घर और बाहर के बीच की कड़ी हूँ। बाहर कितनी वसीह (विस्तृत) मैदान है। कैसे सुहाने, सब्ज़ाज़ार (घास का मैदान, हरियाली ही हरियाली), कैसी मुस्कराती हुई आबादियाँ, कितनी वसीह दुनियाँ। घर महदूद है, बाहर की कोई इन्तहा नहीं। महदूद (सीमित) और ग़ैरमहदूद (असीमित) के दरमियान रि ता-ए-इत्तिसाल (मिलन का सम्बन्ध) हूं। क़तरे को बहर से मिलाना मेरा काम है। मैं एक किश्ती हूँ, फ़ना (मृत्यु) से बक़ा (जीवन) को ले जाने के लिए।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू पत्रिका 'अलनाजिर' में जनवरी, 1917 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'दरवाजा' शीर्षक से 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मर्यादा की बेटी

यह वह समय था जब चित्तौड़ में मृदुभाषिणी मीरा प्यारी आत्माओं को ईश्वर-प्रेम के प्याले पिलाती थी। रणछोड़ जी के मंदिर में जब भक्ति से विह्वल हो कर वह अपने मधुर स्वरों में अपने पीयूषपूरित पदों को गाती, तो श्रोतागण प्रेमानुराग से उन्मत्त हो जाते। प्रतिदिन यह स्वर्गीय आनंद उठाने के लिए सारे चित्तौड़ के लोग ऐसे उत्सुक हो कर दौड़ते, जैसे दिन भर की प्यासी गायें दूर से किसी सरोवर को देख कर उसकी ओर दौड़ती हैं। इस प्रेम-सुधा-सागर से केवल चित्तौड़ वासियों ही की तृप्ति न होती थी, बल्कि समस्त राजपूताना की मरुभूमि प्लावित हो जाती थी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि झालावाड़ के रावसाहब और मंदार-राज्य के कुमार, दोनों ही लाव-लश्कर के साथ चित्तौड़ आये। रावसाहब के साथ राजकुमारी प्रभा भी थी, जिसके रूप और गुण की दूर-दूर तक चर्चा थी। यहीं रणछोड़ जी के मंदिर में दोनों की आँखें मिलीं। प्रेम ने बाण चलाया।

राजकुमार सारे दिन उदासीन भाव से शहर की गलियों में घूमा करता। राजकुमारी विरह से व्यथित अपने महल के झरोखों से झाँका करती। दोनों व्याकुल हो कर संध्या समय मंदिर में आते और यहाँ चंद्र को देख कर कुमुदिनी खिल जाती।

प्रेम-प्रवीण मीरा ने कई बार इन दोनों प्रेमियों को सतृष्ण नेत्रों से परस्पर देखते हुए पा कर उनके मन के भावों को ताड़ लिया। एक दिन कीर्त्तन के पश्चात् जब झालावाड़ के रावसाहब चलने लगे तो उसने मंदार के राजकुमार को बुला कर उनके सामने खड़ा कर दिया और कहा—रावसाहब, मैं प्रभा के लिए वर लायी हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिए।

प्रभा लज्जा से गड़-सी गयी। राजकुमार के गुण-शील पर रावसाहब पहले ही से

मोहित हो रहे थे, उन्होंने तुरंत उसे छाती से लगा लिया।

उसी अवसर पर चित्तौड़ के राणा भोजराज जी मंदिर में आये। उन्होंने प्रभा का मुख-चंद्र देखा। उनकी छाती पर साँप लोटने लगा।

2

झालावाड़ में बड़ी धूम थी। राजकुमारी प्रभा का आज विवाह होगा। मंदार से बारात आयेगी। मेहमानों की सेवा-सम्मान की तैयारियाँ हो रही थीं। दुकानें सजी हुई थीं। नौबतखाने आमोदालाप से गूँजते थे। सड़कों पर सुगंधि छिड़की जाती थी, अट्टालिकाएँ पुष्प-लताओं से शोभायमान थीं। पर जिसके लिए ये सब तैयारियाँ हो रही थीं, वह अपनी वाटिका के एक वृक्ष के नीचे उदास बैठी हुई रो रही थी।

रनिवास में डोमिनियाँ आनंदोत्सव के गीत गा रही थीं। कहीं सुंदरियों के हाव-भाव थे, कहीं आभूषणों की चमक-दमक, कहीं हास-परिहास की बहार। नाइन बात-बात पर तेज होती थी। मालिन गर्व से फूली न समाती थी। धोबिन आँखें दिखाती थी। कुम्हारिन मटके के सदृश फूली हुई थी। मंडप के नीचे पुरोहित जी बात-बात पर सुवर्ण-मुद्राओं के लिए ठुनकते थ। रानी सिर के बाल खोले भूखी-प्यासी चारों ओर दौड़ती थी। सबकी बौछारें सहती थी और अपने भाग्य को सराहती थी। दिल खोल कर हीरे-जवाहिर लुटा रही थी। आज प्रभा का विवाह है। बड़े भाग्य से ऐसी बातें सुनने में आती हैं। सब के सब अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। किसी को प्रभा की फिक्र नहीं है, जो वृक्ष के नीचे अकेली बैठी रो रही है।

एक रमणी ने आ कर नाइन से कहा—बहुत बढ़-बढ़ कर बातें न कर, कुछ राजकुमारी का भी ध्यान है ? चल, उनके बाल गूँथ।

नाइन ने दाँतों तले जीभ दबायी। दोनों प्रभा को ढूँढ़ती हुई बाग में पहुँचीं। प्रभा ने उन्हें देखते ही आँसू पोंछ डाले। नाइन मोतियों से माँग भरने लगी और प्रभा सिर नीचा किये आँखों से मोती बरसाने लगी।

रमणी ने सजल नेत्र हो कर कहा—बहिन, दिल इतना छोटा मत करो। मुँहमाँगी मुराद पा कर इतनी उदास क्यों होती हो ?

प्रभा ने सहेली की ओर देख कर कहा—बहिन, जाने क्यों दिल बैठा जाता है। सहेली ने छेड़ कर कहा—पिया-मिलन की बेकली है !

प्रभा उदासीन भाव से बोली--कोई मेरे मन में बैठा कह रहा है कि अब उनसे मुलाकात न होगी।

सहेली उसके केश सँवार कर बोली—जैसे उषाकाल से पहले कुछ अँधेरा हो जाता है, उसी प्रकार मिलाप के पहले प्रेमियों का मन अधीर हो जाता है।

प्रभा बोली—नहीं बहिन, यह बात नहीं। मुझे शकुन अच्छे नहीं दिखायी देते। आज दिन भर मेरी आँख फड़कती रही। रात को मैंने बुरे स्वप्न देखे हैं। मुझे शंका होती है कि आज अवश्य कोई न कोई विघ्न पड़ने वाला है। तुम राजा भोजराज को जानती हो न ?

संध्या हो गयी। आकाश पर तारों के दीपक जले। झालावाड़ में बूढ़े-जवान सभी लोग बारात की अगवानी के लिए तैयार हुए। मरदों ने पागें सँवारीं, शस्त्र साजे। युवतियाँ श्रृंगार

कर गाती-बजाती रनिवास की ओर चलीं। हजारों स्त्रियाँ छत पर बैठी बारात की राह देख रही थीं।

अचानक शोर मचा कि बारात आ गयी। लोग सँभल बैठे, नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं, सलामियाँ दगने लगीं। जवानों ने घोड़ों को एड़ लगायी। एक क्षण में सवारों की एक सेना राज-भवन के सामने आ कर खड़ी हो गयी। लोगों को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह मंदार की बारात नहीं थी बल्कि राणा भोजराज की सेना थी।

झालावाड़ वाले अभी विस्मित खड़े ही थे, कुछ निश्चय न कर सके थे कि क्या करना चाहिए। इतने में चित्तौड़ वालों ने राज-भवन को घेर लिया। तब झालावाड़ी भी सचेत हुए। सँभल कर तलवारें खींच लीं और आक्रमणकारियों पर टूट पड़े। राजा महल में घुस गया। रनिवास में भगदड़ मच गयी।

प्रभा सोलहो शृंगार किये, सहेलियों के साथ बैठी थी। यह हलचल देखकर घबड़ायी। इतने में रावसाहब हाँफते हुए आये और बोले—बेटी प्रभा, राणा भोजराज ने हमारे महल को घेर लिया है। तुम चटपट ऊपर चली जाओ और द्वार को बंद कर लो। अगर हम क्षत्रिय हैं, तो एक चित्तौड़ी भी यहाँ से जीता न जायगा।

रावसाहब बात भी पूरी न करने पाये थे कि राणा कई वीरों के साथ आ पहुँचे और बोले—चित्तौड़ वाले तो सिर कटाने के लिए आये ही हैं। पर यदि वे राजपूत हैं तो राजकुमारी ले कर ही जायेंगे। वृद्ध रावसाहब की आँखों से ज्वाला निकलने लगी। वे तलवार खींच कर राणा पर झपटे। उन्होंने वार बचा लिया और प्रभा से कहा— राजकुमारी, हमारे साथ चलोगी ?

प्रभा सिर झुकाये राणा के सामने आ कर बोली—हाँ, चलूँगी।

रावसाहब को कई आदमियों ने पकड़ लिया था। वे तड़प कर बोले—प्रभा, तू राजपूत की कन्या है ?

प्रभा की आँखें सजल हो गयीं। बोली—राणा भी तो राजपूतों के कुलतिलक हैं। रावसाहब ने क्रोध में आ कर कहा—निर्लज्जा !

कटार के नीचे पड़ा हुआ बलिदान का पशु जैसी दीन दृष्टि से देखता है, उसी भाँति प्रभा ने रावसाहब की ओर देख कर कहा—जिस झालावाड़ की गोद में पली हूँ, क्या उसे रक्त से रंगवा दूँ ?

रावसाहब ने क्रोध से काँप कर कहा—क्षत्रियों को रक्त इतना प्यारा नहीं होता। मर्यादा पर प्राण देना उनका धर्म है !

तब प्रभा की आँखें लाल हो गयीं। चेहरा तमतमाने लगा।

बोली—राजपूत-कन्या अपने सतीत्व की रक्षा आप कर सकती है। इसके लिए रुधिर प्रवाह की आवश्यकता नहीं।

पल भर में राणा ने प्रभा को गोद में उठा लिया। बिजली की भाँति झपट कर बाहर निकले। उन्होंने उसे घोड़े पर बिठा लिया, आप सवार हो गये और घोड़े को उड़ा दिया। अन्य चित्तौड़ियों ने भी घोड़ों की बागें मोड़ दीं, उसके सौ जवान भूमि पर पड़े तड़प रहे थे; पर किसी ने तलवार न उठायी थी।

रात को दस बजे मंदार वाले भी पहुँचे। मगर यह शोक-समाचार पाते ही लौट गये।

मंदार-कुमार निराशा से अचेत हो गया। जैसे रात को नदी का किनारा सुनसान हो जाता है, उसी तरह सारी रात झालावाड़ में सन्नाटा छाया रहा।

3

चित्तौड़ के रंग-महल में प्रभा उदास बैठी सामने के सुन्दर पौधों की पत्तियाँ गिन रही थी। संध्या का समय था। रंग-बिरंग के पक्षी वृक्षों पर बैठे कलरव कर रहे थे। इतने में राणा ने कमरे में प्रवेश किया। प्रभा उठ कर खड़ी हो गयी।

राणा बोले—प्रभा, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। मैं बलपूर्वक तुम्हें माता-पिता की गोद से छीन लाया, पर यदि मैं तुमसे कहूँ कि यह सब तुम्हारे प्रेम में विवश हो कर मैंने किया, तो तुम मन में हँसोगी और कहोगी कि यह निराले, अनूठे ढंग की प्रीति है; पर वास्तव में यही बात है। जबसे मैंने रणछोड़ जी के मंदिर में तुमको देखा, तबसे एक क्षण भी ऐसा नहीं बीता कि मैं तुम्हारी सुधि में विकल न रहा होऊँ। तुम्हें अपनाने का अन्य कोई उपाय होता, तो मैं कदापि इस पाशविक ढंग से काम न लेता। मैंने रावसाहब की सेवा में बारंबार संदेशे भेजे; पर उन्होंने हमेशा मेरी उपेक्षा की। अंत में जब तुम्हारे विवाह की अवधि आ गयी और मैंने देखा कि एक ही दिन में तुम दूसरे की प्रेम-पात्री हो जाओगी और तुम्हारा ध्यान करना भी मेरी आत्मा को दूषित करेगा, तो लाचार होकर मुझे यह अनीति करनी पड़ी। मैं मानता हूँ कि यह सर्वथा मेरी स्वार्थान्धता है। मैंने अपने प्रेम के सामने तुम्हारे मनोगत भावों को कुछ न समझा; पर प्रेम स्वयं एक बढ़ी हुई स्वार्थपरता है, जब मनुष्य को अपने प्रियतम के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं अपने विनीत भाव और प्रेम से तुमको अपना लूँगा। प्रभा, प्यास से मरता हुआ मनुष्य यदि किसी गढ़े में मुँह डाल दे, तो वह दंड का भागी नहीं है। मैं प्रेम का प्यासा हूँ। मीरा मेरी सहधर्मिणी है। उसका हृदय प्रेम का अगाध सागर है। उसका एक चुल्लू भी मुझे उन्मत्त करने के लिए काफी था; पर जिस हृदय में ईश्वर का वास हो वहाँ मेरे लिए स्थान कहाँ ? तुम शायद कहोगी कि यदि तुम्हारे सिर पर प्रेम का भूत सवार था तो क्या सारे राजपूताने में स्त्रियाँ न थीं। निस्संदेह राजपूताने में सुन्दरता का अभाव नहीं है और न चित्तौड़ाधिपति की ओर से विवाह की बातचीत किसी के अनादर का कारण हो सकती है; पर इसका जवाब तुम आप ही हो। इसका दोष तुम्हारे ही ऊपर है। राजस्थान में एक ही चित्तौड़ है, एक ही राणा और एक ही प्रभा। सम्भव है, मेरे भाग्य में प्रेमानंद भोगना न लिखा हो। यह मैं अपने कर्म-लेख को मिटाने का थोड़ा-सा प्रयत्न कर रहा हूँ; परंतु भाग्य के अधीन बैठे रहना पुरुषों का काम नहीं है। मुझे इसमें सफलता होगी या नहीं, इसका फैसला तुम्हारे हाथ है।

प्रभा की आँखें जमीन की तरफ थीं और मन फुदकने वाली चिड़िया की भाँति इधर-उधर उड़ता फिरता था। वह झालावाड़ को मारकाट से बचाने के लिए राणा के साथ आयी थी, मगर राणा के प्रति उसके हृदय में क्रोध की तरंगें उठ रही थीं। उसने सोचा था कि वे यहाँ आयेंगे तो उन्हें राजपूत कुल-कलंक, अन्यायी, दुराचारी, दुरात्मा, कायर कह कर उनका गर्व चूर-चूर कर दूँगी। उसको विश्वास था कि यह अपमान उनसे न सहा जायगा और वे मुझे बलात् अपने काबू में लाना चाहेंगे। इस अंतिम समय के लिए उसने अपने हृदय को खूब मजबूत और अपनी कटार को खूब तेज कर रखा था। उसने निश्चय कर

लिया था कि इसका एक वार उन पर होगा, दूसरा अपने कलेजे पर और इस प्रकार यह पाप-कांड समाप्त हो जायगा। लेकिन राणा की नम्रता, उनकी करुणात्मक विवेचना और उनके विनीत भाव ने प्रभा को शांत कर दिया। आग पानी से बुझ जाती है। राणा कुछ देर वहाँ बैठे रहे, फिर उठ कर चले गये।

4

प्रभा को चित्तौड़ में रहते दो महीने गुजर चुके हैं। राणा उसके पास फिर न आये। इस बीच में उनके विचारों में कुछ अंतर हो गया है। झालावाड़ पर आक्रमण होने के पहले मीराबाई को इसकी बिल्कुल खबर न थी। राणा ने इस प्रस्ताव को गुप्त रखा था। किंतु अब मीराबाई प्रायः उन्हें इस दुराग्रह पर लज्जित किया करती है और धीरे-धीरे राणा को भी विश्वास होने लगा है कि प्रभा इस तरह काबू में नहीं आ सकती। उन्होंने उसके सुख-विलास की सामग्री एकत्र करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी। लेकिन प्रभा उनकी तरफ आँख उठा कर भी नहीं देखती। राणा प्रभा की लौंडियों से नित्य का समाचार पूछा करते हैं और उन्हें रोज वही निराशापूर्ण वृत्तांत सुनायी देता है। मुरझायी हुई कली किसी भाँति नहीं खिलती। अतएव उनको कभी-कभी अपने इस दुस्साहस पर पश्चात्ताप होता है। वे पछताते हैं कि मैंने व्यर्थ ही यह अन्याय किया। लेकिन फिर प्रभा का अनुपम सौंदर्य नेत्रों के सामने आ जाता है और वह अपने मन को इस विचार से समझा लेते हैं कि एक सगर्वा सुंदरी का प्रेम इतनी जल्दी परिवर्तित नहीं हो सकता। निस्संदेह मेरा मृदु व्यवहार भी कभी न कभी अपना प्रभाव दिखलायेगा।

प्रभा सारे दिन अकेली बैठी-बैठी उकताती और झुँझलाती थी। उसके विनोद के निमित्त कई गानेवाली स्त्रियाँ नियुक्त थीं; किंतु राग-रंग से उसे अरुचि हो गयी थी। वह प्रतिक्षण चिंताओं में डूबी रहती थी।

राणा के नम्र भाषण का प्रभाव अब मिट चुका था और उसकी अमानुषिक वृत्ति अब फिर अपने यथार्थ रूप में दिखायी देने लगी थी। वाक्यचतुरता शांतिकारक नहीं होती। वह केवल निरुत्तर कर देती है ! प्रभा को अब अपने अवाक् हो जाने पर आश्चर्य होता है। उसे राणा की बातों के उत्तर भी सूझने लगे हैं। वह कभी-कभी उनसे लड़ कर अपनी किस्मत का फैसला करने के लिए विकल हो जाती है।

मगर अब वाद-विवाद किस काम का ? वह सोचती है कि मैं रावसाहब की कन्या हूँ; पर संसार की दृष्टि में राणा की रानी हो चुकी। अब यदि मैं इस कैद से छूट भी जाऊँ तो मेरे लिए कहाँ ठिकाना है ? मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी ? इससे केवल मेरे वंश का ही नहीं, वरन् समस्त राजपूत-जाति का नाम डूब जायगा। मंदार-कुमार मेरे सच्चे प्रेमी हैं। मगर क्या वे मुझे अंगीकार करेंगे ? और यदि वे निंदा की परवाह न करके मुझे ग्रहण भी कर लें तो उनका मस्तक सदा के लिए नीचा हो जायगा और कभी न कभी उनका मन मेरी तरफ से फिर जायगा। वे मुझे अपने कुल का कलंक समझने लगेंगे। या यहाँ से किसी तरह भाग जाऊँ ? लेकिन भाग कर जाऊँ कहाँ ? बाप के घर ? वहाँ अब मेरी पैठ नहीं। मंदार-कुमार के पास ? इसमें उनका अपमान है और मेरा भी। तो क्या भिखारिणी बन जाऊँ ? इसमें भी जग-हँसाई होगी और न जाने प्रबल भावी किस मार्ग पर ले जाय। एक अबला स्त्री के लिए

सुंदरता प्राणघातक यंत्र से कम नहीं। ईश्वर, वह दिन न आये कि मैं क्षत्रिय-जाति का कलंक बनूँ। क्षत्रिय-जाति ने मर्यादा के लिए पानी की तरह रक्त बहाया है। उनकी हजारों देवियाँ पर-पुरुष का मुँह देखने के भय से सूखी लकड़ी के समान जल मरी हैं। ईश्वर, वह घड़ी न आये कि मेरे कारण किसी राजपूत का सिर लज्जा से नीचा हो। नहीं, मैं इसी कैद में मर जाऊँगी। राणा के अन्याय सहूँगी, जलूँगी, मरूँगी, पर इसी घर में। विवाह जिससे होना था, हो चुका। हृदय में उसकी उपासना करूँगी, पर कंठ के बाहर उसका नाम न निकालूँगी।

एक दिन झुँझला कर उसने राणा को बुला भेजा। वे आये। उनका चेहरा उतरा था। वे कुछ चिंतित-से थे। प्रभा कुछ कहना चाहती थी पर उनकी सूरत देख कर उसे उन पर दया आ गयी। उन्होंने उसे बात करने का अवसर न दे कर स्वयं कहना शुरू किया।

"प्रभा तुमने आज मुझे बुलाया है। यह मेरा सौभाग्य है। तुमने मेरी सुधि तो ली मगर यह मत समझो कि मैं मृदु-वाणी सुनने की आशा ले कर आया हूँ। नहीं, मैं जानता हूँ, जिसके लिए तुमने मुझे बुलाया है। यह लो, तुम्हारा अपराधी तुम्हारे सामने खड़ा है। उसे जो दंड चाहो, दो। मुझे अब तक आने का साहस न हुआ। इसका कारण यही दंड-भय था। तुम जानती हो और क्षत्राणियाँ क्षमा करना नहीं जानतीं। झालावाड़ में जब तुम मेरे साथ आने पर स्वयं उद्यत हो गयीं, तो मैंने उसी क्षण तुम्हारे जौहर परख लिये। मुझे मालूम हो गया कि तुम्हारा हृदय बल और विश्वास से भरा हुआ है। उसे काबू में लाना सहज नहीं। तुम नहीं जानतीं कि यह एक मास मैंने किस तरह काटा है। तड़प-तड़प कर मर रहा हूँ, पर जिस तरह शिकारी बिफरी हुई सिंहनी के सम्मुख जाने से डरता है, वही दशा मेरी थी। मैं कई बार आया। यहाँ तुमको उदास तिउरियाँ चढ़ाये बैठे देखा। मुझे अंदर पैर रखने का साहस न हुआ; मगर आज मैं बिना बुलाया मेहमान नहीं हूँ। तुमने मुझे बुलाया है और तुम्हें अपने मेहमान का स्वागत करना चाहिए। हृदय से न सही—जहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित हो, वहाँ ठंडक कहाँ—बातों ही से सही, अपने भावों को दबा कर ही सही, मेहमान का स्वागत करो। संसार में शत्रु का आदर मित्रों से भी अधिक किया जाता है।

"प्रभा, एक क्षण के लिए क्रोध को शांत करो और मेरे अपराधों पर विचार करो। तुम मेरे ऊपर यही दोषारोपण कर सकती हो कि मैं तुम्हें माता-पिता की गोद से छीन लाया। तुम जानती हो, कृष्ण भगवान् रुक्मिणी को हर लाये थे। राजपूतों में यह कोई नयी बात नहीं है। तुम कहोगी, इससे झालावाड़ वालों का अपमान हुआ; पर ऐसा कहना कदापि ठीक नहीं। झालावाड़ वालों ने वही किया, जो मर्दों का धर्म था। उनका पुरुषार्थ देख कर हम चकित हो गये। यदि वे कृतकार्य नहीं हुए तो यह उनका दोष नहीं है। वीरों की सदैव जीत नहीं होती। हम इसलिए सफल हुए कि हमारी संख्या अधिक थी और इस काम के लिए तैयार हो कर गये थे। वे निश्शंक थे, इस कारण उनकी हार हुई। यदि हम वहाँ से शीघ्र ही प्राण बचा कर भाग न आते तो हमारी गति वही होती जो रावसाहब ने कही थी। एक भी चित्तौड़ी न बचता। लेकिन ईश्वर के लिए यह मत सोचो कि मैं अपने अपराध के दूषण को मिटाना चाहता हूँ। नहीं, मुझसे अपराध हुआ है और मैं हृदय से उस पर लज्जित हूँ। पर अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। अब इस बिगड़े हुए खेल को मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। यदि मुझे तुम्हारे हृदय में कोई स्थान मिले तो मैं उसे स्वर्ग समझूँगा। डूबते हुए को

तिनके का सहारा भी बहुत है। क्या यह संभव है ?"

प्रभा बोली—नहीं।

राणा—झालावाड़ जाना चाहती हो ?

प्रभा—नहीं।

राणा—मंदार के राजकुमार के पास भेज दूँ ?

प्रभा—कदापि नहीं।

राणा—लेकिन मुझसे यह तुम्हारा कुढ़ना देखा नहीं जाता।

प्रभा—आप इस कष्ट से शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे।

राणा ने भयभीत दृष्टि से देख कर कहा, "जैसी तुम्हारी इच्छा", और वे वहाँ से उठ कर चले गये।

5

दस बजे रात का समय था। रणछोड़ जी के मन्दिर में कीर्तन समाप्त हो चुका था और वैष्णव साधु बैठे हुए प्रसाद पा रहे थे। मीरा स्वयं अपने हाथ से थाल ला-ला कर उनके आगे रखती थी। साधुओं और अभ्यागतों के आदर-सत्कार में उस देवी को आत्मिक आनन्द प्राप्त होना था। साधुगण जिस प्रेम से भोजन करते थे, उससे यह शंका होती थी कि स्वादपूर्ण वस्तुओं में कहीं भक्ति-भजन से भी अधिक सुख तो नहीं है। यह सिद्ध हो चुका है कि ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का सदुपयोग ही ईश्वरोपासना की मुख्य रीति है। इसलिए ये महात्मा लोग उपासना के ऐसे अच्छे अवसरों को क्यों खोते ? वे कभी पेट पर हाथ फेरते और कभी आसन बदलते थे। मुँह से 'नहीं' कहना तो वे घोर पाप के समान समझते थे। यह भी मानी हुई बात है कि जैसी वस्तुओं का हम सेवन करते हैं, वैसी ही आत्मा भी बनती है। इसलिए वे महात्मागण घी और खोये से उदर को खूब भर रहे थे।

पर उन्हीं में एक महात्मा ऐसे भी थे जो आँखें बंद किये ध्यान में मग्न थे। थाल की ओर ताकते भी न थे। इनका नाम प्रेमानन्द था। ये आज ही आये थे। इनके चेहरे पर कांति झलकती थी। अन्य साधु खा कर उठ गये, परंतु उन्होंने थाल छुआ भी नहीं।

मीरा ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज, आपने प्रसाद को छुआ भी नहीं। दासी से कोई अपराध तो नहीं हुआ ?

साधु—नहीं, इच्छा नहीं थी।

मीरा—पर मेरी विनय आपको माननी पड़ेगी।

साधु—मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा, तो तुमको भी मेरी एक बात माननी होगी।

मीरा—कहिए क्या आज्ञा है।

साधु—माननी पड़ेगी।

मीरा—मानूँगी।

साधु—वचन देती हो ?

मीरा—वचन देती हूँ, आप प्रसाद पायें।

मीराबाई ने समझा था कि साधु कोई मन्दिर बनवाने या कोई यज्ञ पूर्ण करा देने की

याचना करेगा। ऐसी बातें नित्य प्रति हुआ ही करती थीं और मीरा का सर्वस्व साधु-सेवा के लिए अर्पित था; परन्तु उसके लिए साधु ने ऐसी कोई याचना न की। वह मीरा के कानों के पास मुँह ले जा कर बोला—आज दो घंटे के बाद राज-भवन का चोर दरवाजा खोल देना।

मीरा विस्मित हो कर बोली—आप कौन हैं ?

साधु—मंदार का राजकुमार।

मीरा ने राजकुमार को सिर से पाँव तक देखा। नेत्रों में आदर की जगह घृणा थी। कहा—राजपूत यों छल नहीं करते।

राजकुमार—यह नियम उस अवस्था के लिए है जब दोनों पक्ष समान शक्ति रखते हों।

मीरा—ऐसा नहीं हो सकता।

राजकुमार—आपने वचन दिया है, उसका पालन करना होगा।

मीरा—महाराज की आज्ञा के सामने मेरे वचन का कोई महत्त्व नहीं।

राजकुमार—मैं यह कुछ नहीं जानता। यदि आपको अपने वचन की कुछ भी मर्यादा रखनी है तो उसे पूरा कीजिए।

मीरा—(सोच कर) महल में जा कर क्या करोगे ?

राजकुमार—नयी रानी से दो-दो बातें।

मीरा चिंता में विलीन हो गयी। एक तरफ राणा की कड़ी आज्ञा थी और दूसरी तरफ अपना वचन और उसका पालन करने का परिणाम। कितनी ही पौराणिक घटनाएँ उसके सामने आ रही थीं। दशरथ ने वचन पालने के लिए अपने प्रिय पुत्र को वनवास दे दिया। मैं वचन दे चुकी हूँ। उसे पूरा करना मेरा परम धर्म है; लेकिन पति की आज्ञा को कैसे तोड़ूँ? यदि उनकी आज्ञा के विरुद्ध करती हूँ तो लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। क्यों न उनसे स्पष्ट कह दूँ। क्या वे मेरी यह प्रार्थना स्वीकार न करेंगे ? मैंने आज तक उनसे कुछ नहीं माँगा। आज उनसे यह दान मागूँगी। क्या वे मेरे वचन की मर्यादा की रक्षा न करेंगे ? उनका हृदय कितना विशाल है ! निस्संदेह वे मुझ पर वचन तोड़ने का दोष न लगने देंगे।

इस तरह मन में निश्चय करके वह बोली—कब खोल दूँ ?

राजकुमार ने उछल कर कहा—आधी रात को।

मीरा—मैं स्वयं तुम्हारे साथ चलूँगी।

राजकुमार—क्यों ?

मीरा—तुमने मेरे साथ छल किया है। मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं है।

राजकुमार ने लज्जित हो कर कहा—अच्छा, तो आप द्वार पर खड़ी रहियेगा।

मीरा—यदि फिर कोई दगा किया तो जान से हाथ धोना पड़ेगा।

राजकुमार—मैं सब कुछ सहने के लिए तैयार हूँ।

6

मीरा यहाँ से राणा की सेवा में पहुँची। वे उसका बहुत आदर करते थे। वे खड़े हो गये। इस समय मीरा का आना एक असाधारण बात थी। उन्होंने पूछा—बाई जी, क्या आज्ञा है ?

मीरा—आपसे भिक्षा माँगने आयी हूँ। निराश न कीजिएगा। मैंने आज तक आपसे

कोई विनती नहीं की; पर आज एक ब्रह्म-फाँस में फँस गयी हूँ। इसमें से मुझे आप ही निकाल सकते हैं ? मंदार के राजकुमार को तो आप जानते हैं ?

राणा—हाँ, अच्छी तरह।

मीरा—आज उसने मुझे बड़ा धोखा दिया। एक वैष्णव महात्मा का रूप धारण कर रणछोड़ जी के मंदिर में आया और उसने छल करके मुझे वचन देने पर बाध्य किया। मेरा साहस नहीं होता कि उसकी कपट विनय आपसे कहूँ।

राणा—प्रभा से मिला देने को तो नहीं कहा ?

मीरा—जी हाँ, उसका अभिप्राय वही है। लेकिन सवाल यह है कि मैं आधी रात को राजमहल का गुप्त द्वार खोल दूँ। मैंने उसे बहुत समझाया; बहुत धमकाया; पर वह किसी भाँति न माना : निदान विवश हो कर जब मैंने कह दिया तब उसने प्रसाद पाया, अब मेरे वचन की लाज आपके हाथ है। आप चाहे उसे पूरा करके मेरा मान रखें, चाहे उसे तोड़ कर मेरा मान तोड़ दें। आप मेरे ऊपर जो कृपादृष्टि रखते हैं, उसी के भरोसे मैंने वचन दिया। अब मुझे इस फंदे से उबारना आपका काम है।

राणा कुछ देर सोच कर बोले—तुमने वचन दिया है, उसका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है। तुम देवी हो, तुम्हारे वचन नहीं टल सकते। द्वार खोल दो। लेकिन यह उचित नहीं है कि वह अकेले प्रभा से मुलाकात करे। तुम स्वयं उसके साथ जाना। मेरी खातिर से इतना कष्ट उठाना। मुझे भय है कि वह उसकी जान लेने का इरादा करके न आया हो। ईर्ष्या में मनुष्य अंधा हो जाता है। बाई जी, मैं अपने हृदय की बात तुमसे कहता हूँ। मुझे प्रभा को हर लाने का अत्यंत शोक है। मैंने समझा था कि यहाँ रहते-रहते वह हिल-मिल जायगी; किंतु वह अनुमान गलत निकला। मुझे भय है कि यदि उसे कुछ दिन यहाँ और रहना पड़ा तो वह जीती न बचेगी। मुझ पर एक अबला की हत्या का अपराध लग जायगा। मैंने उससे झालावाड़ जाने के लिए कहा, पर वह राजी न हुई। आज तुम उन दोनों की बातें सुनो। अगर वह मंदार कुमार के साथ जाने पर राजी हो, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दूँगा। मुझसे कुढ़ना नहीं देखा जाता। ईश्वर इस सुंदरी का हृदय मेरी ओर फेर देता तो मेरा जीवन सफल हो जाता। किंतु जब यह सुख भाग्य में लिखा ही नहीं है तो क्या वश है। मैंने तुमसे ये बातें कहीं, इसके लिये मुझे क्षमा करना। तुम्हारे पवित्र हृदय में ऐसे विषयों के लिए स्थान कहाँ ?

मीरा ने आकाश की ओर संकोच से देख कर कहा—तो [illegible] है ? मैं चोर-द्वार खोल दूँ ?

राणा—तुम इस घर की स्वामिनी हो, मुझसे पूछने की जरूरत नहीं। मीरा राणा को प्रणाम कर चली गयी।



7

आधी रात बीत चुकी थी। प्रभा चुपचाप बैठी दीपक की ओर देख रही थी और सोचती थी, इसके घुलने से प्रकाश होता है; यह बत्ती अगर जलती है तो दूसरों को लाभ पहुँचाती है। मेरे जलने से किसी को क्या लाभ ? मैं क्यों घुलूँ ? मेरे जीने की क्या जरूरत है ?

उसने फिर खिड़की से सिर निकाल कर आकाश की तरफ देखा। काले पट पर

उज्ज्वल तारे जगमगा रहे थे। प्रभा ने सोचा, मेरे अंधकारमय भाग्य में ये दीप्तिमान तारे कहाँ हैं, मेरे लिए जीवन के सुख कहाँ हैं ? क्या रोने के लिए जीऊँ ? ऐसे जीने से क्या लाभ ? और जीने में उपहास भी तो है। मेरे मन का हाल कौन जानता है ? संसार मेरी निंदा करता होगा। झालावाड़ की स्त्रियाँ मेरे मृत्यु के शुभ समाचार सुनने की प्रतीक्षा कर रही होंगी। मेरी प्रिय माता लज्जा से आँखें न उठा सकती होंगी। लेकिन जिस समय मेरे मरने की खबर मिलेगी, गर्व से उनका मस्तक ऊँचा हो जायगा। यह बेहयाई का जीना है। ऐसे जीने से मरना कहीं उत्तम है।

प्रभा ने तकिये के नीचे से एक चमकती हुई कटार निकाली। उसके हाथ काँप रहे थे। उसने कटार की तरफ आँखें जमायीं। हृदय को उसके अभिवादन के लिए मजबूत किया। हाथ उठाया, किन्तु हाथ न उठा; आत्मा दृढ़ न थी। आँखें झपक गयीं। सिर में चक्कर आ गया। कटार हाथ से छूट कर जमीन पर गिर पड़ी।

प्रभा क्रुद्ध हो कर सोचने लगी--क्या मैं वास्तव में निर्लज्ज हूँ ? मैं राजपूतनी हो कर मरने से डरती हूँ ? मान-मर्यादा खो कर बेहया लोग ही जिया करते हैं। वह कोन-सी आकांक्षा है जिसने मेरी आत्मा को इतना निर्बल बना रखा है। क्या राणा की मीठी-मीठी बातें ? राणा मेरे शत्रु हैं। उन्होंने मुझे पशु समझ रखा है, जिसे फँसाने के पश्चात् हम पिंजरे में बंद करके हिलाते हैं। उन्होंने मेरे मन को अपनी वाक्य-मधुरता का क्रीड़ा-स्थल समझ लिया है। वे इस तरह घुमा-घुमा कर बातें करते हैं और मेरी तरफ से युक्तियाँ निकाल कर उनका ऐसा उत्तर देते हैं कि जबान ही बंद हो जाती है। हाय! निर्दयी ने मेरा जीवन नष्ट कर दिया और मुझे यों खेलाता है ! क्या इसीलिए जीऊँ कि उसके कपट भावों का खिलौना बनूँ ?

फिर वह कौन-सी अभिलाषा है ? क्या राजकुमार का प्रेम ? उनकी तो अब कल्पना ही मेरे लिए घोर पाप है। मैं अब उस देवता के योग्य नहीं हूँ, प्रियतम ! बहुत दिन हुए मैंने तुमको हृदय से निकाल दिया। तुम भी मुझे दिल से निकाल डालो। मृत्यु के सिवाय अब कहीं मेरा ठिकाना नहीं है। शंकर ! मेरी निर्बल आत्मा को शक्ति प्रदान करो। मुझे कर्त्तव्य-पालन का बल दो।

प्रभा ने फिर कटार निकाली। इच्छा दृढ़ थी। हाथ उठा और निकट था कि कटार उसके शोकातुर हृदय में चुभ जाय कि इतने में किसी के पाँव की आहट सुनायी दी। उसने चौंक कर सहमी हुई दृष्टि से देखा। मंदार कुमार धीरे-धीरे पैर दबाता हुआ कमरे में दाखिल हुआ।

8

प्रभा उसे देखते ही चौंक पड़ी। उसने कटार को छिपा लिया। राजकुमार को देख कर उसे आनन्द की जगह रोमांचकारी भय उत्पन्न हुआ। यदि किसी को जरा भी संदेह हो गया तो इनका प्राण बचना कठिन है। इनको तुरंत यहाँ से निकल जाना चाहिए। यदि इन्हें बातें करने का अवसर दूँ तो विलम्ब होगा और फिर ये अवश्य ही फँस जायेंगे। राणा इन्हें कदापि न छोड़ेंगे। वे विचार वायु और बिजली की व्यग्रता के साथ उसके मस्तिष्क में दौड़े। वह तीव्र स्वर में बोली—भीतर मत आओ।

राजकुमार ने पूछा—मुझे पहचाना नहीं ?

प्रभा—खूब पहचान लिया; किन्तु यह बातें करने का समय नहीं है। राणा तुम्हारी घात में हैं। अभी यहाँ से चले जाओ।

राजकुमार ने एक पग और आगे बढ़ाया और निर्भीकता से कहा—प्रभा, तुम मुझसे निष्ठुरता करती हो।

प्रभा ने धमका कर कहा—तुम यहाँ ठहरोगे तो मैं शोर मचा दूँगी।

राजकुमार ने उद्दंडता से उत्तर दिया—इसका मुझे भय नहीं। मैं अपनी जान हथेली पर रख कर आया हूँ। आज दोनों में से एक का अंत हो जायगा। या तो राणा रहेंगे या मैं रहूँगा। तुम मेरे साथ चलोगी ?

प्रभा ने दृढ़ता से कहा—नहीं।

राजकुमार व्यंग्य भाव से बोला—क्यों, क्या चित्तौड़ की जलवायु पसंद आ गयी?

प्रभा ने राजकुमार की ओर तिरस्कृत नेत्रों से देख कर कहा—संसार में अपनी सब आशाएँ पूरी नहीं होतीं। जिस तरह यहाँ मैं अपना जीवन काट रही हूँ, वह मैं ही जानती हूँ; किन्तु लोक-निंदा भी तो कोई चीज है ! संसार की दृष्टि में मैं चित्तौड़ की रानी हो चुकी। अब राणा जिस भाँति रखें उसी भाँति रहूँगी। मैं अंत समय तक उनसे घृणा करूँगी; जलूँगी, कुढ़ूँगी। ज़ब जलन न सही जायगी, तो विष खा लूँगी या छाती में कटार मार कर मर जाऊँगी; लेकिन इसी भवन में। इस घर के बाहर कदापि पैर न रखूँगी।

राजकुमार के मन में संदेह हुआ कि प्रभा पर राणा का वशीकरण मंत्र चल गया। यह मुझसे छल कर रही है। प्रेम की जगह ईर्ष्या पैदा हुई। वह उसी भाव से बोला—और यदि मैं यहाँ से उठा ले जाऊँ ? प्रभा के तीवर बदल गये। बोली—तो मैं वही करूँगी जो ऐसी अवस्था में क्षत्राणियाँ किया करती हैं। अपने गले में छुरी मार लूँगी या तुम्हारे गले में।

राजकुमार एक पग और आगे बढ़ा कर यह कटु-वाक्य बोला—राणा के साथ तो तुम खुशी से चली आयीं। उस समय छुरी कहाँ गयी थी ?

प्रभा को यह शब्द शर-सा लगा। वह तिलमिला कर बोली—उस समय इसी छुरी के एक वार से खून की नदी बहने लगती। मैं नहीं चाहती थी कि मेरे कारण मेरे भाई-बंधुओं की जान जाय। इसके सिवाय मैं कुँवारी थी। मुझे अपनी मर्यादा के भंग होने का कोई भय न था। मैंने पातिव्रत नहीं लिया। कम से कम संसार मुझे ऐसा समझता था। मैं अपनी दृष्टि में अब भी वही हूँ, किंतु संसार की दृष्टि में कुछ और हो गयी हूँ। लोक-लाज ने मुझे राणा की आज्ञाकारिणी बना दिया है। पातिव्रत की बेड़ी जबरदस्ती मेरे पैरों में डाल दी गयी है। अब इसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। इसके विपरीत और कुछ करना क्षत्राणियों के नाम को कलंकित करना है। तुम मेरे घाव पर व्यर्थ नमक क्यों छिड़कते हो ? यह कौन-सी भलमनसी है ? मेरे भाग्य में जो कुछ बदा है, वह भोग रही हूँ। मुझे भोगने दो और तुमसे विनती करती हूँ कि शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ।

राजकुमार एक पग और बढ़ा कर दुष्ट-भाव से बोला—प्रभा, यहाँ आ कर तुम त्रियाचरित्र में निपुण हो गयी। तुम मेरे साथ विश्वासघात करके अब धर्म की आड़ ले रही हो। तुमने मेरे प्रणय को पैरों तले कुचल दिया और अब मर्यादा का बहाना ढूँढ़ रही हो। मैं इन नेत्रों से राणा को तुम्हारे सौन्दर्य-पुष्प का भ्रमर बनते नहीं देख सकता। मेरी कामनाएँ

मिट्टी में मिलती हैं तो तुम्हें ले कर जायेंगी। मेरा जीवन नष्ट होता है तो उसके पहले तुम्हारे जीवन का भी अन्त होगा। तुम्हारी बेवफाई का यही दंड है। बोलो, क्या निश्चय करती हो? इस समय मेरे साथ चलती हो या नहीं ? किले के बाहर मेरे आदमी खड़े हैं।

प्रभा ने निर्भयता से कहा—नहीं।

राजकुमार—सोच लो, नहीं तो पछताओगी।

प्रभा—खूब सोच लिया।

राजकुमार ने तलवार खींच ली और वह प्रभा की तरफ लपके। प्रभा भय से आँखें बन्द किये एक कदम पीछे हट गयी। मालूम होता था, उसे मूर्च्छा आ जायगी।

अकस्मात् राणा तलवार लिये वेग के साथ कमरे में दाखिल हुए। राजकुमार सँभल कर खड़ा हो गया।

राणा ने सिंह के समान गरज कर कहा—दूर हट। क्षत्रिय स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाते।

राजकुमार ने तन कर उत्तर दिया—लज्जाहीन स्त्रियों की यही सजा है।

राणा ने कहा—तुम्हारा बैरी तो मैं था। मेरे सामने आते क्यों लजाते थे। जरा मैं भी तुम्हारी तलवार की काट देखता।

राजकमार ने ऐंठ कर राणा पर तलवार चलायी। शस्त्र-विद्या में राणा अति कुशल थे। वार खाली दे कर राजकुमार पर झपटे। इतने में प्रभा, जो मूर्च्छित अवस्था में दीवार से चिमटी खड़ी थी, बिजली की तरह कौंध कर राजकुमार के सामने खड़ी हो गयी। राणा वार कर चुके थे। तलवार का पूरा हाथ उसके कंधे पर पड़ा। रक्त की फुहार छूटने लगी। राणा ने एक ठंडी साँस ली और उन्होंने तलवार हाथ से फेंक कर गिरती हुई प्रभा को सँभाल लिया।

क्षणमात्र में प्रभा का मुखमंडल वर्ण-हीन हो गया। आँखें बुझ गयीं। दीपक ठंडा हो गया। मन्दार कुमार ने भी तलवार फेंक दी और वह आँखों में आँसू भर प्रभा के सामने घुटने टेक कर बैठ गया। दोनों प्रेमियों की आँखें सजल थीं। पतिंगे बुझे हुए दीपक पर जान दे रहे थे।

प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण हुआ राजकुमार प्रभा पर तलवार ले कर झपटा था। प्रभा किसी प्रकार उसके साथ चलने पर उद्यत न होती थी। लज्जा का भय, धर्म की बेड़ी, कर्त्तव्य की दीवार रास्ता रोके खड़ी थी। परन्तु उसे तलवार के सामने देख कर उसने उस पर अपना प्राण अर्पण कर दिया। प्रीति की प्रथा निबाह दी, लेकिन अपने वचन के अनुसार उसी घर में।

हाँ, प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण पहले राजकुमार प्रभा पर तलवार ले कर झपटा था। उसके खून का प्यासा था। ईर्ष्या की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी। वह रुधिर की धारा से शांत हो गयी। कुछ देर तक वह अचेत बैठा रोता रहा। फिर उठा और उसने तलवार उठा कर जोर से अपनी छाती में चुभा ली। फिर रक्त की फुहार निकली। दोनों धाराएँ मिल गयीं और उनमें कोई भेद न रहा।

प्रभा उसके साथ चलने पर राजी न थी। किंतु वह प्रेम के बन्धन को तोड़ न सकी। दोनों उस घर ही से नहीं, संसार से एक साथ सिधारे।

['राजपूत की बेटी' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका 'जमाना' में जनवरी, 1917 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'मर्यादा की बेटी' शीर्षक से 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित।]

ज्वालामुखी

डिग्री लेने के बाद मैं नित्य लाइब्रेरी जाया करता ! पत्रों या किताबों का अवलोकन करने वे लिए नहीं। किताबों को तो मैंने छूने की कसम खा ली थी। जिस दिन गजट में अपना नाम देखा उसी दिन मिल और कैंट को उठा कर ताक पर रख दिया। मैं केवल अंगरेजी पत्रों वे 'वांटेड' कालमों को देखा करता। जीवन-यात्रा की फिक्र सवार थी। मेरे दादा या परदादा ने किसी अंगरेज को गदर के दिन में बचाया होता, अथवा किसी इलाके का जमींदार होता तो कहीं 'नामिनेशन' के लिए उद्योग करता। पर मेरे पास कोई सिफारिश न थी। शोक ! कुत्ते बिल्लियों और मोटरों की माँग सबको थी। पर बी. ए. पास का कोई पुरसाँहाल न था महीनों इसी तरह दौड़ते गुजर गये, पर अपनी रुचि के अनुसार कोई जगह न नजर आयी। मुझे अक्सर अपने बी. ए. होने पर क्रोध आता था। ड्राइवर, फायरमैन, मिस्त्री, ख़ानसामा या बावर्ची होता तो मुझे इतने दिनों तक बेकार न बैठना पड़ता।

एक दिन मैं चारपाई पर लेटा हुआ एक पत्र पढ़ रहा था कि मुझे एक मांग अपनी इच्छा के अनुसार दिखाई दी। किसी रईस को एक ऐसे प्राइवेट सेक्रेटरी की जरूरत थी जो विद्वान्, रसिक, सहृदय और रूपवान हो। वेतन एक हजार मासिक ! मैं उछल पड़ा। कहीं मेरा भाग्य उदय हो जाता और यह पद मुझे मिल जाता तो जिंदगी चैन से कट जाती। उसी दिन मैंने अपना विनय-पत्र अपने फोटो के साथ रवाना कर दिया। पर अपने आत्मीयगणों में किसी से इसका जिक्र न किया कि कहीं लोग मेरी हँसी न उड़ायें। मेरे लिए तीस रुपये मासिक भी बहुत थे। एक हजार कौन देगा ? पर दिल से यह खयाल दूर न होता। बैठे-बैठे शेखचिल्ली के मन्सूबे बाँधा करता। फिर होश में आकर अपने को समझाता कि मुझमें ऐसे ऊँचे पद के लिए कौन-सी योग्यता है। मैं अभी कॉलिज से निकला हुआ पुस्तकों का पुतला हूँ। दुनिया से बेख़बर। इस पद के लिए एक से एक विद्वान्, अनुभवी पुरुष मुँह फैलाये बैठे होंगे। मेरे लिए कोई आशा नहीं। मैं रूपवान सही, सजीला सही मगर पदों के लिए रूपवान होना काफी नहीं होता। विज्ञापन में इसकी चर्चा करने से केवल इतना अभिप्राय होगा कि कुरूप आदमी की जरूरत नहीं, और यह उचित भी है। बल्कि बहुत सजीलापन तो ऊँचे पदों के लिए कुछ शोभा नहीं देता। मध्यम श्रेणी का तोंद, भरा हुआ शरीर, फूले हुए गाल, और गौरवयुक्त वाक्य-शैली, यह उच्च पदाधिकारियों के लक्षण हैं और मुझे इनमें से एक भी मयस्सर नहीं। इसी आशा और भय में एक सप्ताह गुजर गया। और मैं निराश हो गया—मैं भी कैसा ओछा हूँ कि एक बेसिर-पैर की बात के पीछे ऐसा फूल उठा; इसी को बड़कपन कहते हैं। जहाँ तक मेरा खयाल है किसी दिल्लगीबाज़ ने आज के शिक्षित समाज की मूर्खता की परीक्षा करने के लिए यह स्वाँग रचा है। मुझे इतना भी न सूझा। मगर आठवें दिन प्रातःकाल तार के चपरासी ने मुझे आवाज दी। मेरे हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। लपका हुआ आया। तार खोल कर देखा, लिखा था—स्वीकार है, शीघ्र आओ ऐशगढ़।

मगर यह सुख सम्वाद पा कर मुझे वह आनंद न हुआ जिसकी आशा थी। मैं कुछ देर

तक खड़ा सोचता रहा। किसी तरह विश्वास न आता था। जरूर किसी दिल्लगीबाज़ की शरारत है। मगर कोई मुजायका नहीं, मुझे भी इसका मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए। तार दे दूँ कि एक महीने की तनख्वाह भेज दो। आप ही सारी कलई खुल जायगी ! मगर फिर विचार किया कहीं वास्तव में नसीब जागा हो तो उद्दंडता से बना-बनाया खेल बिगड़ जायगा। चलो दिल्लगी ही सही ! जीवन में यह घटना भी स्मरणीय रहेगी। इस तिलिस्म को खोल ही डालूँ ! यह निश्चय करके तार-द्वारा आने की सूचना दे दी और सीधे रेलवे स्टेशन पर पहुँचा। पूछने पर मालूम हुआ कि वह स्थान दक्खिन की ओर है। टाइमटेबिल में उसका वृत्तांत विस्तार के साथ लिखा हुआ था। स्थान अति रमणीय है, पर जलवायु स्वास्थ्यकर नहीं। हाँ हृष्ट-पुष्ट नवयुवकों पर उनका असर शीघ्र नहीं होता। दृश्य बहुत मनोहर है पर जहरीले जानवर बहुत मिलते हैं। यथासाध्य अँधेरे घाटियों में न जाना चाहिए। यह वृत्तांत पढ़ कर उत्सुकता और भी बढ़ी। जहरीले जानवर हैं तो हुआ करें, कहाँ नहीं हैं। मैं अँधेरी घाटियों के पास भूल कर भी न जाऊँगा। आकर सफर का सामान ठीक किया और ईश्वर का नाम ले कर नियत समय पर स्टेशन की तरफ चला। पर अपने अलापी मित्रों से इसका कुछ ज़िक्र न किया, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि दो ही चार दिन में फिर अपना-सा मुँह लेकर लौटना पड़ेगा।

2

गाड़ी पर बैठा तो शाम हो गयी थी। कुछ देर तक तो सिगार और पत्रों में दिल बहलाता रहा। फिर मालूम नहीं कब नींद आ गयी। आँखें खुलीं और खिड़की से बाहर की तरफ झाँका तो उषाकाल का मनोहर दृश्य दिखायी दिया। दोनों ओर हरे वृक्षों से ढँकी हुई पर्वत श्रेणियाँ उन पर चरती हुई उजली-उजली गायें और भेड़ें सूर्य की सुनहरी किरणों में रँगी हुई बहुत सुन्दर मालूम होती थीं। जी चाहता था कि कहीं मेरी कुटिया भी इन्हीं सुखद पहाड़ियों में होती, जंगल के फल खाता, झरनों का ताजा पानी पीता और आनन्द के गीत गाता, यकायक दृश्य बदला एक विस्तृत झील दिखायी दी जिसमें कँवल खिले हुए थे। कहीं उजले-उजले पक्षी तैरते थे और कहीं छोटी-छोटी डोंगियाँ निर्बल आत्माओं के सदृश डगमगाती चली जाती थीं यह दृश्य भी बदला। पहाड़ियों के दामन में एक गाँव नजर आया, झाड़ियों और वृक्षों से ढका हुआ। मानो शांति और संतोष ने यहाँ अपना निवास-स्थान बनाया हो। कहीं बच्चे खेलते थे, कहीं गाय के बछड़े किलोल करते थे।

फिर एक घना जंगल मिला। झुंड के झुंड हिरन दिखायी दिये जो गाड़ी की हहकार सुनते ही चौकड़ियाँ भरते दूर भाग जाते थे। यह सब दृश्य स्वप्न के चित्रों के समान आँखों के सामने आते थे और एक क्षण में गायब हो जाते थे। उनमें एक अवर्णनीय शांतिदायिनी शोभा थी जिससे दृश्य में आकांक्षाओं के आवेग उठने लगते थे।

आखिर ऐशगढ़ निकट आया। मैंने बिस्तर सँभाला। जरा देर में सिग्नल दिखायी दिया। मेरी छाती धड़कने लगी। गाड़ी रुकी। मैंने उतर कर इधर-उधर देखा, कुलियों को पुकारने लगा कि इतने में दो वरदी पहने हुए आदमियों ने आ कर मुझे सादर सलाम किया और पूछा—आप...से आ रहे हैं न, चलिए मोटर तैयार है। मेरी बाछें खिल गयीं। अब तक

कभी मोटर पर बैठने का सौभाग्य न हुआ था। शान के साथ जा बैठा। मन में बहुत लज्जित था कि ऐसे फटेहाल क्यों आया, अगर जानता कि सचमुच सौभाग्य-सूर्य चमका है तो ठाट-बाट से आता। खैर मोटर चली। दोनों तरफ मौलसरी के सघन वृक्ष थे। सड़क पर लाल बजरी बिछी हुई थी। सड़क हरे-भरे मैदान में किसी सुरम्य जलधारा के सदृश बल खाती चली गयी थी। दस मिनट भी न गुजरे होंगे कि सामने एक शांतिमय सागर दिखायी दिया। सागर के उस पार पहाड़ी पर एक विशाल भवन बना हुआ था। भवन अभिमान से सिर उठाये हुए था, सागर संतोष से नीचे लेटा हुआ, सारा दृश्य काव्य, शृंगार और आमोद से भरा हुआ था।

हम सदर दरवाजे पर पहुँचे, कई आदमियों ने दौड़ कर मेरा स्वागत किया। इनमें से एक शौकीन मुंशी जी थे, जो बाल सँवारे आँखों में सुर्मा लगाये हुए थे। मेरे लिए जो कमरा सजाया गया था उसके द्वार पर मुझे पहुँचा कर बोले—सरकार ने फरमाया है, इस समय आप आराम करें। सन्ध्या समय मुलाकात कीजिएगा।

मुझे अब तक इसकी कुछ खबर न थी कि यह 'सरकार' कौन हैं, न मुझे किसी से पूछने का साहस हुआ, क्योंकि अपने स्वामी के नाम से अनभिज्ञ होने का परिचय नहीं देना चाहता था। मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरा स्वामी बड़ा सज्जन मनुष्य था। मुझे इतने आदर-सत्कार की कदापि आशा न थी। अपने सुसज्जित कमरे में जा कर जब मैं एक आराम कुरसी पर बैठा तो हर्ष से विह्वल हो गया। पहाड़ियों की तरफ से शीतल वायु के मंद-मंद झोंके आ रहे थे। सामने छज्जा था। नीचे झील थी, साँप के केंचुले के सदृश छाया और प्रकाश से पूर्ण, और मैं, जिसे भाग्यदेवी ने सदैव अपना सौतेला लड़का समझा था इस समय जीवन में पहली बार निर्विघ्न आनन्द का सुख उठा रहा था।

तीसरे पहर उन्हीं शौक़ीन मुंशी जी ने आ कर इत्तला दी कि सरकार ने याद किया है। मैंने इस बीच में बाल बना लिये थे। तुरन्त अपना सर्वोत्तम सूट पहना और मुंशी जी के साथ सरकार की सेवा में चला। उस समय मेरे मन में यह शंका उठ रही थी कि कहीं मेरी बातचीत से स्वामी असंतुष्ट न हो जायँ। और उन्होंने मेरे विषय में जो विचार स्थिर किये हों उनमें कोई अन्तर न पड़ जाय। तथापि मैं अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए खूब तैयार था।

हम कई बरामदों से होते हुए अंत में सरकार के कमरे के दरवाजे पर पहुँचे। रेशमी परदा पड़ा हुआ था। मुंशी जी ने परदा उठाकर मुझे इशारे से बुलाया। मैंने काँपते हुए हृदय से कमरे में क़दम रक्खा और आश्चर्य से चकित हो गया ! मेरे सामने सौन्दर्य की ज्वाला दीप्तिमान थी।

3

फूल भी सुन्दर है और दीपक भी सुन्दर है। फूल में ठंडक और सुगन्ध है, दीपक में प्रकाश और उद्दीपन। फूल पर भ्रमर उड़-उड़ कर उसका रस लेता है दीपक पर पतंग जल कर राख हो जाता है। मेरे सामने कारचोबी मसनद पर जो सुन्दरी विराजमान थी, वह सौन्दर्य की प्रकाशमय ज्वाला थी। फूल की पंखुड़ियाँ हो सकती हैं, ज्वाला को विभक्त करना असम्भव है। उसके एक-एक अंग की प्रशंसा करना ज्वाला को काटना है। वह नख-शिख तक एक

ज्वाला थी, वही दीपन, वही चमक, वही लालिमा, वही प्रभा। कोई चित्रकार प्रतिभा सौन्दर्य का इससे अच्छा चित्र नहीं खींच सकता था। रमणी ने मेरी तरफ वात्सल्य दृष्टि से देखकर कहा—आपको सफ़र में कोई विशेष कष्ट तो नहीं हुआ ?

मैंने सँभल कर उत्तर दिया, जी नहीं, कोई कष्ट नहीं हुआ।

रमणी—यह स्थान पसन्द आया ?

मैंने साहसपूर्ण उत्साह के साथ जवाब दिया, ऐसा सुन्दर स्थान पृथ्वी पर न होगा। हाँ गाइड बुक देखने से विदित हुआ कि यहाँ का जलवायु जैसा सुखद प्रकट होता है, यथार्थ में वैसा नहीं, विषैले पशुओं की भी शिकायत थी।

यह सुनते ही रमणी का मुखसूर्य कांतिहीन हो गया। मैंने तो यह चर्चा इसलिए कर दी थी जिससे प्रकट हो जाय कि यहाँ आने में मुझे भी कुछ त्याग करना पड़ा है। पर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि इस चर्चा से उसे कोई विशेष दुःख हुआ। पर क्षण भर में सूर्य मेघमंडल से बाहर निकल आया, बोली—यह स्थान अपनी रमणीयता के कारण बहुधा लोगों की आँखों में खटकता है। गुण का निरादर करने वाले सभी होते हैं। और यदि जलवायु कुछ हानिकर हो भी तो आप जैसे बलवान मनुष्य को इसकी क्या चिन्ता हो सकती है। रहे विषैले जीव-जंतु, वह आपके नेत्रों के सामने विचर रहे हैं। अगर मोर, हिरन और हंस विषैले जीव हैं तो निस्संदेह यहाँ विषैले जीव बहुत हैं।

मुझे संशय हुआ कि कहीं मेरे कथन से उसका चित्त खिन्न हो गया हो, गर्व से बोला—गाइड बुकों पर विश्वास करना सर्वथा भूल है।

इस वाक्य से सुन्दरी का हृदय खिल गया, बोली—आप स्पष्टवादी मालूम होते हैं, और यह मनुष्य का एक उच्च गुण है। मैं आपका चित्र देखते ही इतना समझ गयी थी। आपको यह सुन कर आश्चर्य होगा कि इस पद के लिए मेरे पास एक लाख से अधिक प्रार्थना-पत्र आये थे। कितने ही एम. ए. थे, कोई डी. एस. सी. था, कोई जर्मनी से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त किये हुए था, मानो यहाँ मुझे किसी दार्शनिक विषय की जाँच करानी थी। मुझे अबकी यह अनुभव हुआ कि देश में उच्चशिक्षित मनुष्यों की इतनी भरमार है। कई महाशयों ने स्वरचित ग्रंथों की नामावली लिखी थी मानो देश में लेखकों और पंडितों ही की आवश्यकता है। कालगति का लेशमात्र भी परिचय नहीं है। प्राचीन कर्मकथाएँ अब केवल अंधभक्तों के रसास्वादन के लिए ही हैं, उनसे और कोई लाभ नहीं है। यह भौतिक उन्नति का समय है। आजकल लोग भौतिक सुख पर अपने प्राण अर्पण कर देते हैं। कितने ही लोगों ने अपने चित्र भी भेजे थे। कैसी-कैसी विचित्र मूर्तियाँ थीं, जिन्हें देखकर घंटों हँसिए। मैंने उन सभी को एक अलबम में लगा लिया है और अवकाश मिलने पर जब हँसने की इच्छा होती है तो उन्हें देखा करती हूँ। मैं उस विद्या को रोग समझती हूँ जो मनुष्य को वनमानुष बना दे। आपका चित्र देखते ही आँखें मुग्ध हो गयीं, तत्क्षण आपको बुलाने को तार दे दिया।

मालूम नहीं क्यों, अपने गुणस्वभाव की प्रशंसा की अपेक्षा हम अपने बाह्य गुणों की प्रशंसा से अधिक संतुष्ट होते हैं और एक सुन्दरी के मुखकंठ से तो वह चलते हुए जादू के समान है। बोला—यथासाध्य आपको मुझसे असंतुष्ट होने का अवसर न मिलेगा !

सुन्दरी ने मेरी ओर प्रशंसापूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—इसका मुझे पहले ही विश्वास

है। आइए अब कुछ काम की बातें हो जायँ। इस घर को आप अपना ही समझिए और संकोच छोड़कर आनन्द से रहिए। मेरे भक्तों की संख्या बहुत है। वह संसार के प्रत्येक भाग में उपस्थित हैं और बहुधा मुझसे अनेक प्रकार की जिज्ञासा किया करते हैं। उन सबको मैं आपके सुपुर्द करती हूँ। आपको उनमें भिन्न-भिन्न स्वभाव के मनुष्य मिलेंगे। कोई मुझसे सहायता माँगता है, कोई मेरी निंदा करता है, कोई सराहता है, कोई गालियाँ देता है। इन सब प्राणियों को संतुष्ट रखना आपका काम है। देखिए यह आज के पत्रों का ढेर है। एक महाशय कहते हैं, बहुत दिन हुए आपकी प्रेरणा से मैं अपने बड़े भाई की मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति का अधिकारी बन बैठा था। अब उनका पुत्र वयस प्राप्त कर चुका है और मुझसे अपने पिता की जायदाद लौटाना चाहता है। इतने दिनों तक उस सम्पत्ति का उपयोग करने के पश्चात् अब उसका हाथ से निकलना अखर रहा है, आपकी इस विषय में क्या सम्मति है ? इनको उत्तर दीजिए कि इस कूटनीति से काम लो, अपने भतीजे को कपट-प्रेम से मिला लो और जब वह निःशंक हो जाय तो उससे एक सादे स्टाम्प पर हस्ताक्षर करा लो। इसके पीछे पटवारी और अन्य कर्मचारियों की मदद से इसी स्टाम्प पर जायदाद का बेनामा लिखा लो। यदि एक लगा कर दो मिलते हों तो आगा-पीछा मत करो।

यह उत्तर सुन कर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। नीति-ज्ञान को धक्का-सा लगा। सोचने लगा, यह रमणी कौन है और क्यों ऐसे अनर्थ का परामर्श देती है। ऐसे खुल्लम-खुल्ला तो कोई वकील भी किसी को यह राय न देगा। उसकी ओर संदेहात्मक भाव से देख कर बोला—यह तो सर्वथा न्याय-विरुद्ध प्रतीत होता है।

कामिनी खिलखिला कर हँस पड़ी और बोली—न्याय की आपने भली कही। यह केवल धर्मान्ध मनुष्यों के मन का समझौता है, संसार में इसका अस्तित्व नहीं। आप ऋण ले कर मर जायँ, लड़का कौड़ी-कौड़ी भरे। विद्वान् लोग इसे न्याय कहते हैं, मैं घोर अन्याचार समझती हूँ। इस न्याय के परदे में गाँठ के पूरे महाजन की हेकड़ी साफ झलक रही है। एक डाकू किसी भद्र पुरुष के घर में डाका मारता है, लोग उसे पकड़ कर कैद कर देते हैं। धर्मात्मा लोग इसे भी न्याय कहते हैं, किंतु यहाँ भी वही धन और अधिकार की प्रचंडता है। भद्र पुरुष ने कितने ही घरों को लूटा, कितनों ही का गला दबाया और इस प्रकार धन संचय किया, किसी को भी उन्हें आँख दिखाने का साहस न हुआ। डाकू ने जब उनका गला दबाया तो वह अपने धन और प्रभुत्व के बल से उस पर वज्रप्रहार कर बैठे। मैं इसे न्याय नहीं कहती। संसार में धन, छल, कपट, धूर्तता का राज्य है, यही जीवन-संग्राम है, यहाँ प्रत्येक साधन जिससे हमारा काम निकले, जिससे हम अपने शत्रुओं पर विजय पा सकें, न्यायानुकूल और उचित है। धर्म युद्ध के दिन अब नहीं रहे। यह देखिए, यह एक दूसरे सज्जन का पत्र है। वह कहते हैं मैंने प्रथम श्रेणी में एम. ए. पास किया, प्रथम श्रेणी में कानून की परीक्षा पास की पर अब कोई बात भी नहीं पूछता। अब तक यह आशा थी कि योग्यता और परिश्रम का अवश्य ही कुछ फल मिलेगा, पर तीन साल के अनुभव से ज्ञात हुआ कि यह केवल धार्मिक नियम है। तीन साल में घर की पूँजी भी खा चुका। अब विवश होकर आपकी शरण लेता हूँ। मुझ हतभाग्य मनुष्य पर दया कीजिए और मेरा बेड़ा पार लगाइए। इनको उत्तर दीजिए कि जाली दस्तावेजें बनवाइए और झूठे दावे चला कर उनकी डिगरी करा लीजिए। थोड़े ही दिनों में आपका क्लेश निवारण हो जायगा। यह देखिए एक

सज्जन और कहते हैं, लड़की सयानी हो गयी है, जहाँ जाता हूँ लोग दायज की गठरी माँगते हैं। यहाँ पेट की रोटियों का भी ठिकाना नहीं, किसी तरह भलमनसी निभा रहा हूँ, चारों ओर निंदा हो रही है, जो आज्ञा हो उसका पालन करूँ। इन्हें लिखिए कन्या का विवाह किसी बुड्ढे खुर्राट सेठ से कर दीजिए। वह दायज़ लेने की जगह कुछ उल्टे और दे जायगा। अव आप समझ गये होंगे कि ऐसे जिज्ञासुओं को किस ढंग से उत्तर देने की आवश्यकना है। उत्तर संक्षिप्त होना चाहिए, बहुत टीका-टिप्पणी व्यर्थ होती है। अभी कुछ दिनों तक आपको यह काम कठिन जान पड़ेगा, पर आप चतुर मनुष्य हैं शीघ्र ही आपको इस काम का अभ्यास हो जायगा। तब आपको मालूम होगा कि इससे सहज और कोई काम नहीं है। आपके द्वारा सैकड़ों दारुण दुःख भोगने वालों का कल्याण होगा और वह आजन्म आपका यश गायेंगे।

4

मुझे यहाँ रहते एक महीने से अधिक हो गया पर अब तक मुझ पर यह रहस्य न खुला कि यह सुन्दरी कौन है ? मैं किसका सेवक हूँ ? इसके पास इतना अतुल धन, ऐसी-ऐसी विलास की सामग्रिया कहाँ से आती हैं ? जिधर देखता था ऐश्वर्य ही का आडम्बर दिखायी देता था। मेरे आश्चर्य की सीमा न थी मानो किसी तिलिस्म में आ फँसा हूँ। इन जिज्ञासुओं का इस रमणी से क्या सम्बन्ध है, यह भेद भी न खुलता था। मुझे नित्य उससे साक्षात् होता था, उसके सम्मुख जाते ही मैं अचेत-सा हो जाता था। उसकी चितवनों में एक प्रबल आकर्षण था जो मेरे प्राणों को खींच लिया करता था। मैं वाक्य-शून्य हो जाता, केवल छुपी हुई आँखों से उसे देखा करता था। पर मुझे उसके मृदुल मुसकान और रसमयी आलोचनाओं तथा मधुर, काव्यमय भावों में प्रेमानंद की जगह एक प्रबल मानसिक शांति का अनुभव होता था। उसकी चितवनें केवल हृदय को वाणों के समान छेदती थीं, उसके कटाक्ष चित्त को व्यस्त करते थे। शिकारी अपने शिकार को खेलाने में जो आनंद पाता है वही उस परम सुंदरी को मेरी प्रेमातुरता में प्राप्त होता था। वह एक सौंदर्य-ज्वाला जलाने के सिवाय और क्या कर सकता है। तिस पर भी मैं पतंग की भाँति उस ज्वाला पर अपने को समर्पण करना चाहता था। यही आकांक्षा होती थी कि उन पद-कमलों पर सिर रख कर प्राण दे दूँ। यह केवल एक उपासक की भक्ति थी, काम और वासना से शून्य।

कभी-कभी जब वह संध्या-समय अपने मोटर-बोट पर बैठ कर सागर की सैर करती तो ऐसा जान पड़ता था मानो चंद्रमा आकाश लालिमा में तैर रहा है। मुझे इस दृश्य में अनुपम सुख प्राप्त होता था।

मुझे अब अपने नियत कार्यों में खूब अभ्यास हो गया था। मेरे पास प्रतिदिन पत्रों का एक पोथा पहुँच जाता था। मालूम नहीं कि डाक से आता था। लिफाफों पर कोई मोहर न होती थी। मुझे इन जिज्ञासुओं में बहुधा वह लोग मिलते थे जिनका मेरी दृष्टि में बड़ा आदर था, कितने ही ऐसे महात्मा थे जिनमें मुझे श्रद्धा थी। बड़े-बड़े विद्वान् लेखक और अध्यापक, बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान रईस, यहाँ तक कि कितने ही धर्म के आचार्य, नित्य अपनी राम-कहानी सुनाते थे। उनकी दशा अत्यंत करुणाजनक थी। वह सब मुझे रँगे हुए सियार दिखायी देते थे। जिन लेखकों को मैं अपनी भाषा का स्तम्भ समझता था, उनसे घृणा होने

लगी। वह केवल उचक्के थे, जिनकी सारी कीर्ति चोरी, अनुवाद और कतर-ब्योंत पर निर्भर थी। जिन धर्म के आचार्यों को मैं पूज्य समझता था, वह स्वार्थ, तृष्णा और घोर नीचता के दलदल में फँसे हुए दिखायी देते थे। मुझे धीरे-धीरे यह अनुभव हो रहा था कि संसार की उत्पत्ति से अब तक, लाखों शताब्दियाँ बीत जाने पर भी, मनुष्य वैसा ही क्रूर, वैसा ही वासनाओं का गुलाम बना हुआ है। बल्कि उस समय के लोग सरल प्रकृति के कारण इतने कुटिल, दुराग्रहों में इतने चालाक न होते थे।

एक दिन संध्या समय उस रमणी ने मुझे बुलाया। मैं अपने घमंड में यह समझता था कि मेरे बाँकेपन का कुछ न कुछ असर उस पर भी होता है। अपना सर्वोत्तम सूट पहना, बाल सँवारे और विरक्त भाव से जा कर बैठ गया। यदि वह मुझे अपना शिकार बना कर खेलती थी तो मैं भी शिकार बन कर उसे खेलाना चाहता था।

ज्यों ही मैं पहुँचा, उस लावण्यमयी ने मुस्करा कर मेरा स्वागत किया, पर मुखचन्द्र कुछ मलिन था। मैंने अधीर हो कर पूछा—सरकार का जी तो अच्छा है।

उसने निराश भाव से उत्तर दिया—जी हाँ, एक महीने से एक कठिन रोग में फँस गयी हूँ। अब तक किसी भाँति अपने को सँभाल सकी हूँ, पर अब रोग असाध्य होता जाता है। उसकी औषधि एक निर्दय मनुष्य के पास है। वह मुझे प्रतिदिन तड़पते देखता है, पर उसका पाषाण हृदय जरा भी नहीं पसीजता।

मैं इशारा समझ गया। सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ गयी। साँस, बड़े वेग से चलने लगी। एक उन्मत्तता का अनुभव होने लगा। निर्भय होकर बोला—सम्भव है, जिसे आपने निर्दय समझ रखा हो, वह भी आपको ऐसा समझता हो और भय से मुँह खोलने का साहस न कर सकता हो।

सुन्दरी ने कहा—तो कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे दोनों ओर की आग बुझे। प्रियतम ! अब मैं अपने हृदय की दहकती हुई विरहाग्नि को नहीं छिपा सकती। मेरा सर्वस्व आपकी भेंट है। मेरे पास वह खजाने हैं, जो कभी खाली न होंगे। मेरे पास वह साधन हैं, जो आपको कीर्ति के शिखर पर पहुँचा देंगे। समस्त संसार को आपके पैरों पर झुका सकती हूँ। बड़े-बड़े सम्राट भी मेरी आज्ञा को नहीं टाल सकते। मेरे पास वह मन्त्र है, जिससे मैं मनुष्य के मनोवेगों को क्षणमात्र में पलट सकती हूँ। आइए मेरे हृदय से लिपट कर इस दाह-क्रांति को शांत कीजिए।

रमणी के चेहरे पर जलती हुई आग की-सी कांति थी। वह दोनों हाथ फैलाये कामोन्मत्त हो कर मेरी ओर बढ़ी। उसकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। परंतु जिस प्रकार अग्नि से पारा दूर भागता है उसी प्रकार मैं भी उसके सामने से एक कदम पीछे हट गया। उसकी इस प्रेमातुरता से मैं भयभीत हो गया जैसे कोई निर्धन मनुष्य किसी के हाथों सोने की ईंट लते हुए भयभीत हो जाय। मेरा चित्त एक अज्ञात शंका से काँप उठा। रमणी ने मेरी ओर अग्निमय नेत्रों से देखा मानो किसी सिंहनी के मुँह से उसका आहार छिन जाय और सरोष हो कर बोली—यह भीरुता क्यों?

मैं—मैं आपका एक तुच्छ सेवक हूँ, इस महान् आदर का पात्र नहीं।

रमणी—आप मुझसे घृणा करते हैं।

मैं—यह आपका मेरे साथ अन्याय है। मैं इस योग्य भी तो नहीं कि आपके तलुवों को

आँखों से लगाऊँ। आप दीपक हैं, मैं पतंग हूँ; मेरे लिए इतना ही बहुत है।

रमणी नैराश्यपूर्ण क्रोध के साथ बैठ गयी और बोली—वास्तव में आप निर्दयी हैं, मैं ऐसा न समझती थी। आप में अभी तक अपनी शिक्षा के कुसंस्कार लिपटे हुए हैं, पुस्तकों और सदाचार की बेड़ी आपके पैरों से नहीं निकली।

मैं शीघ्र ही अपने कमरे में चला आया और चित्त के स्थिर होने पर जब मैं इस घटना पर विचार करने लगा तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं अग्निकुण्ड में गिरते-गिरते बचा। कोई गुप्त शक्ति मेरी सहायक हो गयी। यह गुप्त शक्ति क्या थी ?

5

मैं जिस कमरे में ठहरा हुआ था, उसके सामने झील के दूसरी तरफ एक छोटा-सा झोंपड़ा था। उसमें एक वृद्ध पुरुष रहा करते थे। उनकी कमर तो झुक गयी थी, पर चेहरा तेजमय था। वह कभी-कभी इस महल में आया करते थे। रमणी न जाने क्यों उनसे घृणा करती थी, मन में उनसे कुछ डरती थी। उन्हें देखते ही घबरा जाती, मानों किसी असमंजस में पड़ी हुई है, उसका मुख फीका पड़ जाता, जा कर अपने किसी गुप्त स्थान में मुँह छिपा लेती, मुझे उसकी यह दशा देख कर कौतूहल होता था। कई बार उसने मुझसे उनकी चर्चा की थी, पर अत्यन्त अपमान के भाव से। वह मुझे उनसे दूर-दूर रहने का उपदेश दिया करती, और यदि कभी मुझे उनसे बातें करते देख लेती तो उसके माथे पर बल पड़ जाते थे, कई-कई दिनों तक मुझसे खुल कर न बोलती थी।

उस रात को मुझे देर तक नींद नहीं आयी। उधेड़बुन में पड़ा हुआ था। कभी जी चाहता आओ आँख बंद करके प्रेम-रस का पान करें। संसार के पदार्थों का सुख भोगें, जो कुछ होगा देखा जायगा। जीवन में ऐसे दिव्य अवसर कहाँ मिलते हैं फिर आप ही आप मन कुछ खिंच जाता था, घृणा उत्पन्न हो जाती थी।

रात के दस बजे होंगे कि हठात् मेरे कमरे का द्वार आप ही आप खुल गया और वही तेजस्वी पुरुष अंदर आये। यद्यपि मैं अपनी स्वामिनी के भय से उनसे बहुत कम मिलता था, पर उनके मुख पर ऐसी शांति थी और उनके भाव ऐसे पवित्र तथा कोमल थे कि हृदय में उनके सत्संग की उत्कंठा होती थी। मैंने उनका स्वागत किया और ला कर एक कुरसी पर बैठा दिया। उन्होंने मेरी ओर दयापूर्ण भाव से देख कर कहा—मेरे आने से तुम्हें कष्ट तो नहीं हुआ !

मैंने सिर झुका कर उत्तर दिया, आप जैसे महात्माओं का दर्शन मेरे सौभाग्य की बात है। महात्मा जी निश्चिंत होकर बोले—

अच्छा तो सुनो और सचेत हो जाओ, मैं तुम्हें यही चेतावनी देने के लिए आया हूँ। तुम्हारे ऊपर एक घोर विपत्ति आनेवाली है। तुम्हारे लिए इस समय इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि यहाँ से चले जाओ। मेरी बात न मानोगे तो जीवनपर्यंत कष्ट झेलोगे और इस मायाजाल से कभी मुक्त न हो सकोगे। मेरा झोंपड़ा तुम्हारे सामने था। मैं भी कभी- कभी यहाँ आया करता था, पर तुमने मुझसे मिलने की आवश्यकता न समझी। यदि पहले ही दिन तुम मुझसे मिलते तो सहस्रों मनुष्यों का सर्वनाश करने के अपराध से बच जाते। निःसंदेह यह तुम्हारे पूर्व कर्मों का फल था, जिसने आज तुम्हारी रक्षा की। अगर यह पिशाचनी एक बार तुमसे प्रेमालिंगन कर लेती

तो फिर तुम उसी दम उसके अजायबखाने में भेज दिये जाते। वह जिस पर रीझती है, उसकी वही गत बनाती है। यही उसका प्रेम है। चलो जरा इस अजायबखाने की सैर करो तब तुम समझोगे कि आज तुम किस आफत से बचे।

यह कहकर महात्मा जी ने दीवार में एक बटन दबाया। तुरंत एक दरवाजा निकल आया। यह नीचे उतरने की सीढ़ी थी। महात्मा उसमें घुसे और मुझे भी बुलाया। घोर अंधकार में कई कदम उतरने के बाद एक बड़ा कमरा नजर आया। उसमें एक दीपक टिमटिमा रहा था। वहाँ मैंने जो घोर, वीभत्स और हृदय-विदारक दृश्य देखे, उनका स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इटली के अमर कवि 'डैन्टी' ने नर्क का जो दृश्य दिखाया है, उससे कहीं भयावह, रोमांचकारी तथा नारकीय दृश्य मेरी आँखों के सामने उपस्थित था। सैकड़ों विचित्र देहधारी नाना प्रकार की अशुद्धताओं में लिपटे हुए, भूमि पर पड़े कराह रहे थे। उनके शरीर मनुष्य के-से थे, लेकिन चेहरों का रूपांतर हो गया था। कोई कुत्ते से मिलता था, कोई गीदड़ से, कोई बनबिलाव से, कोई साँप से। एक स्थान पर एक मोटा स्थूल मनुष्य एक दुर्बल, शक्तिहीन मनुष्य के गले में मुँह लगाये उसका रक्त चूस रहा था। एक ओर दो गिद्ध की सूरत वाले मनुष्य एक सड़ी हुई लाश पर बैठ उसका मांस नोच रहे थे। एक जगह एक अजगर की सूरत का मनुष्य एक बालक को निगलना चाहता था, पर बालक उसके गले में अटका हुआ था। दोनों ही जमीन पर पड़े छटपटा रहे थे। एक जगह मैंने एक अत्यंत पैशाचिक घटना देखी। दो नागिन की सूरत वाली स्त्रियाँ एक भेड़िये की सूरतवाले मनुष्य के गले में लिपटी हुई उसे काट रही थीं। वह मनुष्य घोर वेदना से चिल्ला रहा था। मुझसे अब और न देखा गया। तुरन्त वहाँ से भागा और गिरता-पड़ता अपने कमरे में आ कर दम लिया। महात्मा जी मेरे साथ चले आये। जब मेरा चित्त शांत हुआ तो उन्होंने कहा—इतनी जल्द घबरा गये, अभी तो इस रहस्य का एक भाग भी नहीं देखा। यह तुम्हारी स्वामिनी के विहार का स्थान है और यही उनके पालतू जीव हैं। इन जीवों के पिशाचाभिनय देखने में उनका विशेष मनोरंजन होता है। यह सभी मनुष्य किसी समय तुम्हारे ही समान प्रेम और प्रमोद के पात्र थे, पर उनकी यह दुर्गति हो रही है। अब तुम्हें मैं यही सलाह देता हूँ कि इसी दम यहाँ से भागो नहीं तो रमणी के दूसरे वार से कदापि न बचोगे।

यह कह कर वह महात्मा अदृश्य हो गये। मैंने भी अपनी गठरी बाँधी और अर्धरात्रि के सन्नाटे में चोरों की भाँति कमरे से बाहर निकला। शीतल, आनन्दमय समीर चल रही थी, सामने के सागर में तारे छिटक रहे थे, मेंहदी की सुगंधि उड़ रही थी। मैं चलने को चला, पर संसार-सुख भोग का ऐसा सुअवसर छोड़ते हुए दुःख होता था। इतना देखने और महात्मा के उपदेश सुनने पर भी चित्त उस रमणी की ओर खिंचता था। मैं कई बार चला, कई बार लौटा; पर अंत में आत्मा ने इंद्रियों पर विजय पायी। मैंने सीधा मार्ग छोड़ दिया और झील के किनारे-किनारे गिरता-पड़ता, कीचड़ में फँसता सड़क तक आ पहुँचा। यहाँ आ कर मुझे एक विचित्र उल्लास हुआ, मानो कोई चिड़िया बाज के चंगुल से छूट गयी हो।

यद्यपि मैं एक मास के बाद लौटा था, पर अब जो देखा तो अपनी चारपाई पर पड़ा हुआ था। कमरे में जरा भी गर्द या धूल न थी। मैंने लोगों से इस घटना की चर्चा की तो लोग खूब हँसे और मित्रगण तो अभी तक मुझे 'प्राइवेट सेक्रेटरी' कह कर बनाया करते हैं!

सभी कहते हैं कि मैं एक मिनट के लिए भी कमरे से बाहर नहीं निकला, महीना भर की गायब रहने की तो बात ही क्या। इसलिए अब मुझे भी विवश हो कर यही कहना पड़ता है कि शायद मैंने कोई स्वप्न देखा हो। कुछ भी हो परमात्मा को कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ कि मैं उस पापकुंड से बच कर निकल आया। वह चाहे स्वप्न ही हो, पर मैं उसे अपने जीवन का एक वास्तविक अनुभव समझता हूँ, क्योंकि उसने सदैव के लिए मेरी आँखें खोल दीं।

['शोला-ए-हुस्न' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका 'जमाना', मार्च 1917 में प्रकाशित। उर्दू 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'ज्वालामुखी' शीर्षक से 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

उपदेश

प्रयाग के सुशिक्षित समाज में पंडित देवरत्न शर्मा वास्तव में एक रत्न थे। शिक्षा भी उन्होंने उच्च श्रेणी की पायी थी और कुल के भी उच्च थे। न्यायशीला गवर्नमेंट ने उन्हें एक उच्च पद पर नियुक्त करना चाहा, पर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता का घात करना उचित न समझा। उनके कई शुभचिंतक मित्रों ने बहुत समझाया कि इस सुअवसर को हाथ से मत जाने दो, सरकारी नौकरी बड़े भाग्य से मिलती है, बड़े-बड़े लोग इसके लिए तरसते हैं और कामना लिए ही संसार से प्रस्थान कर जाते हैं। अपने कुल की कीर्ति उज्ज्वल करने का इससे सुगम और मार्ग नहीं है, इसे कल्पवृक्ष समझो। विभव, सम्पत्ति, सम्मान और ख्याति यह सब इसके दास हैं। रह गयी देश-सेवा, सो तुम्हीं देश के लिए क्यों प्राण देते हो? इस नगर में अनेक बड़े-बड़े विद्वान् और धनवान पुरुष हैं, जो सुख चैन से बँगलों में रहते और मोटरों पर हरहराते, धूल की आँधी उड़ाते घूमते हैं। क्या वे लोग देश-सेवक नहीं हैं ? जब आवश्यकता होती है या कोई अवसर आता है तो वे देश-सेवा में निमग्न हो जाते हैं। अभी जब म्युनिसिपल चुनाव का झगड़ा छिड़ा तो मेयोहाल के हाते में मोटरों का ताँता लगा हुआ था। भवन के भीतर राष्ट्रीय गीतों और व्याख्यानों की भरमार थी। पर इनमें से कौन ऐसा है, जिसने स्वार्थ को तिजांजलि दे रखी हो ? संसार का नियम ही है कि पहले घर में दीया जला कर तब मस्जिद में जलाया जाता है। सच्ची बात तो यह है कि यह जातीयता की चर्चा कुछ कॉलेज के विद्यार्थियों को ही शोभा देती है। जब संसार में प्रवेश हुआ तो कहाँ की जाति और कहाँ की जातीय चर्चा। संसार की यही रीति है। फिर तुम्हीं को काजी बनने की क्या जरूरत ! यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सरकारी पद पाकर मनुष्य अपने देश भाइयों की जैसी सच्ची सेवा कर सकता है, वैसी किसी अन्य व्यवस्था से कदापि नहीं कर सकता। एक दयालु दारोगा सैकड़ों जातीय सेवकों से अच्छा है। एक न्यायशील, धर्मपरायण मजिस्ट्रेट सहस्रों जातीय दानवीरों से अधिक सेवा कर सकता है। इसके लिए केवल हृदय में लगन चाहिए। मनुष्य चाहे जिस अवस्था में हो, देश का हित-साधन कर सकता है। इसीलिए अब अधिक आगा-पीछा न करो, चटपट पद को स्वीकार कर लो।

शर्मा जी को और युक्तियां कुछ न जँचीं, पर इस अंतिम युक्ति की सारगर्भिता से वह इनकार न कर सके। लेकिन फिर भी चाहे नियमपरायणता के कारण, चाहे केवल आलस्य के वश जो बहुधा ऐसी दशा में जातीय सेवा का गौरव पा जाता है, उन्होंने नौकरी से अलग रहने में ही अपना कल्याण समझा। उनके इस स्वार्थ-त्याग पर कॉलेज के नवयुवकों ने उन्हें खूब बधाइयाँ दीं। इस आत्म-विजय पर एक जातीय ड्रामा खेला गया, जिसके नायक हमारे शर्मा जी ही थे। समाज की उच्च श्रेणियों में इस आत्म-त्याग की चर्चा हुई और शर्मा जी को अच्छी-खासी ख्याति प्राप्त हो गयी ! इसी से वह कई वर्षों से जातीय सेवा में लीन रहते थे। इस सेवा का अधिक भाग समाचार-पत्रों के अवलोकन में बीतता था, जो जातीय सेवा का ही एक विशेष अग समझा जाता है। इसके अतिरिक्त वह पत्रों के लिए लेख लिखते, सभाएँ करते और उनमें फड़कते हुए व्याखान देते थे। शर्मा जी फ्री लाइब्ररी के सेक्रेटरी, स्टूडेंट्स एसोसियेशन के सभापति, सोशल सर्विस लीग के सहायक मंत्री और प्राइमरी एजूकेशन कमेटी के संस्थापक थे। कृषि-सम्बन्धी विषयों से उन्हें विशेष प्रेम था। पत्रों में जहाँ कहीं किसी नयी खाद या किसी नवीन आविष्कार का वर्णन देखते, तत्काल उस पर लाल पेन्सिल से निशान कर देते और अपने लेखों में उसकी चर्चा करते थे। किंतु शहर से थोड़ी दूर पर उनका एक बड़ा ग्राम होने पर भी, वह अपने किसी असामी से परिचित न थे। यहाँ तक कि कभी प्रयाग के सरकारी कृषि-क्षेत्र की सैर करने न गये थे।

2

उसी मुहल्ले में एक लाला बाबूलाल रहते थे। वह एक वकील के मुहर्रिर थे। थोड़ी-सी उर्दू-हिन्दी जानते थे और उसी से अपना काम भली-भाँति चला लेते थे। सूरत-शक्ल के कुछ सुन्दर न थे। उस शक्ल पर मऊ के चारखाने की लम्बी अचकन और भी शोभा देती थी। जूता भी देशी ही पहनते थे। यद्यपि कभी-कभी वे कड़वे तेल से उसकी सेवा किया करते, पर वह नीच स्वभाव के अनुसार उन्हें काटने से न चूकता था। बेचारे को साल के छह महीने पैरों में मलहम लगानी पड़ती। बहुधा नंगे पाँव कचहरी जाते, पर कंजूस कहलाने के भय से जूतों को हाथ में ले जाते। जिस ग्राम में शर्मा जी की जमींदारी थी, उसमें कुछ थोड़ा-सा हिस्सा उनका भी था। इस नाते से कभी-कभी उनके पास आया करते थे। हाँ, तातील के दिनों में गाँव चले जाते। शर्मा जी को उनका आ कर बैठना नागवार मालूम देता, विशेषकर जब वह फैशनेबुल मनुष्यों की उपस्थिति में आ जाते। मुंशी जी भी कुछ ऐसी स्थूल दृष्टि के पुरुष थे कि उन्हें अपना अनमिलापन बिल्कुल दिखायी न देता। सबसे बड़ी आपत्ति यह थी वे बराबर कुर्सी पर डट जाते, मानो हंसों में कौआ। उस समय मित्रगण अँगरेजी में बातें करने लगते और बाबूलाल को क्षुद्र-बुद्धि. झक्की, बौड़म, बुद्धू आदि उपाधियों का पात्र बनाते। कभी-कभी उनकी हँसी उड़ाते थे। शर्मा जी में इतनी सज्जनता अवश्य थी कि वे अपने विचारहीन मित्र को यथाशक्ति निरादर से बचाते थे। यथार्थ में बाबूलाल की शर्मा जी पर सच्ची भक्ति थी। एक तो वह बी. ए. पास थे, दूसरे वह देशभक्त थे। बाबूलाल जैसे विद्याहीन मनुष्य का ऐसे रत्न को आदरणीय समझना कुछ अस्वाभाविक न था।

3

एक बार प्रयाग में प्लेग का प्रकोप हुआ। शहर के रईस लोग निकल भागे। बेचारे गरीब चूहों की भाँति पटापट मरने लगे। शर्मा जी ने भी चलने की ठानी। लेकिन सोशल सर्विस लीग के वे मंत्री ठहरे। ऐसे अवसर पर निकल भागने में बदनामी का भय था। बहाना ढूँढ़ा। लीग के प्रायः सभी लोग कॉलेज में पढ़ते थे। उन्हें बुला कर इन शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट किया—मित्रवृन्द ! आप अपनी जाति के दीपक हैं। आप ही इस मरणोन्मुख जाति के आशास्थल हैं। आज हम पर विपत्ति की घटाएँ छायी हुई हैं। ऐसी अवस्था में हमारी आँखें आपकी ओर न उठें तो किसकी ओर उठेंगी। मित्र, इस जीवन में देशसेवा के अवसर बड़े सौभाग्य से मिला करते हैं। कौन जानता है कि परमात्मा ने तुम्हारी परीक्षा के लिए ही यह वज्र प्रहार किया हो। जनता को दिखा दो कि तुम वीरों का हृदय रखते हो, जो कितने ही संकट पड़ने पर भी विचलित नहीं होता। हाँ, दिखा दो कि वह वीरप्रसविनी पवित्र भूमि जिसने हरिश्चन्द्र और भरत को उत्पन्न किया, आज भी शून्यगर्भा नहीं है। जिस जाति के युवकों में अपने पीड़ित भाइयों के प्रति ऐसी करुणा और यह अटल प्रेम है वह संसार में सदैव यश कीर्ति की भागी रहेगी। आइए, हम कमर बाँध कर कर्म-क्षेत्र में उतर पड़ें। इसमें संदेह नहीं कि काम कठिन है, राह बीहड़ है, आपको अपने आमोद-प्रमोद, अपने हाकी-टेनिस, अपने मिल और मिल्टन को छोड़ना पड़ेगा। तुम ज़रा हिचकोगे, हटोगे और मुँह फेर लोगे, परन्तु भाइयो ! जातीय सेवा का स्वर्गीय आनंद सहज में नहीं मिल सकता ! हमारा पुरुषत्व, हमारा मनोबल, हमारा शरीर यदि जाति के काम न आवे तो वह व्यर्थ है। मेरी प्रबल आकांक्षा थी कि इस शुभ कार्य में मैं तुम्हारा हाथ बँटा सकता, पर आज ही देहातों में भी बीमारी फैलने का समाचार मिला है। अतएव मैं यहाँ का काम आपके सुयोग्य, सुदृढ़, हाथों में सौंपकर देहात में जाता हूँ कि यथासाध्य देहाती भाइयों की सेवा करूँ। मुझे विश्वास है कि आप सहर्ष मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे।

इस तरह गला छुड़ा कर शर्मा जी संध्या समय स्टेशन पहुँचे। पर मन कुछ मलिन था। वे अपनी इस कायरता और निर्बलता पर मन ही मन लज्जित थे।

संयोगवश स्टेशन पर उनके एक वकील मित्र मिल गये। यह वही वकील थे जिनके आश्रय में बाबूलाल का निर्वाह होता था। यह भी भागे जा रहे थे। बोले—कहिए शर्मा जी किधर चले ? क्या भाग खड़े हुए।

शर्मा जी पर घड़ों पानी पड़ गया, पर सँभल कर बोले, भागूँ क्यों ?

वकील--सारा शहर क्यों भागा जा रहा है ?

शर्मा जी—मैं ऐसा कायर नहीं हूँ ?

वकील—यार क्यों बात बनाते हो, अच्छा बताओ, कहाँ जाते हो ?

शर्मा जी—देहातों में बीमारी फैल रही है, वहाँ कुछ रिलीफ का काम करूँगा।

वकील—यह बिलकुल झूठ है। अभी मैं डिस्ट्रिक्ट गजट देख के चला आता हूँ। शहर के बाहर कहीं बीमारी का नाम नहीं है।

शर्मा जी निरुत्तर हो कर भी विवाद कर सकते थे। बोले, गजट को आप देव-वाणी समझते होंगे, मैं नहीं समझता।

वकील—आपके कान में तो आकाश के दूत कह गये होंगे ? साफ-साफ क्यों नहीं

कहते थे कि जान के डर से भागा जा रहा हूँ।

शर्मा जी—अच्छा, मान लीजिए यही सही। तो क्या पाप कर रहा हूँ ? सबको अपनी जान प्यारी होती है।

वकील—हाँ, अब आये राह पर। यह मरदों की-सी बात है। अपने जीवन की रक्षा करना शास्त्र का पहला नियम है। लेकिन अब भूल कर भी देश-भक्ति की डींग न मारिएगा। इस काम के लिए बड़ी दृढ़ता और आत्मिक बल की आवश्यकता है। स्वार्थ और देश-भक्ति में विरोधात्मक अंतर है। देश पर मिट जाने वाले को देश-सेवक का सर्वोच्च पद प्राप्त होता है, वाचालता और कोरी कलम घिसने से देश-सेवा नहीं होती। कम से कम में तो अखबार पढ़ने को यह गौरव नहीं दे सकता। अब कभी बढ़-बढ़ कर बातें न कीजिएगा। आप लोग अपने सिवा सारे संसार को स्वार्थांध समझते हैं, इसी से कहता हूँ।

शर्मा जी ने उद्दंडता का कुछ उत्तर न दिया। घृणा से मुँह फेर कर गाड़ी में बैठ गये।

4

तीसरे ही स्टेशन पर शर्मा जी उतर पड़े। वकील की कठोर बात से खिन्न हो रहे थे। चाहते थे कि उनकी आँख बचा कर निकल जायँ, पर देख ही लिया और हँस कर बोला, क्या आपके ही गाँव में प्लेग का दौरा हुआ है ?

शर्मा जी ने कुछ उत्तर न दिया। बहली पर जा बैठे। कई बेगार हाजिर थे। उन्होंने असबाब उठाया। फागुन का महीना था। आमों के बौर से महकती हुई मंद-मंद वायु चल रही थी। कभी-कभी कोयल की सुरीली तान सुनायी दे जाती थी। खलिहानों में किसान आनन्द से उन्मत्त हो-हो कर फाग गा रहे थे। लेकिन शर्मा जी को अपनी फटकार पर ऐसी ग्लानि थी कि इन चित्ताकर्षक वस्तुओं का उन्हें कुछ ध्यान ही न हुआ।

थोड़ी देर बाद वे ग्राम में पहुँचे। शर्मा जी के स्वर्गवासी पिता एक रसिक पुरुष थे। एक छोटा-सा बाग, छोटा-सा पक्का कुआँ, बँगला, शिवजी का मंदिर यह सब उन्हीं के कीर्ति चिह्न थे। वह गर्मी के दिनों में यहीं रहा करते थे; पर शर्मा जी के यहाँ आने का पहला ही अवसर था। बेगारियों ने चारों तरफ सफाई कर रक्खी थी। शर्मा जी बहली से उतर कर सीधे बँगले में चले गये, सैकड़ों असामी दर्शन करने आये थे, पर वह उनसे कुछ न बोले।

घड़ी रात जाते-जाते शर्मा जी के नौकर टमटम लिये आ पहुँचे। कहार, साईस और रसोइया-महाराज तीनों ने असामियों को इस दृष्टि से देखा मानो वह उनके नौकर हैं। साईस ने एक मोटे-ताजे किसान से कहा—घोड़े को खोल दो।

किसान बेचारा डरता-डरता घोड़े के निकट गया। घोड़े ने अनजान आदमी को देखते ही तेवर बदल कर कनौतियाँ खड़ी कीं। किसान डर कर लौट आया, तब साईस ने उसे ढकेल कर कहा—बस, निरे बछिया के ताऊ ही हो। हल जोतने से क्या अक्ल भी चली जाती है ? यह लो घोड़ा टहलाओ। मुँह क्या बनाते हो, कोई सिंह है कि खा जायगा ?

किसान ने भय से काँपते हुए रास पकड़ी। उसका घबराया हुआ मुख देख कर हँसी आती थी। पग-पग पर घोड़े को चौकन्नी दृष्टि से देखता, मानो वह कोई पुलिस का सिपाही है।

रसोई बनाने वाले महाराज एक चारपाई पर लेटे हुए थे—कडक कर बोले, अरे नउआ

कहाँ है ? चल पानी-वानी ला, हाथ-पैर धो दे।

कहार ने कहा—अरे किसी के पास जरा सुरती-चूना हो तो देना। बहुत देर से तमाखू नहीं खायी।

मुख्तार (कारिंदा) साहब ने इन मेहमानों की दावत का प्रबंध किया। साईस और कहार के लिए पूरियाँ बनने लगीं, महाराज को सामान दिया गया। मुख्तार साहब इशारे पर दौड़ते थे और दीन किसानों का तो पूछना ही क्या, वे तो बिना दामों के गुलाम थे। सच्चे-स्वतंत्र लोग इस समय सेवकों के सेवक बने हुए थे।

5

कई दिन बीत गये। शर्मा जी अपने बँगले में बैठे पत्र और पुस्तकें पढ़ा करते थे। रस्किन के कथनानुसार राजाओं और महात्माओं के सत्संग का सुख लूटते थे, हालैंड के कृषि-विधान, अमेरिकी-शिल्प-वाणिज्य और जर्मनी की शिक्षा-प्रणाली आदि गूढ़ विषयों पर विचार किया करते थे। गाँव में ऐसा कौन था जिसके साथ बैठते ? किसानों से बातचीत करने को उनका जी चाहता, पर न जाने क्यों वे उजड्ड, अक्खड़ लोग उनसे दूर रहते। शर्मा जी का मस्तिष्क कृषि-सम्बन्धी ज्ञान का भंडार था। हालैंड और डेनमार्क की वैज्ञानिक खेती, उसकी उपज का परिमाण और वहाँ के कोआपरेटिव बैंक आदि गहन विषय उनकी जिह्वा पर थे, पर इन गँवारों को क्या खबर ? यह सब उन्हें झुक कर पालागन अवश्य करते और कतरा कर निकल जाते, जैसे कोई मरकहे-बैल से बचे। यह निश्चय करना कठिन है कि शर्मा जी की उनसे वार्तालाप करने की इच्छा में क्या रहस्य था, सच्ची सहानुभूति या अपनी सर्वज्ञता का प्रदर्शन !

शर्मा जी की डाक शहर से लाने और ले जाने के लिए दो आदमी प्रतिदिन भेजे जाते। वह लुई कूने की जल-चिकित्सा के भक्त थे। मेवों का अधिक सेवन करते थे। एक आदमी इस काम के लिए भी दौड़ाया जाता था। शर्मा जी ने अपने मुख्तार से सख्त ताकीद कर दी थी कि किसी से मुफ्त काम न लिया जाय तथापि शर्मा जी को यह देखकर आश्चर्य होता था कि कोई इन कामों के लिए प्रसन्नता से नहीं जाता। प्रतिदिन बारी-बारी से आदमी भेजे जाते थे। वह इसे भी बेगार समझते थे। मुख्तार साहब को प्रायः कठोरता से काम लेना पड़ता था। शर्मा जी किसानों की इस शिथिलता को मुटमरदी के सिवा और क्या समझते ! कभी-कभी वह स्वयं क्रोध से भरे हुए अपने शान्ति-कुटीर से निकल आते और अपनी तीव्र वाक्य-शक्ति का चमत्कार दिखाने लगते थे। शर्मा जी के घोड़े के लिए घास-चारे का प्रबन्ध भी कुछ कम कष्टदायक न था। रोज संध्या समय डाँट-डपट और रोने-चिल्लाने की आवाज उन्हें सुनायी देती थी। एक कोलाहल-सा मच जाता था। पर वह इस सम्बन्ध में अपने मन को इस प्रकार समझा लेते थे कि घोड़ा भूखों नहीं मर सकता, घास का दाम दे दिया जाता है, यदि इस पर भी यह हाय-हाय होती है तो हुआ करे। शर्मा जी को यह कभी नहीं सूझी कि जरा चमारों से पूछ लें कि घास का दाम मिलता है या नहीं। यह सब व्यवहार देख-देख कर उन्हें अनुभव होता जाता था कि देहाती बड़े मुटमरद, बदमाश हैं। इनके विषय में मुख्तार साहब जो कुछ कहते हैं, वह यथार्थ है। पत्रों और व्याख्यानों में उनकी अवस्था पर व्यर्थ गुल-गपाड़ा मचाया जाता है, यह लोग इसी बर्ताव के

योग्य हैं। जो इनकी दीनता और दरिद्रता का राग अलापते हैं, वह सच्ची अवस्था से परिचित नहीं हैं। एक दिन शर्मा जी महात्माओं की संगति से उकता कर सैर को निकले। घूमते-फिरते खलिहानों की तरफ निकल गये। वहाँ आम के वृक्ष के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज का एक गाल खा लेते थे। यह सब उन्हीं की कमाई है, उनके मुँह में आज चाबी देना बड़ी कृतघ्नता है। गाँव के बढ़ई, चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजा-बजा कर अपने करतब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमंग पर थी।

शर्मा जी इस दृश्य से बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु इस उल्लास में उन्हें अपने कई सिपाही दिखायी दिये जो लट्ठ लिये अनाज के ढेरों के पास जमा थे। पुष्पवाटिका में ठूँठ जैसा भद्दा दिखायी देता है अथवा ललित संगीत में जैसे कोई बेसुरी तान कानों को अप्रिय लगती है, उसी तरह शर्मा जी की सहृदयतापूर्ण दृष्टि में ये मँडराते हुए सिपाही दिखायी दिये। उन्होंने निकट जा कर एक सिपाही को बुलाया। उन्हें देखते ही सब के सब पगड़ियाँ सँभालते दौड़े।

शर्मा जी ने पूछा—तुम लोग यहाँ इस तरह क्यों बैठे हो ?

एक सिपाही ने उत्तर दिया—सरकार, हम लोग असामियों के सिर पर सवार न रहें तो एक कौड़ी वसूल न हो। अनाज घर में जाने की देर है, फिर वह सीधे बात भी न करेंगे—बड़े सरकश लोग हैं। हम लोग रात की रात बैठे रहते हैं। इतने पर भी जहाँ आँख झपकी ढेर गायब हुआ।

शर्मा जी ने पूछा—तुम लोग यहाँ कब तक रहोगे ? एक सिपाही ने उत्तर दिया, हुजूर! बनियों को बुला कर अपने सामने अनाज तौलाते हैं। जो कुछ मिलता है उसमें से लगान काट कर बाकी असामी को देते हैं।

शर्मा जी सोचने लगे, जब यह हाल है तो इन किसानों की अवस्था क्यों न खराब हो? यह बेचारे अपने धन के मालिक नहीं हैं। उसे अपने पास रख कर अच्छे अवसर पर नहीं बेच सकते। इस कष्ट का निवारण कैसे किया जाय ? यदि मैं इस समय इनके साथ रिआयत कर दूँ तो लगान कैसे वसूल होगा।

इस विषय पर विचार करते हुए वहाँ से चल दिये। सिपाहियों ने साथ चलना चाहा, पर उन्होंने मना कर दिया। भीड़-भाड़ से उन्हें उलझन होती थी। अकेले ही गाँव में घूमने लगे। छोटा-सा गाँव था, पर सफाई का कहीं नाम न था। चारों ओर से दुर्गंध उठ रही थी। किसी के दरवाजे पर गोबर सड़ रहा था, तो कहीं कीचड़ और कूड़े का ही ढेर वायु को विषैली बना रहा था। घरों के पास ही घूर पर खाद के लिए गोबर फेंका हुआ था जिससे गाँव में गन्दगी फैलने के साथ-साथ खाद का सारा अंश धूप और हवा के साथ गायब हो जाता था। गाँव के मकान तथा रास्ते बेसिलसिले, बेढंगे तथा टूटे-फूटे थे। मोरियों से गंदे पानी के निकास का कोई प्रबंध न होने की वजह से दुर्गंध से दम घुटता था। शर्मा जी ने नाक पर रूमाल लगा ली। साँस रोक कर तेजी से चलने लगे। बहुत जी घबराया तो दौड़े और हाँफते हुए एक सघन नीम के वृक्ष की छाया में आ कर खड़े हो गये। अभी अच्छी तरह साँस भी न लेने पाये थे कि बाबूलाल ने आ कर पालागन किया और पूछा—क्या कोई साँड़

था ?

शर्मा जी साँस खींच कर बोले—साँड़ से अधिक भयंकर विषैली हवा थी। ओह! यह लोग ऐसी गंदगी में रहते हैं ?

बाबूलाल—रहते क्या हैं, किसी तरह जीवन के दिन पूरे करते हैं।

शर्मा जी—पर यह स्थान तो साफ है ?

बाबूलाल—जी हाँ, इस तरफ गाँव के किनारे तक साफ जगह मिलेगी।

शर्मा जी—तो उधर इतना मैला क्यों है ?

बाबूलाल—गुस्ताखी माफ हो तो कहूँ ?

शर्मा जी हँसकर बोले—प्राणदान माँगा होता। सच बताओ क्या बात है ? एक तरफ ऐसी स्वच्छता और दूसरी तरफ वह गंदगी।

बाबूलाल—यह मेरा हिस्सा है और वह आपका हिस्सा है। मैं अपने हिस्से की देख-रेख स्वयं करता हूँ, पर आपका हिस्सा नौकरों की कृपा के अधीन है।

शर्मा जी—अच्छा यह बात है। आखिर आप क्या करते हैं ?

बाबूलाल—और कुछ नहीं, केवल ताकीद करता रहता हूँ। जहाँ अधिक मैलापन देखता हूँ, स्वयं साफ करता हूँ। मैंने सफाई का एक इनाम नियत कर दिया है, जो प्रति मास सबसे साफ घर के मालिक को मिलता है।

शर्मा जी के लिए एक कुर्सी रख दी गयी। वे उस पर बैठ गये और बोले—क्या आप आज ही आये हैं ?

बाबूलाल—जी हाँ, कल तातील है। आप जानते ही हैं कि तातील के दिन में भी यहीं रहता हूँ।

शर्मा जी—शहर का क्या रंग-ढंग है ?

बाबूलाल—वही हाल, बल्कि और भी खराब। 'सोशल सर्विस लीग' वाले भी गायब हो गये। गरीबों के घरों में मुर्दे पड़े हुए हैं। बाजार बंद हो गये। खाने को अनाज नहीं मिलता है।

शर्मा जी—भला बताओ तो ऐसी आग में मैं वहाँ कैसे रहता ? बस लोगों ने मेरी ही जान सस्ती समझ रखी है। जिस दिन मैं यहाँ आ रहा था आपके वकील साहब मिल गये, बेतरह गरम हो पड़े, मुझे देश-भक्ति के उपदेश देने लगे। जिन्हें कभी भूल कर भी देश का ध्यान नहीं आता वे भी मुझे उपदेश देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। कुछ भी हो देश-भक्ति का दावा है। जिसे देखो वही तो देश-सेवक बना फिरता है। जो लोग सहस्रों रुपये अपने भोग विलास में फूँकते हैं उनकी गणना भी जाति-सेवकों में है। मैं तो फिर भी कुछ-न-कुछ करता हूँ। मैं भी मनुष्य हूँ कोई देवता नहीं, धन की अभिलाषा अवश्य है। मैं जो अपना जीवन पत्रों के लिए लेख लिखने में काटता हूँ, देश हित की चिंता में मग्न रहता हूँ, उसके लिए मेरा इतना सम्मान बहुत समझा जाता है कि जब किसी सेठ जी या किसी वकील साहब के दरेदौलत पर हाजिर हो जाऊँ तो वह कृपा करके मेरा कुशल-समाचार पूछ लें। उस पर भी यदि दुर्भाग्यवश किसी चंदे के सम्बन्ध में जाता हूँ, तो लोग मुझे यम का दूत समझते हैं। ऐसी रुखाई का व्यवहार करते हैं जिससे सारा उत्साह भंग हो जाता है। यह सब आपत्तियाँ तो मैं झेलूँ, पर जब किसी सभा का सभापति चुनने का समय आता है तो

कोई वकील साहब इसके पात्र समझे जाते हैं, जिन्हें अपने धन के सिवा उक्त पद का कोई अधिकार नहीं। तो भाई जो गुड़ खाय वह कान छिदावे। देश-हितैषियों का पुरस्कार यही जातीय-सम्मान है। जब वहाँ तक मेरी पहुँच ही नहीं तो व्यर्थ जान क्यों दूँ। यदि यह आठ वर्ष मैंने लक्ष्मी की आराधना में व्यतीत किये होते तो अब तक मेरी गिनती बड़े आदमियों में होती। अभी मैंने कितने परिश्रम से देहाती बैंकों पर लेख लिखा, महीनों उसकी तैयारी में लगे, सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने उलटने पड़े, पर किसी ने उसके पढ़ने का कष्ट भी न उठाया। यदि इतना परिश्रम किसी और काम में किया होता तो कम से कम स्वार्थ तो सिद्ध होता। मुझे ज्ञात हो गया कि इन बातों को कोई नहीं पूछता। सम्मान और कीर्ति यह सब धन के नौकर हैं।

बाबूलाल—आपका कहना यथार्थ ही है; पर आप जैसे महानुभाव इन बातों को मन में लावेंगे तो यह काम कौन करेगा ?

शर्मा जी—वही करेंगे जो 'ऑनरेबुल' बने फिरते हैं या जो नगर के पिता कहलाते हैं। मैं तो अब देशाटन करूँगा, संसार की हवा खाऊँगा।

बाबूलाल समझ गये कि यह महाशय इस समय आपे में नहीं हैं। विषय बदल कर पूछा—यह तो बताइए, आपने देहात को कैसे पसंद किया ? आप तो पहले-ही-पहले यहाँ आये हैं।

शर्मा जी—बस, यही कि बैठे-बैठे जी घबराता है। हाँ, कुछ नये अनुभव अवश्य प्राप्त हुए हैं। कुछ भ्रम दूर हो गये। पहले समझता था कि किसान बड़े दीन-दुःखी होते हैं। अब मालूम हुआ कि यह मुटमरद, अनुदार और दुष्ट हैं। सीधे बात न सुनेंगे, पर कड़ाई से जो काम चाहे करा लो। बस, निरे पशु हैं। और तो ओर, लगान के लिए भी उनके सिर पर सवार रहने की जरूरत है। टल जाओ तो कौड़ी वसूल न हो। नालिश कीजिए, बेदखली जारी कीजिए, कुर्की कराइए, यह सब आपत्तियाँ सहेंगे, पर समय पर रुपया देना नहीं जानते। यह सब मेरे लिए नयी बातें हैं। मुझे अब तक इनसे जो सहानुभूति थी वह अब नहीं है। पत्रों में उनकी हीनावस्था के जो मरसिये गाये जाते हैं, वह सर्वथा कल्पित हैं। क्यों आपका क्या विचार है ?

बाबूलाल ने सोच कर जवाब दिया—मुझे तो अब तक कोई शिकायत नहीं हुई। मेरा अनुभव यह है कि यह लोग बड़े शीलवान्, नम्र और कृतज्ञ होते हैं। परन्तु उनके ये गुण प्रकट में नहीं दिखायी देते। उनमें मिलिए और उन्हें मिलाइए तब उनके जौहर खुलते हैं। उन पर विश्वास कीजिए तब वह आप पर विश्वास करेंगे। आप कहेंगे इस विषय में अग्रसर होना उनका काम है और आपका यह कहना उचित भी है, लेकिन शताब्दियों से वह इतने पीसे गये हैं, इतनी ठोकरें खायी हैं कि उनमें स्वाधीन गुणों का लोप-सा हो गया है। जमींदार को वह एक हौआ समझते हैं जिनका काम उन्हें निगल जाना है। वह उनका मुकाबिला नहीं कर सकते, इसलिए छल और कपट से काम लेते हैं, जो निर्धनों का एकमात्र आधार है। पर आप एक बार उनके विश्वासपात्र बन जाइए, फिर आप कभी उनकी शिकायत न करेंगे।

बाबूलाल यह बातें कर ही रहे थे कि कई चमारों ने घास के बड़े-बड़े गट्ठे ला कर डाल दिये और चुपचाप चले गये। शर्मा जी को आश्चर्य हुआ। इसी घास के लिए इनसे बँगले

पर हाय-हाय होती है और यहाँ किसी को खबर भी नहीं हुई। बोले—आखिर अपना विश्वास जमाने का कोई उपाय भी है।

बाबूलाल ने उत्तर दिया—आप स्वयं बुद्धिमान हैं। आपके सामने मेरा मुँह खोलना धृष्टता है। मैं इसका एक ही उपाय जानता हूँ। उन्हें किसी कष्ट में देख कर उनकी मदद कीजिए। मैंने उन्हीं के लिए वैद्यक सीखा और एक छोटा-मोटा औषधालय अपने साथ रखता हूँ। रुपया माँगते हैं तो रुपया, अनाज माँगते हैं जो अनाज देता हूँ, पर सूद नहीं लेता। इससे मुझे ग्लानि नहीं होती, दूसरे रूप में सूद अधिक मिल जाता है। गाँव में दो अंधी स्त्रियाँ और दो अनाथ लड़कियाँ हैं, उनके निर्वाह का प्रबंध कर दिया है। होता सब उन्हीं की कमाई से है, पर नेकनामी मेरी होती है।

इतने में कई असामी आये और बोले—भैया, पोत ले लो।

शर्मा जी ने सोचा इसी लगान के लिए मेरे चपरासी खलिहान में चारपाई डाल कर सोते हैं और किसानों को अनाज के ढेर के पास फटकने नहीं देते और वही लगान यहाँ इस तरह आप से आप चला आता है। बोले—यह सब तो तब ही हो सकता है जब जमींदार आप गाँव में रहें।

बाबूलाल ने उत्तर दिया—जी हाँ, और क्यों ? जमींदार के गाँव में न रहने से इन किसानों को बड़ी हानि होती है। कारिंदों और नौकरों से यह आशा करनी भूल है कि वह इनके साथ अच्छा बर्ताव करेंगे, क्योंकि उनको तो अपना उल्लू सीधा करने से काम रहता है। जो किसान उनकी मुट्ठी गरम करते हैं उन्हें मालिक के सामने सीधा और जो कुछ नहीं देते उन्हें बदमाश और सरकश बतलाते हैं। किसानों को बात-बात के लिए चूसते हैं, किसान छान छवाना चाहे तो उन्हें दे, दरवाजे पर एक खूँटा तक गाड़ना चाहे तो उन्हें पूजे, एक छप्पर उठाने के लिए दस रुपये जमींदार को नजराना दे तो दो रुपये मुंशी जी को जरूर ही देने होंगे। कारिंदे को घी-दूध मुफ्त खिलावे, कहीं-कहीं तो गेहूँ-चावल तक मुफ्त हजम कर जाते हैं। जमींदार तो किसानों को चूसते ही हैं, कारिंदे भी कम नहीं चूसते। जमींदार तीन पाव के भाव में रुपये का सेर भर घी ले तो मुंशी जी को अपने घर अपने साले-बहनोइयों के लिए अठारह छटाँक चाहिए ही। तनिक-तनिक सी बात के लिए डाँड़ और जुर्माना देते-देते किसानों के नाक में दम हो जाता है। आप जानते हैं इसी से और कहीं की तीस रुपये की नौकरी छोड़ कर भी जमींदारों की कारिंदागिरी लोग आठ रुपये, दस रुपये में स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि आठ रुपये, दस रुपये का कारिंदा साल में आठ सौ रुपये, एक हजार रुपये ऊपर से कमाता है। खेद तो यह है कि जमींदार लोगों में शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ शहर में रहने की प्रथा दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। मालूम नहीं आगे चल कर इन बेचारों की क्या गति होगी ?

6

शर्मा जी को बाबूलाल की बातें विचारपूर्ण मालूम हुई ! पर वह सुशिक्षित मनुष्य थे। किसी बात को चाहे वह कितनी ही यथार्थ क्यों न हो, बिना तर्क के ग्रहण नहीं कर सकते थे। बाबूलाल को वह सामान्य बुद्धि का आदमी समझते आये थे। इस भाव में एकाएक परिवर्तन हो जाना असम्भव था। इतना ही नहीं इन बातों का उल्टा प्रभाव यह हुआ कि वह

बाबूलाल से चिढ़ गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बाबूलाल अपने सुप्रबन्ध के अभिमान में मुझे तुच्छ समझता है, मुझे ज्ञान सिखाने की चेष्टा करता है। जो सदैव दूसरों को सद्ज्ञान सिखाने और सम्मान दिखाने का प्रयत्न करता हो वह बाबूलाल जैसे आदमी के सामने कैसे सिर झुकाता ? अतएव जब यहाँ से चले तो शर्मा जी की तर्क-शक्ति बाबूलाल की बातों की आलोचना कर रही थी। मैं गाँव में क्योंकर रहूँ ! क्या जीवन की सारी अभिलाषाओं पर पानी फेर दूँ ? गँवारों के साथ बैठे-बैठे गप्पें लड़ाया करूँ ! घड़ी-आध घड़ी मनोरंजन के लिए उनसे बातचीत करना सम्भव है, पर यह मेरे लिए असह्य है कि वह आठों पहर मेरे सिर पर सवार रहें। मुझे तो उन्माद हो जाय। माना कि उनकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है, पर यह कदापि नहीं हो सकता कि उनके लिए मैं अपना जीवन नष्ट कर दूँ। बाबूलाल बन जाने की क्षमता मुझमें नहीं है कि जिससे बेचारे इस गाँव की सीमा के बाहर नहीं जा सकते। मुझे संसार में बहुत काम करना है, बहुत नाम करना है। ग्राम्य जीवन मेरे लिए प्रतिकूल ही नहीं बल्कि प्राणघातक भी है।

यही सोचते हुए वह बँगले पर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि कई कांस्टेबल कमरे के बरामदे में लेटे हुए हैं। मुख़्तार साहब शर्मा जी को देखते ही आगे बढ़ कर बोले—हुज़ूर ! बड़े दारोगा जी, छोटे दारोगा जी के साथ आये हैं। मैंने उसके लिए पलंग कमरे में ही बिछवा दिये हैं। ये लोग जब इधर आ जाते हैं तो ठहरा करते हैं। देहात में इनके योग्य स्थान और कहाँ है ? अब मैं इनसे कैसे कहता कि कमरा खाली नहीं है। हुज़ूर का पलंग ऊपर बिछा दिया है।

शर्मा जी अपने अन्य देश-हितचिंतक भाइयों की भाँति पुलिस के घोर विरोधी थे। पुलिसवालों के अत्याचारों के कारण उन्हें बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनका सिद्धांत था कि यदि पुलिस का आदमी प्यास से भी मर जाय तो उसे पानी न देना चाहिए। अपने कारिंदे से यह समाचार सुनते ही उनके शरीर में आग-सी लग गयी। कारिंदे की ओर लाल आँखों से देखा और लपक कर कमरे की ओर चले कि बेईमानों का बोरिया-बँधना उठा कर फेंक दूँ। वाह ! मेरा घर न हुआ कोई होटल हुआ ! आ कर डट गये। तेवर बदले हुए बरामदे में जा पहुँचे कि इतने में छोटे दारोगा बाबू कोकिला सिंह ने कमरे से निकल कर पालागन किया और हाथ बढ़ा कर बोले—अच्छी साइत से चला था कि आपके दर्शन हो गये। आप मुझे भूल तो न गये होंगे ?

यह महाशय दो साल पहले 'सोशल सर्विस लीग' के उत्साही सदस्य थे। इंटरमीडियेट फेल हो जाने के बाद पुलिस में दाखिल हो गये थे। शर्मा जी ने उन्हें देखते ही पहचान लिया। क्रोध शांत हो गया। मुस्कराने की चेष्टा करके बोले—भूलना बड़े आदमियों का काम है। मैंने तो आपको दूर ही से पहचान लिया था। कहिए, इसी थाने में हैं क्या ? कोकिला सिंह बोले—जी हाँ, आजकल यहीं हूँ। आइए, आपको दारोगा जी से इन्ट्रोड्यूस (परिचय) कर दूँ।

भीतर आराम कुरसी पर लेटे दारोगा जुल्फिकार अली खाँ हुक्का पी रहे थे। बड़े डीलडौल के मनुष्य थे। चेहरे से रोब टपकता था। शर्मा जी को देखते ही उठकर हाथ मिलाया और बोले—जनाब से नियाज़ हासिल करने का शौक मुद्दत से था। आज खुशनसीब मौका भी मिल गया। इस मुदाखिलत बेजा को मुआफ़ फरमाइएगा।

शर्मा जी को आज मालूम हुआ कि पुलिस वालों को अशिष्ट कहना अन्याय है। हाथ मिला कर बोले—यह आप क्या फरमाते हैं, यह आपका घर है।

पर इसके साथ ही पुलिस पर आक्षेप करने का ऐसा अच्छा अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे। कोकिला सिंह से बोले—आपने तो पिछले साल कॉलेज छोड़ा है। लेकिन आपने नौकरी भी की तो पुलिस की !

बड़े दारोगा जी यह ललकार सुनकर सँभल बैठे और बोले—क्यों जनाब ! क्या पुलिस ही सारे मुहकमों से गया-गुजरा है ? ऐसा कौन-सा सेगा है जहाँ रिश्वत का बाज़ार गर्म नहीं। अगर आप ऐसे एक भी सेगा का नाम बता दीजिए तो मैं ताउम्र आपकी गुलामी करूँ। मुलाज़मत करके रिश्वत लेना मुहाल है। तामील के सेगे को बेलौस कहा जाता है, मगर मुझको इसका खूब तजरबा हो चुका है। अब मैं किसी रास्तबाजी के दावे को तसलीम नहीं कर सकता। और दूसरे सेगों की निस्बत तो मैं नहीं कह सकता, मगर पुलिस में जो रिश्वत नहीं लेता उसे मैं अहमक समझता हूँ। मैंने दो एक दयानतदार सब-इन्स्पेक्टर देखे हैं, पर उन्हें हमेशा तबाह देखा। कभी मातूइ, कभी मुअत्तल, कभी बरखास्त ! चौकीदार और कांस्टेबल बेचारे थोड़ी औकात के आदमी हैं, इनका गुजारा क्योंकर हो ? वही हमारे हाथ-पांव हैं, उन्हीं पर हमारी नेकनामी का दारमदार है। जब वह खुद भूखों मरेंगे तब हमारी मदद करेंगे ! जो लोग हाथ बढ़ा कर लेते हैं, खुद खाते हैं, दूसरों को खिलाते हैं; अफसरों को खुश रखते हैं, उनका शुमा कारगुजार, नेकनाम आदमियों में होता है। मैंने तो यही अपना वसूल बना रखा है और खुदा का शुक्र है कि अफसर और मातहत सभी खुश हैं।

शर्मा जी ने कहा—इसी वजह से तो मैंने ठाकुर साहब से कहा था कि आप क्यों इस सेगे में आये ?

ज़ुल्फिकार अली खाँ गरम हो कर बोले—आये तो मुहकमे पर कोई एहसान नहीं किया। किसी दूसरे सेगे में होते तो अभी तक ठोकरें खाते होते, नहीं तो घोड़े पर सवार नौशा बने घूमते हैं। मैं तो बात सच्ची कहता हूँ, चाहे किसी को अच्छी लगे या बुरी। इनसे पूछिए, हराम की कमायी अकेले आज तक किसी को हजम हुई है ? यह नये लोग जो आते हैं उनकी यह आदत होती है कि जो कुछ मिले अकेले ही हजम कर लें। चुपके-चुपके लेते हैं और थाने के अहलकार मुँह ताकते रह जाते हैं ! दुनिया की निगाह में ईमानदार बनना चाहते हैं, पर खुदा से नहीं डरते। अबे, जब हम खुदा ही से नहीं डरते तो आदमियों का क्या खौफ ? ईमानदार बनना हो तो दिल से बनो। सचाई का स्वाँग क्यों भरते हो ? यह हजरत छोटी-छोटी रकमों पर गिरते हैं; मारे गरूर के किसी आदमी से राय तो लेते नहीं। जहाँ आसानी से सौ रुपये मिल सकते हैं वहाँ पाँच रुपये में बुलबुल हो जाते हैं ! कहीं दूध वाले के दाम मार लिये, कहीं हज्जाम के पैसे दबा लिये, कहीं बनिये से निर्ख के लिए झगड़ बैठे। यह अफसरी नहीं लुच्चापन है; गुनाह बे लज्जत, फायदा तो कुछ नहीं; बदनामी मुफ्त। मैं बड़े-बड़े शिकारों पर निगाह रखता हूँ। यह पिद्दी और बटेर मातहतों के लिए छोड़ देता हूँ। हलफ से कहता हूँ, गरज बुरी शय है। रिश्वत देने वालों से ज्यादा अहमक अंधे आदमी दुनिया में न होंगे। ऐसे कितने ही उल्लू आते हैं जो महज यह चाहते हैं कि मैं उसके किसी पट्टीदार या दुश्मन को दो-चार खोटी खरी सुना दूँ, कई ऐसे बेईमान जमींदार

आते हैं जो यह चाहते हैं कि वह आसामियों पर जुल्म करते रहें और पुलिस दखल न दे ! इतने ही के लिए वह सैकड़ों रुपये मेरी नजर करते हैं और खुशामद घालू में। ऐसे अक्ल के दुश्मनों पर रहम करना हिमाकत है। जिले में मेरे इस इलाके को सोने की खान कहते हैं। इस पर सबके दाँत रहते हैं। रोज एक न एक शिकार मिलता रहता है। जमींदार निरे जाहिल, लंठ, जरा-जरा सी बात पर फौजदारियाँ कर बैठते हैं। मैं तो खुदा से दुआ करता रहता हूँ कि यह हमेशा इसी जहालत के गढ़े में पड़े रहें। सुनता हूँ, कोई साहब आम तालीम का सवाल पेश कर रहे हैं, उस भलेमानुष को न जाने क्या धुन है। शुक्र है कि हमारी आली फहम सरकार ने नामंजूर कर दिया। बस, इस सारे इलाके में एक यही आप का पट्टीदार अलबत्ता समझदार आदमी है। उसके यहाँ मेरी या और किसी की दाल नहीं गलती और लुत्फ यह कि कोई उससे नाखुश नहीं ! बस मीठी-मीठी बातों से मन भर देता है। अपने असामियों के लिए जान देने को हाजिर, और हलफ से कहता हूँ कि अगर मैं जमींदार होता तो इसी शख्स का तरीका अख्तियार करता। जमींदार का फर्ज है कि अपने असामियों को जुल्म से बचाये। उन पर शिकारियों का वार न होने दे। बेचारे गरीब किसानों की जान के तो सभी ग्राहक होते हैं और हलफ से कहता हूँ, उनकी कमाई उनके काम नहीं आती ! उनकी मेहनत का मजा हम लूटते हैं। यों तो जरूरत से मजबूर हो कर इन्सान क्यों नहीं कर सकता, पर हक यह है कि इन बेचारों की हालत वाकई रहम के काबिल है और जो शख्स उनके लिए सीनासीपर हो सके उसके कदम चूमने चाहिए। मगर मेरे लिए तो वही आदमी सबसे अच्छा है जो शिकार में मेरी मदद करे।

शर्मा जी ने इस बकवाद को बड़े ध्यान से सुना। वह रसिक मनुष्य थे। इसकी मार्मिकता पर मुग्ध हो गये। सहृदयता और कठोरता के ऐसे विचित्र मिश्रण मे उन्हें मनुष्यों के मनोभावों का एक कौतूहलजनक परिचय प्राप्त हुआ। ऐसी वक्तृता का उत्तर देने की कोशिश करना व्यर्थ था। बोले—क्या कोई तहकीकात है, या महज गश्त ?

दारोगा जी बोले—जी नहीं, महज गश्त। आजकल किसानों के फसल के दिन हैं। यही जमाना हमारी फसल का भी है। शेर को भी तो माँद में बैठे-बैठे शिकार नहीं मिलता। जंगल में घूमता है। हम भी शिकार की तलाश में हैं। किसी पर खुफिया- फरोशी का इलजाम लगाया, किसी को चोरी का माल खरीदने के लिए पकड़ा, किसी को हमलहराम का झगड़ा उठा कर फाँसा। अगर हमारे नसीब से डाका पड़ गया तो हमारी पाँचों अँगुलियाँ घी में समझिए। डाकू तो नोच-खसोट कर भागते हैं। असली डाका हमारा पड़ता है। आस-पास के गाँव में झाड़ू फेर देते हैं। खुदा से शबोरोज दुआ किया करते हैं कि परवरदिगार ! कहीं से रिजक भेज। झूठे-सच्चे डाके की खबर आवे। अगर देखा कि तकदीर पर शाकिर रहने से काम नहीं चलता तो तदवीर से काम लेते हैं। जरा से इशारे की जरूरत है, डाका पड़ते क्या देर लगती है ! आप मेरी साफगोई पर हैरान होते होंगे। अगर मैं अपने सारे हथकंडे बयान करूँ तो आप यकीन न करेंगे और लुत्फ यह कि मेरा शुमार जिले के निहायत होशियार, कारगुजार, दयानतदार सब-इन्स्पेक्टरों में है। फर्जी डाके डलवाता हूँ ! फर्जी मुल्जिम पकड़ता हूँ, मगर सजाएँ असली दिलवाता हूँ। शहादतें ऐसी गढ़ता हूँ कि कैसा ही बैरिस्टर का चचा क्यों न हो, उनमें गिरफ्तार नहीं कर सकता।

इतने में शहर से शर्मा जी की डाक आ गयी। वे उठ खड़े हुए और बोले—दारोगा जी,

आपकी बातें बड़ी मजेदार होती हैं। अब इजाजत दीजिए। डाक आ गयी है। जरा उसे देखना है।

7

चाँदनी रात थी। शर्मा जी खुली छत पर लेटे हुए एक समाचार-पत्र पढ़ने में मग्न थे। अकस्मात् कुछ शोरगुल सुन कर नीचे की तरफ झाँका तो क्या देखते हैं कि गाँव के चारों तरफ से कान्स्टेबलों के साथ किसान चले आ रहे हैं। बहुत से आदमी खलिहान की तरफ से बड़बड़ाते आते थे। बीच-बीच में सिपाहियों की डाँट-फटकार की आवाजें भी कानों में आती थीं। यह सब आदमी बँगले के सामने सहन में बैठते जाते थे। कहीं-कहीं स्त्रियों का आर्त्तनाद भी सुनायी देता था। शर्मा जी हैरान थे कि मामला क्या है ? इतने में दारोगा जी की भयंकर गरज सुनायी पड़ी—हम एक न मानेंगे, सब लोगों को थाने चलना होगा।

फिर सन्नाटा हो गया। मालूम होता था कि आदमियों में कानाफूसी हो रही है। बीच-बीच में मुख्तार साहब और सिपाहियों के हृदय-विदारक शब्द आकाश में गूँज उठते। फिर ऐसा जान पड़ा कि किसी पर मार पड़ रही है। शर्मा जी से अब न रहा गया। वह सीढ़ियों के द्वार पर आये। कमरे में झाँक कर देखा। मेज पर रुपये गिने जा रहे थे। दारोगा जी ने फर्माया, इतने बड़े गाँव में सिर्फ यही ?

मुख्तार साहब ने उत्तर दिया—अभी घबड़ाइए नहीं। अबकी मुखियों की खबर ली जाय। रुपयों का ढेर लग जाता है।

यह कह कर मुख्तार ने कई किसानों को पुकारा, पर कोई न बोला। तब दारोगा जी का गगनभेदी नाद सुनायी दिया। यह लोग सीधे न मानेंगे, मुखियों को पकड़ लो। हथकड़ियाँ भर दो। एक-एक को डामुल भिजवाऊँगा।

यह नादिरशाही हुक्म पाते ही कान्स्टेबलों का दल उन आदमियों पर टूट पड़ा। ढोल-सी पिटने लगी। क्रंदन-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। शर्मा जी का रक्त खौल रहा था। उन्होंने सदैव न्याय और सत्य की सेवा की थी। अन्याय और निर्दयता का यह करुणात्मक अभिमान उनके लिए असह्य था।

अचानक किसी ने रो कर कहा—दोहाई सरकार का, मुख्तार साहब हम लोगन को नाहक मरवाये डारत हैं।

शर्मा जी क्रोध से काँपते हुए धम-धम कोठे से उतर पड़े, यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि मुख्तार साहब को मारे हंटरों के गिरा दूँ, पर जन सेवा में मनोवेगों को दबाने की बड़ी प्रबल शक्ति होती है। रास्ते ही में सँभल गये। मुख्तार को बुला कर कहा—मुंशी जी, आपने यह क्या गुल-गपाड़ा मचा रखा है।

मुख्तार ने उत्तर दिया—हुजूर, दारोगाजी ने इन्हें एक डाके की तहकीकात में तलब किया है।

शर्मा जी बोले—जी हाँ, इस तहकीकात का अर्थ मैं खूब समझता हूँ। घंटे भर से इसका तमाशा देख रहा हूँ। तहकीकात हो चुकी या कसर बाकी है ?

मुख्तार ने कहा—हुजूर, दारोगा जी जानें, मुझे क्या मतलब ?

दारोगा जी बड़े चतुर पुरुष थे। मुख्तार साहब की बातों से उन्होंने समझा था कि शर्मा जी का स्वभाव भी अन्य जमींदारों के सदृश है। इसलिए वह बेखटके थे, पर इस समय

उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। शर्मा जी के तेवर देखे, नेत्रों से क्रोधाग्नि की ज्वाला निकल रही थी, शर्मा जी की शक्तिशालीनता से भली-भाँति परिचित थे। समीप आ कर बोले–आपके इस मुख्तार ने मुझे बड़ा धोखा दिया, वरना मैं हलफ़ से कहता हूँ कि यहाँ यह आग न लगती। आप मेरे मित्र बाबू कोकिला सिंह के मित्र हैं और इस नाते से मैं आपको अपना मुरब्बी समझता हूँ, पर इस नामरदूद बदमाश ने मुझे बड़ा चकमा दिया! मैं भी ऐसी अहमक था कि इसके चक्कर में आ गया। मैं बहुत नादिम हूँ कि हिमाकत के बाइस जनाब को इतनी तकलीफ हुई ! मैं आपसे मुआफी का सायल हूँ। मेरी एक दोस्ताना इल्तमाश यह है कि जितनी जल्दी मुमकिन हो इस शख्स को बरतरफ कर दीजिए। यह आपकी रियासत को तबाह किये डालता है। अब मुझे भी इजाजत हो कि अपने मनहूस कदम यहाँ से ले जाऊँ। मैं हलफ़ से कहता हूँ कि मुझे आपको मुँह दिखाते शर्म आती है।

8

यहाँ तो यह घटना हो रही थी, उधर बाबूलाल अपने चौपाल में बैठे हुए, इसके सम्बन्ध में अपने कई असामियों से बातचीत कर रहे थे। शिवदीन ने कहा–भैया, आप जाके दारोगा जी को काहे नाहीं समझावत हौ। राम-राम ! ऐसन अंधेर !

बाबूलाल–भाई, मैं दूसरे के बीच में बोलने वाला कौन ? शर्मा जी तो वहीं हैं। वह आप ही बुद्धिमान हैं। जो उचित होगा, करेंगे। यह आज कोई नयी बात थोड़े ही है। देखते तो हो कि आये दिन एक न एक उपद्रव मचा ही रहता है। मुख्तार साहब का इसमें भला होता है। शर्मा जी से मैं इस विषय में इसलिए कुछ नहीं कहता कि शायद वे यह समझें कि मैं ईर्ष्यावश शिकायत कर रहा हूँ।

रामदास ने कहा–शर्मा जी कोठा पर हैं और नीचू बेचारन पर मार परत है। देखा नाहीं जात है। जिनसे मुराद पाय जात हैं। उनका छोड़े देत हैं। मोका तो जान परत है कि ई तहकीकात-सहकीकात सब रुपैयन के खातिर कीन जात है।

बाबूलाल–और काहे के लिए की जाती है। दारोगा जी ऐसे ही शिकार ढूँढ़ा करते हैं, लेकिन देख लेना शर्मा जी अबकी मुख्तार साहब की जरूर खबर लेंगे। वह ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं कि यह अंधेर अपनी आँखों से देखें और मौन धारण कर लें ? हाँ, यह तो बताओ अबकी कितनी ऊख बोयी है ?

रामदास–ऊख बोये ढेर रहे मुदा दुष्टन के मारे बचै पावै। तू मानत नाहीं भैया, पर आँखन देखी बात है कि कराह के कराह रस जर गवा और छटांकों भर माल न परा। न जानी अस कौन मन्तर मार देत हैं।

बाबूलाल–अच्छा, अबकी मेरे कहने से यह हानि उठा लो। देखूँ ऐसा कौन बड़ा सिद्ध है जो कराही का रस उड़ा देता है ? जरूर इसमें कोई न कोई बात है, इस गाँव में जितने कोल्हू जमीन में गड़े पड़े हैं उनसे विदित होता है कि पहले यहाँ ऊख बहुत होती थी, किन्तु अब बेचारी का मुँह भी मीठा नहीं होने पाता।

शिवदीन–अरे भैया ! हमारे होस से ई सब कोल्हू चलत रहे हैं। माघ-पूस में रात भर गाँव में मेला लगा रहत रहा, पर जब से ई नासिनी विद्या फैली है तब से कोऊ का ऊख के नेरे जाये का हिसाब नहीं परत है।

बाबूलाल—ईश्वर चाहेंगे तो फिर वैसी ही ऊख लगेगी। अबकी मैं इस मंत्र की उलट दूँगा। भैया यह तो बताओ अगर ऊख लग जाय और माल पड़े तो तुम्हारी पट्टी में एक हजार का गुड़ हो जायगा ?

हरखू ने हँस कर कहा—भैया, कैसी बात कहते हो—हजार तो पाँच बीघा में मिल सकते हैं। हमारे पट्टी में पच्चीस बीघा से कम ऊख नहीं था। कुछो न परे तो अढ़ाई हजार कहूँ नहीं गये हैं।

बाबूलाल—तब तो आशा है कि कोई पचास रुपये बयाई में मिल जायँगे। यह रुपये गाँव की सफाई में खर्च होंगे।

इतने में एक युवा मनुष्य दौड़ता हुआ आया और बोला—भैया ! ऊ तहकीकात देखे गइल रहलीं। दारोगा जी सबका डाँटत मारत रहें। देवी मुखिया बोला—मुख्तार साहब, हमका चाहे काट डारो मुदा हम एक कौड़ी न देबै। थाना कचहरी जहाँ कहो चलै के तैयार हुई। ई सुन के मुख्तार लाल हुई गयेन। चार सिपाहिन से कहेन कि एहिका पकरिके खूब मारो, तब देवी चिल्लाय-चिल्लाय रोवे लागल, एतने में सरमा जी कोठी पर से खट-खट उतरेन और मुख्तार का लगे डाँटे। मुख्तार ठाटे झूर होय गयेन। दारोगा जी धीरे से घोड़ा मँगवाय के भागन। मनई सरमा जी का असीसत चला जात हैं।

बाबूलाल—यह तो मैं पहले ही कहता था कि शर्मा जी से यह अन्याय न देखा जायगा।

इतने में दूर से एक लालटेन का प्रकाश दिखायी दिया। एक आदमी के साथ शर्मा जी आते हुए दिखायी दिये। बाबूलाल ने असामियों का वहाँ से हटा दिया, कुरसी रखवा दी और बढ़ कर बोले—आपने इस समय क्यों कष्ट किया, मुझको बुला लिया होता।

शर्मा जी ने नम्रता से उत्तर दिया—आपको किस मुँह से बुलाता, मेरे सारे आदमी वहाँ पीटे जा रहे थे, उनका गला दबाया जा रहा था और आप पास न फटके। मुझे आपसे मदद की आशा थी। आज हमारे मुख्तार ने गाँव में लूट मचा दी थी। अख्तार की और क्या कहूँ। बेचारा थोड़े औकात का आदमी है। खेद तो यह है कि आपके दारोगा जी भी उसके सहायक थे। कुशल यह थी कि मैं वहाँ मौजूद था।

बाबूलाल—बहुत लज्जित हूँ कि इस अवसर पर आपकी कुछ सेवा न कर सका! पर बात यह है कि मेरे वहाँ जाने से मुख्तार साहब और दारोगा दोनों ही अप्रसन्न होते। मुख्तार मुझसे कई बार कह चुके हैं कि आप मेरे बीच में न बोला कीजिए। मैं आपसे कभी गाँव की दशा इस भय से न कहता था कि शायद आप समझें कि मैं ईर्ष्या के कारण ऐसा कहता हूँ। यहाँ यह कोई नयी बात नहीं है। आये दिन ऐसी ही घटनाएँ होती रहती हैं, और कुछ इसी गाँव में नहीं, जिस गाँव को देखिए, यही दशा है। इन सब आपत्तियों का एकमात्र कारण यह है कि देहातों में कर्मपरायण, विद्वान् और नीतिज्ञ मनुष्यों का अभाव है। शहर के सुशिक्षित जमींदार जिनसे उपकार की बहुत कुछ आशा की जाती है, सारा काम कारिंदों पर छोड़ देते हैं। रहे देहात के जमींदार सो निरक्षर भट्टाचार्य हैं। अगर कुछ थोड़े बहुत पढ़े भी हैं तो अच्छी संगति न मिलने के कारण उनमें बुद्धि का विकास नहीं है। कानून के थोड़े से दफे सुन-सुना लिये हैं, बस उसी की रट लगाया करते हैं। मैं आप से सत्य कहता हूँ, मुझे जरा भी खबर होती तो मैं आपको सचेत कर दिये होता।

शर्मा जी—खैर, यह बला तो टली, पर मैं देखता हूँ कि इस ढंग से काम न चलेगा। अपने असामियों को आज इस विपत्ति में देख कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरा मन बार-बार मुझको इन सारी दुर्घटनाओं का उत्तरदाता ठहराता है। जिनकी कमाई खाता हूँ, जिनकी बदौलत टमटम पर सवार हो कर रईस बना घूमता हूँ, उनके कुछ स्वत्व भी तो मुझ पर हैं। मुझे अब अपनी स्वार्थांधता स्पष्ट दीख पड़ती है। मैं आप अपनी ही दृष्टि में गिर गया हूँ। मैं सारी जाति के उद्धार का बीड़ा उठाये हुए हूँ, सारे भारतवर्ष के लिए प्राण देता फिरता हूँ, पर अपने घर की खबर ही नहीं। जिनकी रोटियाँ खाता हूँ उनकी तरफ से इस तरह उदासीन हूँ ! अब इस दुरावस्था को समूल नष्ट करना चाहता हूँ। इस काम में मुझे आपकी सहायता और सहानुभूति की जरूरत है। मुझे अपना शिष्ट बनाइए। मैं याचकभाव से आपके पास आया हूँ। इस भार को सँभालने की शक्ति मुझमें नहीं। मेरी शिक्षा ने मुझे किताबों का कीड़ा बना कर छोड़ दिया और मन के मोदक खाना सिखाया। मैं मनुष्य नहीं, किन्तु नियमों का पोथ हूँ। आप मुझे मनुष्य बनाइए, मैं अब यहीं रहूँगा, पर आपको भी यहीं रहना पड़ेगा। आपकी जो हानि होगी उसका भार मुझ पर है। मुझे सार्थक जीवन का पाठ पढ़ाइए। आपसे अच्छा गुरु मुझे न मिलेगा। सम्भव है कि आपका अनुगामी बन कर मैं अपना कर्त्तव्य पालन करने योग्य हो जाऊँ।

[‘मशाले-हिदायत’ शीर्षक मे उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका ‘जमाना’, मई, 1917 में प्रकाशित। उर्दू काहनी संग्रह ‘प्रेम बत्तीसी’ तथा ‘देहान के अफसाने’ में संकलित। हिन्दी रूप ‘उपदेश’ शीर्षक से ‘मानसरोवर’ भाग-8 में संकलित।]

महातीर्थ

मुंशी इंद्रमणि की आमदनी कम थी और खर्च ज्यादा। अपने बच्चे के लिए दाई का खर्च न उठा सकते थे। लेकिन एक तो बच्चे की सेवा-शुश्रूषा की फ़िक्र और दूसरे अपने बराबर वालों से हेठे बन कर रहने का अपमान; इस खर्च को सहने पर मजबूर करता था। बच्चा दाई को बहुत चाहता था, हरदम उसके गले का हार बना रहता था। इसलिए दाई और भी जरूरी मालूम होती थी, पर शायद सबसे बड़ा कारण यह था कि वह मुरौवत के वश दाई को जवाब देने का साहस नहीं कर सकते थे। बुढ़िया उनके यहाँ तीन साल से नौकर थी। उसने उनके इकलौते लड़के का लालन-पालन किया था। अपना काम बड़ी मुस्तैदी और परिश्रम से करती थी। उसे निकालने का कोई बहाना नहीं था और व्यर्थ खुचड़ निकालना इंद्रमणि जैसे भले आदमी के स्वभाव के विरुद्ध था, पर सुखदा इस संबंध में अपने पति से सहमत न थी। उसे संदेह था कि दाई हमें लूटे लेती है। जब दाई बाजार से लौटती तो वह दालान में छिपी रहती कि देखूँ आटा कहीं छिपा कर तो नहीं रख देती, लकड़ी तो नहीं छिपा देती। उसकी लायी हुई चीजों को घंटों देखती, पूछताछ करती। बार-बार पूछती, इतना ही क्यों ? क्या भाव है ? क्या इतना महँगा हो गया ? दाई कभी तो इन संदेहात्मक प्रश्नों का उत्तर नम्रतापूर्वक देती, किंतु जब कभी बहू जी ज्यादा तेज हो जातीं तो वह भी कड़ी पड़

जाती थी। शपथें खाती। सफाई की शहादतें पेश करती। वाद-विवाद में घंटों लग जाते थे। प्रायः नित्य यही दशा रहती थी और प्रतिदिन यह नाटक दाई के अश्रुपात के साथ समाप्त होता था। दाई का इतनी सख्तियाँ झेल कर पड़े रहना सुखदा के संदेह को और भी पुष्ट करता था। उसे कभी विश्वास नहीं होता था कि यह बुढ़िया केवल बच्चे के प्रेमवश पड़ी हुई है। वह बुढ़िया को इतनी बाल-प्रेम-शीला नहीं समझती थी।

2

संयोग से एक दिन दाई को बाजार से लौटने में जरा देर हो गयी। वहाँ दो कुँजड़ियों में देवासुर संग्राम मचा था। उनका चित्रमय हाव-भाव, उनका आग्नेय तर्क-वितर्क, उनके कटाक्ष, और व्यंग्य सब अनुपम थे। विष के दो नद थे या ज्वाला के दो पर्वत, जो दोनों तरफ से उमड़ कर आपस में टकरा गये थे। क्या वाक्य-प्रवाह था, कैसी विचित्र विवेचना ! उनका शब्द-बाहुल्य, उनकी मार्मिक विचारशीलता, उनके अलंकृत शब्द-विन्यास और उनकी उपमाओं की नवीनता पर ऐसा कौन-सा कवि है जो मुग्ध न हो जाता। उनका धैर्य, उनकी शांति विस्मयजनक थी। दर्शकों की एक खासी भीड़ भी थी। वह लाज को भी लज्जित करनेवाले इशारे, वह अश्लील शब्द जिनसे मलिनता के भी कान खड़े होते, सहस्रों रसिकजनों के लिए मनोरंजन की सामग्री बने हुए थे।

दाई भी खड़ी हो गयी कि देखूँ क्या मामला है। तमाशा इतना मनोरंजक था कि उसे समय का बिलकुल ध्यान न रहा। यकायक जब नौ के घंटे की आवाज कान में आयी तो चौंक पड़ी और लपकी हुई घर की ओर चली।

सुखदा भरी बैठी थी। दाई को देखते ही त्योरी बदल कर बोली—क्या बाजार में खो गयी थी ?

दाई विनयपूर्ण भाव से बोली—एक जान-पहचान की महरी से भेंट हो गयी। वह बातें करने लगी।

सुखदा इस जवाब से और भी चिढ़ कर बोली—यहाँ दफ्तर जाने को देर हो रही है और तुम्हें सैर-सपाटे की सूझती है।

परंतु दाई ने इस समय दबने में ही कुशल समझी, बच्चे को गोद में लेने चली, पर सुखदा ने झिड़क कर कहा—रहने दो, तुम्हारे बिना वह व्याकुल नहीं हुआ जाता।

दाई ने इस आज्ञा को मानना आवश्यक नहीं समझा। बहू जी का क्रोध ठंडा करने के लिए इससे उपयोगी और कोई उपाय न सूझा। उसने रुद्रमणि को इशारे से अपने पास बुलाया। वह दोनों हाथ फैलाये खड़खड़ाता हुआ उसकी ओर चला। दाई ने उसे गोद में उठा लिया और दरवाजे की तरफ चली। लेकिन सुखदा बाज की तरह झपटी और रुद्र को उसकी गोद से छीन कर बोली—तुम्हारी यह धूर्तता बहुत दिनों से देख रही हूँ। यह तमाशे किसी और को दिखाइयो। यहाँ जी भर गया।

दाई रुद्र पर जान देती थी और समझती थी कि सुखदा इस बात को जानती है। उसकी समझ में सुखदा और उसके बीच यह ऐसा मजबूत संबंध था, जिसे साधारण झटके तोड़ न सकते थे। यही कारण था कि सुखदा के कटुवचनों को सुन कर भी उसे यह विश्वास न होता था कि मुझे निकालने पर प्रस्तुत है। सुखदा ने यह बातें कुछ ऐसी

कठोरता से कहीं और रुद्र को ऐसी निर्दयता से छीन लिया कि दाई से सह्य न हो सका। बोली—बहू जी ! मुझसे कोई बड़ा अपराध तो नहीं हुआ, बहुत तो पाव घंटे की देर हुई होगी। इस पर आप इतना बिगड़ रही हैं तो साफ क्यों नहीं कह देतीं कि दूसरा दरवाजा देखो। नारायण ने पैदा किया है तो खाने को भी देगा। मजदूरी का अकाल थोड़े ही है।

सुखदा ने कहा—तो यहाँ तुम्हारी परवाह ही कौन करता है ? तुम्हारी जैसी लौंडिनें गली-गली ठोकरें खाती फिरती हैं।

दाई ने जवाब दिया—हाँ, नारायण आपको कुशल से रखें। लौंडिनें और दाईयाँ आपको बहुत मिलेंगी। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ हो, क्षमा कीजिएगा, मैं जाती हूँ।

सुखदा—जा कर मरदाने में अपना हिसाब कर लो।

दाई—मेरी तरफ से रुद्र बाबू को मिठाइयाँ मँगवा दीजिएगा।

इतने में इंद्रमणि भी बाहर से आ गये, पूछा—क्या है क्या ?

दाई ने कहा—कुछ नहीं। बहू जी ने जवाब दिया है, घर जाती हूँ।

इंद्रमणि गृहस्थी के जंजाल से इस तरह बचते थे जैसे कोई नंगे पैर वाला मनुष्य काँटों से बचे। उन्हें सारे दिन एक ही जगह खड़े रहना मंजूर था, पर काँटों में पैर रखने की हिम्मत न थी। खिन्न हो कर बोले—बात क्या हुई ?

सुखदा ने कहा—कुछ नहीं। अपनी इच्छा। जी नहीं चाहता, नहीं रखते। किसी के हाथों बिक तो नहीं गये।

इंद्रमणि ने झुँझला कर कहा—तुम्हें बैठे-बैठे एक न एक खुचड़ सूझती रहती है।

सुखदा ने तिनक कर कहा—हाँ, मुझे तो इसका रोग है। क्या करूँ स्वभाव ही ऐसा है। तुम्हें यह बहुत प्यारी है तो ले जाकर गले में बाँध लो, मेरे यहाँ जरूरत नहीं।

3

दाई घर से निकली तो आँखें डबडबायी हुई थीं। हृदय रुद्रमणि के लिए तड़प रहा था। जी चाहता था कि एक बार बालक को लेकर प्यार कर लूँ; पर यह अभिलाषा लिये हुए ही उसे घर से बाहर निकलना पडा।

रुद्रमणि दाई के पीछे-पीछे दरवाजे पर आया, पर दाई ने जब दरवाजा बाहर से बंद कर दिया तो वह मचल कर जमीन पर लेट गया और अन्ना-अन्ना कह कर रोने लगा। सुखदा ने चुमकारा, प्यार किया, गोद में लेने की कोशिश की, मिठाई देने का लालच दिया, मेला दिखाने का वादा किया, इससे जब काम न चला तो बंदर, सिपाही, लूलू और हौआ की धमकी दी; पर रुद्र ने वह रौद्र भाव धारण किया, कि किसी तरह चुप न हुआ। यहाँ तक कि सुखदा को क्रोध आ गया, बच्चे को वहीं छोड़ दिया और आकर घर के धंधे में लग गयी। रोते-रोते रुद्र का मुँह और गाल लाल हो गये, आँखें सूज गयीं। निदान वह वहीं जमीन पर सिसकते-सिसकते सो गया।

सुखदा ने समझा था कि बच्चा थोड़ी देर में रो-धो कर चुप हो जायेगा। रुद्र ने जागते ही अन्ना की रट लगायी। तीन बजे इंद्रमणि दफ्तर से आये और बच्चे की यह दशा देखी तो स्त्री की तरफ कुपित नेत्रों से देख कर उसे गोद में उठा लिया और बहलाने लगे। जब अंत में रुद्र को यह विश्वास हो गया कि दाई मिठाई लेने गयी है तो उसे संतोष हुआ।

परंतु शाम होते ही उसने फिर चीखना शुरू किया—अन्ना मिठाई ला।

इस तरह दो-तीन दिन बीत गये। रुद्र को अन्ना की रट लगाने और रोने के सिवा और कोई काम न था। वह शांत प्रकृति कुत्ता; जो उसकी गोद से एक क्षण के लिए भी न उतरता था, वह मौन व्रतधारी बिल्ली जिसे ताख पर देख कर वह खुशी से फूला न समाता था, वह पंखहीन चिड़िया, जिस पर वह जान देता था, सब उसके चित्त से उतर गये। वह उनकी तरफ आँख उठा कर भी न देखता। अन्ना जैसी जीती-जागती, प्यार करने वाली, गोद में लेकर घुमाने वाली, थपक-थपक कर सुलाने वाली, गा-गाकर खुश करने वाली चीज का स्थान उन निर्जीव चीजों से पूरा न हो सकता था। वह अक्सर सोते-सोते चौंक पड़ता अन्ना-अन्ना पुकार कर हाथों से इशारा करता, मानों उसे बुला रहा है। अन्ना की खाली कोठरी में घंटों बैठा रहता। उसे आशा होती कि अन्ना यहाँ आती होगी। इस कोठरी का दरवाजा खुलते सुनता तो अन्ना ! अन्ना कह कर दौड़ता। समझता कि अन्ना आ गयी। उसका भरा हुआ शरीर घुल गया, गुलाब जैसा चेहरा सूख गया, माँ और बाप उसकी मोहनी हँसी के लिए तरस कर रह जाते थे। यदि बहुत गुदगुदाने या छेड़ने से हँसता भी तो ऐसा जान पड़ता था कि दिल से नहीं हँसता, केवल दिल रख लेने के लिए हँस रहा है। उसे अब दूध से प्रेम न था, न मिश्री से, न मेवे से, न मीठे बिस्कुट से, न ताजी इमरती से। उनमें मज़ा तब था जब अन्ना अपने हाथों से खिलाती थी। अब उनमें मजा नहीं था। दो साल का लहलहाता हुआ सुन्दर पौधा मुरझा गया। वह बालक जिसे गोद में उठाते ही नरमी, गरमी और भारीपन का अनुभव होता था, अब सूख कर काँटा हो गया। सुखदा अपने बच्चे की यह दशा देख कर भीतर ही भीतर कुढ़ती, अपनी मूर्खता पर पछताती। इन्द्रमणि, जो शांतिप्रिय आदमी थे, अब बालक को गोद से अलग न करते थे, उसे रोज साथ हवा खिलाने ले जाते थे। नित्य नये खिलौने लाते थे, पर मुर्झाया हुआ पौधा किसी तरह भी न पनपता था। दाई उसके लिए संसार की सूर्य थी। उस स्वाभाविक गर्मी और प्रकाश से वंचित रहकर हरियारी को बहार कैसे दिखाता ? दाई के बिना उसे अब चारों ओर सन्नाटा दिखायी देता था। दूसरी अन्ना तीसरे ही दिन रख ली गयी थी। पर रुद्र उसकी सूरत देखते ही मुँह छिपा लेता था मानों वह कोई डाइन या चुड़ैल हो।

प्रत्यक्ष रूप में दाई को न देख कर रुद्र अब उसकी कल्पना में मग्न रहता। वहाँ उसकी अन्ना चलती-फिरती दिखायी देती थी। उसकी वह गोद थी, वही स्नेह; वही प्यारी-प्यारी बातें, वही प्यारे गाने, वही मजेदार मिठाइयाँ, वही सुहावना संसार, वही आनन्दमय जीवन। अकेले बैठ कर कल्पित अन्ना से बातें करता, अन्ना, कुत्ता भूके। अन्ना, गाय दूध देती। अन्ना; उजला-उजला घोड़ा दौड़े। सबेरा होते ही लोटा लेकर दाई की कोठरी में जाता और कहता—अन्ना, पानी। दूध का गिलास लेकर उसकी कोठरी में रख आता और कहता—अन्ना, दूध पिला। अपनी चारपाई पर तकिया रख कर चादर से ढाँक देता, और कहता—अन्ना सोती है। सुखदा जब खाने बैठती तो कटोरे उठा-उठा कर अन्ना की कोठरी में ले जाता और कहता—अन्ना खाना खायगी। अन्ना अब उसके लिए एक स्वर्ग की वस्तु थी, जिसके लौटने की अब उसे बिलकुल आशा न थी। रुद्र के स्वभाव में धीरे-धीरे बालकों की चपलता और सजीवता की जगह एक निराशाजनक धैर्य, एक आनंदविहीन शिथिलता दिखायी देने लगी। इस तरह तीन हफ्ते गुजर गये। बरसात का

मौसम था। कभी बैचेन करने वाली गर्मी, कभी हवा के ठंडे झोंके। बुखार और जुकाम का जोर था। रुद्र की दुर्बलता इस ऋतु-परिवर्तन को बर्दाश्त न कर सकी। सुखदा उसे फलालैन का कुर्ता पहनाये रखती थी। उसे पानी के पास नहीं जाने देती। नंगे पैर एक कदम भी नहीं चलने देती। पर सर्दी लग ही गयी। रुद्र को खाँसी और बुखार आने लगा।

4

प्रभात का समय था। रुद्र चारपाई पर आँख बन्द किये पड़ा था। डाक्टरों का इलाज निष्फल हुआ। सुखदा चारपाई पर बैठी उसकी छाती में तेल की मालिश कर रही थी और इंद्रमणि विषाद की मूर्ति बने हुए करुणापूर्ण आँखों से बच्चे को देख रहे थे। इधर सुखदा से बहुत कम बोलते थे। उन्हें उससे एक तरह की घृणा-सी हो गयी थी। वह रुद्र की बीमारी का एकमात्र कारण उसी को समझते थे। वह उनकी दृष्टि में बहुत नीच स्वभाव की स्त्री थी। सुखदा ने डरते-डरते कहा—आज बड़े हकीम साहब को बुला लेते; शायद उनकी दवा से फायदा हो।

इंद्रमणि ने काली घटाओं की ओर देख कर रुखाई से जवाब दिया—बड़े हकीम नहीं, यदि धन्वन्तरि भी आवें तो भी उसे कोई फायदा न होगा।

सुखदा ने कहा—तो क्या अब किसी की दवा न होगी ?

इंद्रमणि—बस, इसकी एक ही दवा है और अलभ्य है।

सुखदा—तुम्हें तो बस वही धुन सवार है। क्या बुढ़िया आकर अमृत पिला देगी।

इंद्रमणि—वह तुम्हारे लिए चाहे विष हो, पर लड़के के लिए अमृत ही होगी।

सुखदा—मैं नहीं समझती कि ईश्वरेच्छा उसके अधीन है।

इंद्रमणि—यदि नहीं समझती हो और अब तक नहीं समझी, तो रोओगी। बच्चे से हाथ धोना पड़ेगा।

सुखदा—चुप भी रहो, क्या अशुभ मुँह से निकालते हो। यदि ऐसी ही जलीकटी सुनानी है, तो बाहर चले जाओ।

इंद्रमणि—तो में जाता हूँ। पर याद रखो, यह हत्या तुम्हारी ही गर्दन पर होगी। यदि लड़के को तंदुरुस्त देखना चाहती हो, तो उसी दाई के पास जाओ, उससे विनती और प्रार्थना करो, क्षमा माँगो। तुम्हारे बच्चे की जान उसी की दया के अधीन है।

सुखदा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों से आंसू जारी थे।

इंद्रमणि ने पूछा—क्या मर्जी है, जाऊँ उसे बुला लाऊँ ?

सुखदा—तुम क्यों जाओगे, मैं आप चली जाऊँगी।

इंद्रमणि—नहीं, क्षमा करो। मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं है। न जाने तुम्हारे जबान से क्या निकल पड़े कि जो वह आती भी तो न आवे।

सुखदा ने पति की ओर फिर तिरस्कार की दृष्टि से देखा और बोली—हाँ, और क्या मुझे अपने बच्चे की बीमारी का शोक थोड़े ही है। मैंने लाज के मारे तुमसे कहा नहीं, पर मेरे हृदय में यह बात बार-बार उठी है। यदि मुझे दाई के मकान का पता मालूम होता, तो मैं कब की उसे मना लायी होती। वह मुझसे कितनी ही नाराज हो, पर रुद्र से उसे प्रेम था। मैं आज ही उसके पास जाऊँगी। तुम विनती करने को कहते हो, मैं उसके पैरों पड़ने के

लिए तैयार हूँ। उसके पैरों को आँसुओं से भिगोऊँगी, और जिस तरह राजी होगी, राजी करूँगी।

सुखदा ने बहुत धैर्य धर कर यह बातें कहीं, परंतु उमड़े हुए आँसू न रुक सके। इंद्रमणि ने स्त्री की ओर सहानुभूतिपूर्वक देखा और लज्जित हो बोले—मैं तुम्हारा जाना उचित नहीं समझता। मैं खुद ही जाता हूँ.

5

कैलासी संसार में अकेली थी। किसी समय उसका परिवार गुलाब की तरह फूला हुआ था; परंतु धीरे-धीरे उसकी सब पत्तियाँ गिर गयीं। अब उसकी सब हरियाली नष्ट-भ्रष्ट हो गयी, और अब वही एक सूखी हुई टहनी उस हरे-भरे पेड़ की चिह्न रह गयी थी।

परंतु रुद्र को पाकर इस सूखी हुई टहनी में जान पड़ गयी थी। इसमें हरी-भरी पत्तियाँ निकल आयी थीं। वह जीवन, जो अब तक नीरस और शुष्क था; अब सरस और सजीव हो गया था। अँधेरे जंगल में भटके हुए पथिक को प्रकाश की झलक आने लगी। अब उसका जीवन निरर्थक नहीं बल्कि सार्थक हो गया था।

कैलासी रुद्र की भोली-भाली बातों पर निछावर हो गयी; पर वह अपना स्नेह सुखदा से छिपाती थी, इसलिए कि माँ के हृदय में द्वेष न हो। वह रुद्र के लिए माँ से छिप कर मिठाइयाँ लाती और उसे खिला कर प्रसन्न होती। वह दिन में दो-तीन बार उसे उबटन मलती कि बच्चा खूब पुष्ट हो। वह दूसरों के सामने कोई चीज नहीं खिलाती कि उसे नजर लग जायेगी। सदा वह दूसरों से बच्चे के अल्पाहार का रोना रोया करती। उसे बुरी नजर से बचाने के लिए ताबीज और गंडे लाती रहती। यह उसका विशुद्ध प्रेम था। उसमें स्वार्थ की गंध भी न थी।

इस घर से निकल कर आज कैलासी की वह दशा थी, जो थियेटर में यकायक बिजली-लैम्पों के बुझ जाने से दर्शकों में होती है। उसके सामने वही सूरत नाच रही थी। कानों में वही प्यारी-प्यारी बातें गूँज रही थीं। उसे अपना घर काटे खाता था। उस कालकोठरी में दम घुटा जाता था।

रात ज्यों-त्यों कर कटी। सुबह को वह घर में झाड़ू लगा रही थी। बाहर ताजे हलवे की आवाज सुन कर बड़ी फुर्ती से घर से बाहर निकल आयी। तब याद आ गया, आज हलुवा कौन खायेगा ? आज गोद में बैठ कर कौन चहकेगा ? वह मधुर गान सुनने के लिए जो हलुवा खाते समय रुद्र की आँखों से, होंठों से, और शरीर के एक-एक अंग से बरसता, कैलासी का हृदय तड़प गया। वह व्याकुल होकर घर से बाहर निकली कि चलूँ रुद्र को देख आऊँ। पर आधे रास्ते से लौट गयी।

रुद्र कैलासी के ध्यान से एक क्षण भर के लिए भी नहीं उतरता था। वह सोते-सोते चौंक पड़ती, जान पड़ता रुद्र डंडे का घोड़ा दबाये चला आता है। पड़ोसियों के पास जाती, तो रुद्र की ही चर्चा करती। रुद्र उसके दिल और जान में बसा हुआ था। सुखदा के कठोरतापूर्ण कुव्यवहार का उसके हृदय में ध्यान नहीं था। वह रोज इरादा करती थी कि आज रुद्र को देखने चलूँगी। उसके लिए बाजार से मिठाइयाँ और खिलौने लाती। घर से चलती, पर रास्ते से लौट आती। कभी दो-चार कदम से आगे नहीं बढ़ा जाता। कौन मुँह

लेकर जाऊँ। जो प्रेम को धूर्तता समझता हो, उसे कौन-सा मुँह दिखाऊँ ? कभी सोचती यदि रुद्र मुझे न पहचाने तो ? बच्चों के प्रेम का ठिकाना ही क्या ? नयी दाई से हिल-मिल गया होगा। यह खयाल उसके पैरों पर जंजीर का काम कर जाता था।

इस तरह दो हफ्ते बीत गये। कैलासी का जी उचटा रहता, जैसे उसे कोई लम्बी यात्रा करनी हो। घर की चीजें जहाँ की तहाँ पड़ी रहतीं, न खाने की सुधि थी, न कपड़े की। रात-दिन रुद्र ही के ध्यान में डूबी रहती थी। संयोग से इन्हीं दिनों बद्रीनाथ की यात्रा का समय आ गया। मुहल्ले के कुछ लोग यात्रा की तैयारियाँ करने लगे। कैलासी की दशा इस समय उस पालतू चिड़िया की-सी थी, जो पिंजड़े से निकल कर फिर किसी कोने की खोज में हो। उसे विस्मृति का यह अच्छा अवसर मिल गया: यात्रा के लिए तैयार हो गयी।

6

आसमान पर काली घटाएँ छायी हुई थीं, और हल्की-हल्की फुहारें पड़ रही थीं। देहली स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। कुछ गाड़ियों पर बैठे थे, कुछ अपने घरवालों से विदा हो रहे थे। चारों तरफ एक हलचल-सी मची थी। संसार-माया आज भी उन्हें जकड़े हुए थी। कोई स्त्री को सावधान कर रहा था कि धान कट जावे तो तालाब वाले खेत में मटर बो देना, और बाग के पास गेहूँ। कोई अपने जवान लड़के को समझा रहा था, असामियों पर बकाया लगान की नालिश में देर न करना, और दो रुपये सैकड़ा सूद जरूर काट लेना। एक बूढ़े व्यापारी महाशय अपने मुनीम से कह रहे थे कि माल आने में देर हो तो खुद चले जाइएगा, और चलतू माल लीजिएगा, नहीं तो रुपया फँस जायेगा। पर कोई-कोई ऐसे श्रद्धालु मनुष्य भी थे, जो धर्म-मग्न दिखायी देते थे। वे या तो चुपचाप आसमान की ओर निहार रहे थे या माला फेरने में तल्लीन थे। कैलासी भी एक गाड़ी में बैठी सोच रही थी, इन भले आदमियों को अब भी संसार की चिंता नहीं छोड़ती। वही बनिज-व्यापार लेन-देन की चर्चा। रुद्र इस समय यहाँ होता, तो बहुत रोता, मेरी गोद में कभी न उतरता। लौट कर उसे अवश्य देखने जाऊँगी। या ईश्वर किसी तरह गाड़ी चले; गर्मी के मारे जी व्याकुल हो रहा है। इतनी घटा उमड़ी हुई है, किंतु बरसने का नाम नहीं लेती। मालूम नहीं, यह रेल वाले क्यों देर कर रहे हैं। झूठमूठ इधर-उधर दौड़ते-फिरते हैं। यह नहीं कि झटपट गाड़ी खोल दें। यात्रियों की जान में जान आये। एकाएक उसने इंद्रमणि को बाइसिकिल लिये प्लेटफार्म पर आते देखा। उसका चेहरा उतरा हुआ, और कपड़े पसीने से तर थे। वह गाड़ियों में झाँकने लगे। कैलासी केवल यह जताने के लिए कि मैं भी यात्रा करने जा रही हूँ; गाड़ी से बाहर निकल आयी। और इंद्रमणि उसे देखते ही लपक कर करीब आ गये; और बोले—क्यों कैलासी, तुम भी यात्रा को चलीं ?

कैलासी ने सगर्व दीनता से उत्तर दिया—हाँ, यहाँ क्या करूँ ? जिंदगी का कोई ठिकाना नहीं, मालूम नहीं कब आँखें बंद हो जायं, परमात्मा के यहाँ मुँह दिखाने का भी तो कोई उपाय होना चाहिए। रुद्र बाबू अच्छी तरह हैं ?

इंद्रमणि—अब तो जा रही हो। रुद्र का हाल पूछ कर क्या करोगी ? उसे आशीर्वाद देती रहना।

कैलासी की छाती धड़कने लगी। घबरा कर बोली—उनका जी अच्छा नहीं है क्या ?

इंद्रमणि—वह तो उसी दिन से बीमार है जिस दिन तुम वहाँ से निकलीं। दो हफ्ते तक उसने अन्ना-अन्ना की रट लगायी। अब एक हफ्ते से खाँसी और बुखार में पड़ा है। सारी दवाइयाँ करके हार गया कुछ फायदा न हुआ। मैंने सोचा था कि चल कर तुम्हारी अनुनय-विनय करके लिवा लाऊँगा। क्या जाने तुम्हें देख कर उसकी तबीयत सँभल जाये। पर तुम्हारे घर पर आया तो मालूम हुआ कि तुम यात्रा करने जा रही हो। अब किस मुँह से चलने को कहूँ। तुम्हारे साथ सलूक ही कौन-सा अच्छा किया था जो इतना साहस करूँ। फिर पुण्य-कार्य में विघ्न डालने का भी डर है। जाओ, उसका ईश्वर मालिक है। आयु शेष है तो बच ही जायेगा। अन्यथा ईश्वरी गति में किसी का क्या वश।

कैलासी की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सामने की चीजें तैरती हुई मालूम होने लगीं। हृदय भावी अशुभ की आशंका से दहल गया। हृदय से निकल पड़ा—'या ईश्वर, मेरे रुद्र का बाल बाँका न हो।' प्रेम से गला भर आया। विचार किया मैं कैसी कठोर हृदया हूँ। प्यारा बच्चा रो-रोकर हलाकान हो गया, और मैं उसे देखने तक नहीं गयी। सुखदा का स्वभाव अच्छा नहीं, न सही किंतु रुद्र ने मेरा क्या विगाड़ा था कि मैंने माँ का बदला बेटे से लिया। ईश्वर मेरा अपराध क्षमा करो। प्यारा रुद्र मेरे लिए हुड़क रहा है। (इस खयाल से कैलासी का कलेजा ममोस उठा, और आँखों से आँसू वह निकले) मुझे क्या मालूम था कि उसे मुझसे इतना प्रेम है। नहीं मालूम बच्चे की क्या दशा है। भयातुर हो बोली—दूध तो पीते हैं न ?

इंद्रमणि—तुम दूध पीने को कहती हो ! उसने दो दिन से आँखें तक नहीं खोलीं।

कैलासी—या मेरे परमात्मा ! अरे कुली ! कुली ! बेटा, आकर मेरा सामान गाड़ी से उतार दे। अब मुझे तीरथ जाना नहीं सूझता। हाँ बेटा, जल्दी कर, बाबू जी देखो कोई एक्का हो तो ठीक कर लो।

एक्का रवाना हुआ। सामने सड़क पर बग्घियाँ खड़ी थीं। घोड़ा धीरे-धीरे चल रहा था। कैलासी बार-बार झुँझलाती थी और एक्कावान से कहती थी, बेटा जल्दी कर। मैं तुझे कुछ ज्यादे दे दूँगी। रास्ते में मुसाफिरों की भीड़ देख कर उसे क्रोध आता था। उसका जी चाहता था कि घोड़े के पर लग जाते; लेकिन इंद्रमणि का मकान करीब आ गया तो कैलासी का हृदय उछलने लगा। बार-बार हृदय से रुद्र के लिए शुभ आशीर्वाद निकलने लगा। ईश्वर करे सब कुशल-मंगल हो। एक्का इंद्रमणि की गली की ओर मुड़ा। अकस्मात् कैलासी के कान में रोने की ध्वनि पड़ी। कलेजा मुँह को आ गया। सिर में चक्कर आ गया। मालूम हुआ नदी में डूबी जाती हूँ। जी चाहा कि इक्के पर से कूद पड़ूँ। पर थोड़ी ही देर में मालूम हुआ कि कोई स्त्री मैके से विदा हो रही है, संतोष हुआ। अंत में इंद्रमणि का मकान आ पहुँचा। कैलासी ने डरते-डरते दरवाजे की तरफ ताका। जैसे कोई घर से भागा हुआ अनाथ लड़का शाम को भूखा-प्यासा घर आये, दरवाजे की ओर सटकी हुई आँखों से देखे कि कोई बैठा तो नहीं है। दरवाजे पर सन्नाटा छाया हुआ था। महाराज बैठा सुरती मल रहा था। कैलासी को जरा ढाढ़स हुआ। घर में बैठी तो नयी दाई पुलटिस पका रही है। हृदय में बल का संचार हुआ। सुखदा के कमरे में गयी तो उसका हृदय गर्मी के मध्याह्नकाल के सदृश काँप रहा था। सुखदा रुद्र को गोद में लिये दरवाजे की ओर एकटक ताक रही थी। शोक और करुणा की मूर्ति बनी थी।

कैलासी ने सुखदा से कुछ नहीं पूछा। रुद्र को उसकी गोद से लिया और उसकी तरफ सजल नयनों से देख कर कहा—बेटा रुद्र आँखें खोलो।

रुद्र ने आँखें खोलीं, क्षणभर दाई को चुपचाप देखता रहा, तब यकायक दाई के गले से लिपट कर बोला—अन्ना आयी ! अन्ना आयी !

रुद्र का पीला मुर्झाया हुआ चेहरा खिल उठा, जैसे बुझते हुए दीपक में तेल पड़ जाय। ऐसा मालूम हुआ मानो वह कुछ बढ़ गया है।

एक हफ़्ता बीत गया। प्रातःकाल का समय था। रुद्र आँगन में खेल रहा था। इंद्रमणि ने बाहर से आकर उसे गोद में उठा लिया, और प्यार से बोले—तुम्हारी अन्ना को मार कर भगा दें ?

रुद्र ने मुँह बना कर कहा—नहीं, रोयेगी।

कैलासी बोली—क्यों बेटा, तुमने तो मुझे बद्रीनाथ नहीं जाने दिया। मेरी यात्रा का पुण्य-फल कौन देगा ?

इंद्रमणि ने मुस्करा कर कहा—तुम्हें उससे कहीं अधिक पुण्य हो गया। यह तीर्थ महातीर्थ है।

['हज्जे अकबर' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका 'जमाना', सितम्बर, 1917 तथा 'कहकशां'; नवम्बर, 1918 में प्रकाशित। उर्दू 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'महातीर्थ' शीर्षक से 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित।]

वियोग और मिलाप

बाबू दयानाथ के हृदय में देश और स्वार्थ का संग्राम उसी समय आरम्भ हुआ, जब उन्होंने बी. ए. पास किया। वे भारत सेवक-समिति में जाना चाहते थे, किन्तु स्वार्थ ने देश पर विजय पायी। उन्होंने कानून पढ़ना शुरू किया। देशानुराग कहता था, निर्बलों की सेवा करो। स्वार्थ कहता था, धन और कीर्ति पैदा करो। देश की फिर हार हुई। धन ने अपनी तरफ़ खींचा। सेवा-भाव धन की लालसा के नीचे दब गया, जैसे अग्नि राख के नीचे दब जाती है। किन्तु दबी हुई आग के सदृश यह भाव भी भीतर-ही-भीतर जागता रहा। यहां तक कि पाँच वर्ष बीत गए और उनके नैतिक ज्ञान और ग्राह्यता की ख्याति इतनी हुई कि उनका नाम गवर्नमेंट प्लीडरी के लिए लिया जाने लगा। इसी बीच होमरूल का आन्दोलन हुआ। दयानाथ के हृदय में फिर वही पुराना संग्राम होने लगा। वे परिश्रमशील थे, चतुर थे, कार्यकुशल थे, अच्छे वक्ता थे, अच्छे लेखक थे यदि अभाव था तो साहस का। यह उनके सहयोगियों और मित्रों के प्रोत्साहन ने दूर कर दिया। वे होमरूल लीग में सम्मिलित हो गये और पहले ही अधिवेशन में उन पर सर्वसम्मति ने मंत्री पद का भार रख दिया। दयानाथ काम तो करना चाहते थे, पर गुप्त-रीति से, इसलिए नहीं कि वे भीरु थे, केवल इसलिए कि वे अपने पूज्य पिताजी को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे। सभा समाप्त होने पर वह घर पहुँचे और अभी कपड़े उतार ही रहे थे कि शहर का कोतवाल दो थानेदारों और

दस-बाहर कांस्टेबुलों के साथ उनके दरवाजे पर आ धमका। दयानाथ के पिता लाला जानकीनाथ घबराकर बाहर निकल आए। किसी अमंगल की आशंका हुई। चेहरा फीका पड़ गया। बोले, "आइये, सरदार साहब, मिजाज तो अच्छे हैं ? अरे, भगेलू पान ला।"

कोतवाल ने घोड़े से उतरकर छड़ी से बूट को खटखटाते हुए कहा—"इस समय मुझे ख़ातिर-मयारत से मुआफ़ कीजिए, मैं एक सरकारी काम से आया हूँ। आपसे मेरी पुरानी मुलाक़ात है, लेकिन जनाब, सरकारी फ़र्ज को क्या करूँ। बाबू दयानाथ हैं ?"

जानकीनाथ काँपते हुए बोले—"जी हाँ, होंगे तो, अभी कचहरी से आये हैं। (धीरे से) परमात्मा की मर्ज़ी होगी तो चन्द महीनों में सरकारी वकील हुए जाते हैं, जज साहब ने मुझसे वादा फ़रमाया है।" पर कोतवाल इस धमकी में नहीं आया। हाँ, मु. जानकीनाथ के आंतरिक भाव को ताड़ गया। बोला—"तो जरा उनको बुला लीजिये, उनका बयान लिखना है।" यह कहकर उसने एक नोटबुक और फ़ाउन्टेनपेन निकाली। जानकीनाथ का रक्त ठंडा हो गया। बोले—"कोई ख़ास काम है ?"

कोतवाल—"जी हाँ, ख़ास काम है। आज लोगों ने होमरूल का बड़े ज़ोर-शोर के साथ जलसा किया है। गवर्नमेंट के ख़िलाफ खूब ग़लतबयानियाँ की गई हैं। बाबू दयानाथ उसके सेक्रेटरी मकर्रर हुए हैं। उनसे हाजिरीने-जलसा के नाम दरियाफ़्त करना है और यह भी दोस्ताना सलाह देनी है कि होशियार हो जायें, ऐसा न हो कि हमको उनके साथ जाब्ते का बर्ताव करना पड़े।"

जानकीनाथ के पैरों तले से मिट्टी निकल गई। दौड़े हुए भीतर गए और दयानाथ से सरोष बोले—"यह तुमने क्या आग लगा रखी है जी ? देखो तो, दरवाज़े पर कोतवाल खड़े क्या कह रहे हैं ? तुम्हारी बदौलत जो कभी न हुआ था, वह आज हो गया।"

दयानाथ बाहर आये। कोतवाल ने उनकी तरफ़ तीव्र नेत्रों से देखा और बोला—"आप आज होमरूल जलसे में थे ?"

"जी हाँ, था।"

"आप उसके सेक्रेटरी हुए हैं ?"

"जी हाँ।"

"जलसे में कौन-कौन आदमी मौजूद थे ?"

"मुझे याद नहीं।"

"ख़ास-ख़ास आदमियों के नाम बता सकते हैं ?"

"होमरूल के दफ़्तर से मेम्बरों की फ़हरिस्त आपको मिल सकती है।"

2

लाला जानकीनाथ शहर के बड़े आदमियों में थे। आज कई साल से उन्होंने वक़ालत छोड़ दी थी परन्तु धन खूब संग्रह कर लिया था। कई गाँवों के ज़मींदार भी थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि अफ़सरों के कृपा-पात्र थे। उनकी जितनी जान-मान थी, उतनी उनसे बड़े आदमियों की भी न थी और यह तो खुला हुआ भेद था कि सरकारी वकालत के सम्बन्ध में दयानाथ की योग्यता से अधिक जानकीनाथ की विनयशीलता का श्रेय था। वे अपने युवाकाल में स्वयं राजनैतिक कामों में भाग लेते रहे थे, लेकिन पं. अयोध्यानाथ की मृत्यु के

बाद से उन्होंने इन कामों से मुँह मोड़ लिया था। अब उनका समय अधिकांश स्वार्थ-साधन में व्यतीत होता था। दयानाथ उनके इकलौते बेटे थे। उन्हीं की शुभाकांक्षाओं में मग्न रहते थे। अधिकारी-वर्ग की विदाई और बधाई के जलसों में वे खूब योग देते थे। ऐसे अवसरों पर उनकी वक्तृताएँ बड़े मार्के की होती थीं। भाव और भाषा, दोनों ही सुन्दर।

यद्यपि उनकी अवस्था पचास से कम न थी तथापि उनका स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा था। वे दयानाथ को उनके मिताहारी होने पर कभी-कभी लज्जित भी किया करते थे। बल-विक्रम की उनमें न्यूनता न थी। वे रोज़ाना चार-पाँच मील सैर करने जाया करते थे, परलोक बनाने की भी फ़िक्र में रहते थे, किन्तु ऐसे काम से सहानुभूति रखना भी उनके लिए असम्भव था, जिससे अधिकारियों की अप्रसन्नता का भय हो।

कोतवाल के चले जाने के बाद दयानाथ से बोले—"तुम्हें क्या सूझी है ? तुम अपने को मुझसे अधिक बुद्धिमान समझते होगे, लेकिन मैं तुमसे स्पष्ट कहता हूँ कि धोखा खाओगे। समय पड़ने पर कोई काम न आएगा। मैंने ऐसे कितने ही आदमी देखे हैं, जिन्होंने देश के पीछे अपना सर्वस्व त्याग दिया, लेकिन जब मुक़दमे में फँसे तो उनकी ओर से पैरवी करने वाला भी न मिला। मैंने तुम्हें पहले भी समझाया है और फिर समझाता हूँ कि इन कार्यों में हाथ न डालो। मैं मर जाऊँगा तो जो जी चाहे करना। मैं मना करने न आऊँगा, लेकिन जब तक जीता हूँ, मेरे ऊपर इतनी दया करो।"

दयानाथ ने नम्रता से कहा—"मुझे लोग ज़बरदस्ती खींच ले गये और वहाँ सेक्रेटरी बना दिया। उस वक्त क्या करता ? इन्कार करना सबकी दृष्टि में कापुरुषता का परिचय देना था। मेरी समझ में तो भय की बात भी कोई नहीं। देश-भर इस मामले में एक ज़बान है।"

जानकी—"खैर, कुछ भी हो, तुम एक पत्र लिखकर सेक्रेटरी के पद से तुरन्त इस्तीफ़ा दे दो।"

दया—"यह तो मुझसे न होगा।"

जानकी—"पिता का पुत्र पर अधिकार मानते हो या नहीं ?"

दया—"मानता हूँ और यही कारण है कि अब तक मैं राजनीतिक कामों से दूर भागता रहा हूँ, किन्तु अब देश में जागृति फैल रही है, अकर्मण्यता का समय नहीं है। इस समय तटस्थ बैठे रहना अपने देशवासियों पर घोर अत्याचार होगा।"

जानकी—"अच्छी बात है, तुम्हारा जो जी चाहे करो। तुम्हारे कहने से मुझे ज्ञान हुआ कि अब मुझे तुम्हारी बातों में बोलने का अधिकार नहीं है, लेकिन अपने दरवाज़े पर पुलिस को रोज़ खड़े देखना मेरी सहन-शक्ति से बाहर है। तुम्हें राजनीतिक फुलझड़ियाँ छोड़नी हैं तो मेरे घर से दूर छोड़ो, इसमें आग न लगाओ।"

दयानाथ ने अपने पिता से ऐसी निठुर बातें कभी न सुनी थीं। ये कठोर शब्द उनके हृदय में चुभ गये। बोले—"जैसी आपकी इच्छा !" यह कहकर दयानाथ घर में गये और अपनी पत्नी श्यामा से बोले—"दादाजी ने आज मुझे घर से निकल जाने की आज्ञा दी है। अब अपना बोरिया-बँधना सम्भालो। मैं दूसरा मकान ढूँढ़ने जा रहा हूँ।" श्यामा ने विस्मित होकर पूछा—"यह किस बात पर ?" दया—"कुछ नहीं, मैं आज स्वराज्य सभा में चला गया था। उसी के सम्बन्ध में पूछताछ करने के लिए शहर कोतवाल यहाँ आये थे।

दादा साहब इसमें अपनी मानहानि समझते हैं। वे कहते हैं, या तो होमरूल को त्यागो या मेरे घर से निकलो। मुझे होमरूल इस घर से कहीं प्रिय है। मेरी रात आज किसी दूसरे घर में कटेगी। कदाचित् अब मेरा बोझ उन्हें अखरने लगा है। नहीं तो वे इस तरह मुझे घर से निकलने का हुक्म न देते। मैं जब तक लौटकर आता हूँ तुम असबाब ठीक कर रखना।''

श्यामा ने कहा–''तुम्हारा सामान तो बाहर ही है।''

दया–''और तुम्हारा ?''

श्यामा–(कुछ सोचकर) ''मैं न जाऊँगी।''

दयानाथ ने स्तंभित होकर पूछा–''क्या तुम मेरे साथ न चलोगी ?''

श्यामा–''नहीं।''

दयानाथ और कुछ न बोले। क्रोध में भरे हुए घर से चल दिये। श्यामा ने रोका भी पर उसकी उन्होंने एक न सुनी। दूसरे घर की खोज में निकल खड़े हुए, लेकिन श्यामा की निठुरता हृदय में काँटे के समान खटक रही थी। ''मैं इस पर कितना भरोसा करता था। मैं समझता था कि इसका मन किसी संकट से विचलित न होगा, किन्तु हाँ ! आज पहली परीक्षा में उसने मेरा गर्व चूर कर दिया।''

3

दयानाथ अब एक अलग मकान में रहते हैं। उनकी आय तीन सौ रुपये मासिक से कम न थी। यह नयी गृहस्थी उत्तम रीति से चल रही थी। नौकर-चाकर, रसोइया, सब मौजूद थे। हाँ, अभी तक घोड़ागाड़ी लेने की नौबत न आयी थी। पैर गाड़ी पर कचहरी जाते थे। उस दिन से फिर वे अपने पिता के घर कभी नहीं गए और न जानकीनाथ ही ने कुछ सुधि ली। आश्चर्य तो यह है कि श्यामा भी उनकी ओर से निश्चिंत बैठी हुई थी। कोई संदेशा भी नहीं भेजा, मानो उनसे कोई नाता ही नहीं है।

कुछ दिनों तक वे पिता के व्यवहार पर बहुत भरे रहे। इस रोष में उन्होंने होमरूल लीग का काम ऐसे उत्साह से किया कि नगर-भर में स्वराज्य की चर्चा फैल गई। थोड़े ही दिनों में नगर की काया-पलट हो गई। स्वराज्य पर व्याख्यानों का ताँता बँध गया। होमरूल पैम्फलेट छपते और बांटे जाते। मोहल्ले-मोहल्ले में छोटी-छोटी सभाएं कराई जातीं। होमरूल के अर्थ समझाये जाते और लोगों को स्वराज्य सम्बन्धी बातों को जानने के लिए उत्साहित किया जाता। दयानाथ के इन उद्योगों का फल यह हुआ कि नगर की नयी जागृति का ज़िक्र जहाँ छिड़ता, उनका नाम पहले वहाँ आता और पिता-पुत्र के झगड़े का ज़िक्र करते हुए मित्र लोग उनके आत्मिक बल को खूब सराहते, परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते थे त्यों-त्यों दयानाथ की मन की अवस्था में अन्तर पड़ता जाता था। स्वच्छंद होकर जितने उत्साह से दयानाथ ने देश-सेवा का विचार किया था, उतना उत्साह अपने में अब नहीं पाते थे। इस अवस्था में जिन हृदय-तरंगों के उठने का स्वप्न उन्होंने आरम्भ में देखा था, वह केवल स्वप्न ही सिद्ध हुआ।

दिनभर की वकालत और स्वराज्य सम्बन्धी कामों के बाद छुट्टी पाने पर जब रात को बिछौने पर पड़ते, तब निद्रा आने के पहले घंटों उनका हृदय विचार-तरंगों से टकराया

करता। अपनी वर्तमान अवस्था पर सोचते, और सोचते उस गए जमाने पर, जब वे अपने पिता की नजरों के नीचे रहते थे। "अहा, क्या ही सुखमय समय था वह, जब वे अपने पिता की गोद में खेला करते थे ! एक दिन के लिए भी पिता से बिछोह नहीं हुआ। साथ खाते और साथ घूमते। साथ बैठते और साथ यात्रा करते। पिता बचपन के सखा थे। साथ खेलते और साथी बनकर स्कूल पहुँचाने जाते। पिता युवावस्था के सहारे थे। अपने हाथ-पैर हो जाने पर भी, जिधर देखते उनके आश्रय का हाथ पाते। उस समय न चिन्ता थी, और न भय। पिता की गोद क्या थी, जननी के मृदुल स्नेह का पालना और दैविक सुख और शान्ति की छाया थी। उसने जननी की याद भी भुला दी, उस दयामती देवी की, जिसने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए उनको अपने पति की गोद में रखकर कहा था कि अपने इस लाल को तुम्हारी शरण में छोड़े जाती हूँ, इस पर सदैव दया रखना।

आज विधि की विचित्र गति से उस सारे सुख-संसार पर पानी फिर गया। दयानाथ का हृदय इन विचारों से टूक-टूक हो जाता था। सोचते कि मुझे नम्रता से काम लेना था, पिता अप्रसन्न हुए थे तो क्या हुआ, उनको मना लेना था, बड़ी भूल हुई तब न सही, अब सही। परन्तु विचारों की गाड़ी यहीं आकर रुक जाती। अब यह कैसे हो सकता है ? मेरे और उनके विचारों में अन्तर है। यह उस समय भी था, परन्तु उस समय उनका और मेरा मार्ग अलग-अलग नहीं हुआ था। अब पीछे फिरूँगा, दुनिया हँसेगी और फिर मैं उसी चंचलता का शिकार बनूँगा जिसका आरम्भ और बीच में बन चुका हूँ।

इधर लाला जानकीनाथ का हृदय भी विचारों के वेग से उथल-पुथल हो रहा था। दयानाथ का इस प्रकार चले जाना उन्हें बहुत अखरा। वे समझते थे कि दयानाथ उनकी अप्रसन्नता से बहुत क्षुब्ध होगा, आकर चरणों पर गिरेगा, और जैसा वे कहेंगे वैसा वह करेगा, जैसा कि अभी तक करता रहा है परन्तु उसी दिन जानकीनाथ का भ्रम दूर हो गया। यह जानकार कि पुत्र दूसरे मकान में चला गया, पिता के रोष की अग्नि और भी भड़क उठी। "ऐ, दयानाथ और उसका दिमाग़ इतना फिर जाय! वह पिता का इतना निरादर करे! उस पिता का, जिसने उसके लिए दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा ! जिसने अपने जीवन का आधार उसी को माना, और अपनी आशाओं और आकांक्षाओं का केन्द्र उसी को समझा !"

क्रोध का पारा बढ़ता ही गया। पिता ने स्नेह में अस्थिरता नहीं आयी, पिता के अधिकार में धक्का लगा था। सत्ता का विरोध किसी से भी सहा नहीं जाता। लोगों ने बीच में पड़कर मनाना चाहा। बड़ी-बड़ी मिन्नतें भी कीं, पर जानकीनाथ ने किसी की एक न सुनी। वे यही कहते—अभी तक दयानाथ ने पिता की गोद का सुख उठाया है, अच्छा है, अब वह ज़रा इस ज़िन्दगी का मज़ा भी उठा ले। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, त्यों-त्यों बूढ़े के क्रोध में भी कमी होती गई। अन्त में गरम लोहे की गरमी दूर हुई और उसके दूर होने के पश्चात् उसमें ठंडक आयी। जानकीनाथ के हृदय में पश्चात्ताप का भाव उदय हुआ। वे अपने उस क्रोध पर बहुत पछताते। उस घड़ी को कोसते जब उनके मुँह से वे शब्द निकले थे। वे सोचते, मैंने बहुत बुरा किया, क्या मैं नरमी से काम नहीं ले सकता था ? जिस बच्चे पर मैं सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार था, तब क्या उस प्यारे के लिए मैं अपनी ज़बान क़ाबू में नहीं रख सकता था ? दिन-प्रतिदिन पश्चात्ताप की यह ज्वाला ज़ोर पकड़ती गई।

वे अपना खाना-पीना भूल गए। नींद कोसों दूर थी। घर काटने को दौड़ता था। अब पुत्र की एक-एक चीज़ को घंटों देखा करते। उसके चित्र को आँखों के सामने से अलग न करते और घंटों चुपचाप आँसू बहाते। इस दुःख और चिन्ता ने जानकीनाथ को बिल्कुल घुला दिया। वे सोचते, मैं कैसा पिशाच हूँ, क्या यह मेरा घर है ? कितने दिन के लिए ? मुझे घर लेकर क्या करना है ? धन लेकर क्या करना है ? सम्मान, ऐश्वर्य और अधिकारियों की प्रसन्नता मेरे किस काम आयेगी ? मैं मायाजाल में किसके लिए पड़ा था ?

जब उसी को इससे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता तो मेरी तृष्णा व्यर्थ है। श्यामा को देखकर उन्हें कुछ धैर्य होता। वे सोचते, मेरे ही कारण दयानाथ पत्नी-वियोग का दुःख उठा रहा है। मेरा ही मन रखने के लिए वह श्यामा को यहाँ छोड़ गया है, परन्तु कभी-कभी पति और पत्नी के इस वियोग पर उन्हें दुःख भी बहुत होता। तब वे विचलित हो जाते। सोचते, उस समय यदि नम्रता सुशील लड़के को हाथ से न निकल जाने देती, तो क्या इस समय रूठा बच्चा मनाया भी नहीं जा सकता। विनय और स्नेह की धारा ज़ोर मारतीं, परन्तु आगे बढ़कर वे मान की चट्टान से टकराकर पीछे हट जातीं। जानकीनाथ सोचते—"पिता होकर मैं अपना हाथ कैसे झुकाऊँ !"

दिन बीतते गए। जानकीनाथ की अशान्ति बढ़ती गई। एक दिन कलेक्टर साहब का एक पत्र आया। उन्होंने जानकीनाथ को इस राजभक्ति पर बधाई दी थी। जानकीनाथ ने उस पत्र को फाड़कर फेंक दिया। उसका कुछ उत्तर नहीं दिया। एक दिन पुलिस सुपरिंटेंडेंट उनसे मिलने आये। जानकीनाथ ने कहला भेजा—मैं बीमार हूँ।

4

कुछ दिन और बीत गए। जानकीनाथ का अब एक-एक पल युग के समान कटता था। अपना अन्याय तीव्र शर के समान उनके हृदय में चुभा करता। स्वार्थपरता का मोटा परदा जो नेत्रों पर पड़ा हुआ था, अब वह हटने लगा। दयानाथ के उच्च भाव अब उनकी समझ में आने लगे। अब उनके आत्मा की वेदना और भी बढ़ने लगी। मैंने पुत्र को इसीलिए न घर से निकाला है कि वह अपने देश का कल्याण करना चाहता है, अपने जीवन को देश पर अर्पण करना चाहता है, मेरी तरह अधम स्वार्थ-सेवी नहीं बना रहना चाहता। मुझे इसके लिए अपने भाग्य को सराहना चाहिए था, किन्तु, हा अज्ञान ! हा तृष्णा ! मैंने इसके बदले में उसके साथ यह अत्याचार किया। वह मुझे अपने मन में क्या समझता होगा ! देश का द्रोही ! देश-बंधुओं का शत्रु, लंका का विभीषण ! हाँ, वह देवता है। मैं राक्षस हूँ। मैं इस योग्य नहीं कि वह मुझे अपना पिता समझे। मैंने उसके साथ अन्याय किया। घोर अन्याय! मानापमान के भाव को अलग रखकर मैं अब उसे मना लाऊँगा। जाकर उसके पैरों पर गिर पड़ूँगा और कहूँगा—"भगवन्, मेरा अपराध क्षमा करो, तुम्हारे वियोग में तड़प रहा हूँ, रो रहा हूँ, मेरे आँसू पोंछो, मुझे समझाओ, मेरे दिल को ढाढ़स दो।"

संध्या का समय था। आकाश-भवन से रूठकर जाने वाले सूर्य को मनाने के लिए तारे निकल आये थे। जानकीनाथ भी पुत्र को मनाने चले। उनका हृदय इस समय अगाध प्रेम से उमड़ा हुआ था, किन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते, लज्जा मन को पीछे खींचती। यहाँ तक कि उन्हें दयानाथ का मकान दिखाई देने लगा। दयानाथ दरवाज़े पर बैठे कोई पत्र पढ़ रहे

थे। जानकीनाथ के पैर बँध गये। उनके मन ने कहा—"इस भाँति मनाकर ले जाने में तुम्हारी क्या बड़ाई है, क्या गौरव है ? इसमें सन्देह नहीं कि वह तुम्हारी बात नहीं टालेगा, किन्तु वह श्रद्धा, वह भक्ति, जो पिता के प्रति पुत्र में होनी चाहिए, फिर वह कहाँ ? नहीं, मुझे ऐसा काम करना चाहिए कि फिर वह श्रद्धा और अभिमान के वशीभूत होकर आप मेरे पास आये। अपने को मेरा पुत्र कहते हुए उसका मस्तक ऊँचा हो जाये, आँखें गौरवोन्नत्त हो जायें। यही अब मेरा कर्त्तव्य है। ईश्वर, मुझे बल दो, मेरी आत्मा को जागृति प्रदान करो।

पिता पर पुत्र की जीत नहीं, पुत्र के भावों की जीत हुई।

एक दिन प्रातःकाल बूढ़े कहार ने आकर श्यामा से कहा—"लालाजी अपने कमरे में नहीं हैं, उनके कपड़े-जूते भी नहीं हैं। तुमको कुछ मालूम है कहाँ गये हैं ?"

श्यामा ने कहा—"मैं नहीं जानती, कहीं घूमने गये होंगे।"

नौ बजे गये और जानकीनाथ न लौटे। श्यामा ने समझा किसी अफ़सर की मुलाकात को गये होंगे। लेकिन जब दोपहर हो गयी और वे घर न आए, तो श्यामा को चिन्ता हुई। वह उनके कमरे में आयी कि देखूँ, कौन-कौन-सा सामान लेकर गये हैं। पहली चीज़ जिस पर उसकी दृष्टि पड़ी वह मेज़ पर एक पत्र था। श्यामा ने लपककर पत्र को उठा लिया और पढ़ते ही मूर्च्छित-सी हो गई। लिखा था—"बहूजी, अब संसार से मन विरक्त हो गया है, संन्यास लेता हूँ। दयानाथ को यह सूचना दे देना और यदि वे घर न आयें तो उन्हीं के पास जाकर रहना, मैं अब घर न आऊँगा। कौन जाने, यह हमारी अंतिम मुलाक़ात हो। दयानाथ से कह देना, अपराध को क्षमा करें।"

श्यामा ने बड़ी ही ठंडी साँस खींची। उसने पति के विद्रोह को इस आशा पर सहा कि उसके ऐसा करने से ससुर के हृदय में संताप की कमी होगी, और पिता-पुत्रों के फटे हुए हृदय आसानी से जुड़ जायेंगे। इस चिट्ठी ने उसकी इस आशा पर बिजली गिरा दी।

5

इस घटना से दयानाथ के हृदय पर ज़बर्दस्त ठेस लगी। पिता के इस वैराग्य का कारण वे अपने ही को समझने लगे। वे मन-ही-मन अपना बहुत तिरस्कार करते। जानकीनाथ की खोज करने और कराने में दयानाथ और श्यामा ने कोई कमी नहीं की, परन्तु उनका कहीं भी पता नहीं लगा। खोज की असफलता से दयानाथ के मन की ग्लानि और बढ़ गई।

वे बारम्बार सोचते कि यह सब कुछ मेरी अधमता का फल है। अब स्वराज्य-सभा के कामों में उनका मन न लगता। जब से उन्होंने इस मैदान में क़दम रखा था तब से उनके मन की शान्ति नष्ट हो गई थी। इसलिए इस काम से अब उनका नेह कैसे रहता ! तो भी स्वराज्य-सभा का काम पहले से कहीं उत्तम रीति से चल रहा था। पहले धन की किल्लत थी। चन्दे से जो आता था उससे बहुत से आवश्यक काम नहीं हो पाते थे। नगर के बड़े और धनवान आदमी सभा के पास फटकते तक न थे, परन्तु अब पैसे की कमी नहीं थी। हर मास पहली तारीख को सभा के मंत्री के नाम पर एक रजिस्ट्री आ जाती थी, जिसमें दो सौ रुपये के नोट होते थे। भेजने वाले के नाम के स्थान पर 'भारतदास' लिखा होता था। भेजने का स्थान कभी कोई होता और कभी कोई, किन्तु अधिकांश अवसरों में किसी

तीर्थ-स्थान की मुहर होती। नोटों के साथ एक पत्र रहता था, जिसमें लिखा रहता था कि रुपया किस प्रकार ख़र्च किया जाये। पहले पत्र में लिखा था—कि इस रुपये से स्वराज्य की व्यवस्था पर छोटे-छोटे ट्रैक्ट निकाले जायें और उन्हें सभा में लागत भाव पर बेचें और ग़रीबों को मुफ्त बाँटे। दूसरे मास के पत्र में लिखा था कि इस रुपये से ज़िले के गाँवों में स्वराज्य के भाव का प्रचार किया जाय।

तीसरे में लिखा था कि गाँव में स्वराज्य वाचनालय स्थापित किया जाय और उनमें इस रुपये से पत्र मँगाये जायें। इसी प्रकार हर मास दो सौ रुपये की रक़म आती। इन रक़मों से सभा का काम खूब बढ़ा। देश की अन्य सभाओं में इस स्वराज्य-सभा का काम अनुकरणीय माना जाने लगा। इस गुप्त सहायता से सभा के कार्यकर्ता बहुत प्रसन्न थे, परन्तु वे दाता का ठीक नाम और पता जानने के लिए बहुत उत्सुक थे। उन्होंने बहुत कोशिश की कि कुछ पता लगे, परन्तु वे विफल हुए।

कलकत्ता के एक दैनिक पत्र में ग़रीब देशवासियों की दशा और उनकी उन्नति के विषय में एक बड़ी ही मार्मिक लेखमाला निकल रही थी। उसके भाव इतने सरल और सरस थे, उसकी भाषा इतनी सजीव और हृदयग्राहिणी थी, ग़रीब देशवासियों का ऐसा सजीव और करुणाजनक चित्र खींचा गया था, और उनकी उन्नति का संदेश पहुँचाने का ऐसा साधु और मधुर ढंग बतलाया गया था कि पढ़ने वाले के हृदय पर लेखक और उसके भावों के विजय की छाप लग जाती थी।

लेखक के नाम के स्थान पर लिखा रहता थ। 'भारतदास'। नगर की स्वराज्य-सभा वालों ने इस लेखमाला को पढ़ते हुए उस पत्र में एक निवेदन छपने के लिए भेज दिया कि कृपा करके 'भारतदास' महाशय अपना ठिकाना प्रकट कर दें। एक सप्ताह के पश्चात् सभा के मंत्री को पाँच सौ रुपये का नोट मिला। साथ ही चिट्ठी भी थी। लिखा था—"मेरा ठिकाना बहुत बड़ा है, देश के झोंपड़े-झोंपड़े में मेरी आत्मा वास करती है। इस धन से देश के झोंपड़ों में जाकर कुछ स्वराज्य का संदेश पहुँचाओ और समझो कि मुझसे मिल रहे हो।"

नगर की स्वराज्य-सभा के सामने आज एक बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है लोकमान्य तिलक लखनऊ की कांग्रेस से लौटते समय नगर के स्टेशन से गुज़रने वाले थे। कांग्रेस के अवसर पर नगर की स्वराज्य-सभा के कुछ लोगों ने मिलकर उन्हें अपने यहाँ निमंत्रित किया। उन्होंने निमंत्रण स्वीकार भी कर लिया। कल वे दोपहर को आने वाले हैं। उसी संध्या को उनका एक व्याख्यान हो जाना चाहिए क्योंकि रात को वे पूना के लिए रवाना हो जायेंगे।

लोग तिलक महाराजा को निमंत्रण देने को तो दे आए थे, परन्तु उन्हें मालूम नहीं था कि आगे चलकर क्या-क्या दिक्कतें पड़ेंगी। इस समय तिलक महाराज के ठहरने के लिए स्थान की चिन्ता थी। लोग उनको अपने यहाँ ठहरात डरते थे। बेचारे दयानाथ नगर भर के बड़े-बड़े आदमियों से मिलते फिरे।

सभी के हाथ-पैर जोड़े, परन्तु कोई भी लोकमान्य तिलक को ठहराने के लिए तैयार न हुआ। साफ़-साफ़ इनकार किसी ने भी न किया। देशभक्ति का और देशभक्त होने का दावा किसी ने भी नहीं छोड़ा। हाँ, घर ख़ाली नहीं थे। कुछ मेहमान आ गये थे या भावज या साली बीमार थीं। ख़ैर, बड़ी दौड़-धूप के बाद लोकमान्य तिलक के ठहराने के लिए तो

स्थान मिल गया, परन्तु अब व्याख्यान के लिए स्थान की फ़िक्र थी। छोटे-मोटे स्थान से काम न चलता। बड़े स्थान कोई देवता न था। श्रीराम मंदिर के ट्रस्टी अपना अहाता देने के लिए राज़ी नहीं हुए। बड़ी मस्जिद की ज़मीन नहीं मिली। वनमाली बाबू का अहाता बहुत लम्बा-चौड़ा था। नगर की कुछ बड़ी सभायें उसमें हुई थीं। वनमाली बाबू पुराने ढंग के रईस थे। उन्हें इन नयी बातें से कोई सरोकार नहीं था, तो भी वे थे भले आदमी। उनकी भलमनसाहत से ही कुछ आशा थी। दयानाथ और उनके साथी दौड़े हुए उनके पास गये। पता लगा कि वनमाली बाबू शहर से बाहर गये हुए हैं।

ये लोग तो भी निराश न हुए, इन्होंने बाबू के कारिन्दों को बाबू का स्थान दिया। बोले—"हमारे लिए तो जैसे बाबू साहब, वैसे ही आप हैं। आप ही अहाते में सभा करने की आज्ञा दे दीजिये।"

कारिन्दे साहब ने निहायत संजीदगी से कहा कि जनाब, बाबू साहब होते तो क्या, नहीं होते तो क्या, आज पन्द्रह दिन हुए अहाता बेच दिया गया। अब भी तिनके का सहारा था। एकदम कितनी ही जबानों से निकला—"किसने ख़रीदा है ?" जवाब मिला, "ठीक-ठीक नाम तो बाबू साहब ही जानें, परन्तु मैं इतना जानता हूँ कि ख़रीदने वाले सज्जन यहाँ के नहीं हैं। प्रयाग से उनका पत्र-व्यवहार हुआ था।" इस बात से इन लोगों की सारी आशाओं पर पानी फिर गया।

6

सभा के कार्यकर्ता बहुत चिन्तित थे। उनकी अक्ल काम नहीं करती थी कि क्या करें और क्या न करें। दयानाथ का सबसे बुरा हाल था। वे इस उलझन से और भी घबरा उठे। उन्हें आज सभा का काम असह्य हो उठा। वे आज मन-ही-मन उस घड़ी को कोसते थे, जिसमें उन्होंने इस मार्ग में पग रखा था। आज उन्हें रह-रहकर पिता की याद आती थी।

उनका मन उस व्यवहार और उसके परिणाम पर मसोस-मसोस उठता था जो उन्होंने पिता के साथ किया था। पिता की स्मृति, ग्लानि और पश्चात्ताप उनके मन को उथल-पुथल कर रही थी। वे सोचते थे, किसी तरह ये दो दिन कट जायें और मैं इस काम को अपने सिर से उतार फेंकूँ।

संध्या हो गयी, व्याख्यान के लिए स्थान नहीं मिला। दिन भर की दौड़-धूप के पश्चात् दयानाथ बड़े ही उदास मन से घर लौटे। बैठक की मेज पर लैम्प टिमटिमा रहा था। थके हुए दयानाथ लैम्प के निकट कुर्सी खिसकाकर बैठ गये। उनकी कुहनियाँ मेज़ पर थीं और उनकी अधखुली उदास आँखें मन्द-मन्द टिमटिमाने वाले लैम्प पर। शरीर निश्चल था, परन्तु मन में संकल्प-विकल्पों का ताँता लगा हुआ था। सोचते- सोचते देश के लोगों की मानसिक दशा उनके सामने आ गयी। लोग कितने भीरू हैं। वे देशभक्त और देशभक्ति को अच्छा समझते हैं, परन्तु खुलकर उन्हें अच्छा कहने के लिए तैयार नहीं हैं। बड़े आदमियों का कपटाचरण और भी भयंकर है। जहाँ लाभ है, वहाँ वे देशभक्त बन जाते हैं, और जहाँ तनिक भी जोखिम है वहाँ कावा काट जाते हैं। देश की इस अधःपतित अवस्था में काम करना ही ठीक नहीं। बस, अब पिण्ड छुड़ाकर इन झगड़ों से उदासीन हो जाना ही अच्छा है। इतने में किसी आदमी की आहट पर उनका ध्यान टूटा। उन्होंने सिर

उठाकर देखा तो होमरूल-लीग का चपरासी उनके सामने खड़ा था। उसने बन्दगी करके एक चिट्ठी दी। चिट्ठी सभापति की थी। लिखा था—"तुरन्त आइये, एक सुसम्वाद है, और मित्र भी बैठे हैं।"

दयानाथ जी सभा-भवन में पहुँचे। सभापति जी ने बड़े उत्साह से कहा—"लो भाई, स्वराज्य की जय, ईश्वर ने बेड़ा पार लगा दिया। हमें स्थान मिल जाएगा और नगर में एक बड़ा भारी काम हो जाएगा।" यह कहकर उन्होंने दयानाथजी को एक पत्र दिया। उसमें लिखा था कि "कल से मैं इसी नगर में हूँ। मुझे मालूम हुआ है, आपके इस समय लोकमान्य तिलक के व्याख्यान के लिए स्थान नहीं मिलता। अब आप स्थान की चिन्ता न कीजिए। आप वनमाली बाबू के अहाते में व्याख्यान करावें। उस अहाते को पन्द्रह हज़ार रुपये पर मैंने नगर में एक बड़े शिल्प विद्यालय की स्थापना के लिए ख़रीद लिया है। आज शाम के आठ बजे सभा-भवन में, मैं आप लोगों के दर्शन भी करूँगा।—भारतदास।"

इस पत्र से दयानाथ को भी प्रसन्नता हुई। सभा के सभी कार्यकर्ता 'भारतदास' महाशय की प्रशंसा कर रहे थे। वे उनको देखने के लिए बेहद उत्सुक थे, इसलिए उन सभी की दृष्टि बार-बार घड़ी पर जाती थी। ठीक आठ बजे एक सज्जन ढीला-ढाला गेरुआ कुरता पहने, नंगे सिर और नंगे पाँव उस कमरे में आये। लोग खड़े हो गये। सभी की दृष्टि उनके मुखमंडल पर पड़ी। लोग चकित थे। "ऐं, ये तो लाला जानकीनाथ हैं।" क्षण भर के आश्चर्य के पश्चात् उन्होंने दुगुने प्रेम और स्वाभिमान से जानकीनाथ का 'वन्देमातरम्' की ध्वनि के साथ अभिवादन किया।

दयानाथ पितृ-भक्ति और देशानुराग के मद से उन्मत्त होकर आँखों से प्रेम और सम्मान के आँसू भरे हुए बढ़े और जानकीनाथ के पैरों पर गिर पड़े। जानकीनाथ ने उन्हें उठाकर छाती से लगा लिया।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। साप्ताहिक 'प्रताप', वर्ष 4, संख्या 49, विजयदशमी, 1974, विक्रमी सम्वत् अर्थात् सितम्बर, 1917 में प्रकाशित। 'दैनिक हिन्दुस्तान', 7 अक्टूबर, 1979 में पुनर्प्रकाशित। 'सोलह अप्राप्य कहानियां' में संकलित। बाद में 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

कप्तान साहब

जगतसिंह को स्कूल जाना कुनैन खाने या मछली का तेल पीने से कम अप्रिय न था। वह सैलानी, आवारा, घुमक्कड़ युवक था। कभी अमरूद के बागों की ओर निकल जाता और अमरूदों के साथ माली की गालियाँ बड़े शौक से खाता। कभी दरिया की सैर करता और मल्लाहों की डोंगियों में बैठकर उस पार के देहातों में निकल जाता। गालियाँ खाने में उसे मजा आता था। गालियाँ खाने का कोई अवसर वह हाथ से न जाने देता। सवार के घोड़े के पीछे ताली बजाना एक्कों को पीछे से पकड़ कर अपनी ओर खींचना, बूढ़ों की चाल की नकल करना उसके मनोरंजन के विषय थे। आलसी काम तो नहीं करता; पर दुर्व्यसनों का

दास होता है, और दुर्व्यसन धन के बिना पूरे नहीं होते। जगतसिंह को जब अवसर मिलता, घर से रुपये उड़ा ले जाता। नकद न मिले, तो बरतन और कपड़े उठा ले जाने में भी उसे संकोच न होता था। घर में शीशियाँ और बोतलें थीं, वह सब उसने एक-एक करके गुदड़ी-बाजार पहुँचा दीं। पुराने दिनों की कितनी चीजें घर में पड़ी थीं, उसके मारे एक भी न बची। इस कला में ऐसा दक्ष और निपुण था कि उसकी चतुराई और पटुता पर आश्चर्य होता था। एक बार बाहर ही बाहर, केवल कार्निसों के सहारे अपने दो-मंजिला मकान की छत पर चढ़ गया और ऊपर ही से पीतल की एक बड़ी थाली ले कर उतर आया। घर वालों को आहट तक न मिली।

उसके पिता ठाकुर भक्तसिंह अपने कस्बे के डाकखाने के मुंशी थे। अफसरों ने उन्हें शहर का डाकखाना बड़ी दौड़-धूप करने पर दिया था; किन्तु भक्तसिंह जिन इरादों से यहाँ आये थे, उनमें से एक भी पूरा न हुआ। उल्टी हानि यह हुई कि देहातों में जो भाजी-साग, उपले-ईंधन मुफ्त मिल जाते थे, वे सब यहाँ बंद हो गये। यहाँ सबसे पुराना घरॉव था। न किसी को दबा सकते थे, न सता सकते थे। इस दुरवस्था में जगतसिंह की हथ-लपकियाँ बहुत अखरतीं। उन्होंने कितनी ही बार उसे बड़ी निर्दयता से पीटा। जगतसिंह भीमकाय होने पर भी चुपके से मार खा लिया करता था। अगर वह अपने पिता के हाथ पकड़ लेता, तो वह हिल भी न सकते; पर जगतसिंह इतना सीनाजोर न था। हाँ, मार-पीट, घुड़की-धमकी किसी का भी उस पर असर न होता था।

जगतसिंह ज्यों ही घर में कदम रखता; चारों ओर से काँव-काँव मच जाती, माँ दुर-दुर करके दौड़ती, बहनें गालियाँ देने लगतीं; मानो घर में कोई साँड घुस आया हो। बेचारा उल्टे-पाँव भागता। कभी-कभी दो-दो, तीन-तीन दिन भूखा रह जाता। घर वाले उसकी सूरत से जलते थे। इन तिरस्कारों ने उसे निर्लज्ज बना दिया था। कष्टों के ज्ञान से वह निर्द्वन्द्व-सा हो गया था। जहाँ नींद आ जाती, वहीं पड़ रहता; जो कुछ मिल जाता वही खा लेता।

ज्यों-ज्यों घर वालों को उसकी चोर-कला के गुप्त साधनों का ज्ञान होता जाता था, वे उससे चौकन्ने होते जाते थे। यहाँ तक कि एक बार पूरे महीने-भर तक उसकी दाल न गली। चरस वाले के कई रुपये ऊपर चढ़ गये। गांजे वाले ने धुआंधार तकाजे करने शुरू किये। हलवाई कड़वी बातें सुनाने लगा। बेचारे जगत को निकलना मुश्किल हो गया। रात-दिन ताक-झाँक में रहता; पर घात न मिलती थी। आखिर एक दिन बिल्ली के भागों छींका टूटा। भक्तसिंह दोपहर को डाकखाने से चले, तो एक बीमा-रजिस्ट्री जेब में डाल ली। कौन जाने हरकारा या डाकिया शरारत कर जाय; किंतु घर आये तो लिफाफे को अचकन की जेब से निकालने की सुधि न रही। जगतसिंह तो ताक लगाये हुए था ही। पैसे के लोभ से जेब टटोली, तो लिफाफा मिल गया। उस पर कई आने के टिकट लगे थे। वह कई बार टिकट चुरा कर आधे दामों पर बेच चुका था। चट लिफाफा उड़ा दिया। यदि उसे मालूम होता कि उसमें नोट हैं, तो कदाचित् वह न छूता; लेकिन जब उसने लिफाफा फाड़ डाला और उसमें से नोट निकल पड़े तो वह बड़े संकट में पड़ गया। वह फटा हुआ लिफाफा गला फाड़-फाड़ कर उसके दुष्कृत्य को धिक्कारने लगा। उसकी दशा उस शिकारी की सी हो गयी, जो चिड़ियों का शिकार करने जाय और अनजाने में किसी आदमी पर

निशाना मार दे। उसके मन में पश्चात्ताप था, लज्जा थी, दुःख था, पर उसे भूल का दंड सहने की शक्ति न थी। उसने नोट लिफाफे में रख दिये और बाहर चला गया।

गरमी के दिन थे। दोपहर को सारा घर सो रहा था; पर जगत की आँखों में नींद न थी। आज उसकी बुरी तरह कुंदी होगी—इसमें संदेह न था। उसका घर पर रहना ठीक नहीं, दस-पाँच दिन के लिए उसे कहीं खिसक जाना चाहिए। तब तक लोगों का क्रोध शांत हो जाता। लेकिन कहीं दूर गये बिना काम न चलेगा। बस्ती में वह कई दिन तक अज्ञातवास नहीं कर सकता। कोई न कोई जरूर ही उसका पता देगा और वह पकड़ लिया जायगा। दूर जाने के लिए कुछ न कुछ खर्च तो पास होना चाहिए। क्यों न वह लिफाफे में से एक नोट निकाल ले ? यह तो मालूम ही हो जायगा कि उसी ने लिफाफा फाड़ा है, फिर एक नोट निकाल लेने में क्या हानि है ? दादा के पास रुपये तो हैं ही, झक मार कर दे देंगे। यह सोचकर उसने दस रुपये का एक नोट उड़ा लिया; मगर उसी वक्त उसके मन में एक नयी कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। अगर ये सब रुपये ले कर किसी दूसरे शहर में कोई दूकान खोल ले, तो बड़ा मजा हो। फिर एक-एक पैसे के लिए उसे क्यों किसी की चोरी करनी पड़े! कुछ दिनों में वह बहुत-सा रुपया जमा करके घर आयेगा; तो लोग कितने चकित हो जायेंगे !

उसने लिफाफे को फिर निकाला। उसमें कुल दो सौ रु. के नोट थे। दो सौ में दूध की दूकान खूब चल सकती है। आखिर मुरारी की दूकान में दो-चार कढ़ाव और दो-चार पीतल के थालों के सिवा और क्या है ? लेकिन कितने ठाट से रहता है ! रुपयों की चरस उड़ा देता है। एक-एक दाँव पर दस-दस रुपये रख देता है, नफा न होता, तो वह ठाट कहाँ से निभाता ? इस आनन्द-कल्पना में वह इतना मग्न हुआ कि उसका मन उसके काबू से बाहर हो गया, जैसे प्रवाह में किसी के पाँव उखड़ जायें और वह लहरों में बह जाय।

उसी दिन शाम को वह बम्बई चल दिया। दूसरे ही दिन मुंशी भक्तसिंह पर गबन का मुकदमा दायर हो गया।

2

बम्बई के किले के मैदान में बैंड बज रहा था और राजपूत रेजिमेंट के सजीले सुंदर जवान कवायद कर रहे थे, जिस प्रकार हवा बादलों को नये-नये रूप में बनाती और बिगाड़ती है, उसी भाँति सेना का नायक सैनिकों को नये-नये रूप में बना-बिगाड़ रहा था।

जब कवायद खतम हो गयी, तो एक छरहरे डील का युवक नायक के सामने आ कर खड़ा हो गया। नायक ने पूछा—क्या नाम है ? सैनिक ने फौजी सलाम करके कहा—जगतसिंह?

'क्या चाहते हो।'

'फौज में भरती कर लीजिए।'

'मरने से तो नहीं डरते ?'

'बिलकुल नहीं—राजपूत हूँ।'

'बहुत कड़ी मेहनत करनी पड़ेगी।'

'इसका भी डर नहीं।'

'अदन जाना पड़ेगा।'

'खुशी से जाऊँगा।'

कप्तान ने देखा, बला का हाजिर-जवाब, मनचला, हिम्मत का धनी जवान है, तुरंत फौज में भरती कर लिया। तीसरे दिन रेजिमेंट अदन को रवाना हुआ। मगर ज्यों-ज्यों जहाज आगे चलता था, जगत का दिल पीछे रह जाता था। जब तक जमीन का किनारा नजर आता रहा, वह जहाज के डेक पर खड़ा अनुरक्त नेत्रों से उसे देखता रहा। जब वह भूमि-तट जल में विलीन हो गया तो उसने एक ठंडी साँस ली और मुँह ढाँप कर रोने लगा। आज जीवन में पहली बार उसे प्रियजनों की याद आयी। वह छोटा-सा अपना कस्बा, वह गाँजे की दूकान, वह सैर-सपाटे, वह सुहृदय-मित्रों का जमघट आँखों में फिरने लगे। कौन जाने, फिर कभी उनसे भेंट होगी या नहीं। एक बार वह इतना बेचैन हुआ कि जी में आया, पानी में कूद पड़े।

3

जगतसिंह को अदन में रहते तीन महीने गुजर गये। भाँति-भाँति की नवीनताओं ने कई दिन तक उसे मुग्ध किये रखा; लेकिन पुराने संस्कार फिर जाग्रत होने लगे। अब कभी-कभी उसे स्नेहमयी माता की याद आने लगी, जो पिता के क्रोध, बहनों के धिक्कार और स्वजनों के तिरस्कार में भी उसकी रक्षा करती थी। उसे वह दिन याद आया, जब एक बार वह बीमार पड़ा था। उसके बचने की कोई आशा न थी; पर न तो पिता को उसकी कुछ चिन्ता थी, न बहनों को। केवल माता थी, जो रात की रात उसके सिरहाने बैठी अपनी मधुर, स्नेहमयी बातों से उसकी पीड़ा शांत करती रही थी। उन दिनों कितनी बार उसने उस देवी को नीरव रात्रि में रोते देखा था। वह स्वयं रोगों से जीर्ण हो रही थी; लेकिन उसकी सेवा-शुश्रूषा में वह अपनी व्यथा को ऐसी भूल गयी थी, मानो उसे कोई कष्ट ही नहीं। क्या उसे माता के दर्शन फिर होंगे ? वह इसी क्षोभ और नैराश्य में समुद्र-तट पर चला जाता और घण्टों अनंत जल-प्रवाह को देखा करता। कई दिनों से उसे घर पर एक पत्र भेजने की इच्छा हो रही थी, किंतु लज्जा और ग्लानि के कारण वह टालता जाता था। आखिर एक दिन उससे न रहा गया। उसने पत्र लिखा और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी। पत्र आदि से अंत तक भक्ति से भरा हुआ था। अंत में उसने इन शब्दों में अपनी माता को आश्वासन दिया था—माता जी, मैंने बड़े-बड़े उत्पात किये हैं, आप लोग मुझसे तंग आ गयी थीं, मैं इन सारी भूलों के लिए सच्चे हृदय से लज्जित हूँ और आपको विश्वास दिलाता हूं कि जीता रहा, तो कुछ न कुछ करके दिखाऊंगा। तब कदाचित् आपको मुझे अपना पुत्र कहने में संकोच न होगा। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सकूँ।

यह पत्र लिख कर उसने डाकखाने में छोड़ा और उसी दिन से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा; किंतु एक महीना गुजर गया और कोई जवाब न आया। उसका जी घबड़ाने लगा। जवाब क्यों नहीं आता—कहीं माता जी बीमार तो नहीं हैं ? शायद दादा ने क्रोध-वश जवाब न लिखा होगा ? कोई और विपत्ति तो नहीं आ पड़ी ? कैम्प में एक वृक्ष के नीचे कुछ सिपाहियों ने शालिग्राम की एक मूर्ति रख छोड़ी थी। कुछ श्रद्धालु सैनिक रोज उस प्रतिमा पर जल चढ़ाया करते थे। जगतसिंह उनकी हँसी उड़ाया करता; पर आज वह विक्षिप्तों की भाँति प्रतिमा के सम्मुख जा कर बड़ी देर तक मस्तक झुकाये बैठा रहा। वह इसी

ध्यानावस्था में बैठा था कि किसी ने उसका नाम ले कर पुकारा, यह दफ्तर का चपरासी था और उसके नाम की चिट्ठी ले कर आया था। जगतसिंह ने पत्र हाथ में लिया, तो उसकी सारी देह काँप उठी। ईश्वर की स्तुति करके उसने लिफाफा खोला और पत्र पढ़ा। लिखा था–'तुम्हारे दादा को गबन के अभियोग में पांच वर्ष की सजा हो गई। तुम्हारी माता इस शोक में मरणासन्न है। छुटी मिले, तो घर चले आओ।'

जगतसिंह ने उसी वक्त कप्तान के पास जा कर कहा–हुजूर, मेरी माँ बीमार हैं, मुझे छुट्टी दे दीजिए।

कप्तान ने कठोर आँखों से देखकर कहा–अभी छुट्टी नहीं मिल सकती।

'तो मेरा इस्तीफा ले लीजिए।'

'अभी इस्तीफा नहीं लिया जा सकता।'

'मैं अब एक क्षण भी नहीं रह सकता।'

'रहना पड़ेगा। तुम लोगों को बहुत जल्द लाम पर जाना पड़ेगा।'

'लड़ाई छिड़ गयी ! आह, अब मैं घर नहीं जाऊँगा ? हम लोग कब तक यहाँ से जायँगे ?'

'बहुत जल्द, दो ही चार दिनों में।'

4

चार वर्ष बीत गये। कैप्टन जगतसिंह का-सा योद्धा उस रेजीमेंट में नहीं है। कठिन अवस्थाओं में उसका साहस और भी उत्तेजित हो जाता है। जिस मुहिम में सबकी हिम्मतें जवाब दे जाती हैं, उसे सर करना उसी का काम है। हल्ले और धावे में वह सदैव सबसे आगे रहता है, उसकी त्योरियों पर कभी मैल नहीं आता; इसके साथ ही वह इतना विनम्र, इतना गम्भीर, इतना प्रसन्नचित्त है कि सारे अफसर और मातहत उसकी बड़ाई करते हैं, उसका पुनर्जीवन-सा हो गया। उस पर अफसरों को इतना विश्वास है कि अब वे प्रत्येक विषय में उससे परामर्श करते हैं। जिससे पूछिए, वही वीर जगतसिंह की विरुदावली सुना देगा–कैसे उसने जर्मनों की मेगजीन में आग लगायी, कैसे अपने कप्तान को मशीनगनों की मार से निकाला, कैसे अपने एक मातहत सिपाही को कंधे पर ले कर निकल आया। ऐसा जान पड़ता है, उसे अपने प्राणों का मोह ही नहीं, वह काल को खोजता फिरता हो !

लेकिन नित्य रात्रि के समय, जब जगतसिंह को अवकाश मिलता है, वह अपनी छोलदारी में अकेले बैठ कर घर वालों की याद कर लिया करता है--दो-चार आँसू की बूँदें अवश्य गिरा देता है। वह प्रति मास अपने वेतन का बड़ा भाग घर भेज देता है, और ऐसा कोई सप्ताह नहीं जाता जब कि वह माता को पत्र न लिखता हो। सबसे बड़ी चिंता उसे अपने पिता की है जो आज उसी के दुष्कर्मों के कारण कारावास की यातना झेल रहे हैं। हाय ! वह कौन दिन होगा, जब कि वह उनके चरणों पर सिर रख कर अपना अपराध क्षमा करायेगा, और वह उसके सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देंगे ?

5

सवा चार वर्ष बीत गये। संध्या का समय है। नैनी जेल के द्वार पर भीड़ लगी हुई है। कितने ही कैदियों की मियाद पूरी हो गयी है। उन्हें लिवा जाने के लिए उनके घरवाले आये हुए हैं; किंतु बूढ़ा भक्तसिंह अपनी अँधेरी कोठरी में सिर झुकाये उदास बैठा हुआ है। उसकी कमर झुक कर कमान हो गयी है ! देह अस्थि-पंजर-मात्र रह गयी है। ऐसा जान पड़ता है, किसी चतुर शिल्पी ने एक अकाल-पीड़ित मनुष्य की मूर्ति बना कर रख दी है। उसकी भी मियाद पूरी हो गयी है; लेकिन उसके घर से कोई नहीं आया। आये कौन ? आने वाला था ही कौन ?

एक बूढ़े किंतु हृष्ट-पुष्ट कैदी ने आ कर उसका कंधा हिलाया और बोला—कहो भगत, कोई घर से आया ?

भक्तसिंह ने कंपित कंठ-स्वर से कहा—घर पर है ही कौन ?

'घर तो चलोगे ही ?'

'मेरे घर कहाँ है ?'

'तो क्या यहीं पड़े रहोगे ?'

'अगर ये लोग निकाल न देंगे, तो यहीं पड़ा रहूँगा।'

आज चार साल के बाद भक्तसिंह को अपने प्रताड़ित, निर्वासित पुत्र की याद आ रही थी। जिसके कारण जीवन का सर्वनाश हो गया; आबरू मिट गयी; घर बरबाद हो गया, उसकी स्मृति भी उन्हें असह्य थी; किंतु आज नैराश्य और दुःख के अथाह सागर में डूबते हुए उन्होंने उसी तिनके का सहारा लिया। न-जाने उस बेचारे की क्या दशा हुई। लाख बुरा है, तो भी अपना लड़का है। खानदान की निशानी तो है। मरूँगा तो चार आँसू तो बहायेगा, दो चिल्लू पानी तो देगा। हाय ! मैंने उसके साथ कभी प्रेम का व्यवहार नहीं किया। जरा भी शरारत करता, तो यमदूत की भाँति उसकी गर्दन पर सवार हो जाता। एक बार रसोई में बिना पैर धोये चले जाने के दंड में मैंने उसे उल्टा लटका दिया था। कितनी बार केवल जोर से बोलने पर मैंने उसे तमाचे लगाये थे। पुत्र-सा रत्न पाकर मैंने उसका आदर न किया। उसी का दंड है। जहाँ प्रेम का बन्धन शिथिल हो, वहाँ परिवार की रक्षा कैसे हो सकती है?

6

सबेरा हुआ। आशा का सूर्य निकला। आज उसकी रश्मियाँ कितनी कोमल और मधुर थीं, वायु कितनी सुखद, आकाश कितना मनोहर, वृक्ष कितने हरे-भरे, पक्षियों का कलरव कितना मीठा ! सारी प्रकृति आशा के रंग में रँगी हुई थी; पर भक्तसिंह के लिए चारों ओर घोर अंधकार था।

जेल का अफसर आया। कैदी एक पंक्ति में खड़े हुए। अफसर एक-एक का नाम ले कर रिहाई का परवाना देने लगा। कैदियों के चेहरे आशा से प्रफुल्लित थे। जिसका नाम आता, वह खुश-खुश अफसर के पास जाता, परवाना लेता, झुक कर सलाम करता और तब अपने विपत्तिकाल के संगियों से गले मिल कर बाहर निकल जाता। उसके घर वाले दौड़ कर उससे लिपट जाते। कोई पैसे लुटा रहा था, कहीं मिठाइयाँ बाँटी जा रही थीं, कहीं जेल

के कर्मचारियों को इनाम दिया जा रहा था। आज नरक के पुतले विनम्रता के देवता बने हुए थे।

अन्त में भक्तसिंह का नाम आया। वह सिर झुकाये आहिस्ता-आहिस्ता जेलर के पास गये और उदासीन भाव से परवाना ले कर जेल के द्वार की ओर चले, मानो सामने कोई समुद्र लहरें मार रहा है। द्वार से बाहर निकल कर वह जमीन पर बैठ गये। कहाँ जायँ ?

सहसा उन्होंने एक सैनिक अफसर को घोड़े पर सवार, जेल की ओर आते देखा। उसकी देह पर खाकी वरदी थी, सिर पर कारचोबी साफा। अजीब शान से घोड़े पर बैठा हुआ था। उसके पीछे-पीछे एक फिटन आ रही थी। जेल के सिपाहियों ने अफसर को देखते ही बन्दूकें सँभालीं और लाइन में खड़े हो कर सलाम किया।

भक्तसिंह ने मन में कहा—एक भाग्यवान वह है, जिसके लिए फिटन आ रही है; और एक अभागा मैं हूँ, जिसका कहीं ठिकाना नहीं।

फौजी अफसर ने इधर-उधर देखा और घोड़े से उतर कर सीधे भक्तसिंह के सामने आकर खड़ा हो गया।

भक्तसिंह ने उसे ध्यान से देखा और तब चौंककर उठ खड़े हुए और बोले—अरे ! बेटा जगतसिंह !

जगतसिंह रोता हुआ उनके पैरों पर गिर पड़ा।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', दिसम्बर, 1917 में 'दवा और दारू' शीर्षक से प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'खाके परवाना' में 'कप्तान' शीर्षक से संकलित। हिन्दी रूप 'कप्तान साहब' शीर्षक से 'पांच फूल' (कहानी संग्रह) में संकलित। बाद में 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित।]

दुर्गा का मंदिर

बाबू ब्रजनाथ कानून पढ़ने में मग्न थे, और उनके दोनों बच्चे लड़ाई करने में। श्यामा चिल्लाती, कि मुन्नू मेरी गुड़िया नहीं देता। मुन्नू रोता था कि श्यामा ने मेरी मिठाई खा ली।

ब्रजनाथ ने क्रुद्ध हो कर भामा से कहा—तुम इन दुष्टों को यहाँ से हटाती हो कि नहीं? नहीं तो मैं एक-एक की खबर लेता हूँ।

भामा चूल्हे में आग जला रही थी, बोली—अरे तो अब क्या संध्या को भी पढ़ते ही रहोगे ? ज़रा दम तो ले लो।

ब्रजनाथ—उठा तो न जायेगा; बैठी-बैठी वहीं से कानून बघारोगी ! अभी एक-आध को पटक दूँगा, तो वहीं से गरजती हुई आओगी कि हाय-हाय बच्चे को मार डाला !

भामा—तो मैं कुछ बैठी या सोयी तो नहीं हूँ। जरा एक घड़ी तुम्हीं लड़कों को बहलाओगे, तो क्या होगा ! कुछ मैंने ही तो उनकी नौकरी नहीं लिखायी !

ब्रजनाथ से कोई जवाब न देते बन पड़ा। क्रोध पानी के समान बहाव का मार्ग न पा कर और भी प्रबल हो जाता है। यद्यपि ब्रजनाथ नैतिक सिद्धांतों के ज्ञाता थे, पर उनके पालन में इस

समय कुशल न दिखायी दी। मुद्दई और मुद्दालेह, दोनों को एक ही लाठी से हाँका, और दोनों को रोते-चिल्लाते छोड़ कानून का ग्रंथ बगल में दबा कॉलेज-पार्क की राह ली।

2

सावन का महीना था। आज कई दिन के बाद बादल हटे थे। हरे-भरे वृक्ष सुनहरी चादर ओढ़े खड़े थे। मृदु समीर सावन का राग गाता था और बगुले डालियों पर बैठे हिंडोले झूल रहे थे। ब्रजनाथ एक बेंच पर आ बैठे और किताब खोली। लेकिन इस ग्रंथ की अपेक्षा प्रकृति-ग्रंथ का अवलोकन अधिक चित्ताकर्षक था। कभी आसमान को पढ़ते थे, कभी पत्तियों को, कभी छविमयी हरियाली को और कभी सामने मैदान में खेलते हुए लड़कों को।

एकाएक उन्हें सामने घास पर कागज की एक पुड़िया दिखायी दी। माया ने जिज्ञासा की—आड़ में चलो, देखें इसमें क्या है।

बुद्धि ने कहा—तुमसे मतलब ? पड़ी रहने दो।

लेकिन जिज्ञासा-रूपी माया की जीत हुई। ब्रजनाथ ने उठ कर पुड़िया उठा ली। कदाचित् किसी के पैसे पुड़िया में लिपटे गिर पड़े हैं। खोल कर देखा; सावरेन थे। गिना, पूरे आठ निकले। कौतूहल की सीमा न रही।

ब्रजनाथ की छाती धड़कने लगी। आठों सावरेन हाथ में लिये सोचने लगे, इन्हें क्या करूँ ? अगर यहीं रख दूँ, तो न जाने किसकी नजर पड़े; न मालूम कौन उठा ले जाय ! नहीं, यहाँ रखना उचित नहीं। चलूँ थाने में इत्तला कर दूँ और ये सावरेन थानेदार को सौंप दूँ। जिसके होंगे वह आप ले जायगा या अगर उसको न भी मिलें, तो मुझ पर कोई दोष न रहेगा, मैं तो अपने उत्तर दायित्व से मुक्त हो जाऊँगा।

माया ने परदे की आड़ से मंत्र मारना शुरू किया। वह थाने नहीं गये, सोचा—चलूँ भामा से एक दिल्लगी करूँ। भोजन तैयार होगा। कल इत्मीनान से थाने जाऊँगा।

भामा ने सावरेन देखे, तो हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई। पूछा—किसकी है ?

ब्रजनाथ—मेरी।

भामा—चलो, कहीं हो न !

ब्रजनाथ—पड़ी मिली है।

भामा—झूठ बात। ऐसे ही भाग्य के बली हो, तो सच बताओ कहाँ मिली ? किसकी है ?

ब्रजनाथ—सच कहता हूँ, पड़ी मिली है।

भामा—मेरी कसम ?

ब्रजनाथ—तुम्हारी कसम।

भामा गिन्नियों को पति के हाथ से छीनने की चेष्टा करने लगी।

ब्रजनाथ ने कहा—क्यों छीनती हो ?

भामा—लाओ, मैं अपने पास रख लूँ ?

ब्रजनाथ—रहने दो, मैं इसकी इत्तला करने थाने जाता हूँ।

भामा का मुख मलिन हो गया। बोली—पड़े हुए धन की क्या इत्तला ?

ब्रजनाथ—हाँ, और क्या, इन आठ गिन्नियों के लिए ईमान बिगाड़ूँगा ?

भामा—अच्छा तो सबेरे चले जाना। इस समय जाओगे, तो आने में देर होगी।

ब्रजनाथ ने भी सोचा, यही अच्छा। थाने वाले रात को तो कोई कार्रवाई करेंगे नहीं। जब अशर्फियों को पड़ा ही रहना है, तब जैसे थाना वैसे मेरा घर।

गिन्नियाँ संदूक में रख दीं। खा-पी कर लेटे, तो भामा ने हँस कर कहा—आया धन क्यों छोड़ते हो ? लाओ मैं अपने लिए एक गुलूबंद बनवा लूँ, बहुत दिनों से जी तरस रहा है।

माया ने इस समय हास्य का रूप धारण किया।

ब्रजनाथ ने तिरस्कार करके कहा—गुलूबंद की लालसा में गले में फाँसी लगाना चाहती हो क्या ?

3

प्रातःकाल ब्रजनाथ थाने के लिए तैयार हुए। कानून का एक लेक्चर छूट जायेगा, कोई हरज नहीं। वह इलाहाबाद के हाईकोर्ट में अनुवादक थे। नौकरी में उन्नति की आशा न देख कर साल भर से वकालत की तैयारी में मग्न थे, लेकिन अभी कपड़े पहन ही रहे थे कि उनके एक मित्र मुंशी गोरेलाल आ कर बैठ गये, और अपनी पारिवारिक दुश्चिंताओं की विस्मृत की रामकहानी सुना कर अत्यंत विनीत भाव से बोले—भाई साहब, इस समय मैं इन झंझटों में ऐसा फँस गया हूँ कि बुद्धि कुछ काम नहीं करती। तुम बड़े आदमी हो। इस समय कुछ सहायता करो। ज्यादा नहीं तीस रुपये दे दो। किसी न किसी तरह काम चला लूँगा, आज तीस तारीख है। कल शाम को तुम्हें रुपये मिल जायेंगे।

ब्रजनाथ बड़े आदमी तो न थे; किन्तु बड़प्पन की हवा बाँध रखी थी। यह मिथ्याभिमान उनके स्वभाव की एक दुर्बलता थी। केवल अपने वैभव का प्रभाव डालने के लिए ही वह बहुधा मित्रों की छोटी-मोटी आवश्यकताओं पर अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को निछावर कर दिया करते थे, लेकिन भामा को इस विषय में उनसे सहानुभूति न थी; इसीलिए जब ब्रजनाथ पर इस प्रकार का संकट आ पड़ता था, तब थोड़ी देर के लिए उनकी पारिवारिक शांति अवश्य नष्ट हो जाती थी। उनमें इनकार करने या टालने की हिम्मत न थी।

वह सकुचाते हुए भामा के पास गये और बोले—तुम्हारे पास तीस रुपये तो न होंगे ? मुंशी गोरेलाल माँग रहे हैं।

भामा ने रुखाई से कहा—मेरे पास तो रुपये नहीं।

ब्रजनाथ—होंगे तो जरूर, बहाना करती हो।

भामा—अच्छा, बहाना ही सही।

ब्रजनाथ—तो मैं उनसे क्या कह दूँ।

भामा—कह दो घर में रुपये नहीं हैं, तुमसे न कहते बने, तो मैं पर्दे की आड़ से कह दूँ।

ब्रजनाथ—कहने को तो मैं कह दूँ, लेकिन उन्हें विश्वास न आयेगा। समझेंगे, बहाना कर रहे हैं।

भामा—समझेंगे; तो समझा करें।

ब्रजनाथ—मुझसे ऐसी बेमुरौवती नहीं हो सकती। रात-दिन का साथ ठहरा, कैसे इनकार करूँ ?

भामा—अच्छा, तो जो मन में आवे, सो करो। मैं एक बार कह चुकी, मेरे पास रुपये नहीं।

ब्रजनाथ मन में बहुत खिन्न हुए। उन्हें विश्वास था कि भामा के पास रुपये हैं; लेकिन केवल मुझे लज्जित करने के लिए इनकार कर रही है। दुराग्रह ने संकल्प को दृढ़ कर दिया। संदूक से दो गिन्नियाँ निकालीं और गोरेलाल को दे कर बोले—भाई, कल शाम को कचहरी से आते ही रुपये दे जाना। ये एक आदमी की अमानत है, मैं इसी समय देने जा रहा था—यदि कल रुपये न पहुँचे तो मुझे बहुत लज्जित होना पड़ेगा; कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा।

गोरेलाल ने मन में कहा—अमानत स्त्री के सिवा और किसकी होगी, और गिन्नियाँ जेब में रख कर घर की राह ली।

4

आज पहली तारीख की संध्या है। ब्रजनाथ दरवाजे पर बैठे गोरेलाल का इंतजार कर रहे हैं।

पाँच बज गये गोरेलाल अभी तक नहीं आये। ब्रजनाथ की आँखें रास्ते की तरफ लगी हुई थीं। हाथ में एक पत्र था; लेकिन पढ़ने में जी नहीं लगता था। हर तीसरे मिनट रास्ते की ओर देखने लगते थे। लेकिन सोचते थे- आज वेतन मिलने का दिन है। इसी कारण आने में देर हो रही है। आते ही होंगे। छः बजे गोरेलाल का पता नहीं। कचहरी के कर्मचारी एक-एक करके चले आ रहे थे। ब्रजनाथ को कई बार धोखा हुआ। वह आ रहे हैं। जरूर वही हैं। वैसी ही अचकन है। वैसे ही टोपी है। चाल भी वही है। हाँ, वही हैं इसी तरफ आ रहे हैं। अपने हृदय से एक बोझा-सा उतरता मालूम हुआ; लेकिन निकट आने पर ज्ञात हुआ कि कोई और है। आशा की कल्पित मूर्ति दुराशा में बदल गयी।

ब्रजनाथ का चित्त खिन्न होने लगा। वह एक बार कुरसी से उठे। बरामदे की चौखट पर खड़े हो, सड़क पर दोनों तरफ निगाह दौड़ायी। कहीं पता नहीं। दो-तीन बार दूर से आते हुए इक्कों को देख कर गोरेलाल को भ्रम हुआ। आकांक्षा की प्रबलता!

सात बजे; चिराग जल गये। सड़क पर अँधेरा छाने लगा। ब्रजनाथ सड़क पर उद्विग्न भाव से टहलने लगे। इरादा हुआ, गोरेलाल के घर चलूँ। उधर कदम बढ़ाया; लेकिन हृदय काँप रहा था कि कहीं वह रास्ते में आते हुए न मिल जायँ, तो समझें कि थोड़े-से रुपयों के लिए इतने व्याकुल हो गये। थोड़ी ही दूर गये कि किसी को आते देखा। भ्रम हुआ, गोरेलाल हैं, मुड़े और सीधे बरामदे में आ कर दम लिया, लेकिन फिर वही धोखा। फिर वही भ्रांति। तब सोचने लगे कि इतनी देर क्यों हो रही है ? क्या अभी तक वह कचहरी से न आये होंगे ! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। उनके दफ्तर वाले मुद्दत हुई, निकल गये। बस दो बातें हो सकती हैं, या तो उन्होंने कल आने का निश्चय कर लिया, समझे होंगे, रात को कौन जाय, या जान-बूझ कर बैठे होंगे, देना न चाहते होंगे, उस समय उनको गरज थी, इस समय मुझे गरज है। मैं ही किसी को क्यों न भेज दूँ ? लेकिन किसे भेजूँ ? मुन्नू जा सकता है। सड़क ही पर मकान है। यह सोच कर कमरे में गये, लैंप जलाया और पत्र लिखने बैठे, मगर आँखें द्वार ही की ओर लगी हुई थीं। अकस्मात् किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। परन्तु पत्र को एक किताब के नीचे दबा दिया और बरामदे में चले आये। देखा, पड़ोस का

एक कुँजड़ा तार पढ़ाने आया है। उससे बोले—भाई, इस समय फुरसत नहीं है; थोड़ी देर में आना। उसने कहा—बाबू जी, घर भर के आदमी घबराये हैं, जरा एक निगाह देख लीजिए। निदान ब्रजनाथ ने झुंझला कर उसके हाथ से तार ले लिया, और सरसरी नजर से देख कर बोले—कलकत्ते से आया है। माल नहीं पहुँचा। कुँजड़े ने डरते-डरते कहा—बाबूजी इतना और देख लीजिए, किसने भेजा है। इस पर ब्रजनाथ ने तार फेंक दिया और बोले—मुझे इस वक्त फुरसत नहीं है।

आठ बज गये। ब्रजनाथ को निराशा होने लगी—मुन्नू इतनी रात बीते नहीं जा सकता। मन में निश्चय किया, आज ही जाना चाहिए, बला से बुरा मानेंगे। इसकी कहाँ तक चिंता करूँ। स्पष्ट कह दूँगा मेरे रुपये दो दो। भलमनसी भलेमानसों से निभाई जा सकती है। ऐसे धूर्तो के साथ भलमनसी का व्यवहार करना मूर्खता है। अचकन पहनी; घर में जा कर भामा से कहा—जरा एक काम से बाहर जाता हूँ, किवाड़ बंद कर लो।

चलने को तो चले; लेकिन पग-पग पर रुकते जाते थे। गोरेलाल का घर दूर से दिखायी दिया; लैंप जल रहा था। ठिठक गये और सोचने लगे चल कर क्या कहूँगा? कहीं उन्होंने जाते ही रुपये निकाल कर दे दिये, और देर के लिए क्षमा माँगी तो मुझे बड़ी झेंप होगी। वह मुझे क्षुद्र, ओछा, धैर्यहीन समझेंगे। नहीं, रुपयों की बातचीत करूँ ही क्यों? कहूँगा—भाई घर में बड़ी देर से पेट दर्द कर रहा है। तुम्हारे पास पुराना तेज सिरका तो नहीं है ! मगर नहीं, यह बहाना कुछ भद्दा-सा प्रतीत होता है। साफ कलई खुल जायेगी। ऊँह ! इस झंझट की जरूरत ही क्या है। वह मुझे देख कर आप ही समझ जायेंगे। इस विषय में बातचीत की कुछ नौबत ही न आवेगी। ब्रजनाथ इसी उधेड़बुन में आगे बढ़ते चले जाते थे जैसे नदी में लहरें चाहे किसी ओर चलें, धारा अपना मार्ग नहीं छोड़ती।

गोरेलाल का घर आ गया। द्वार बंद था। ब्रजनाथ को उन्हें पुकारने का साहस न हुआ, समझे खाना खा रहे होंगे। दरवाजे के सामने से निकले, और धीरे-धीरे टहलते हुए एक मील तक चले गये। नौ बजने की आवाज़ कान में आयी। गोरेलाल भोजन कर चुके होंगे, यह सोचकर लौट पड़े; लेकिन द्वार पर पहुँचे, तो अँधेरा था। वह आशा-रूपी दीपक बुझ गया था। एक मिनट तक दुविधा में खड़े रहे। क्या करूँ। अभी बहुत सबेरा है। इतनी जल्दी थोड़े ही सो गये होंगे? दबे पाँव बरामदे पर चढ़े। द्वार पर कान लगा कर सुना, चारों ओर ताक रहे थे कि कहीं कोई देख न ले। कुछ बातचीत की भनक कान में पड़ी। ध्यान से सुना। स्त्री कह रही थी—रुपये तो सब उठ गये, ब्रजनाथ को कहाँ से दोगे? गोरेलाल ने उत्तर दिया—ऐसी कौन-सी उतावली है, फिर दे देंगे। और दरख्वास्त दे दी है, कल मंजूर हो ही जायेगी। तीन महीने के बाद लौटेंगे तब देखा जायेगा।

ब्रजनाथ को ऐसा जान पड़ा मानो मुँह पर किसी ने तमाचा मार दिया।

क्रोध और नैराश्य से भरे हुए बरामदे से उतर आये। घर चले तो सीधे कदम न पड़ते थे, जैसे कोई दिन-भर का थका-माँदा पथिक हो।

5

ब्रजनाथ रात-भर करवटें बदलते रहे। कभी गोरेलाल की धूर्तता पर क्रोध आता था, कभी अपनी सरलता पर; मालूम नहीं, किस गरीब के रुपये हैं। उस पर क्या बीती होगी ! लेकिन

अब क्रोध या खेद से क्या लाभ ? सोचने लगे--रुपये कहाँ से आवेंगे ? भामा पहले ही इनकार कर चुकी है, वेतन में इतनी गुंजाइश नहीं। दस-पाँच रुपये की बात होती तो कतर-क्योंत करता। तो क्या करूँ ? किसी से उधार लूँ। मगर मुझे कौन देगा। आज तक किसी से माँगने का संयोग नहीं पड़ा, और अपना कोई ऐसा मित्र है भी तो नहीं। जो लोग हैं, मुझी को सताया करते हैं, मुझे क्या देंगे। हाँ, यदि कुछ दिन कानून छोड़ कर अनुवाद करने में परिश्रम करूँ, तो रुपये मिल सकते हैं। कम से कम एक मास का कठिन परिश्रम है। सस्ते अनुवादकों के मारे दर भी तो गिर गयी है। हा निर्दयी ! तूने बड़ी दगा की। न जाने किस जन्म का बैर चुकाया। कहीं का न रखा !

दूसरे दिन से ब्रजनाथ को रुपयों की धुन सवार हुई। सवेरे कानून के लेक्चर में सम्मिलित होते, संध्या को कचहरी से तजबीजों का पुलिंदा घर लाते और आधी रात तक बैठे अनुवाद किया करते। सिर उठाने की मुहलत न मिलती। कभी एक-दो भी बज जाते। जब मस्तिष्क बिलकुल शिथिल हो जाता तब विवश होकर चारपाई पर पड़े रहते।

लेकिन इतने परिश्रम का अभ्यास न होने के कारण कभी-कभी सिर में दर्द होने लगता। कभी पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ जाता, कभी ज्वर चढ़ आता। तिस पर भी वह मशीन की तरह काम में लगे रहते। भामा कभी-कभी झुँझला कर कहती--अजी, लेट भी रहो; बड़े धर्मात्मा बने हो। तुम्हारे जैसे दस-पाँच आदमी और होते, तो संसार का काम ही बन्द हो जाता। ब्रजनाथ इस बाधाकारी व्यंग्य का उत्तर न देते, दिन निकलते ही फिर वही चरखा ले बैठते।

यहाँ तक कि तीन सप्ताह बीत गये और पच्चीस रुपये हाथ आ गये। ब्रजनाथ सोचते थे--दो-तीन दिन में बेड़ा पार है; लेकिन इक्कीसवें दिन उन्हें प्रचंड ज्वर चढ़ आया और तीन दिन तक न उतरा। छुट्टी लेनी पड़ी, शय्यासेवी बन गये। भादों का महीना था। भामा ने समझा, पित्त का प्रकोप है; लेकिन जब एक सप्ताह तक डॉक्टर की औषधि सेवन करने पर भी ज्वर न उतरा तब घबरायी। ब्रजनाथ प्रायः ज्वर में बक-झक भी करने लगते। भामा सुन कर डर के मारे कमरे में से भाग जाती। बच्चों को पकड़ कर दूसरे कमरे में बन्द कर देती। अब उसे शंका होने लगती थी कि कहीं यह कष्ट उन्हीं रुपयों के कारण तो नहीं भोगना पड़ रहा है ! कौन जाने, रुपये वाले ने कुछ कर-धर दिया हो ! जरूर यही बात है, नहीं तो औषधि से लाभ क्यों नहीं होता?

संकट पड़ने पर हम धर्म-भीरु हो जाते हैं, औषधियों से निराश हो कर देवताओं की शरण लेते हैं। भामा ने भी देवताओं की शरण ली। वह जन्माष्टमी, शिवरात्रि और तीज के सिवा कोई व्रत न रखती थी। इस बार उसने नवरात्र का कठिन व्रत शुरू किया।

आठ दिन पूरे हो गये। अंतिम दिन आया। प्रभात का समय था। भामा ने ब्रजनाथ को दवा पिलायी और दोनों बालकों को ले कर दुर्गा जी की पूजा करने के लिए चली। उसका हृदय आराध्य देवी के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण था। मन्दिर के आँगन में पहुँची। उपासक आसनों पर बैठे हुए दुर्गापाठ कर रहे थे। धूप और अगर की सुगंध उड़ रही थी। उसने मन्दिर में प्रवेश किया। सामने दुर्गा की विशाल प्रतिमा शोभायमान थी। उसके मुखारविंद पर एक विलक्षण दीप्त झलक रही थी। बड़े-बड़े उज्ज्वल नेत्रों से प्रभा की किरणें छिटक रही थीं। पवित्रता का एक समाँ-सा छाया हुआ था। भामा इस दीप्तवर्ण मूर्ति के

सम्मुख सीधी आँखों से ताक न सकी। उसके अन्तःकरण में एक निर्मल, विशुद्ध भाव-पूर्ण भय का उदय हो आया। उसने आँखें बन्द कर लीं। घुटनों के बल बैठ गयी, और हाथ जोड़ कर करुण स्वर से बोली—माता, मुझ पर दया करो।

उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो देवी मुस्करायी। उसे उन दिव्य नेत्रों से एक ज्योति-सी निकल कर अपने हृदय में आती हुई मालूम हुई। उसके कानों में देवी के मुँह से निकले ये शब्द सुनाई दिये—पराया धन लौटा दे, तेरा भला होगा।

भामा उठ बैठी। उसकी आँखों में निर्मल भक्ति का आभास झलक रहा था। मुखमंडल से पवित्र प्रेम बरसा पड़ता था। देवी ने कदाचित् उसे अपनी प्रभा के रंग में डुबा दिया था।

इतने में दूसरी एक स्त्री आयी। उसके उज्ज्वल केश बिखरे और मुरझाये हुए चेहरे के दोनों ओर लटक रहे थे। शरीर पर केवल एक श्वेत साड़ी थी। हाथ में चूड़ियों के सिवा और कोई आभूषण न था। शोक और नैराश्य की साक्षात् मूर्ति मालूम होती थी। उसने भी देवी के सामने सिर झुकाया और दोनों हाथों से आँचल फैला कर बोली—देवी, जिसने मेरा धन लिया हो, उसका सर्वनाश करो।

जैसे सितार मिजराब की चोट खा कर थरथरा उठता है, उसी प्रकार भामा का हृदय अनिष्ट के भय से थरथरा उठा। ये शब्द तीव्र शर के समान उसके कलेजे में चुभ गये। उसने देवी की ओर कातर नेत्रों से देखा। उनका ज्योतिर्मय स्वरूप भयकर था, नेत्रों से भीषण ज्वाला निकल रही थी। भामा के अंतःकरण में सर्वत्र आकाश से, मंदिर के सामने वाले वृक्षों से, मंदिर के स्तंभों से, सिंहासन के ऊपर जलते हुए दीपक से और देवी के विकराल मुँह से ये शब्द निकल कर गूँजने लगे—पराया धन लौटा दे, नहीं तो तेरा सर्वनाश हो जायेगा।

भामा खड़ी हो गयी और उस वृद्धा से बोली—क्यों माता, तुम्हारा धन किसी ने ले लिया है ?

वृद्धा ने इस प्रकार उसकी ओर देखा, मानो डूबते को तिनके का सहारा मिला। बोली—हाँ बेटी !

भामा—कितने दिन हुए ?

वृद्धा—कोई डेढ़ महीना।

भामा—कितने रुपये थे।

वृद्धा—पूरे एक सौ बीस।

भामा—कैसे खोये ?

वृद्धा—क्या जाने कहीं गिर गये। मेरे स्वामी पलटन में नौकर थे! आज कई बरस हुए, वह परलोक सिधारे। अब मुझे सरकार से ६० रुपये साल पेंशन मिलती है। अबकी दो साल की पेंशन एक साथ ही मिली थी। खजाने से रुपये ले कर आ रही थी। मालूम नहीं, कब और कहाँ गिर पड़े। आठ गिन्नियाँ थीं।

भामा—अगर वे तुम्हें मिल जायें तो क्या दोगी।

वृद्धा—अधिक नहीं, उसमें से पचास रुपये दे दूँगी।

भामा—रुपये क्या होंगे, कोई उससे अच्छी चीज दो।

वृद्धा—बेटी और क्या दूँ, जब तक जीऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी।

भामा—नहीं, इसकी मुझे आवश्यकता नहीं।

वृद्धा—बेटी, इसके सिवा मेरे पास क्या है।

भामा—मुझे आशीर्वाद दो। मेरे पति बीमार हैं, वह अच्छे हो जायँ।

वृद्धा—क्या उन्हीं को रुपये मिले हैं ?

भामा—हाँ, वह उसी दिन से तुम्हें खोज रहे हैं।

वृद्धा घुटनों के बल बैठ गयी, और आँचल फैला कर कम्पित स्वर से बोली—देवी ! इनका कल्याण करो।

भामा ने फिर देवी की ओर सशंक दृष्टि से देखा। उनके दिव्य रूप पर प्रेम का प्रकाश था। आँखों में दया की आनंददायिनी झलक थी। उस समय भामा के अंतःकरण में कहीं स्वर्गलोक से यह ध्वनि सुनायी दी—जा तेरा कल्याण होगा।

संध्या का समय है। भामा ब्रजनाथ के साथ इक्के पर बैठी तुलसी के घर, उसकी थाती लौटाने जा रही है। ब्रजनाथ के बड़े परिश्रम की कमायी तो डॉक्टर की भेंट हो चुकी है, लेकिन भामा ने एक पड़ोसी के हाथ अपने कानों के झुमके बेच कर रुपये जुटाये हैं। जिस समय झुमके बन कर आये थे, भामा बहुत प्रसन्न हुई थी। आज उन्हें बेच कर वह उससे भी अधिक प्रसन्न है।

जब ब्रजनाथ ने आठों गिन्नियाँ उसे दिखायी थीं, उसके हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई थी; लेकिन यह हर्ष मुख पर आने का साहस न कर सका था। आज उन गिन्नियों को हाथ से जाते समय उसका हार्दिक आनन्द आँखों में चमक रहा है, होंठों पर नाच रहा है, कपोलों को रंग रहा है, और अंगों पर किलोल कर रहा है; वह इंद्रियों का आनंद था, यह आत्मा का आनंद है; वह आनंद लज्जा के भीतर छिपा हुआ था, यह आनंद गर्व से बाहर निकला पड़ता है।

तुलसी का आशीर्वाद सफल हुआ। आज पूरे तीन सप्ताह के बाद ब्रजनाथ तकिये के सहारे बैठे थे। वह बार-बार भामा को प्रेम-पूर्ण नेत्रों से देखते थे। वह आज उन्हें देवी मालूम होती थी। अब तक उन्होंने उसके बाह्य सौंदर्य की शोभा देखी थी, आज वह उसका आत्मिक सौंदर्य देख रहे हैं।

तुलसी का घर एक गली में था। इक्का सड़क पर जा कर ठहर गया। ब्रजनाथ इक्के पर से उतरे ओर अपनी छड़ी टेकते हुए भामा के हाथों के सहारे तुलसी के घर पहुँचे। तुलसी ने रुपये लिये और दोनों हाथ फैला कर आशीर्वाद दिया—दुर्गा जी तुम्हारा कल्याण करें।

तुलसी का वर्णहीन मुख वैसे ही खिल गया, जैसे वर्षा के पीछे वृक्षों की पत्तियाँ खिल जाती हैं। सिमटा हुआ अंग फैल गया, गालों की झुर्रियाँ मिटती दीख पड़ीं। ऐसा मालूम होता था, मानो उसका कायाकल्प हो गया।

वहाँ से आ कर ब्रजनाथ अपने द्वार पर बैठे हुए थे कि गोरेलाल आ कर बैठ गये। ब्रजनाथ ने मुँह फेर लिया।

गोरेलाल बोले—भाई साहब ! कैसी तबीयत है ?

ब्रजनाथ—बहुत अच्छी तरह हूँ।

गोरेलाल—मुझे क्षमा कीजिएगा। मुझे इसका बहुत खेद है कि आपके रुपये देने में इतना विलम्ब हुआ। पहली तारीख ही को घर से एक आवश्यक पत्र आ गया, और मैं किसी तरह तीन महीने की छुट्टी ले कर घर भागा। वहाँ की विपत्ति-कथा कहूँ, तो समाप्त न हो, लेकिन आपकी बीमारी का शोक-समाचार सुन कर आज भागा चला आ रहा हूँ। ये लीजिए, रुपये हाजिर हैं। इस विलम्ब के लिए अत्यंत लज्जित हूँ।

ब्रजनाथ का क्रोध शांत हो गया। विनय में कितनी शक्ति है। बोले—जी हाँ, बीमार तो था; लेकिन अब अच्छा हो गया हूँ, आपको मेरे कारण व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ा। यदि इस समय आपको असुविधा हो, तो रुपये फिर दे दीजिएगा। मैं अब उऋण हो गया हूँ। कोई जल्दी नहीं है।

गोरेलाल विदा हो गये, तो ब्रजनाथ रुपये लिये हुए भीतर आये और भामा से बोले--ये लो अपने रुपये; गोरेलाल दे गये।

भामा ने कहा—ये मेरे रुपये नहीं तुलसी के हैं। एक बार परायाधन ले कर सीख गयी।

ब्रजनाथ—लेकिन तुलसी के पूरे रुपये तो दे दिये गये !

भ— -ने दिये तो क्या हुआ ? ये उसके आशीर्वाद की न्योछावर है।

ब्रजनाथ—कान के झुमके कहाँ से आवेंगे।

भामा—झुमके न रहेंगे, न सही, सदा के लिए 'कान' तो हो गये।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'सरस्वती', दिसम्बर, 1917 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित। उर्दू रूप 'दुर्गा मंदिर' शीर्षक से 'जखीरा' (उर्दू मासिक) में सन् 1919 में कभी छपी।]

कर्मों का फल

मुझे हमेशा आदमियों के परखने की सनक रही है और अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि यह अध्ययन जितना मनोरंजक, शिक्षाप्रद और उद्घाट ों से भरा हुआ है, उतना शायद और कोई अध्ययन न होगा। लेकिन अपने दोस्त लाला साईदयाल से बहुत अर्से तक दोस्ती और बेतकल्लुफी के संबंध रहने पर भी मुझे उनकी थाह न मिली। मुझे ऐसे दुर्बल शरीर में ज्ञानियों की-सी शांति और संतोष देखकर आश्चर्य होता था जो एक नाजुक पौधे की तरह मुसीबतों के झोंकों में भी अचल और अटल रहता था। यों वह बहुत ही मामूली दरजे का आदमी था जिसमें मानव कमजोरियों की कमी न थी। वह वादे बहुत करता था लेकिन उन्हें पूरा करने की जरूरत नहीं समझता था। वह मिथ्याभाषी न हो लेकिन सच्चा भी न था। बेमुरौवत न हो लेकिन मकी मुरौवत छिपी रहती थी। उसे अपने कर्त्तव्य पर पाबंद रखने के लिए दबाव और निगरानी की जरूरत थी, किफायतशारी के उसूलों से बेखबर, मेहनत से जी चुराने वाला, उसूलों का कमजोर, एक ढीला-ढाला मामूली आदमी था। लेकिन जब कोई मुसीबत सिर पर आ पड़ती तो उसके दिल में साहस और दृढ़ता की वह जबर्दस्त ताकत पैदा हो जाती थी जिसे शहीदों का गुण कह सकते हैं। उसके

पास न दौलत थी न धार्मिक विश्वास, जो ईश्वर पर भरोसा करने और उसकी इच्छाओं के आगे सिर झुका देने का स्रोत है। एक छोटी-सी कपड़े की दुकान के सिवाय कोई जीविका न थी। ऐसी हालतों में उसकी हिम्मत और दृढ़ता का सोता कहां छिपा हुआ है, वहां तक मेरी अन्वेषण-दृष्टि नहीं पहुंचती थी।

2

बाप के मरते ही मुसीबतों ने उस पर छापा मारा। कुछ थोड़ा-सा कर्ज विरासत में मिला जिसमें बराबर बढ़ते रहने की आश्चर्यजनक शक्ति छिपी हुई थी। बेचारे ने अभी बरसी से छुटकारा नहीं पाया था कि महाजन ने नालिश की और अदालत के तिलिस्मी अहाते में पहुंचते ही यह छोटी-सी हस्ती इस तरह फूली जिस तरह मशक फूलती है। डिगरी हुई। जो कुछ जमा-जथा थी, बर्तन-भांड़े, हांड़ी-तवा, उसके गहरे पेट में समा गए। मकान भी न बचा। बेचारे मुसीबतों के मारे साईंदयाल का अब कहीं ठिकाना न था। कौड़ी-कौड़ी को मुहताज, न कहीं घर, न बार। कई-कई दिन फाके से गुजर जाते। अपनी तो खैर उन्हें जरा भी फिक्र न थी लेकिन बीवी थी, दो-तीन बच्चे थे, उनके लिए तो कोई-न-कोई फिक्र करनी ही पड़ती थी। कुनबे का साथ और यह बेसरो-सामानी, बड़ा दर्दनाक दृश्य था। शहर से बाहर एक पेड़ की छांह में यह आदमी अपनी मुसीबत के दिन काट रहा था। सारे दिन बाजारों की खाक छानता। आह, मैंने एक बार उसे रेलवे स्टेशन पर देखा। उसके सिर पर एक भारी बोझ था। उसका नाजुक, सुख-सुविधा में पला हुआ शरीर, पसीना-पसीना हो रहा था। पैर मुश्किल से उठते थे। दम फूल रहा था लेकिन चेहरे से मर्दाना हिम्मत और मजबूत इरादे की रोशनी टपकती थी। चेहरे से पूर्ण संतोष झलक रहा था। उसके चेहरे पर ऐसा इत्मीनान था कि जैसे यही उसका बाप-दादों का पेशा है। मैं हैरत से उसका मुंह ताकता रह गया। दुख में हमदर्दी दिखलाने की हिम्मत न हुई। कई महीने तक यही कैफियत रही। आखिरकार उसकी हिम्मत और सहनशक्ति उसे इस कठिन दुर्गम घाटी से बाहर निकाल लाई।

3

थोड़े ही दिनों के बाद मुसीबतों ने फिर उस पर हमला किया। ईश्वर ऐसा दिन दुश्मन को भी न दिखलाए। मैं एक महीने के लिए बम्बई चला गया था, वहां से लौटकर उससे मिलने गया। आह, वह दृश्य याद करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं और दिल डर से कांप उठता है। सुबह का वक्त था। मैंने दरवाजे पर आवाज दी और हमेशा की तरह बेतकल्लुफ अंदर चला गया, मगर वहां साईंदयाल का वह हंसमुख चेहरा, जिस पर मर्दाना हिम्मत की ताजगी झलकती थी, नजर न आया। मैं एक महीने के बाद उसके घर जाऊं और वह आंखों से रोते लेकिन होंठों से हंसते दौड़कर गले से लिपट न जाय ! जरूर कोई आफत है। उसकी बीवी सिर झुकाए आई और मुझे उसके कमरे में ले गई। मेरा दिल बैठ गया। साईंदयाल एक चारपाई पर मैले-कुचैले कपड़े लपेटे, आंखें बंद किए, पड़ा दर्द से कराह रहा था। जिस्म और बिछौने पर मक्खियों के गुच्छे के गुच्छे बैठे हुए थे। आहट पाते ही उसने

मेरी तरफ देखा। मेरे जिगर के टुकड़े हो गए। हड्डियों का ढांचा रह गया था। दुर्बलता की इससे ज्यादा सच्ची और करुण तस्वीर नहीं हो सकती। उसकी बीवी ने मेरी तरफ निराशा-भरी आंखों से देखा। मेरी आंखों में भी आंसू भर आए। उस सिमटे हुए ढांचे में बीमारी को भी मुश्किल से जगह मिलती होगी, जिंदगी का क्या जिक्र ! आखिरी मैंने धीरे से पुकारा। आवाज सुनते ही वह बड़ी-बड़ी आंखें खुल गईं लेकिन उनमें पीड़ा और शोक के आंसू न थे, संतोष और ईश्वर पर भरोसे की रोशनी थी। और वह पीला चेहरा ! आह, वह गंभीर संतोष का मौन चित्र वह संतोषमय संकल्प की सजीव स्मृति। उसके पीलेपन में मर्दाना हिम्मत की लाली झलकती थी। मैं उसकी सूरत देखकर घबरा गया। क्या यह बुझते हुए चिराग की आखिरी झलक तो नहीं है ?

मेरी सहमी हुई सूरत देखकर वह मुस्कराया और बहुत धीमी आवाज में बोला—तुम ऐसे उदास क्यों हो, यह सब मेरे कर्मों का फल है।

4

मगर कुछ अजब बदकिस्मत आदमी था। मुसीबतों को उससे कुछ खास मुहब्बत थी। किसे उम्मीद थी कि वह उस प्राणघातक रोग से मुक्ति पाएगा। डॉक्टरों ने भी जवाब दे दिया था। मौत के मुंह से निकल आया। अगर भविष्य का जरा भी ज्ञान होता तो सबसे पहले मैं उसे जहर दे देता। आह, उस शोकपूर्ण घटना को याद करके कलेजा मुंह को आता है। धिक्कार है इस जिंदगी पर कि बाप अपनी आंखों से अपने इकलौते बेटे का शोक देखे !

कैसा हंसमुख, कैसा खूबसूरत, होनहार लड़का था, कैसा सुशील, कैसा मधुरभाषी, जालिम मौत ने उसे छांट लिया। प्लेग की दुहाई मची हुई थी। शाम को गिल्टी निकली और सुबह को—कैसी मनहूस, अशुभ सुबह थी—वह जिंदगी सवेरे के चिराग की तरह बुझ गई। मैं उस वक्त बच्चे के पास बैठा हुआ था और साईदयाल दीवार का सहारा लिए हुए खामोश आसमान की तरफ देखता था। मेरी और उसकी आंखों के सामने जालिम और बेरहम मौत ने उस बच्चे को हमारी गोद से छीन लिया। मैं रोते हुए साईदयाल के गले से लिपट गया। सारे घर में कुहराम मचा हुआ था। बेचारी मां पछाड़ें खा रही थीं, बहनें दौड़-दौड़कर भाई की लाश से लिपटती थीं। और जरा देर के लिए ईर्ष्या ने भी संवेदना के आगे सिर झुका दिया था—मुहल्ले की औरतों को आंसू बहाने के लिए दिल पर जोर डालने की जरूरत न थी।

जब मेरे आंसू थमे तो मैंने साईदयाल की तरफ देखा। आंखों में तो आंसू भरे हुए थे—आह, संतोष का आंखों पर कोई बस नहीं लेकिन चेहरे पर मर्दाना दृढ़ता और समर्पण का रंग स्पष्ट था। इस दुख की बाढ़ और तूफान में भी शांति की नैया उसके दिल को डूबने से बचाए हुए थी।

इस दृश्य ने मुझे चकित नहीं स्तंभित कर दिया। संभावनाओं की सीमाएं कितनी ही व्यापक हों, ऐसी हृदय-द्रावक स्थिति में होश-हवास और इत्मीनान को कायम रखना उन सीमाओं से परे है। लेकिन इस दृष्टि से साईदयाल मानव नहीं, अति-मानव था। मैंने रोते हुए कहा—भाई साहब, अब संतोष की परीक्षा का अवसर है। उसने दृढ़ता से उत्तर

दिया—हां, यह कर्मों का फल है।

मैं एक बार फिर भौंचक होकर उसका मुंह तकने लगा।

5

लेकिन साईदयाल का यह तपस्वियों जैसा धैर्य और ईश्वरेच्छा पर भरोसा अपनी आंखों से देखने पर भी मेरे दिल में संदेह बाकी थे। मुमकिन है, जब तक चोट ताजी है सब्र का बांध कायम रहे। लेकिन उसकी बुनियादें हिल गई हैं, उसमें दरारें पड़ गई हैं। वह अब ज्यादा देर तक दुःख और शोक की लहरों का मुकाबला नहीं कर सकता।

क्या संसार की कोई दुर्घटना इतनी हृदयद्रावक, इतनी निर्मम, इतनी कठोर हो सकती है ? संतोष और दृढ़ता और धैर्य और ईश्वर पर भरोसा, यह सब उस आंधी के सामने घास-फूस से ज्यादा नहीं। धार्मिक विश्वास तो क्या, अध्यात्म तक उसके सामने सिर झुका देता है। उसके झोंके आस्था और निष्ठा की जड़ें हिला देते हैं।

लेकिन मेरा अनुमान गलत निकला। साईदयाल ने धीरज को हाथ से न जाने दिया। वह बदस्तूर जिंदगी के कामों में लग गया। दोस्तों की मुलाकातें और नदी के किनारे की सैर और तफरीह और मेलों की चहल-पहल, इन दिलचस्पियों में उसके दिल को खींचने की ताकत अब भी बाकी थी। मैं उसकी एक-एक क्रिया को, एक-एक बात को गौर से देखता और पढ़ता। मैंने दोस्ती के नियम-कायदों को भुलाकर उसे उस हालत में देखा जहां उसके विचारों के सिवा और कोई न था। लेकिन उस हालत में भी उसके चेहरे पर वही पुरुषोचित धैर्य था और शिकवे-शिकायत का एक शब्द भी उसकी जबान पर नहीं आया।

6

इसी बीच मेरी छोटी लड़की चन्द्रमुखी निमोनिया की भेंट चढ़ गई। दिन के धंधे से फुर्सत पाकर जब मैं घर पर आता और उसे प्यार से गोद में उठा लेता तो मेरे हृदय को जो आनंद और आत्मिक शक्ति मिलती थी, उसे शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकता। उसकी अदाएं सिर्फ दिल को लुभाने वाली नहीं, गम को भुलाने वाली हैं। जिस वक्त वह हुमककर मेरी गोद में आती तो मुझे तीनों लोक की संपत्ति मिल जाती थी। उसकी शरारतें कितनी मनमोहक थीं। अब हुक्के में मजा नहीं रहा, कोई चिलम को गिराने वाला नहीं ! खाने में मजा नहीं आता, कोई थाली के पास बैठा हुआ उस पर हमला करने वाला नहीं ! मैं उसकी लाश को गोद में लिए बिलख-बिलखकर रो रहा था। यही जी चाहता था कि अपनी जिंदगी का खात्मा कर दूं। यकायक मैंने साईदयाल को आते देखा। मैंने फौरन आंसू पोंछ डाले और उस नन्ही-सी जान को जमीन पर लिटाकर बाहर निकल आया। उस धैर्य और संतोष के देवता ने मेरी तरफ संवेदना की आंखों से देखा और मेरे गले से लिपटकर रोने लगा। मैंने कभी उसे इस तरह चीखें मारकर रोते नहीं देखा। रोते-रोते उसकी हिचकियां बंध गई, बेचैनी से बेसुध और बेहाल हो गया। यह वही आदमी है जिसका इकलौता बेटा मरा और माथे पर बल नहीं आया। यह कायापलट क्यों ?

7

इस शोकपूर्ण घटना के कई दिन बाद जबकि दुखी दिल सम्हलने लगा था, एक रोज हम दोनों नदी की सैर को गए। शाम का वक्त था। नदी कहीं सुनहरी, कहीं नीली-सी, कहीं काली, किसी थके हुए मुसाफिर की तरह धीरे-धीरे बह रही थी। हम दूर जाकर एक टीले पर बैठ गए लेकिन बातचीत करने को जी न चाहता था। नदी के मौन प्रवाह ने हमको भी अपने विचारों में डुबो दिया। नदी की लहरें विचारों की लहरों को पैदा कर देती हैं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि प्यारी चन्द्रमुखी लहरों की गोद में बैठी मुस्करा रही है। मैं चौंक पड़ा और अपने आंसुओं को छिपाने के लिए नदी में मुंह धोने लगा। साईदयाल ने कहा—भाई साहब, दिल को मजबूत करो। इस तरह कुढ़ोगे तो जरूर बीमार हो जाओगे।

मैंने जवाब दिया—ईश्वर ने जितना संयम तुम्हें दिया है, उसमें से थोड़ा-सा मुझे भी दे दो, मेरे दिल में इतनी ताकत कहां।

साईदयाल मुस्कराकर मेरी तरफ ताकने लगा।

मैंने उसी सिलसिले में कहा—किताबों में तो दृढ़ता और संतोष की बहुत-सी कहानियां पढ़ी हैं मगर सच मानो कि तुम जैसा दृढ़, कठिनाइयों में सीधा खड़ा रहने वाला आदमी आज तक मेरी नजर से नहीं गुजरा। तुम जानते हो कि मुझे मानव-स्वभाव के अध्ययन का हमेशा से शौक है लेकिन मेरे अनुभव में तुम अपनी तरह के अकेले आदमी हो। मैं यह न मानूंगा कि तुम्हारे दिल में दर्द और घुलावट नहीं है। उसे मैं अपनी आंखों से देख चुका हूं। फिर इस ज्ञानियों जैसे संतोष और शांति का रहस्य तुमने कहां छिपा रक्खा है ? तुम्हें इस समय यह रहस्य मुझसे कहना पड़ेगा।

साईदयाल कुछ सोच-विचार में पड गया और जमीन की तरफ ताकते हुए बोला—यह कोई रहस्य नहीं, मेरे कर्मो का फल है।

यह वाक्य मैंने चौथी बार उसकी जबान से सुना और बोला—जिन कर्मो का फल ऐसा शक्तिदायक है, उन कर्मो की मुझे भी कुछ दीक्षा दो, मैं ऐसे फलों से क्यों वंचित रहूं।

साईदयाल ने व्यथापूर्ण स्वर में कहा—ईश्वर न करे कि तुम ऐसा कर्म करो और तुम्हारी जिंदगी पर उसका काला दाग लगे। मैंने जो कुछ किया है, वह मुझे ऐसा लज्जाजनक और ऐसा घृणित मालूम होता है कि उसकी मुझे जो कुछ सजा मिले, मैं उसे खुशी के साथ झेलने को तैयार हूं। आह ! मैंने एक ऐसे पवित्र खानदान को, जहां मेरा विश्वास और मेरी प्रतिष्ठा थी, अपनी वासनाओं की गंदगी में लिथेड़ा है, एक ऐसे पवित्र हृदय को जिसमें मुहब्बत का दर्द था, जो सौंदर्यवाटिका की एक नई-नई खिली हुई कली थी, जिसमें सरलता थी और सच्चाई थी, उस पवित्र हृदय में मैंने पाप और विश्वासघात का बीज हमेशा के लिए बो दिया। यह पाप है जो मुझसे हुआ है और उसका पल्ला उन मुसीबतों से बहुत भारी है जो मेरे ऊपर अब तक पड़ी हैं या आगे चलकर पड़ेंगी। कोई सजा, कोई दुःख, कोई क्षति उसका प्रायश्चित नहीं कर सकती।

मैंने सपने में भी न सोचा था कि साईदयाल अपने विश्वासों में इतना दृढ़ है। पाप हर आदमी से होते हैं, हमारा मानव जीवन पापों की एक लंबी सूची है, वह कौन-सा दामन है जिस पर यह काले दाग न हों। लेकिन कितने ऐसे आदमी हैं जो अपने कर्मों की सजाओं को इस तरह उदारतापूर्वक मुस्कराते हुए झेलने के लिए तैयार हो। हम आग में

कूदते हैं लेकिन जलने के लिए तैयार नहीं होते।

मैं साईंदयाल को हमेशा इज्जत की निगाह से देखता हूं, इन बातों को सुनकर मेरी नजरों में उसकी इज्जत तिगुनी हो गई। एक मामूली दुनियादार आदमी के सीने में एक फकीर का दिल छिपा हुआ था जिसमें ज्ञान की ज्योति चमकती थी। मैंने उसकी तरफ श्रद्धापूर्ण आंखों से देखा और उसके गले से लिपटकर बोला– साईंदयाल, अब तक मैं तुम्हें एक दृढ़ स्वभाव का आदमी समझता था लेकिन आज मालूम हुआ कि तुम उन पवित्र आत्माओं में हो, जिनका अस्तित्व संसार के लिए वरदान है। तुम ईश्वर के सच्चे भक्त हो, और मैं तुम्हारे पैरों पर सिर झुकाता हूं।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू 'प्रेम पचीसी' (मार्च 1918) में संकलित। हिन्दी रूप 'गुप्तधन' भाग-1 में संकलित।]

विजय

शाहजादा मसरूर की शादी मलका मखमूर से हुई और दोनों आराम से जिंदगी बसर करने लगे। मसरूर ढोर चराता, खेत जोतता, मखमूर खाना पकाती और चरखा चलाती। दोनों तालाब के किनारे बैठे हुए मछलियों का तैरना देखते, लहरों से खेलते, बगीचे में जाकर चिड़ियों के चहचहे सुनते और फूलों के हार बनाते। न कोई फिक्र थी, न कोई चिंता।

लेकिन बहुत दिन न गुजरने पाए थे कि उनके जीवन में एक परिवर्तन आया। दरबार के सदस्यों में बुलहवस खां नाम का एक फसादी आदमी था। शाह मसरूर ने उसे नजरबंद कर रखा था। वह धीरे-धीरे मलका मखमूर के मिजाज में इतना दाखिल हो गया कि मलका उसके मशवरे के बगैर कोई काम न करती। उसने मलका के लिए एक हवाई जहाज बनाया जो महज इशारे से चलता था। एक सेकेंड में हजारों मील रोज जाता और देखते-देखते ऊपर की दुनिया की खबर लाता। मलका उस जहाज पर बैठकर योरोप और अमरीका की सैर करती। बुलहवस उससे कहता, साम्राज्य को फैलाना बादशाहों का पहला कर्त्तव्य है। इस लंबी-चौड़ी दुनिया पर कब्जा कीजिए, व्यापार के साधन बढ़ाइए, छिपी हुई दौलत निकालिए, फौजें खड़ी कीजिए, उनके लिए अस्त्र-शस्त्र जुटाइए। दुनिया हौसलामंदों के लिए है। उन्हीं के कारनामे, उन्हीं की जीतें याद की जाती हैं। मलका उसकी बातों को खूब कान लगाकर सुनती। उसके दिल में हौसले का जोश उमड़ने लगना। यहां तक कि अपना सरल संतोषी जीवन उसे रूखा-फीका मालूम होने लगा।

मगर शाह मसरूर संतोष का पुतला था। उसकी जिंदगी के वह मुबारक लमहे होते थे जब वह एकांत के कुंज में चुपचाप बैठकर जीवन और उसके कारणों पर विचार करता और उसकी विराटता और आश्चर्यों को देखकर श्रद्धा के भाव से चीख उठता—आह ! मेरी हस्ती कितनी नाचीज है ! उसे मलका के मंसूबों और हौसलों से जरा भी दिलचस्पी न थी। नतीजा यह हुआ कि आपस के प्यार और सच्चाई की जगह संदेह पैदा हो गए।

में गिरोह बनने लगे। जीवन का संतोष विदा हो गया। मसरूर को इन सब परेशानियों के लिए, जो उसकी सभ्यता के रास्ते में बाधक होती थीं, धीरज न था। वह एक दिन उठा और सल्तनत मलका के सुपुर्द करके एक पहाड़ी इलाके में जा छिपा। सारा दरबार नई उमंगों से मतवाला हो रहा था। किसी ने बादशाह को रोकने की कोशिश न की। महीनों, वर्षों हो गए, किसी को उनकी खबर न मिली।

2

मलका मखमूर ने एक बड़ी फौज खड़ी की और बुलहवस खां को चढ़ाइयों पर रवाना किया। उसने इलाके पर इलाके और मुल्क पर मुल्क जीतने शुरू किए। सोने-चांदी और हीरे-जवाहरात के अंबार हवाई जहाजों पर लदकर राजधानी को आने लगे।

लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि इन रोज-ब-रोज बढ़ती हुई तरक्कियों से मुल्क के अंदरूनी मामलों में उपद्रव खड़े होने लगे। वह सूबे जो अब तक हुक्म के ताबेदार थे, बगावत के झंडे खड़े करने लगे। कर्णसिंह बुंदेला एक फौज लेकर चढ़ आया। अगर अजब फौज थी, न कोई हरबे-हथियार, न तोपें, सिपाहियों के हाथों में बंदूक और तीर-तुपुक के बजाए बरबत-तंबूरे और सारंगियां, दफ, सितार, और ताउस थे। तोपों की घनगरज सदाओं के बदले तबले और मृदंग की कुमुक थी। बमगोलों की जगह जलतरंग, ऑर्गन और आर्केस्ट्रा था। मलका मखमूर ने समझा, आन की आन में इस फौज को तितर-बितर करती हूं। लेकिन ज्योंही उसकी फौज कर्णसिंह के मुकाबले में रवाना हुई, लुभावने, आत्मा को शांति पहुंचाने वाले स्वरों की वह बाढ़ आई, मीठे और सुहाने गानों की वह बौछार हुई कि मलका की सेना पत्थर की मूरतों की तरह आत्मविस्मृत होकर खड़ी रह गई। एक क्षण में सिपाहियों की आंखें नशे में डूबने लगीं और वह तालियां बजा-बजाकर नाचने लगे, सर हिला-हिलाकर उछलने लगे, फिर सब-के-सब बेजान लाश की तरह गिर पड़े। और सिर्फ सिपाही नहीं, राजधानी में भी जिसके कानों में यह आवाजें गई वह बेहोश हो गया। सारे शहर में कोई जिंदा आदमी नजर न आता था। ऐसा मालूम होता था कि पत्थर की मूरतों का तिलिस्म है। मलका अपने जहाज पर बैठी यह करिश्मा देख रही थी। उसने जहाज नीचे उतारा कि देखूं क्या माजरा है ? पर उन आवाजों के कान में पहुंचते ही उसकी भी वही दशा हो गई। वह हवाई जहाज पर नाचने लगी और बेहोश होकर गिर पड़ी। जब कर्णसिंह शाही महल के करीब जा पहुंचा और गाने बंद हो गए तो मलका की आंखें खुलीं जैसे किसी का नशा टूट जाए। उसने कहा—मैं वही गाने सुनूंगी, वही राग, वही अलाप, वह लुभाने वाले गीत। हाय, वह आवाजें कहां गईं ! कुछ परवाह नहीं, मेरा राज जाए, पाट जाए, मैं वही राग सुनूंगी।

सिपाहियों का नशा भी टूटा। उन्होंने उसके स्वर में स्वर मिलाकर कहा—हम वही गीत सुनेंगे, वही प्यारे-प्यारे मोहक राग। बला से हम गिरफ्तार होंगे, गुलामी की बेड़ियां पहनेंगे, आजादी से हाथ धोएंगे पर वही राग वही तराने, वही तानें, वही धुनें।

3

सूबेदार लोचनदास को जब कर्णसिंह की विजय का हाल मालूम हुआ तो उसने भी विद्रोह करने की ठानी। अपनी फौज लेकर राजधानी पर चढ़ दौड़ा। मलका ने अबकी जान-तोड़

मुकाबला करने की ठानी। सिपाहियों को खूब ललकारा और उन्हें लोचनदास के मुकाबले में खड़ा किया मगर बाहरी हमलावर फौज ! न कहीं सवार, न कहीं प्यादे, न तोप, न बंदूक, न हरबे, न हथियार। सिपाहियों की जगह सुंदर नर्तकियों के गोल थे और थियेटर के ऐक्टर। सवारों की जगह भांड़ों और बहुरूपियों के गोल। मोर्चों की जगह तीतरों और बटेरों के जोड़ छूटे हुए थे तो बंदूक की जगह सर्कस और बाइसकोप के खेमे पड़े थे। कहीं हीरे-जवाहरात अपनी आब-ताब दिखा रहे थे, कहीं तरह-तरह के चरिंदों-परिंदों की नुमाइश खुली हुई थी। मैदान के एक हिस्से में धरती की अजीब-अजीब चीजें, झरने और बर्फिस्तानी चोटियां और बर्फ के पहाड़, पेरिस का बाजार, लंदन का एक्सचेंज या सटन की मंडियां, अफ्रीका के जंगल, सहारा के रेगिस्तान, जापान की गुलकारियां, चीन के दरियाई शहर, दक्षिण अमरीका के आदमखोर, काफ की परियां, लैपलैंड के समूरपोश इंसान और ऐसे सैकड़ों विचित्र और आकर्षक दृश्य चलते-फिरते दिखाई पड़ते थे। मलका की फौज यह नजारा देखते ही बेसुध होकर उसकी तरफ दौड़ी। किसी को सर-पैर का खयाल न रहा। लोगों ने बंदूकें फेंक दीं, तलवारें और किरचें उतार फेंकीं और बेतहाशा इन दृश्यों के चारों तरफ जमा हो गए। कोई नाचनेवालियों की मीठी अदाओं और नाजुक चलन पर दिल दे बैठा, कोई थियेटर के तमाशों पर रीझा। कुछ लोग तीतरों और बटेरों के जोड़ देखने लगे और सब-के-सब चित्रलिखित से मंत्रमुग्ध खड़े रह गए। मलका अपने हवाई जहाज पर बैठी कभी थियेटर की तरफ जाती, कभी सर्कस की तरफ दौड़ती, यहां तक कि वह भी बेहोश हो गई।

लोचनदास जब विजय करता हुआ शाही महल में दाखिल हो गया तो मलका की आंखें खुलीं। उसने कहा—हाय, वह तमाशे कहां गए, यह सुंदर-सुंदर दृश्य, वह लुभावने दृश्य कहां गायब हो गए ! मेरा राज जाए, पाट जाए लेकिन मैं यह सैर जरूर देखूंगी। मुझे आज मालूम हुआ है कि जिंदगी में क्या-क्या मजे हैं !

सिपाही भी जागे। उन्होंने एक स्वर से कहा—हम वही सैर और तमाशे देखेंगे, हमें लड़ाई-भिड़ाई से कुछ मतलब नहीं, हमको आजादी की परवाह नहीं, हम गुलाम होकर रहेंगे, पैरों में बेड़ियां पहनेंगे पर इन दिलफरेबियों के बगैर नहीं रह सकेंगे।

4

मलका मखमूर को अपनी सल्तनत का हाल देखकर बहुत दुख होता। वह सोचती, क्या इसी तरह सारा देश मेरे हाथ से निकल जाएगा ? अगर शाह मसरूर ने यों किनारा न कर लिया होता तो सल्तनत की यह हालत कभी न होती। क्या उन्हें यह कैफियतें मालूम न होंगी। यहां से दम-दम की खबरें उनके पास जाती हैं, मगर जरा भी जुंबिश नहीं करते। कितने बेरहम हैं। खैर, जो कुछ सर पर आएगी सह लूंगी पर उनकी मिन्नत न करूंगी।

लेकिन जब वह उन आकर्षक गानों को सुनती और दृश्यों को देखती तो यह दुखदायी विचार भूल जाते, उसे अपनी जिंदगी बहुत आनंद की मालूम होती।

बुलहवस खां ने लिखा—मैं दुश्मनों से घिर गया हूं, नफरत अली और कीन खां और ज्वालासिंह ने चारों तरफ से हमला शुरू कर दिया है। जब तक और कुमुक न आए, मैं मजबूर हूं। पर मलका की फौज यह सैर और गाने छोड़कर जाने पर राजी न होती थी।

इतने में दो सूबेदारों ने फिर बगावत की। मिर्जा शमीम और रसराजसिंह दोनों एक होकर राजधानी पर चढ़े। मलका की फौज में अब न लज्जा थी, न वीरता, गाने-बजाने और सैर-तमाशे ने उन्हें आरामतलब बना दिया था। बड़ी मुश्किलों से सज-सजाकर मैदान में निकले। दुश्मन की फौज इंतजार करती खड़ी थी लेकिन न किसी के पास तलवार थी न बंदूक, सिपाहियों के हाथों में फूलों के खुशनुमा गुलदस्ते थे, किसी के हाथ में इत्र की शीशियां, किसी के हाथ में गुलाब के फौवारे, कहीं लवेंडर की बोतलें, कहीं मुश्क वगैरह की बहार—सारा मैदान अत्तार की दुकान बना हुआ था। दूसरी तरफ रसराज की सेना थी। उनके सिपाहियों के हाथों में सोने के तश्त थे, जरबफ्त के खानपोशों से ढके हुए, किसी में बर्फी और मलाई थी, किसी में कोरमे और कबाब, किसी में खुबानी और अंगूर, कहीं कश्मीर की नेमतें सजी हुई थीं, कहीं इटली की चटनियों की बहार थी और कहीं पुर्तगाल और फ्रांस की शराबें शीशियों में महक रही थीं।

मलका की फौज यह सजीवनी सुगंध सूंघते ही मतवाली हो गई। लोगों ने हथियार फेंक दिए और इन स्वादिष्ट पदार्थों की ओर दौड़े, कोई हलुए पर गिरा, कोई मलाई पर टूटा, किसी ने कोरमे और कबाब पर हाथ बढ़ाए, कोई खुबानी और अंगूर चखने लगा, कोई कश्मीरी [illegible] पर लपका, सारी फौज भिखमंगों की तरह हाथ फैलाए यह नेमतें मांगती थी और बेहद चाव से खाती थी। एक-एक कौर के लिए, एक चमचा फीरीनी के लिए, शराब के एक प्याले के लिए खुशामदें करते थे, नाकें रगड़ते थे, सिजदे करते थे। यहां तक कि सारी फौज पर एक नशा छा गया, बेदम होकर गिर पड़ी। मलका भी इटली के मुरब्बों के सामने दामन फैला-फैलाकर मिन्नतें करती थी और कहती थी कि सिर्फ एक लुकमा और एक प्याला दो और मेरा राज लो, पाट लो, मेरा सब कुछ ले लो लेकिन मुझे जी भरकर खा-पी लेने दो। यहां तक कि वह भी बेहोश होकर गिर पड़ी।

5

मलका की हालत अब बेहद दर्दनाक थी। उसकी सल्तनत का एक छोटा-सा हिस्सा दुश्मनों के हाथ से बचा हुआ था। उसे एकदम के लिए भी इस गुलामी से नजात न मिलती। कभी कर्णसिंह के दरबार में हाजिर होती, कभी मिर्जा शमीम की खुशामद करती, इसके बगैर उसे चैन न आता। हां, जब कभी इस मुसाहिबी और जिल्लत से उसकी तबीयत थक जाती तो वह अकेले बैठकर घंटों रोती और चाहती कि जाकर शाह मसरूर को मना लाऊं। उसे यकीन था कि उनके आते ही बागी काफूर हो जाएंगे पर एक ही क्षण में उसकी तबीयत बदल जाती। उसे अब किसी हालत पर चैन न आता था।

अभी तक बुलहवस खां की स्वामिभक्ति में फर्क न आया था। लेकिन जब उसने सल्तनत की यह कमजोरी देखी तो वह भी बगावत कर बैठा। उसकी आ[illegible]माई हुई फौज के मुकाबले में मलका की फौज क्या ठहरती, पहले ही हमले में कदम उखड़ गए। मलका खुद गिरफ्तार हो गई। बुलहवस खां ने उसे एक तिलिस्माती कैदखाने में बंद कर दिया। सेवक से स्वामी बन बैठा।

यह कैदखाना इतना लंबा-चौड़ा था कि कोई कैदी कितना ही भागने की कोशिश करे, उसकी चहारदीवारी से बाहर नहीं निकल सकता था। वहां संतरी और पहरेदार न थे

लेकिन वहां की हवा में एक खिंचाव था। मलका के पैरों में न बेड़ियां थीं न हाथों में हथकड़ियां लेकिन शरीर का अंग-प्रत्यंग तारों से बंधा हुआ था। वह अपनी इच्छा से हिल भी न सकती थी। वह अब दिन के दिन बैठी हुई जमीन पर मिट्टी के घरौंदे बनाया करती और समझती यह महल है। तरह-तरह के स्वांग भरती और समझती दुनिया मुझे देखकर लट्टू हुई जाती है। पत्थर के टुकड़ों से अपना शरीर गूंध लेती और समझती कि अब हूरें भी मेरे सामने मात हैं। वह दरख्तों से पूछती, मैं कितनी खूबसूरत हूं ? शाखों पर बैठी हुई चिड़ियों से पूछती, हीरे-जवाहरात का ऐसा गुलूबंद तुमने देखा है ? मिट्टी के ठीकरों का अंबार लगाती और आसमान से पूछती, इतनी दौलत तुमने देखी है ?

मालूम नहीं, इस हालत में कितने दिन गुजर गए। मिर्जा शमीम, लोचनदास वगैरह हरदम उसे घेरे रहते थे। शायद वह उससे डरते थे। ऐसा न हो, यह शाह मसरूर को कोई संदेशा भेज दे। कैद में भी उस पर भरोसा न था। यहां तक कि मलका की तबीयत इस कैद से बेजार हो गई, वह निकल भागने की तदबीरें सोचने लगी।

इसी हालत में एक दिन मलका बैठी सोच रही थी, मैं क्या थी क्या हो गई ? जो मेरे इशारों के गुलाम थे वह अब मेरे मालिक हैं, मुझे जिस कल चाहते हैं बिठाते हैं, जहां चाहते हैं घुमाते हैं। अफसोस मैंने शाह मसरूर का कहना न माना, यह उसी की सजा है। काश, एक बार मुझे किसी तरह इस कैद से छुटकारा मिल जाता तो मैं चलकर उनके पैरों पर सिर रख देती और कहती, लौंडी की खता माफ कीजिए। मैं खून के आंसू रोती और उन्हें मना लाती और फिर कभी उनके हुक्म से इंकार न करती। मैंने इस नमकहराम बुलहवस खां की बातों में पड़कर उन्हें निर्वासित कर दिया, मेरी अक्ल कहां चली गई थी।

यह सोचते-सोचते मलका रोने लगी कि यकायक उसने देखा, सामने एक खिले हुए मुखड़े वाला, गंभीर पुरुष सादा कपड़े पहने खड़ा है। मलका ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—आप कौन हैं ? यहां मैंने आपको कभी नहीं देखा।

पुरुष—हां, इस कैदखाने में मैं बहुत कम आता हूं। मेरा काम है कि जब कैदियों की तबीयत यहां से बेजार हो तो उन्हें यहां से निकलने में मदद दूं।

मलका—आपका नाम ?

पुरुष—संतोखसिंह।

मलका—आप मुझे इस कैद से छुटकारा दिला सकते हैं ?

संतोख—हां, मेरा तो काम ही यह है, लेकिन मेरी हिदायतों पर चलना पड़ेगा।

मलका—मैं आपके हुक्म से जौ भर भी इधर-उधर न करूंगी। खुदा के लिए मुझे यहां से जल्द से जल्द ले चलिए, मैं मरने दम तक आपकी शुक्रगुजार रहूंगी।

संतोख—आप कहां चलना चाहती हैं ?

मलका—मैं शाह मसरूर के पास जाना चाहती हूं। आपको मालूम है वह आजकल कहां हैं।

संतोख—हां, मालूम है, मैं उनका नौकर हूं। उन्हीं की तरफ से मैं इस काम पर तैनात हूं ?

मलका—तो खुदा के वास्ते मुझे जल्द ले चलिए, मुझे अब यहां एक घड़ी रहना जी पर भारी हो रहा है।

संतोख—अच्छा, तो यह रेशमी कपड़े और यह जवाहरात और सोने के जेवर उतारकर फेंक दो। बुलहवस ने इन्हीं जंजीरों से तुम्हें जकड़ दिया है। मोटे से मोटा कपड़ा जो मिल सके पहन लो। इन मिट्टी के घरौंदों को गिरा दो। इतर और गुलाब की शीशियां, साबुन की बट्टियां और यह पाउडर के डब्बे सब फेंक दो।

मलका ने शीशियां और पाउडर के टिन तड़ाक पटक दिए, सोने के जेवरों को उतारकर फेंक दिया कि इतने में बुलहवस खां धाड़ें मारकर रोता हुआ आकर खड़ा हुआ और हाथ बांधकर कहने लगा—दोनों जहानों की मलका, मैं आपका नाचीज गुलाम हूं, आप मुझसे नाराज हैं ?

मलका ने बदला लेने के अपने जोश में मिट्टी के घरौंदों को पैरों से ठुकरा दिया। ठीकरों के अंबार को ठोकरें मारकर बिखेर दिया। बुलहवस के शरीर का एक-एक अंग कट-कट गिरने लगा। वह बेदम होकर जमीन पर गिर पड़ा और दम के दम में जहन्नुम रसीद हुआ। संतोखसिंह ने मलका से कहा—देखा तुमने ? इस दुश्मन को तुम कितना डरावना समझती थीं, आन की आन में खाक में मिल गया।

मलका—काश, मुझे यह हिकमत मालूम होती तो मैं कभी की आजाद हो जाती। लेकिन अभी और भी तो कितने ही दुश्मन हैं।

संतोख—उनको मारना इससे भी आसान है। चलो कर्णसिंह के पास, ज्योंही वह अपना सुर अलापने लगे और मीठी-मीठी बातें करने लगें, कानों पर हाथ रख लो, देखो, अदृश्य के पर्दे से फिर क्या चीज सामने आती है।

मलका कर्णसिंह के दरबार में पहुंची। उसे देखते ही चारों तरफ से ध्रुपद और तिल्लाने के वार होने लगे। पियानो बजने लगे। मलका ने दोनों कान बंद कर लिए। कर्णसिंह के दरबार में आग का शोला उठने लगा। सारे दरबारी जलने लगे। कर्णसिंह दौड़ा हुआ आया और बड़े विनयपूर्वक मलका के पैरों पर गिरकर बोला—हुजूर, अपने इस हमेशा के गुलाम पर रहम करें। कानों पर से हाथ हटा लें, वर्ना इस गरीब की जान पर बन जाएगी। अब कभी हुजूर की शान में यह गुस्ताखी न होगी।

मलका ने कहा—अच्छा, जा तेरी जां-बख्शी की। अब कभी बगावत न करना वर्ना जान से हाथ धोएगा।

कर्णसिंह ने संतोखसिंह की तरफ प्रलय को आंखों से देखकर सिर्फ इतना कहा—'जालिम, तुझे मौत भी नहीं आई' और बेतहाशा गिरता-पड़ता भागा। संतोखसिंह ने मलका से कहा—देखा तुमने, इनको मारना कितना आसान था ? अब चलो लोचनदास के पास। ज्योंही वह अपने करिश्मे दिखाने लगे, दोनों आंखें बंद कर लेना।

मलका लोचनदास के दरबार में पहुंची। उसे देखते ही लोचन ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना शुरू किया। ड्रामे होने लगे, नर्तकों ने थिरकना शुरू किया। लालो-जमुर्रद की कश्तियां सामने आने लगीं लेकिन मलका ने दोनों आंखें बंद कर लीं।

आन की आन में वह ड्रामे और सर्कस और नाचने वालों के गिरोह खाक में मिल गए। लोचनदास के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं, निराशापूर्ण धैर्य के साथ चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा—यह तमाशा देखो, यह पेरिस के कहवेखाने, यह मिस एलिन का नाच है। देखो, अंग्रेज रईस उस पर कितनी उदारता से सोने और हीरे-जवाहरात निछावर कर रहे हैं।

जिसने यह सैर-तमाशे न देखे उसकी जिंदगी मौत से बदतर। लेकिन मलका ने आंखें न खोलीं।

तब लोचनदास बदहवास और घबराया हुआ, वेद के दरख्त की तरह कांपता हुआ मलका के सामने आ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला—हुजूर, आंखें खोलें। अपने इस गुलाम पर रहम करें, नहीं तो मेरी जान पर बन जाएगी। गुलाम की गुस्ताखियां माफ फरमाएं। अब यह बेअदबी न होगी।

मलका ने कहा—अच्छा जा, तेरी जां-बख्शी की लेकिन खबरदार, अब सर न उठाना नहीं तो जहन्नुम रसीद कर दूंगी।

लोचनदास यह सुनते ही गिरता-पड़ता जान लेकर भागा। पीछे फिरकर भी न देखा। संतोखसिंह ने मलका से कहा—अब चलो मिर्जा शमीम और रसराज के पास। वहां एक हाथ से नाक बंद कर लेना और दूसरे हाथ से खानों के तश्त को जमीन पर गिरा देना।

मलका रसराज और शमीम के दरबार में पहुंची। उन्होंने जो संतोख को मलका के साथ देखा तो होश उड़ गए। मिर्जा शमीम ने कस्तूरी और केसर की लपटें उड़ाना शुरू कीं। रसराज स्वादिष्ट खानों के तश्त सजा-सजाकर मलका के सामने लाने लगा, और उनकी तारीफ करने लगा—यह पुर्तगाल की तीन आंच दी हुई शराब है, इसे पिए तो बुड्ढा जवान हो जाय। यह फ्रांस का शैंपेन है, इसे पिए तो मुर्दा जिंदा हो जाए। यह मथुरा के पेड़े हैं, इन्हें खाए तो स्वर्ग की नेमतों को भूल जाय।

लेकिन मलका ने एक हाथ से नाक बंद कर ली और दूसरे हाथ से उन तश्तों को जमीन पर गिरा दिया और बोतलों को ठोकरें मार-मारकर चूर कर दिया। ज्यों-ज्यों उसकी ठोकरें पड़ती थीं, दरबार के दरबारी चीख-चीखकर भागते थे। आखिर मिर्जा शमीम और रसराज दोनों परीशान और बेहाल, सर से खून जारी, अंग-अंग टूटा हुआ, आकर मलका के सामने खड़े हो गए और गिड़गिड़ाकर बोले—हुजूर, गुलामों पर रहम करें। हुजूर की शान में जो गुस्ताखियां हुई हैं उन्हें मुआफ फरमाएं, अब फिर ऐसी बेअदबी न होगी।

मलका ने कहा—रसराज को मैं जान से मारना चाहती हूं। उसके कारण मुझे जलील होना पड़ा।

लेकिन संतोखसिंह ने मना किया—नहीं, इसे जान से न मारिए। इस तरह का सेवक मिलना कठिन है। यह आपके सब सूबेदार अपने काम में यकता हैं। सिर्फ इन्हें काबू में रखने की जरूरत है।

मलका ने कहा—अच्छा जाओ, तुम दोनों की भी जां-बख्शी की लेकिन खबरदार, अब कभी उपद्रव मत खड़ा करना वर्ना तुम जानोगे।

दोनों गिरते-पड़ते भागे और दम के दम में नजरों से ओझल हो गए।

मलका की रिआया और फौज ने भेंटें दीं, घर-घर शादियाने बजने लगे। चारों बागी सूबेदार शहरपनाह के पास छापा मारने की घात में बैठ गए लेकिन संतोखसिंह जब रिआया और फौज को मस्जिद में शुक्रिये की नमाज अदा करने के लिए ले गया तो बागियों को कोई उम्मीद न रही, वह निराश होकर चले गए।

जब इन कामों से फुर्सत हुई तो मलका ने संतोखसिंह से कहा—मेरे पास अल्फाज नहीं हैं, और न अल्फाज में इतनी ताकत है कि मैं आपके एहसानों का शुक्रिया अदा कर

सकूं। आपने मुझे गुलामी से छुटकारा दिया, मैं आखिरी दम तक आपका जस गाऊंगी। अब शाह मसरूर के पास मुझे ले चलिए, मैं उनकी सेवा करके अपनी उम्र बसर करना चाहती हूं। उनसे मुंह मोड़कर मैंने बहुत जिल्लत और मुसीबत झेली। अब कभी उनके कदमों से जुदा न हूंगी।

संतोखसिंह–हां-हां, चलिए, मैं तैयार हूं, लेकिन मंजिल सख्त है, घबराना मत।

मलका ने हवाई जहाज मंगवाया। पर संतोखसिंह ने कहा–वहां हवाई जहाज का गुजर नहीं है, पैदल चलना पड़ेगा। मलका ने मजबूर होकर हवाई जहाज वापस कर दिया और अकेले अपने स्वामी को मनाने चली।

वह दिन भर भूखी-प्यासी पैदल चलती रही। आंखों के सामने अंधेरा छाने लगा, प्यास से गले में कांटे पड़ने लगे। कांटों से पैर छलनी हो गए। उसने अपने मार्गदर्शक से पूछा–अभी कितनी दूर है ?

संतोख–अभी बहुत दूर है। चुपचाप चली आओ। यहां बातें करने से मंजिल खोटी हो जाती है।

रात हुई, आसमान पर बादल छा गए। सामने एक नदी पड़ी, किश्ती का पता न था। मलका ने पूछा–किश्ती कहां है ?

संतोख ने कहा–नदी में चलना पड़ेगा, यहां किश्ती कहां है।

मलका को डर मालूम हुआ लेकिन वह जान पर खेलकर दरिया में चल पड़ी। मालूम हुआ कि सिर्फ आंख का धोखा था। वह रेतीली जमीन थी। सारी रात संतोखसिंह ने एक क्षण के लिए भी दम न लिया। जब भोर का तारा निकल आया तो मलका ने रोकर कहा–अभी कितनी दूर है, मैं तो मरी जाती हूं।

संतोखसिंह ने जवाब दिया–चुपचाप चली आओ।

मलका ने हिम्मत करके फिर कदम बढ़ाए। उसने पक्का इरादा कर लिया था कि रास्ते में मर ही क्यों न जाऊं पर नाकाम न लौटूंगी। उस कैद से बचने के लिए वह कड़ी से कड़ी मुसीबतें झेलने को तैयार थी।

सूरज निकला, सामने एक पहाड़ नजर आया जिसकी चोटियां आसमान में घुसी हुई थीं। संतोखसिंह ने पूछा–इसी पहाड़ी की सबसे ऊंची चोटी पर शाह मसरूर मिलेंगे, चढ़ सकोगी ?

मलका ने धीरज से कहा–हां, चढ़ने की कोशिश करूंगी।

बादशाह से भेंट होने की उम्मीद ने उसके बेजान पैरों में पर लगा दिए। वह तेजी से कदम उठाकर पहाड़ पर चढ़ने लगी। पहाड़ के बीचों-बीच आते-आते वह थककर बैठ गई, उसे गश आ गया। मालूम हुआ कि दम निकल रहा है। उसने निराश आंखों से अपने मित्र को देखा। संतोखसिंह ने कहा–एक दफा और हिम्मत करो, दिल में खुदा को याद करो। मलका ने खुदा की याद की। उसकी आंखें खुल गई। वह फुर्ती से उठी और एक ही हल्ले में चोटी पर जा पहुंची। उसने एक ठंडी सांस ली। वहां शुद्ध हवा में सांस लेते ही मलका को शरीर में एक नई जिंदगी का अनुभव हुआ। उसका चेहरा दमकने लगा। ऐसा मालूम होने लगा कि मैं चाहूं तो हवा में उड़ सकती हूं। उसने खुश होकर संतोखसिंह की तरफ देखा और आश्चर्य के सागर में डूब गई। शरीर वही था, पर चेहरा शाह मसरूर का था।

मलका ने फिर उसकी तरफ अचरज की आंखों से देखा। संतोखसिंह के शरीर पर से एक बादल का पर्दा हट गया और मलका को वहां शाह मसरूर खड़े नजर आए—वही हल्का पीला कुर्ता, वही गेरुए रंग की तहमद। उनके मुखमंडल से तेज की कांति बरस रही थी, माथा तारों की तरह चमक रहा था। मलका उनके पैरों पर गिर पड़ी। शाह मसरूर ने उसे सीने से लगा लिया।

['फतह' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका 'जमाना' अप्रैल, 1918 में प्रकाशित। उर्दू 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'विजय' शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-1 में संकलित।]

बलिदान

मनुष्य की आर्थिक अवस्था का सबसे ज्यादा असर उनके नाम पर पड़ता है। मौजे बेला के मँगरू ठाकुर जब से कान्सटिबिल हो गये हैं, उनका नाम मंगलसिंह हो गया है। अब उन्हें कोई मँगरू कहने का साहस नहीं कर सकता। कल्लू अहीर ने जब से हलके के थानेदार साहब से मित्रता कर ली है और गाँव का मुखिया हो गया है, उसका नाम कालिकादीन हो गया है। अब से कोई कल्लू कहे तो आँखें लाल-पीली करता है। इसी प्रकार हरखचंद्र कुरमी अब हरखू हो गया है। आज से बीस साल पहले उसके यहाँ शक्कर बनती थी, कई हल की खेती होती थी और कारोबार खूब फैला हुआ था। लेकिन विदेशी शक्कर की आमद ने उसे मटियामेट कर दिया। धीरे-धीरे कारखाना टूट गया, जमीन टूट गयी, गाहक टूट गये और वह भी टूट गया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा, जो एक तकियेदार माचे पर बैठा हुआ नारियल पिया करता था, अब सिर पर टोकरी लिए खाद फेंकने जाता है। परंतु उसके मुख पर भी एक प्रकार की गंभीरता, बातचीत में अब भी एक प्रकार की अकड़, चाल-ढाल में अब भी एक प्रकार का स्वाभिमान भरा हुआ है। इन पर काल की गति का प्रभाव नहीं पड़ा। रस्सी जल गयी, पर बल नहीं टूटा। भले दिन मनुष्य के चरित्र पर, सदैव के लिए अपना चिह्न छोड़ जाते हैं। हरखू के पास अब केवल पाँच बीघा जमीन है। केवल दो बैल हैं। एक हल की खेती होती है।

लेकिन पंचायतों में, आपस की कलह में, उसकी सम्मति अब भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। वह जो बात कहता है, बेलाग कहता है और गाँव के अनपढ़े उसके सामने मुँह नहीं खोल सकते।

हरखू ने अपने जीवन में कभी दवा नहीं खायी। वह बीमार ज़रूर पड़ता, कुआर मास में मलेरिया से कभी न बचता था। लेकिन दस-पाँच दिन में वह बिना दवा खाये ही चंगा हो जाता था। इस वर्ष भी कार्तिक में बीमार पड़ा और यह समझ कर कि अच्छा तो हो ही जाऊँगा, उसने कुछ परवा न की। परंतु अब की ज्वर मौत का परवाना ले कर चला था। एक सप्ताह बीता, दूसरा सप्ताह बीता, पूरा महीना बीत गया; पर हरखू चारपाई से न उठा। अब उसे दवा की जरूरत मालूम हुई। उसका लड़का गिरधारी, कभी नीम के सींके पिलाता, कभी गुर्च का सत, कभी गदापूरना की जड़; पर इन औषधियों से कोई फायदा न होता था।

हरखू को विश्वास हो गया कि अव संसार से चलने के दिन आ गये।

एक दिन मंगलसिंह उसे देखने गये, बेचारा टूटी खाट पर पड़ा राम-राम जप रहा था। मंगलसिंह ने कहा--बावा, बिना दवा खाये अच्छे न होगे; कुनैन क्यों नहीं खाते? हरखू ने उदासीन भाव से कहा--तो लेते आना।

दूसरे दिन कालिकादीन ने आ कर कहा--बाबा, दो-चार दिन कोई दवा खा लो। अव तुम्हारी जवानी की देह थोड़े ही है कि बिना दवा-दर्पण के अच्छे हो जाओगे।

हरखू ने उसी मंद भाव से कहा--तो लेते आना। लेकिन रोगी को देख आना एक बात है, दवा ला कर उसे देना दूसरी बात है। पहली बात शिष्टाचार से होती है, दूसरी सच्ची समवेदना से। न मंगलसिंह ने खवर ली; न कालिकादीन ने, न किसी तीसरे ही ने। हरखू दालान में खाट पर पड़ा रहता। मंगलसिंह कभी नजर आ जाते तो कहता--भैया, वह दवा नहीं लाये ? मंगलसिंह कतराकर निकल जाते। कालिकादीन दिखायी देते तो उनसे भी यही प्रश्न करता; लेकिन वह भी नजर बचा लेता। या तो उसे यह सूझता ही नहीं था कि दवा पैसों के बिना नहीं आती, या वह पैसों को जान से भी प्रिय समझता था, अथवा वह जीवन से निराश हो गया था। उसने कभी दवा के दाम की बात नहीं की। दवा न आयी। उसकी दशा दिनों-दिन बिगड़ती गयी। यहाँ तक कि पाँच महीने कष्ट भोगने के बाद उसने ठीक होली के दिन शरीर त्याग दिया। गिरधारी ने उसका शव बड़ी धूमधाम से निकाला। क्रियाकर्म बड़े हौसले से किया। कई गाँव के ब्राह्मणों को निमंत्रित किया।

वेला में होली न मनायी गयी, न अबीर और गुलाल उड़ी, न डफली वजी, न भंग की नालियाँ बहीं। कुछ लोग मन में हरखू को कोसते जरूर थे कि इस बुड्ढे को आज ही मरना था, दो-चार दिन वाद मरता।

लेकिन इतना निर्लज्ज कोई न था कि शोक में आनंद मनाता। वह शहर नहीं था, जहाँ कोई किसी के काम में शरीक नहीं होता, जहाँ पड़ोसी के रोने-पीटने की आवाज हमारे कानों तक नहीं पहुँचती।

2

हरखू के खेत गाँव वालों की नजर पर चढ़े हुए थे। पाँचों बीघा जमीन कुएँ के निकट, खाद-पाँस से लदी हुई मेड़ बाँध से ठीक थी। उनमें तीन-तीन फसलें पैदा होती थीं। हरखू के मरते ही उन पर चारों ओर से धावे होने लगे। गिरधारी तो क्रिया-कर्म में फँसा हुआ था। उधर गाँव के मनचले किसान लाला ओंकारनाथ को चैन न लेने देते थे, नजराने की बड़ी-बड़ी रकमें पेश हो रही थीं। कोई साल भर का लगान पेशगी देने पर तैयार था, कोई नजराने की दूनी रकम का दस्तावेज लिखने पर तुला हुआ था; लेकिन ओंकारनाथ सबको टालते रहते थे। उनका विचार था कि गिरधारी का हक सबसे ज्यादा है। वह अगर दूसरों से कम भी नजराना दे तो खेत उसी को देने चाहिए। अस्तु, अब गिरधारी क्रिया-कर्म से निवृत्त हो गया और चैत का महीना भी समाप्त होने आया, तब जमींदार साहिब ने गिरधारी को बुलाया और उससे पूछा--खेतों के बारे में क्या कहते हो ? गिरधारी ने रो कर कहा--उन्हीं खेतों ही का आसरा जोतूँगा नहीं तो क्या करूँगा।

ओंकारनाथ--नहीं, जरूर जोतो, खेत तुम्हारे हैं। मैं तुमसे छोड़ने को नहीं कहता हूँ।

हरखू ने उन्हें बीस साल तक जोता। उन पर तुम्हारा हक है। लेकिन तुम देखते हो अब जमीन की दर कितनी बढ़ गयी है। तुम आठ रुपये बीघे पर जोतते थे, मुझे दस रुपये मिल रहे हैं। और नज़राने के रुपये सौ अलग। तुम्हारे साथ रिआयत करके लगान वही रखता हूँ; पर नज़राने के रुपये तुम्हें देने पड़ेंगे।

गिरधारी—सरकार, मेरे घर में तो इस समय रोटियों का भी ठिकाना नहीं है। इतने रुपये कहाँ से लाऊँगा ? जो कुछ जमा-जथा थी, दादा के काम में उठ गयी। अनाज खलिहान में है। लेकिन दादा के बीमार हो जाने से उपज भी अच्छी नहीं हुई है। रुपये कहाँ से लाऊँ ?

ओंकारनाथ—यह सच है, लेकिन मैं इससे ज्यादा रिआयत नहीं कर सकता।

गिरधारी—नहीं सरकार, ऐसा न कहिए। नहीं तो हम बिना मारे मर जायँगे। आप बड़े होकर कहते हैं तो मैं बैल-बधिया बेच कर पचास रुपया कर सकता हूँ। इससे बेशी की हिम्मत नहीं पड़ती।

ओंकारनाथ चिढ़ कर बोले—तुम समझते होंगे कि हम ये रुपये लेकर अपने घर में रख लेते हैं और चैन की बंशी बजाते हैं। लेकिन हमारे ऊपर जो कुछ गुजरती है, हमीं जानते हैं। कहीं यह चंदा, कहीं वह इनाम। इनके मारे कचूमर निकल जाता है। बड़े दिन में सैकड़ों रुपये डालियों में उड़ जाते हैं। जिसे डाली न दो, वही मुँह फुलाता है। जिन चीजों के लिए लड़के तरस कर रह जाते हैं, उन्हें बाहर से मँगा कर डालियों में सजाता हूँ। उस पर कभी कानूनगो आ गये, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी साहब का लश्कर आ गया। सब मेरे मेहमान होते हैं। अगर न करूँ तो नक्कू बनूँ और सब की आँखों में काँटा बन जाऊँ। साल में हजार-बारह सौ मोदी को इस रसद खुराक के मद में देने पड़ते हैं। यह सब कहाँ से आवे ? बस, यही जी चाहता है कि छोड़ कर निकल जाऊँ लेकिन हमें तो परमात्मा ने इसलिए बनाया है कि एक से रुपया सता कर लें और दूसरे को रो-रो कर दें, यही हमारा काम है। तुम्हारे साथ इतनी रिआयत कर रहा हूँ। लेकिन तुम इतनी रिआयत पर भी खुश नहीं होते तो हरि इच्छा। नज़राने में एक पैसे की भी रिआयत न होगी। अगर एक हफ्ते के अंदर रुपये दाखिल करोगे तो खेत जोतने पाओगे, नहीं तो नहीं; मैं कोई दूसरा प्रबन्ध कर दूँगा।

3

गिरधारी उदास और निराश हो कर घर आया। सौ रुपये का प्रबंध करना उसके काबू के बाहर था। सोचने लगा—अगर दोनों बैल बेच दूँ तो खेत ही ले कर क्या करूँगा? घर बेचूँ तो यहाँ लेने वाला ही कौन है ? और फिर बाप-दादों का नाम डूबता है। चार-पाँच पेड़ हैं, लेकिन उन्हें बेच कर पच्चीस रुपये या तीस रुपये से अधिक न मिलेंगे। उधार लूँ तो देता कौन है ? अभी बनिये के पचास रुपये सिर पर चढ़े हैं। वह एक पैसा भी न देगा। घर में गहने भी तो नहीं हैं। नहीं उन्हीं को बेचता। ले-दे कर एक हँसली बनवायी थी, वह भी बनिये के घर पड़ी हुई है। साल भर हो गया, छुड़ाने की नौबत न आयी। गिरधारी और उसकी स्त्री सुभागी दोनों ही इसी चिंता में पड़े रहते, लेकिन कोई उपाय न सूझता था। गिरधारी को खाना-पीना अच्छा न लगता, रात को नींद न आती। खेतों के निकलने का

ध्यान आते ही उसके हृदय में हूक-सी उठने लगती। हाय ! वह भूमि जिसे हमने वर्षों जोता, जिसे खाद से पाटा, जिसमें मेड़ें रक्खीं, जिसकी मेड़ें बनायीं उसका मजा अब दूसरा उठायेगा।

ये खेत गिरधारी के जीवन के अंश हो गये थे। उनकी एक-एक अंगुल भूमि उसके रक्त से रँगी हुई थी ! उनका एक-एक परमाणु उसके पसीने से तर हो गया था।

उनके नाम उसकी जिह्वा पर उसी तरह आते थे जिस तरह अपने तीनों बच्चों के। कोई चौबीसों था, कोई बाइसों था, कोई नाले वाला, कोई तलैया वाला। इन नामों के स्मरण होते ही खेतों का चित्र उसकी आँखों के सामने खिंच जाता था। वह इन खेतों की चर्चा इस तरह करता मानो वे सजीव हैं। मानों उसके भले-बुरे के साथी हैं। उसके जीवन की सारी आशाएँ, सारी इच्छाएँ, सारे मनसूबे, सारी मन की मिठाइयाँ, सारे हवाई किले इन्हीं खेतों पर अवलम्बित थे। इनके बिना वह जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकता था। और वे ही अब हाथ से निकले जाते हैं। वह घबड़ाकर घर से निकल जाता और घंटों उन्हीं खेतों के मेड़ों पर बैठा हुआ रोता, मानों उनसे विदा हो रहा हो। इस तरह एक सप्ताह बीत गया और गिरधारी रुपये का कोई बंदोबस्त न कर सका। आठवें दिन उसे मालूम हुआ कि कालिकादीन ने सौ बीघे रुपये नजराने देकर दस रुपये बीघे पर खेत ले लिए। गिरधारी ने एक ठंडी साँस ली। एक क्षण बाद वह अपने दादा का नाम ले कर बिलख-बिलख रोने लगा। उस दिन घर में चूल्हा नहीं जला। ऐसा मालूम होता था मानो हरखू आज ही मरा।

4

लेकिन सुभागी यों चुपचाप बैठनेवाली स्त्री न थी। वह क्रोध से भरी हुई कालिकादीन के घर गयी और उसकी स्त्री को खूब लथेड़ा—कल का बानी आज का सेठ, खेत जोतने चले हैं। देखें, कौन मेरे खेत में हल ले जाता है ? अपना और उसका लोहू एक कर दूँ। पड़ोसियों ने उसका पक्ष लिया, सब तो हैं, आपस में यह चढ़ा ऊपरी नहीं करना चाहिए। नारायण ने धन दिया, तो क्या गरीबों को कुचलते फिरेंगे। सुभागी ने समझा, मैंने मैदान मार लिया। उसका चित्त शांत हो गया। किंतु वही वायु जो पानी में लहरें पैदा करती हैं, वृक्षों को जड़ से उखाड़ डालती हैं। सुभागी तो पड़ोसियों की पंचायत में अपने दुखड़े रोती और कालिकादीन की स्त्री से छेड़-छेड़ लड़ती। इधर गिरधारी अपने द्वार पर बैठा हुआ सोचता, अब मेरा क्या हाल होगा ? अब यह जीवन कैसे कटेगा ? ये लड़के किसके द्वार पर जायँगे? मजदूरी का विचार करते ही उसका हृदय व्याकुल हो जाता। इतने दिनों तक स्वाधीनता और सम्मान का सुख भोगने के बाद अधम चाकरी की शरण लेने के बदले वह मर जाना अच्छा समझता था। वह अब तक गृहस्थ था, उसकी गणना गाँव के भले आदमियों में थी, उसे गाँव के मामले में बोलने का अधिकार था। उसके घर में धन न था, पर मान था। नाई, बढ़ई, कुम्हार, पुरोहित, भाट, चौकीदार, ये सब उसका मुँह ताकते थे। अब यह मर्यादा कहाँ ! अब कौन उसकी बात पूछेगा ! कौन उसके द्वार पर जावेगा ? अब उसे किसी के बराबर बैठने का, किसी के बीच में बोलने का हक नहीं रहा। अब उसे पेट के लिए दूसरों की गुलामी करनी पड़ेगी। अब पहर रात रहे कौन बैलों को नाँद में लगावेगा। वह दिन अब कहाँ, जब गीत गा-गा कर हल चलाता था। चोटी का पसीना एड़ी

तक आता था, पर जरा भी थकावट न आती थी। अपने लहलहाते हुए खेतों को देख कर फूला न समाता था। खलिहान में अनाज का ढेर सामने रक्खे अपने को राजा समझता था। अब अनाज के टोकरे भर-भर कर कौन लावेगा ?

अब खत्ते कहाँ ? बखार कहाँ ? यही सोचते-सोचते गिरधारी की आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती थी। गाँव के दो-चार सज्जन, जो कालिकादीन से जलते थे, कभी-कभी गिरधारी को तसल्ली देने आया करते थे, पर वह उनसे भी खुल कर न बोलता। उसे मालूम होता था कि मैं सबकी नजर में गिर गया हूँ।

अगर कोई समझाता कि तुमने क्रिया-कर्म में व्यर्थ इतने रुपये उड़ा दिये, तो उसे बहुत दुःख होता। वह अपने उस काम पर जरा भी न पछताता। मेरे भाग्य में जो लिखा है वह होगा; पर दादा के ऋण से तो उऋण हो गया। उन्होंने अपनी ज़िंदगी में चार बार खिला कर खाया। क्या मरने के पीछे उन्हें पिंडे-पानी को तरसाता।

इस प्रकार तीन मास बीत गये और असाढ़ आ पहुँचा। आकाश में घटाएँ आयीं, पानी गिरा, किसान हल-जुए ठीक करने लगे। बढ़ई हलों की मरम्मत करने लगा। गिरधारी पागल की तरह कभी घर के भीतर जाता, कभी बाहर आता, अपने हलों को निकाल-निकाल देखता; उसकी मुठिया टूट गयी है, इसकी फाल ढीली हो गयी है, जुए में सैला नहीं है। यह देखते-देखते वह एक क्षण अपने को भूल गया। दौड़ा हुआ बढ़ई के यहाँ गया और बोला—रज्जू मेरे हल भी बिगड़े हुए हैं, चलो बना दो। रज्जू ने उसकी ओर करुणाभाव से देखा और अपना काम करने लगा। गिरधारी को होश आ गया, नींद से चौंक पड़ा, ग्लानि से उसका सिर झुक गया, आँखें भर आयीं। चुपचाप घर चला आया।

गाँव के चारों ओर हलचल मची हुई थी। कोई सन के बीज खोजता फिरता था, कोई जमींदार के चौपाल से धान के बीज लिए आता था, कहीं सलाह होती थी, किस खेत में क्या बोना चाहिए, कहीं चर्चा होती थी कि पानी बहुत बरस गया, दो-चार दिन ठहर कर बोना चाहिए। गिरधारी ये बातें सुनता और जलहीन मछली की तरह तड़पता था।

5

एक दिन सन्ध्या समय गिरधारी खड़ा अपने बैलों को खुजला रहा था कि मंगलसिंह आये और इधर-उधर की बातें करके बोले—गोई को बाँध कर कब तक खिलाओगे ? निकाल क्यों नहीं देते ? गिरधारी ने मलिन-भाव से कहा—हाँ, कोई गाहक आवे तो निकाल दूँ।

मंगलसिंह—एक गाहक तो हमीं हैं, हमीं को दे दो।

गिरधारी अभी कुछ उत्तर न देने पाया था कि तुलसी बनिया आया और गरज कर बोला—गिरधर, तुम्हें रुपये देने हैं कि नहीं वैसा कहो। तीन महीने से हीला-हवाला करते चले आते हो। अब कौन खेती करते हो कि तुम्हारी फसल को अगोरे बैठे रहें।

गिरधारी ने दीनता से कहा—साह, जैसे इतने दिनों माने हो आज और मान जाओ। कल तुम्हारी एक-एक कौड़ी चुका दूँगा।

मंगल और तुलसी ने इशारे से बातें कीं और तुलसी भुनभुनाता हुआ चला गया। तब गिरधारी मंगलसिंह से बोला—तुम इन्हें ले लो तो घर के घर ही में रह जाय। कभी-कभी आँख से देख तो लिया करूँगा।

मंगल—मुझे अभी तो ऐसा कोई काम नहीं, लेकिन घर पर सलाह करूँगा।

गिरधारी—मुझे तुलसी के रुपये देने हैं, नहीं तो खिलाने को तो भूसा है।

मंगल—यह बड़ा बदमाश है, कहीं नालिश न कर दे।

सरल हृदय गिरधारी धमकी में आ गया। कार्य-कुशल मंगलसिंह को सस्ता सौदा करने का यह अच्छा सुअवसर मिला। अस्सी रुपये की जोड़ी साठ रुपये में ठीक कर ली।

गिरधारी ने अब बैलों का न जाने किस आशा से बाँध कर खिलाया था। आज आशा का वह कल्पित सूत्र भी टूट गया। मंगलसिंह गिरधारी की खाट पर बैठे रुपये गिन रहे थे और गिरधारी बैलों के पास विषादमय नेत्रों से उनके मुँह की ओर ताक रहा था। आह ! यह मेरे खेतों के कमाने वाले, मेरे जीवन के आधार, मेरे अन्नदाता, मेरी मान-मर्यादा की रक्षा करने वाले, जिनके लिए पहर रात से उठ कर छाँटी काटता था, जिनके खली-दाने की चिंता अपने खाने से ज्यादा रहती थी, जिनके लिए सारा दिन भर हरियाली उखाड़ा करता था। ये मेरी आशा की दो आँखें, मेरे इरादे के दो तारे, मेरे अच्छे दिनों के दो चिह्न, मेरे दो हाथ, अब मुझसे विदा हो रहे हैं।

अब मंगलसिंह ने रुपये गिन कर रख दिये और बैलों को ले चले तब गिरधारी उनके कंधों पर सिर रख कर खूब फूट-फूट कर रोया। जैसे कन्या मायके से विदा होते समय माँ-बाप के पैरों को नहीं छोड़ती, उसी तरह गिरधारी इन बैलों को न छोड़ता था। सुभागी भी दालान में खड़ी रो रही थी और छोटा लड़का मंगलसिंह को एक बाँस की छड़ी से मार रहा था।

रात को गिरधारी ने कुछ नहीं खाया। चारपाई पर पड़ा रहा ! प्रातःकाल सुभागी चिलम भर कर ले गयी तो वह चारपाई पर न था। उसने समझा कहीं गये होंगे। लेकिन जब दो-तीन घड़ी दिन चढ़ आया और वह न लौटा तो उसने रोना-धोना शुरू किया। गाँव के लोग जमा हो गये, चारों ओर खोज होने लगी, पर गिरधारी का पता न चला।

6

संध्या हो गयी। अँधेरा छा रहा था। सुभागी ने दीया जला कर गिरधारी के सिरहाने रख दिया था और बैठी द्वार की ओर ताक रही थी कि सहसा उसे पैरों की आहट मालूम हुई। सुभागी का हृदय धड़क उठा। वह दौड़ कर बाहर आयी, और इधर-उधर ताकने लगी। उसने देखा कि गिरधारी बैलों की नाद के पास सिर झुकाये खड़ा है।

सुभागी बोल उठी—घर आओ, वहाँ खड़े क्या कर रहे हो, आज सारे दिन कहाँ रहे ? यह कहते हुए वह गिरधारी की ओर चली। गिरधारी ने कुछ उत्तर न दिया। वह पीछे हटने लगा और थोड़ी दूर जाकर गायब हो गया। सुभागी चिल्लायी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

दूसरे दिन कालिकादीन हल ले कर अपने खेत पर पहुँचे, अभी कुछ अँधेरा था। बैलों को हल में लगा रहे थे कि यकायक उन्होंने देखा कि गिरधारी खेत की मेड़ पर खड़ा है वही मिर्जई, वही पगड़ी, वही सोंटा।

कालिकादीन ने कहा—अरे गिरधारी ! मरदे आदमी, तुम यहाँ खड़े हो, और बेचारी सुभागी हैरान हो रही है। कहाँ से आ रहे हो ? यह कहते हुए बैलों को छोड़ कर गिरधारी की ओर चले, गिरधारी पीछे हटने लगा और पीछे वाले कुएँ में कूद पड़ा। कालिकादीन ने

चीख मारी और हल-बैल वहीं छोड़ कर भागा। सारे गाँव में शोर मच गया, और लोग नाना प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे। कालिकादीन को गिरधारी वाले खेतों में जाने की हिम्मत न पड़ी।

गिरधारी को गायब हुए छः महीने बीत चुके हैं। उसका बड़ा लड़का अब एक ईंट के भट्ठे पर काम करता है और बीस रुपये महीना घर आता है। अब वह कमीज और अंग्रेजी जूता पहनता है; घर में दोनों जून तरकारी पकती है और जौ के बदले गेहूँ खाया जाता है; लेकिन गाँव में उसका कुछ भी आदर नहीं। यह अब मजूरा है। सुभागी अब पराये गाँव में आये हुए कुत्ते की भाँति दुबकती फिरती है। वह अब पंचायत में नहीं बैठती। वह अब मजूर की माँ है। कालिकादीन ने गिरधारी के खेतों से इस्तीफा दे दिया है, क्योंकि गिरधारी अभी तक अपने खेतों के चारों तरफ मँडराया करता है। अँधेरा होते ही वह मेड़ पर आकर बैठ जाता है। और कभी-कभी रात को उधर से उसके रोने की आवाज सुनायी देती है। वह किसी से बोलता नहीं, किसी को छेड़ता नहीं। उसे केवल अपने खेतों को देख कर संतोष होता है। दीया जलने के बाद उधर का रास्ता बंद हो जाता है।

लाला ओंकारनाथ बहुत चाहते हैं कि ये खेत उठ जायँ, लेकिन गाँव के लोग अब उन खेतों का नाम लेते डरते हैं।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'सरस्वती', मई, 1918 में प्रकाशित। भाग-8 में संकलित। उर्दू में 'कुरबानी' शीर्षक से उर्दू मासिक 'जमाना', जनवरी, 1919 में प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' तथा 'देहात के अफसाने' में संकलित।]

सेवामार्ग

तारा ने बारह वर्ष तक दुर्गा की तपस्या की। न पलंग पर सोयी, न केशों को सँवारा और न नेत्रों में सुर्मा लगाया। पृथ्वी पर सोती, गेरुआ वस्त्र पहनती और रूखी रोटियाँ खाती, उसका मुख मुरझायी कली की भाँति था, नेत्र ज्योतिहीन, और हृदय एक शून्य बीहड़ मैदान। उसे केवल यही लौ लगी थी कि दुर्गा के दर्शन पाऊँ। शरीर मोमबत्ती की तरह घुलता था। पर, यह लौ दिल से न जाती थी। यही उसकी इच्छा थी, यही उसका जीवनोद्देश। घर के लोग उसे पागल कहते। माता समझाती—बेटी, तुझे क्या हो गया है ? क्या तू सारा जीवन रो-रो कर काटेगी ? इस समय के देवता पत्थर के होते हैं। पत्थर को भी कभी किसी ने पिघलते देखा है ? देख तेरी सखियाँ पुष्प की भाँति विकसित हो रही हैं, नदी की तरह बढ़ रही हैं; क्या तुझे मुझ पर दया नहीं आती ? तारा कहती—माता, अब तो जो लगन लगी, वह लगी। या तो देवी के दर्शन पाऊँगी, या यही इच्छा लिये हुए संसार से पयान कर जाऊँगी। तुम समझ लो मैं मर गयी।

इस प्रकार पूरे बारह वर्ष व्यतीत हो गये और तब देवी प्रसन्न हुई। रात्रि का समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। मन्दिर में एक धुँधला-सा घी का दीपक जल रहा था। तारा दुर्गा के पैरों पर माथा नवाये सच्ची भक्ति का परिचय दे रही थी। यकायक उस पाषाणमूर्ति

देवी के तन में स्फूर्ति प्रकट हुई। तारा के रोंगटे खड़े हो गये। वह धुँधला दीपक देदीप्यमान हो गया, मन्दिर में चित्ताकर्षक सुगंध फैल गयी और वायु में सजीवता प्रतीत होने लगी। देवी का उज्ज्वल रूप पूर्ण चंद्रमा की भाँति चमकने लगा। ज्योतिहीन नेत्र जगमगा उठे। होंठ खुल गये। आवाज आयी—तारा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, माँग, क्या वर माँगती है ?

तारा खड़ी हो गयी। उसका शरीर इस भाँति काँप रहा था जैसे प्रातःकाल के समय कम्पित स्वर में किसी कृषक के गाने की ध्वनि। उसे मालूम हो रहा था मानो वह वायु में उड़ी जा रही है। उसे अपने हृदय में उच्च विचार पूर्ण प्रकाश का आभास हो रहा था। उसने दोनों हाथ जोड़ कर भक्ति-भाव से कहा, भगवती, तुमने मेरी बारह वर्ष की तपस्या पूरी की; किस मुख से तुम्हारा गुणानुवाद गाऊँ। मुझे संसार की वे अलभ्य वस्तुएँ प्रदान हों जो इच्छाओं की सीमा और मेरी अभिलाषाओं का अंत है। मैं वह ऐश्वर्य चाहती हूँ जो सूर्य को भी मात कर दे।

देवी ने मुस्करा कर कहा—स्वीकृत है।

तारा—वह धन जो कालचक्र को भी लज्जित करे।

देवी ने मुस्करा कर कहा—स्वीकृत है।

तारा—वह सौंदर्य जो अद्वितीय हो।

देवी ने मुस्करा कर कहा—यह भी स्वीकृत है।

2

तारा कुँवरि ने शेष रात्रि जाग कर व्यतीत की। प्रभात काल के समय उसकी आँखें, क्षण भर के लिए, झपक गयीं। जागी तो देखा कि मैं सिर से पाँव तक हीरे व जवाहिरों से लदी हूँ। उसके विशाल भवन के कलश आकाश से बातें कर रहे थे—सारा भवन संगमरमर से बना हुआ, अमूल्य पत्थरों से जड़ा हुआ। द्वार पर नौबत बज रही थी। उसके आनन्ददायक सुहावने शब्द आकाश में गूँज रहे थे। द्वार पर मीलों तक हरियाली छायी थी। दासियाँ स्वर्णाभूषणों से लदी हुई, सुनहरे कपड़े पहने हुए चारों ओर दौड़ती थीं। तारा को देखते ही वे स्वर्ण के लोटे और कटोरे ले कर दौड़ीं। तारा ने देखा कि मेरा पलंग हाथी-दाँत का है। भूमि पर बड़े कोमल बिछौने बिछे हुए हैं। सिरहाने की ओर एक बड़ा सुन्दर ऊँचा शीशा रखा हुआ है। तारा ने उसमें अपना रूप देखा, चकित रह गयी। उसका सुन्दर रूप चंद्रमा को भी लज्जित करता था। दीवार पर अनेकानेक सुप्रसिद्ध चित्रकारों के मनमोहक चित्र टंगे थे। पर, ये सब के सब तारा की सुंदरता के आगे तुच्छ थे। तारा को अपनी सुंदरता का गर्व हुआ। वह कई दासियों को लेकर वाटिका में गयी। वहाँ की छटा देख कर वह मुग्ध हो गयी। वायु में गुलाब और केसर घुले हुए थे, रंग-बिरंग के पुष्प, वायु के मंद-मंद झोंकों से, मतवालों की तरह झूम रहे थे। तारा ने एक गुलाब का फूल तोड़ लिया और उसके रंग और कोमलता की अपने अधर-पल्लव से समानता करने लगी। गुलाब में वह कोमलता न थी। वाटिका के मध्य में एक बिल्लौर जटित हौज था। इसमें हंस और बत्तख किलोलें कर रहे थे। यकायक तारा को ध्यान आया, मेरे घर के लोग कहाँ हैं। दासियों से पूछा। उन्होंने कहा—श्रीमती, वे लोग पुराने घर में हैं। तारा ने अपनी अटारी पर जा कर देखा। उसे अपना पहला घर एक साधारण झोंपड़े की तरह दृष्टिगोचर हुआ। उसकी बहनें उसकी साधारण

दासियों के समान भी न थीं। माँ को देखा, वह आँगन में बैठी चरखा कात रही थी। तारा पहले सोचा करती थी कि जब मेरे दिन चमकेंगे तब मैं इन लोगों को भी अपने साथ रखूँगी और उनकी भली-भाँति सेवा करूँगी। पर इस समय धन के गर्व ने उसकी पवित्र हार्दिक इच्छा को निर्बल बना दिया था। उसने घर वालों को स्नेह-रहित दृष्टि से देखा और तब वह उस मनोहर गान को सुनने चली गयी जिसकी प्रतिध्वनि उसके कानों में आ रही थी।

एकबारगी जोर से धड़ाका हुआ; बिजली चमकी और बिजली की छटाओं में से एक ज्योतिस्वरूप नवयुवक निकल कर तारा के सामने नम्रता से खड़ा हो गया। तारा ने पूछा—तुम कौन हो ? नवयुवक ने कहा—श्रीमती मुझे विद्युत सिंह कहते हैं। मैं श्रीमती का आज्ञाकारी सेवक हूँ।

उसके विदा होते ही वायु के उष्ण झोंके चलने लगे। आकाश में एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। वह क्षणमात्र में उतर कर तारा कुँवरि के समीप ठहर गया। उसमें से एक ज्वालामुखी मनुष्य ने निकल कर तारा के पदों को चूमा। तारा ने पूछा—तुम कौन हो ? उत्तर दिया—श्रीमती, मेरा नाम अग्निसिंह है। मैं श्रीमती का आज्ञाकारी सेवक हूँ।

वह अभी जाने भी न पाया था कि एकबारगी सारा महल ज्योति से प्रकाशमान हो गया। जान पड़ता था, सैकड़ों बिजलियाँ मिलकर चमक रही हैं। वायु सेवक हो गयी। एक जगमगाता हुआ सिंहासन आकाश पर दीख पड़ा। वह शीघ्रता से पृथ्वी की ओर चला और तारा कुँवरि के पास जा कर ठहर गया। उससे एक प्रकाशमय रूप का बालक, जिसके रूप से गम्भीरता प्रकट होती थी, निकल कर तारा के सामने शिष्ट भाव से खड़ा हो गया। तारा ने पूछा—तुम कौन हो ? बालक ने उत्तर दिया—श्रीमती, मुझे मिस्टर रेडियम कहते हैं। मैं श्रीमती का आज्ञापालक हूँ।

3

धनी लोग तारा के भय से थर्राने लगे। उसके आश्चर्यजनक सौंदर्य ने संसार को चकित कर दिया। बड़े-बड़े महीपति उसकी चौखट पर माथा रगड़ने लगे। जिसकी ओर उसकी कृपा-दृष्टि हो जाती, वह अपना अहोभाग्य समझता—सदैव के लिए उसका बेदाम का गुलाम बन जाता।

एक दिन तारा अपनी आनंदवाटिका में टहल रही थी। अचानक किसी के गाने का मनोहर शब्द सुनायी दिया। तारा विक्षिप्त हो गयी। उसके दरबार में संसार के अच्छे-अच्छे गवैये मौजूद थे, पर वह चित्ताकर्षकता, जो इन सुरों में थी, कभी अवगत न हुई थी। तारा ने गायक को बुला भेजा।

एक क्षण के अनंतर वाटिका में एक साधु आया, सिर पर जटाएँ, शरीर में भस्म रमाये। उसके साथ एक टूटा हुआ वीन था। उसी से वह प्रभावशाली स्वर निकलता जो हृदय के अनुरक्त स्वरों से कहीं प्रिय था। साधु आ कर हौज के किनारे बैठ गया। उसने तारा के सामने शिष्ट-भाव नहीं दिखाया। आश्चर्य से इधर-उधर दृष्टि नहीं डाली। उस रमणीय स्थान पर वह अपना सुर अलापने लगा। तारा का चित्त विचलित हो उठा। दिल में अपार अनुराग का संचार हुआ। मदमत्त हो कर टहलने लगी। साधु के सुमनोहर मधुर अलाप से पक्षी मग्न हो गये। पानी में लहरें उठने लगीं। वृक्ष झूमने लगे। तारा ने उन

चित्ताकर्षक सुरों से एक चित्र खिंचते हुए देखा। धीरे-धीरे चित्र प्रकट होने लगा। उसमें स्फूर्ति आयी। और तब वह खड़ी हो कर नृत्य करने लगी। तारा चौंक पड़ी। उसने देखा कि यह मेरा ही चित्र है। नहीं, मैं ही हूँ। मैं ही बीन की तान पर नृत्य कर रही हूँ। उसे आश्चर्य हुआ कि मैं संसार की अलभ्य वस्तुओं की रानी हूँ अथवा एक स्वर-चित्र ! वह सिर धुनने लगी और मतवाली हो कर साधु के पैरों से जा लगी। उसकी दृष्टि में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। सामने के फले-फूले वृक्ष और तरंगें मारता हुआ हौज, और मनोहर कुंज सब लोप हो गये। केवल वही साधु बैठा बीन बजा रहा था, और वह स्वयं उसकी तालों पर थिरक रही थी। वह साधु अब प्रकाशमय तारा और अलौकिक सौंदर्य की मूर्ति बन गया था। जब मधुर अलाप बन्द हुआ तब तारा होश में आयी। उसका चित्त हाथ से जा चुका था। वह उस विलक्षण साधु के हाथों बिक चुकी थी।

तारा बोली—स्वामी जी ! यह महल, यह धन, यह सुख और सौंदर्य सब आपके चरण-कमल पर निछावर है। इस अँधेरे महल को अपने कोमल चरणों से प्रकाशमान कीजिए।

साधु—साधुओं को महल और धन का क्या काम ? मैं इस घर में नहीं ठहर सकता।

तारा—संसार के सारे सुख आपके लिए उपस्थित हैं।

साधु- मुझे सुखों की कामना नहीं।

तारा—मैं आजीवन आपकी दासी रहूँगी। यह कह कर तारा ने आईनों में अपने अलौकिक सौंदर्य की छटा देखी और उसके नेत्रों में चंचलता आ गयी।

साधु—नहीं तारा कुँवरि, मैं इस योग्य नहीं हूँ। यह कह कर साधु ने बीन उठाया और द्वार की ओर चला। तारा का गर्व टूक-टूक हो गया। लज्जा से सिर झुक गया। वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़ी। मन में सोचा, मैं धन में, ऐश्वर्य में, सौंदर्य में, जो अपनी समता नहीं रखती, एक साधु की दृष्टि में इतनी तुच्छ !!

४

तारा को अब किसी प्रकार चैन नहीं था। उसे अपना भवन, ऐश्वर्य भयानक मालूम होने लगा। बस, साधु का एक चन्द्रस्वरूप उसकी आँखों में नाच रहा था और उसका स्वर्गीय गान कानों में गूँज रहा था। उसने अपने गुप्तचरों को बुलाया और साधु का पता लगाने की आज्ञा दी। बहुत छानबीन करने के पश्चात् उसकी कुटी का पता लगा। तारा नित्यप्रति, वायुयान पर बैठ कर साधु के पास जाती। कभी उस पर लाल, जवाहर लुटाती, कभी रत्न और आभूषण की छटा दिखाती। पर, साधु इससे तनिक भी विचलित न हुआ। तारा के मायाजाल का उस पर कुछ भी असर न हुआ।

तब, तारा कुँवरि फिर दुर्गा के मंदिर में गयी और देवी के चरणों पर सिर रख कर बोली—माता, तुमने मुझे संसार के सारे दुर्लभ पदार्थ प्रदान किये। मैंने समझा था कि ऐश्वर्य में संसार को दास बना लेने की शक्ति है। पर मुझे अब ज्ञान हुआ कि प्रेम पर ऐश्वर्य, सौंदर्य और वैभव का कुछ भी अधिकार नहीं। अब एक बार मुझ पर फिर वही कृपादृष्टि हो। कुछ ऐसा कीजिए कि जिस निष्ठुर के प्रेम में मैं मरी जा रही हूँ, उसे भी मुझे देखे बिना चैन न आवे—उसकी आँखों में भी नींद हराम हो जाय, वह भी मेरे प्रेम-मद में चूर हो जाय।

देवी के होंठ खुले। वह मुस्करायी, उसके अधर-पल्लव विकसित हुए। बोली सुनायी दी—तारा, मैं संसार के सारे पदार्थ प्रदान कर सकती हूँ, पर स्वर्गसुख मेरी शक्ति से बाहर है। 'प्रेम' स्वर्गसुख का मूल है।

तारा—माता, संसार के सारे ऐश्वर्य मुझे जंजाल जान पड़ते हैं। बताइए, मैं अपने प्रीतम को कैसे पाऊँगी ?

देवी—उसका एक ही मार्ग है। पर है वह बहुत कठिन। भला, तुम उस पर चल सकोगी ?

तारा—वह कितना ही कठिन हो, मैं उस मार्ग का अवलम्बन अवश्य करूँगी।

देवी—अच्छा तो सुनो, वह सेवा-मार्ग है। सेवा करो, प्रेम सेवा ही से मिल सकता है।

5

तारा ने अपने बहुमूल्य आभूषणों और रंगीन वस्त्रों को उतार दिया। दासियों से विदा हुई। राजभवन को त्याग दिया, अकेले, नंगे पैर साधु की कुटी में चली आयी और सेवा-मार्ग का अवलम्बन किया।

वह कुछ रात रहे उठती। कुटी में झाड़ू देती। साधु के लिए गंगा से जल लाती। जंगलों से पुष्प चुनती। साधु नींद में होते तो वह उन्हें पंखा झलती। जंगली फूल तोड़ लाती और केले के पत्तल बना कर साधु के सम्मुख रखती। साधु नदी में स्नान करने जाया करते थे। तारा रास्ते के कंकड़ चुनती। उसने कुटी के चारों ओर पुष्प लगाये। गंगा से पानी ला कर सींचती। उन्हें हरा-भरा देख कर प्रसन्न होती। उसने मदार की रुई बटोरी, साधु के लिए नर्म गद्दे तैयार किये। अब और कोई कामना न थी। सेवा स्वयं अपना पुरस्कार और फल थी।

तारा को कई-कई दिन उपवास करना पड़ता था। हाथों में गट्ठे पड़ गये। पैर काँटों से छलनी हो गये। धूप से कोमल गात मुरझा गया; पर उसके हृदय में अब स्वार्थ और गर्व का शासन न था। वहाँ अब प्रेम का राज था; वहाँ अब उसे सेवा की लगन थी—जिससे कलुषता की जगह आनंद का स्रोत बहता है। और काँटे पुष्प बन जाते हैं; जहाँ अश्रु-धारा की जगह नेत्रों से अमृतजल की वर्षा होती और दुःख-विलाप की जगह आनंद के राग निकलते हैं, जहाँ के पत्थर रुई से ज्यादा कोमल हैं और शीतल वायु से भी मनोहर। तारा भूल गयी कि मैं सौंदर्य में अद्वितीय हूँ। धन-विलसिनी तारा अब केवल प्रेम की दासी थी।

साधु को वन के खगों और मृगों से प्रेम था। वे कुटी के पास एकत्रित हो जाते। तारा उन्हें पानी पिलाती, दाने चुगाती, गोद लेकर उनका दुलार करती। विषधर साँप और भयानक जंतु उसके प्रेम के प्रभाव से उसके सेवक हो गये।

बहुधा रोगी मनुष्य साधु के पास आशीर्वाद लेने आते थे। तारा रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करती, जंगल से जड़ी-बूटियाँ ढूँढ़ लाती, उनके लिए औषधि बनाती, उनके घाव धोती, घावों पर मरहम रखती, रात भर बैठी उन्हें पंखा झलती। साधु के आशीर्वाद को उसकी सेवा प्रभावयुक्त बना देती थी।

इस प्रकार कितने ही वर्ष बीत गये। गर्मी के दिन थे, पृथ्वी तवे की तरह जल रही

थी। हरे-भरे वृक्ष सूखे जाते थे। गंगा गर्मी से सिमट गयी थी। तारा को पानी लेने के लिए बहुत दूर रेत में चलना पड़ता। उसका कोमल अंग चूर-चूर हो जाता। जलती हुई रेत में तलवे भुन जाते। इसी दशा में एक दिन वह हताश हो कर एक वृक्ष के नीचे क्षण भर दम लेने के लिए बैठ गयी। उसके नेत्र बंद हो गये। उसने देखा, देवी मेरे सम्मुख खड़ी, कृपादृष्टि से मुझे देख रही है। तारा ने दौड़ कर उनके पदों को चूमा।

देवी ने पूछा–तारा, तेरी अभिलाषा पूरी हुई ?

तारा–हाँ माता, मेरी अभिलाषा पूरी हुई।

देवी–तुझे प्रेम मिल गया ?

तारा–नहीं माता, मुझे उससे भी उत्तम पदार्थ मिल गया। मुझे प्रेम के हीरे के बदले सेवा का पारस मिल गया। मुझे ज्ञान हुआ कि प्रेम सेवा का चाकर है। सेवा के सामने सिर झुका कर अब मैं प्रेम-भिक्षा नहीं चाहती। अब मुझे किसी दूसरे सुख की अभिलाषा नहीं। सेवा ने मुझे प्रेम, आदर, सुख सबसे निवृत्त कर दिया।

देवी इस बार मुस्करायी नहीं। उसने तारा को हृदय से लगाया और दृष्टि से ओझल हो गयी।

6

संध्या का समय था। आकाश में तारे ऐसे चमकते थे जैसे कमल पर पानी की बूँदें। वायु में चित्ताकर्षक शीतलता आ गयी थी। तारा एक वृक्ष के नीचे खड़ी चिड़ियों को दाना चुगाती थी कि यकायक साधु ने आकर उसके चरणों पर सिर झुकाया और बोला–तारा, तुमने मुझे जीत लिया। तुम्हारा ऐश्वर्य, धन और सौंदर्य जो कुछ न कर सका, वह तुम्हारी सेवा ने कर दिखाया। तुमने मुझे अपने प्रेम में आसक्त कर लिया। अब मैं तुम्हारा दास हूँ। बोलो, तुम मुझसे क्या चाहती हो ? तुम्हारे संकेत पर अब मैं अपना योग और वैराग्य सब कुछ न्योछावर कर देने के लिए प्रस्तुत हूँ।

तारा–स्वामी जी, मुझे अब कोई इच्छा नहीं। मैं केवल सेवा की आज्ञा चाहती हूँ।

साधु–मैं दिखा दूँगा कि योग साध कर भी मनुष्य का हृदय निर्जीव नहीं होता। मैं भँवरे के सदृश तुम्हारे सौन्दर्य पर मँडराऊँगा। पपीहे की तरह तुम्हारे प्रेम की रट लगाऊँगा। हम दोनों प्रेम की नौका पर ऐश्वर्य और वैभव-नदी की सैर करेंगे, प्रेम-कुंजों में बैठ कर प्रेम-चर्चा करेंगे, और आनन्द के मनोहर राग गावेंगे।

तारा ने कहा–स्वामी जी, सेवा-मार्ग पर चल कर मैं अब अभिलाषाओं से पूरी हो गयी। अब हृदय में और कोई इच्छा शेष नहीं।

साधु ने इन शब्दों को सुना, तारा के चरणों पर माथा नवाया और गंगा की ओर चल दिया।

['राहे-खिदमत' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', जून, 1918 में प्रकाशित। उर्दू 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'सेवामार्ग' शीर्षक से 'स्वदेश', फरवरी, 1919 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

वासना की कड़ियां

बहादुर, भाग्यशाली कासिम मुल्तान की लड़ाई जीतकर घमंड के नशे से चूर चला आता था। शाम हो गई थी, लश्कर के लोग आरामगाह की तलाश में नजरें दौड़ाते थे, लेकिन कासिम को अपने नामदार मालिक की खिदमत में पहुंचने का शौक उड़ाए लिए आता था। उन तैयारियों का खयाल करके जो उसके स्वागत के लिए दिल्ली में की गई होंगी उसका दिल उमंगों से भरपूर हो रहा था। सड़कें बंदनवारों और झंडियों से सजी होंगी, चौराहों पर नौबतखाने अपना सुहाना राग अलापेंगे, ज्योंही मैं शहर के अंदर दाखिल हूंगा सारे शहर में शोर मच जायगा, तोपें अगवानी के लिए जोर-शोर से अपनी आवाजें बुलंद करेंगी। हवेलियों के झरोखों पर शहर की चांद जैसी सुंदर स्त्रियां आंखें गड़ाकर मुझे देखेंगी और मुझ पर फूलों की बारिश करेंगी। जड़ाऊ हौदों पर दरबार के लोग मेरी अगवानी को आएंगे। इस शान से दीवाने खास तक जाने के बाद जब मैं अपने हुजूर की खिदमत में पहुंचूंगा तो वह बाहें खोले हुए मुझे सीने से लगाने के लिए उठेंगे और मैं बड़े आदर से उनके पैरों को चूम लूंगा। आह, वह शुभ घड़ी कब आएगी ? कासिम मतवाला हो गया, उसने अपने चाव की बेसुधी में घोड़े को एड़ लगायी।

कासिम लश्कर के पीछे था। घोड़ा एड़ पाते ही आगे बढ़ा, कैदियों का झुंड पीछे छूट गया। घायल सिपाहियों की डोलियां पीछे छूटीं, सवारों का दस्ता पीछे रहा। सवारों के आगे मुल्तान के राजा की बेगमों और शहजादियों की पीनसें और सुखपाल थे। इन सवारियां के आगे-पीछे हथियारबंद ख्वाजासराओं की एक बड़ी जमात थी। कासिम अपने रौ में घोड़ा बढ़ाए चला आता था। यकायक उसे एक सजी हुई पालकी में से दो आंखें झांकती हुई नजर आई। कासिम ठिठक गया, उसे मालूम हुआ कि मेरे हाथों के तोते उड़ गए, उसे अपने दिल में एक कंपकंपी, एक कमजोरी और बुद्धि पर एक उन्माद-सा अनुभव हुआ। उसका आसन खुद-ब-खुद ढीला पड़ गया। तनी हुई गर्दन झुक गई। नजरें नीची हुई। वह दोनों आंखें दो चमकते और नाचते हुए सितारों की तरह, जिनमें जादू का-सा आकर्षण था, उसके दिल के गोशे में आ बैठीं। वह जिधर ताकता था वहीं दोनों उमंग की रौशनी से चमकते हुए तारे नजर आते थे। उसे बर्छी नहीं लगी, कटार नहीं लगी, किसी ने उस पर जादू नहीं किया, मंतर नहीं किया, नहीं, उसे अपने दिल में इस वक्त एक मजेदार बेसुधी, दर्द की एक लज्जत, मीठी-मीठी-सी एक कैफियत और एक सुहानी चुभन से भरी हुई रोने की-सी हालत महसूस हो रही थी। उसका रोने को जी चाहता था, किसी के दर्द की पुकार सुनकर शायद वह रो पड़ता, बेताब हो जाता। उसका दर्द का एहसास जाग उठा था जो इश्क की पहली मंजिल है।

क्षण भर बाद उसने हुक्म दिया—आज हमारा यहीं कयाम होगा।

2

आधी रात गुजर चुकी थी, लश्कर के आदमी मीठी नींद सो रहे थे। चारों तरफ मशालें जलती थीं और तिलाए के जवान जगह-जगह बैठे जम्हाइयां लेते थे। लेकिन कासिम की आंखों में नींद न थी। वह अपने लम्बे-चौड़े पुरलुत्फ खेमे में बैठा हुआ सोच रहा था—क्या

इस जवान औरत को एक नजर देख लेना कोई बड़ा गुनाह है ? माना कि वह मुल्तान के राजा की शहजादी है और मेरे बादशाह अपने हरम को उससे रौशन करना चाहते हैं लेकिन मेरी आरजू तो सिर्फ इतनी है कि उसे एक निगाह देख लूं और वह भी इस तरह कि किसी को खबर न हो। बस। और मान लो यह गुनाह भी हो तो मैं इस वक्त यह गुनाह करूंगा। अभी हजारों बेगुनाहों को इन्हीं हाथों से कत्ल कर आया हूं। क्या खुदा के दरबार में इन गुनाहों की माफी सिर्फ इसलिए हो जाएगी कि वह बादशाह के हुक्म से किए गए ? कुछ भी हो, किसी नाजनीन को एक नजर देख लेना किसी की जान लेने से बड़ा गुनाह नहीं। कम-से-कम मैं ऐसा नहीं समझता।

कासिम दीनदार नौजवान था। वह देर तक इस काम के नैतिक पहलू पर गौर करता रहा। मुल्तान को फतेह करने वाला हीरो दूसरी बाधाओं को क्यों खयाल में लाता?

उसने अपने खेमे से बाहर निकलकर देखा, बेगमों के खेमे थोड़ी ही दूर पर गड़े हुए थे। कासिम ने जान-बूझकर अपना खेमा उनके पास लगाया था। इन खेमों के चारों तरफ कई मशालें जल रही थीं और पांच हब्शी ख्वाजासरा नंगी तलवारें लिए टहल रहे थे। कासिम आकर मसनद पर लेट गया और सोचने लगा—इन कम्बख्तों को क्या नींद न आएगी। और चारों तरफ इतनी मशालें क्यों जला रक्खी हैं ? इनका गुल होना जरूरी है। इसलिए पुकारा—मसरूर !

—हुजूर, फरमाइए ?

—मशालें बुझा दो, मुझे नींद नहीं आती।

—हुजूर, रात अन्धेरी है।

—कोई डर नहीं। तिलाए के जवान होशियार हैं।

—सब-की-सब गुल कर दी जाएं ?

—हां।

—जैसी हुजूर की मर्जी।

ख्वाजासरा चला गया और एक पल में सब-की-सब मशालें गुल हो गईं, अंधेरा छा गया। थोड़ी देर में एक औरत ने शहजादी के खेमे से निकलकर पूछा—मसरूर, सरकार पूछती हैं यह मशालें क्यों बुझा दी गईं ?

मसरूर बोला—सिपहदार साहब की मर्जी। तुम लोग होशियार रहना, मुझे उनकी नियत साफ नहीं मालूम होती।

3

कासिम उत्सुकता से व्यग्र होकर कभी लेटता था, कभी उठ बैठता था, कभी टहलने लगता था। बार-बार दरवाजे पर आकर देखता. लेकिन पांचों ख्वाजासरा देवों की तरह खड़े नजर आते थे। कासिम को इस वक्त यही धुन थी कि शहजादी का दर्शन क्योंकर हो ? अंजाम की फिक्र, बदनामी का डर और शाही गुस्से का खतरा उस पुरजोर ख्वाहिश के नीचे दब गया था।

घड़ियाल ने एक बजाया। कासिम यों चौंक पड़ा गोया कोई अनहोनी बात हो गई। जैसे कचहरी में बैठा हुआ कोई फरियादी अपने नाम की पुकार सुनकर चौंक पड़ता है। ओ

हो, तीन ही घंटों में सुबह हो जाएगी। खेमे उखड़ जाएंगे। लश्कर कूच कर देगा। [illegible] है। अब देर करने की, हिचकिचाने की गुंजाइश नहीं। कल दिल्ली पहुंच जाएंगे। अर[illegible] दिल में क्यों रह जाए, किसी तरह इन हरामखोर ख्वाजासराओं को चकमा देना [illegible] उसने बाहर निकल आवाज दी—मसरूर!

—हुजूर, फरमाइए।

—होशियार हो न?

—हुजूर, पलक तक नहीं झपकी।

—नींद तो आती ही होगी, कैसी ठंडी हवा चल रही है।

—जब हुजूर ही ने अभी तक आराम नहीं फरमाया तो गुलामों को क्योंकर [illegible] आती।

—मैं तुम्हें कुछ तकलीफ देना चाहता हूं।

—कहिए।

—तुम्हारे साथ पांच आदमी हैं, उन्हें लेकर जरा एक बार लश्कर का चक्कर लग[illegible] आओ। देखो, लोग क्या कर रहे हैं। अक्सर सिपाही रात को जुआ खेलते हैं। [illegible] आस-पास के इलाकों में जाकर खरमस्ती किया करते हैं। जरा होशियारी से काम करना

मसरूर—मगर यहां मैदान खाली हो जायगा।

कासिम—मैं तुम्हारे आने तक खबरदार रहूंगा।

—जो मर्जी हुजूर।

कासिम—मैंने तुम्हें मोतबर समझकर यह खिदमत सुपुर्द की है, इसका मुआवजा इंशाअल्लाह तुम्हारे सरकार से अता होगा।

मसरूर ने दबी जबान से कहा—बंदा आपकी यह चालें सब समझता है। इंशा अल्लाह सरकार से आपको भी इसका इनाम मिलेगा। और तब जोर से बोला—आपकी बड़ी मेहरबानी है।

एक लमहे में पांचों ख्वाजासरा लश्कर की तरफ चले। कासिम ने उन्हें जाते देखा। मैदान साफ हो गया। अब वह बेधड़क खेमे में जा सकता था। लेकिन अब कासिम को मालूम हुआ कि अन्दर जाना इतना आसान नहीं है जितना वह समझा था। गुनाह का पहलू उसकी नजर से ओझल हो गया था। अब सिर्फ जाहिरी मुश्किलों पर निगाह थी।

4

कासिम दबे पांव शहजादी के खेमे के पास आया, हालांकि दबे पांव आने की जरूरत न थी। उस सन्नाटे में वह अगर दौड़ता हुआ चलता तो भी किसी को खबर न होती। उसने खेमे से कान लगाकर सुना, किसी की आहट न मिली। इत्मीनान हो गया। तब उसने कमर से चाकू निकाला और कांपते हुए हाथों से खेमे की दो-तीन रस्सियां काट डालीं। अन्दर जाने का रास्ता निकल आया। उसने अन्दर की तरफ झांका। एक दीपक जल रहा था। दो बांदियां फर्श पर लेटी हुई थीं और शहजादी एक मखमली गद्दे पर सो रही थी। कासिम की हिम्मत बढ़ी। वह सरककर अन्दर चला गया और दबे पांव शहजादी के करीब जाकर उसके दिलफरेब हुस्न का अमृत पीने लगा। उसे अब वह भय न था जो खेमे में

आते वक्त हुआ था। उसने जरूरत पड़ने पर अपनी भागने की राह सोच ली थी।

कासिम एक मिनट तक मूरत की तरह खड़ा शहजादी को देखता रहा। काली-काली लटें खुलकर उसके गालों को छिपाए हुए थीं। गोया काले-काले अक्षरों में एक चमकता हुआ शायराना खयाल छिपा हुआ था। मिट्टी की इस दुनिया में यह मजा, यह घुलावट, यह दीप्ति कहां ? कासिम की आंखें इस दृश्य के नशे में चूर हो गईं। उसके दिल पर एक उमंग बढ़ाने वाला उन्माद-सा छा गया, जो नतीजों से नहीं डरता था। उत्कण्ठा ने इच्छा का रूप धारण किया। उत्कण्ठा में अधीरता थी और आवेश, इच्छा में एक उन्माद और पीड़ा का आनन्द। उसके दिल में इस सुंदरी के पैरों पर सर मलने की, उसके सामने रोने की, उसके कदमों पर जान दे देने की, प्रेम का निवेदन करने की, अपने गम को बयान करने की एक लहर-सी उठने लगी। वासना के भंवर में पड़ गया।

5

कासिम [illegible] तक उस रूप की रानी के पैरों के पास सर झुकाए सोचता रहा कि उसे कैसे जगाऊं। ज्योंही वह करवट बदलती वह डर के मारे थरथरा जाता। वह बहादुरी जिसने मुल्तान को जीता था, उसका साथ छोड़े देती थी।

एकाएक कासिम की निगाह एक सुनहरे गुलाबपाश पर पड़ी जो करीब ही एक चौकी पर रक्खा हुआ था। उसने गुलाबपाश उठा लिया और एक मिनट खड़ा सोचता रहा कि शहजादी को जगाऊं या न जगाऊं ? सोने की डली पड़ी हुई देखकर हमें उसके उठाने में जो आगा-पीछा होता है, वही इस वक्त उसे हो रहा था। आखिरकार उसने कलेजा मजबूत करके शहजादी के कान्तिमान मुखमण्डल पर गुलाब के कई छींटे दिए। दीपक मोतियों की लड़ी से सज उठा।

शहजादी ने चौंककर आंखें खोलीं और कासिम को सामने खड़ा देखकर फौरन मुंह पर नकाब खींच लिया और धीरे से बोली—मसरूर !

कासिम ने कहा—मसरूर तो यहां नहीं है, लेकिन मुझे भी अपना एक अदना जांबाज खादिम समझिए। जो हुक्म होगा उसकी तामील में बाल बराबर उज्र न होगा।

शहजादी ने नकाब और खींच लिया और खेमे के एक कोने में जाकर खड़ी हो गई।

कासिम को अपनी वाक्-शक्ति का आज पहली बार अनुभव हुआ। वह बहुत कम बोलने वाला और गम्भीर आदमी था। अपने हृदय के भावों को प्रकट करने में उसे हमेशा झिझक होती थी लेकिन इस वक्त शब्द बारिश की बूंदों की तरह उसकी जबान पर आने लगे। गहरे पानी के बहाव में एक दर्द का स्वर पैदा हो जाता है। बोला—मैं जानता हूं कि मेरी यह गुस्ताखी आपकी नाजुक तबीयत पर नागवार गुजरी है। हुजूर, इसकी जो सजा मुनासिब समझें उसके लिए यह सर झुका हुआ है। आह, मैं ही वह बदनसीब, काले दिन का इंसान हूं जिसने आपके बुजुर्ग बाप और प्यारे भाइयों के खून से अपना दामन नापाक किया है। मेरे ही हाथों मुल्तान के हजारों जवान मारे गए, सल्तनत तबाह हो गई, शाही खानदान पर मुसीबत आई और आपको यह स्याह दिन देखना पड़ा। लेकिन इस वक्त आपका यह मुजरिम आपके सामने हाथ बांधे हाजिर है। आपके एक इशारे पर वह आपके कदमों पर न्योछावर हो जायगा और उसकी नापाक जिंदगी से दुनिया पाक हो जाएगी। मुझे

आज मालूम हुआ कि बहादुरी के परदे में वासना आदमी से कैसे-कैसे पाप करवाती है। यह महज लालच की आग है, राख में छिपी हुई। सिर्फ एक कातिल जहर है, खुशनुमा शीशे में बंद ! काश, मेरी आंखें पहले खुली होतीं तो एक नामवर शाही खानदान यों खाक में न मिल जाता। पर इस मुहब्बत की शमा ने, जो कल शाम को मेरे सीने में रौशन हुई, इस अंधेरे कोने को रोशनी से भर दिया। यह उन रूहानी जज्बात का फैज है, जो कल मेरे दिल में जाग उठे, जिन्होंने मुझे लालच की कैद से आजाद कर दिया।

इसके बाद कासिम ने अपनी बेकरारी और दर्दे-दिल और वियोग की पीड़ा का बहुत ही करुण शब्दों में वर्णन किया, यहां तक कि उसके शब्दों का भण्डार खत्म हो गया। अपना हाल कह सुनाने की लालसा पूरी हो गई।

6

लेकिन वह वासना का बंदी वहां से हिला नहीं। उसकी आरजुओं ने एक कदम और आगे बढ़ाया। मेरी इस रामकहानी का हासिल क्या ? अगर सिर्फ दर्दे-दिल ही सुनाना था, तो किसी तस्वीर को सुना सकता था। वह तस्वीर इससे ज्यादा ध्यान से और खामोशी से मेरे गम की दास्तान सुनती। काश, मैं भी इस रूप की रानी की मीठी आवाज सुनता, वह भी मुझसे कुछ अपने दिल का हाल कहती, मुझे मालूम होता कि मेरे इस दर्द के किस्से का उसके दिल पर क्या असर हुआ। काश, मुझे मालूम होता कि जिस आग में मैं फुंका जा रहा हूं, कुछ उसकी आंच उधर भी पहुंचती है या नहीं। कौन जाने यह सच हो कि मुहब्बत पहले माशूक के दिल में पैदा होती है। ऐसा न होता तो वह सबको तोड़ने वाली निगाह मुझ पर पड़ी ही क्यों ? आह, इस हुस्न की देवी की बातों में कितना लुत्फ आएगा। बुलबुल का गाना सभी सुनते हैं पर फूल का गाना किसने सुना है। काश, मैं वह गाना सुन सकता, उसकी आवाज कितनी दिलकश होगी, कितनी पाकीजा, कितनी नूरानी, अमृत में डूबी हुई और जो कहीं वह भी मुझसे प्यार करती हो तो फिर मुझसे ज्यादा खुशनसीब दुनिया में और कौन होगा ?

इस खयाल से कासिम का दिल उछलने लगा। रगों में एक हरकत-सी महसूस हुई। इसके बावजूद कि बांदियों के जाग जाने और मसरूर की वापसी का धड़का लगा हुआ था, आपसी बातचीत की इच्छा ने उसे अधीर कर दिया, बोला—हुस्न की मलका, यह जख्मी दिल आपकी इनायत की नजर का मुस्तहक है। कुछ उसके हाल पर रहम न कीजिएगा ?

शहजादी ने नकाब की ओट से उसकी तरफ ताका और बोली—जो खुद रहम का मुस्तहक हो, वह दूसरों के साथ क्या रहम कर सकता है ? कैद में तड़पते हुए पंछी से, जिसके न बाल हैं न पर, गाने की उम्मीद रखना बेकार है। मैं जानती हूं कि कल शाम को मैं दिल्ली के जालिम बादशाह के सामने बंदियों की तरह हाथ बांधे खड़ी हूंगी। मेरी इज्जत, मेरे रुतबे और मेरी शान का दारोमदार खानदानी इज्जत पर नहीं बल्कि मेरी सूरत पर होगा। नसीब का हक पूरा हो जायगा। कौन ऐसा आदमी है जो इस जिंदगी की आरजू रक्खेगा ? आह, मुल्तान की शहजादी आज एक जालिम, चालबाज, पापी आदमी की वासना का शिकार बनने पर मजबूर है। जाइए, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए। मैं बदनसीब हूं, ऐसा न हो कि मेरे साथ आपको भी शाही गुस्से का शिकार बनना पड़े। दिल

में कितनी ही बाते हैं मगर क्यों कहूं, क्या हासिल ? इस भेद का भेद बना रहना ही अच्छा है। आपमें सच्ची बहादुरी और खुद्दारी का जौहर है। आप दुनिया में नाम पैदा करेंगे, बड़े-बड़े काम करेंगे, खुदा आपके इरादों में बरकत दे—यही इस आफत की मारी हुई औरत की दुआ है। मैं सच्चे दिल से कहती हूं कि मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं है। आज मुझे मालूम हुआ कि मुहब्बत बैर से कितनी पाक होती है। वह उस दामन में मुंह छिपाने से भी परहेज नहीं करती जो उसके अजीजों के खून से लिथड़ा हुआ हो। आज यह कम्बख्त दिल उबला पड़ता है। अपने कान बंद कर लीजिए, वह अपने आपे में नहीं है, उसकी बातें न सुनिए। सिर्फ आपसे यही विनती है कि इस गरीब को भूल न जाइएगा। मेरे दिल में उस मीठे सपने की याद हमेशा ताजा रहेगी, हरम की कैद में यही सपना दिल को तस्कीन देता रहेगा, इस सपने को तोड़िए मत। अब खुदा के वास्ते यहां से जाइए, ऐसा न हो कि मसरूर आ जाय, वह एक ही जालिम है। मुझे अंदेशा है कि उसने आपको धोखा दिया, अजब नहीं कि कहीं छुपा बैठा हो, उससे होशियार रहिएगा। खुदा हाफिज !

7

कासिम पर एक बेसुधी की-सी हालत छा गई। जैसे आत्मा का गीत सुनने के बाद किसी योगी की होती है। उसे सपने में भी जो उम्मीद न हो सकती थी, वह पूरी हो गई थी। गर्व से उसकी गर्दन की रगें तन गईं, उसे मालूम हुआ कि दुनिया में मुझसे ज्यादा भाग्यशाली दूसरा नहीं है। मैं चाहूं तो इस रूप की वाटिका की बहार लूट सकता हूं, इस प्याले से मस्त हो सकता हूं। आह, वह कितनी नशीली, कितनी मुबारक जिंदगी होगी ! अब तक कासिम की मुहब्बत ग्वाले का दूध थी, पानी से मिली हुई; शहजादी के दिल की तड़प ने पानी को जलाकर सच्चाई का रंग पैदा कर दिया। उसके दिल ने कहा—मैं इस रूप की रानी के लिए क्या कुछ नहीं कर सकता ? कोई ऐसी मुसीबत नहीं है जो झेल न सकूं, कोई ऐसी आग नहीं, जिसमें कूद न सकूं, मुझे किसका डर है ! बादशाह का ! बादशाह का गुलाम नहीं, उसके सामने हाथ फैलाने वाला नहीं, उसका मुहताज नहीं। मेरे जौहर की हर एक दरबार में कद्र हो सकती है। मैं आज इस गुलामी की जंजीर को तोड़ डालूंगा और उस देश में जा बसूंगा, जहां बादशाह के फरिश्ते भी पर नहीं मार सकते। हुस्न की नेमत पाकर अब मुझे और किसी चीज की इच्छा नहीं। अब अपनी आरजुओं का गला क्यों घोटूं ? कामनाओं को क्यों निराशा का ग्रास बनने दूं ? उसने उन्माद की-सी स्थित में कमर से तलवार निकली और जोश के साथ बोला—जब तक मेरे बाजुओं में दम है, कोई आपकी तरफ आंख उठाकर भी देख नहीं सकता। चाहे वह दिल्ली का बादशाह ही क्यों न हो ! मैं दिल्ली के कूचे और बाजार में खून की नदी बहा दूंगा, सल्तनत की जड़ें हिला दूंगा, शाही तख्त को उलट-पलटकर रख दूंगा। और कुछ न कर सकूंगा तो मर मिटूंगा। पर अपनी आंखो से आपकी यह जिल्लत न देखूंगा।

शहजादी आहिस्ता-आहिस्ता उसके करीब आई और बोली—मुझे आप पर पूरा भरोसा है, लेकिन आपको मेरी खातिर से जब्त और सब्र करना होगा। आपके लिए मैं महलसरा की तकलीफें और जुल्म सब सह लूंगी। आपकी मुहब्बत ही मेरी जिंदगी का सहारा होगी। यह यकीन कि आप मुझे अपनी लौंडी समझते हैं, मुझे हमेशा सम्हालता

रहेगा। कौन जाने तकदीर हमें फिर मिलाए।

कासिम ने अकड़कर कहा—आप दिल्ली जाएं ही क्यों ? हम सुबह होते-होते भरतपुर पहुंच सकते हैं।

शहजादी—मगर हिन्दोस्तान के बाहर तो नहीं जा सकते। दिल्ली की आंख का कांटा बनकर मुमकिन है हम जंगलों और वीरानों में जिंदगी के दिन काटें पर चैन नसीब न होगा। असलियत की तरफ से आंखें न बंद कीजिए, खुदा ने आपको बहादुरी दी है, पर तेगे इस्फहानी भी तो पहाड़ से टकराकर टूट ही जाएगी।

कासिम का जोश कुछ धीमा हुआ। भ्रम का परदा नजर से हट गया। कल्पना की दुनिया में बढ़-बढ़कर बातें करना आदमी का गुण है। कासिम को अपनी बेबसी साफ दिखाई पड़ने लगी बेशक मेरी यह लनतरानियां मजाक की चीज हैं। दिल्ली के शाह के मुकाबिले में मेरी क्या हस्ती है ? उनका एक इशारा मेरी हस्ती को मिटा सकता है। हसरत-भरे लहजे में बोला—मान लीजिए, हमको जंगलों और वीरानों ही में जिंदगी के दिन काटने पड़ें तो क्या ? मुहब्बत करने वाले अंधेरे कोने में भी चमन की सैर का लुत्फ उठाते हैं। मुहब्बत में वह फकीरों और दरवेशों जैसा अलगाव है, जो दुनिया की नेमतों की तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखता।

शहजादी—मगर मुझसे यह कब मुमकिन है कि अपनी भलाई के लिए आपको इन खतरों में डालूं ? मैं शाहे दिल्ली के जुल्मों की कहानियां सुन चुकी हूं, उन्हें याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। खुदा वह दिन न लाए कि मेरी वजह से आपका बाल भी बाका हो। आपकी लड़ाइयों के चर्चे, आपकी खैरियत की खबरें, उस कैद में मुझको तस्कीन और ताकत देंगी। मैं मुसीबतें झेलूंगी और हंस-हंसकर आग में जलूंगी और माथे पर बल न आने दूंगी। हां, मैं शाहे दिल्ली के दिल को अपना बनाऊंगी, सिर्फ आपकी खातिर से ताकि आपके लिए मौका पड़ने पर दो-चार अच्छी बातें कह सकूं।

8

लेकिन कासिम अब भी वहां से न हिला। उसकी आरजुएं उम्मीद से बढ़कर पूरी होती जाती थीं, फिर हवस भी उसी अन्दाज से बढ़ती जाती थी। उसने सोचा अगर हमारी मुहब्बत की बहार सिर्फ कुछ लमहों की मेहमान है तो फिर उन मुबारक लमहों को आगे की चिंता से क्यों बेमजा करें। अगर तकदीर में इस हुस्न की नेमत को पाना नहीं लिखा है, तो इस मौके को हाथ से क्यों जाने दूं ? कौन जाने फिर मुलाकात हो या न हो ? यह मुहब्बत रहे या न रहे ? बोला—शहजादी, अगर आपका यही आखिरी फैसला है, तो मेरे लिए सिवाय हसरत और मायूसी के और क्या चारा है ? दुख होगा, कुढूंगा, पर सब्र करूंगा। अब एक दम के लिए यहां आकर मेरे पहलू में बैठ जाइए ताकि इस बेकरार दिल को तस्कीन हो। आइए, एक लमहे के लिए भूल जाएं कि जुदाई की घड़ी हमारे सर पर खड़ी है। कौन जाने वह दिन कब आए ? शान-शौकत गरीबों की याद भुला देती है, आइए, एक घड़ी मिलकर बैठें। अपनी जुल्फों की अम्बरी खुशबू से इस जलती हुई रूह को तरावट पहुंचाइए। यह बाहें, गलों की जंजीरें बन जाएं। अपने बिल्लौर जैसे हाथों से प्रेम के प्याले भर-भरकर पिलाइए। सागर के ऐसे दौर चलें कि हम छक जाएं। दिलों पर सुरूर का ऐसा

गाढ़ा रंग चढ़े जिस पर जुदाई की तुर्शियों का असर न हो। वह रंगीन शराब पिलाइए जो इस झुलसी हुई आरजुओं की खेती को सींच दे और यह रूह की प्यास हमेशा के लिए बुझ जाए।

मए अर्गवानी के दौर चलने लगे। शहजादी की बिल्लौरी हथेली में सुर्ख शराब का प्याला ऐसा मालूम होता था। जैसे पानी की बिल्लौरी सतह पर कमल का फूल खिला हो। कासिम दोनों दुनिया से बेखबर प्याले पर प्याले चढ़ाता जाता था जैसे कोई डाकू लूट के माल पर टूटा हुआ हो। यहां तक कि उसकी आंखें लाल हो गई, गर्दन झुक गई, पी-पीकर मदहोश हो गया। शहजादी की तरफ वासना भरी आंखों से ताकता हुआ बाहें खोले बढ़ा कि घड़ियाल ने चार बजाए और कूच के डंके की दिल छेद देने वाली आवाजें कान में आई। बाहें खुली की खुली रह गई। लौंडियां उठ बैठीं, शहजादी उठ खड़ी हुई और बदनसीब कासिम दिल की आरजुएं लिए खेमे से बाहर निकला, जैसे तकदीर के फौलादी पंजे ने उसे ढकेलकर बाहर निकाल दिया हो। जब अपने खेमे में आया तो दिल आरजुओं से भरा हुआ था। कुछ देर के बाद आरजुओं ने हवस का रूप भरा और अब बाहर निकला तो दिल हसरतों से पामाल था, हवस का मकड़ी-जाल उसकी रूह के लिए लोहे की जंजीर बना हुआ था।

9

सुबह का सुहाना वक्त था। ठण्डी-ठण्डी हवा के सागर में धीरे-धीरे लहरें उठ रही थीं। बहादुर, किस्मत का धनी कासिम मुल्तान के मोर्चे को सर करके गर्व की मदिरा पिए उसके नशे में चूर चला आता था। दिल्ली की सड़कें बंदनवारों और झंडियों से सजी हुई थीं। गुलाब और केवड़े की खुशबू चारों तरफ उड़ रही थी। जगह-जगह नौबतखाने अपना सुहाना राग अलाप रहे थे। शहरपनाह के अन्दर दाखिल होते ही सारे शहर में एक शोर मच गया। तोपों ने अगवानी की घन गरज सदाएं बुलन्द कीं। ऊपर झरोखों में नगर की सुंदरियां सितारों की तरह चमकने लगीं। कासिम पर फूलों की बरखा होने लगी। वह शाही महल के करीब पहुंचा तो बड़े-बड़े अमीर उमरा उसकी अगवानी के लिए कतार बांधे खड़े थे। इस शान से वह दीवाने खास तक पहुंचा। उसका दिमाग इस वक्त सातवें आसमान पर था। चाव-भरी आंखों से ताकता हुआ बादशाह के पास पहुंचा और शाही तख्त को चूम लिया। बादशाह मुस्कराकर तख्त से उतरे और बाहें खोले हुए कासिम को सीने से लगाने के लिए बढ़े। कासिम आदर से उनके पैरों को चूमने के लिए झुका कि यकायक उसके सिर पर एक बिजली-सी गिरी। बादशाह का तेज खंजर उसकी गर्दन पर पड़ा और सर तन से जुदा होकर अलग जा गिरा। खून के फौव्वारे बादशाह के कदमों की तरफ, तख्त की तरफ और तख्त के पीछे खड़े होने वाले मसरूर की तरफ लपके, गोया कोई झल्लाया हुआ आग का सांप है।

घायल शरीर एक पल में ठंडा हो गया। मगर दोनों आंखें हसरत की मारी हुई दो मूरतों की तरफ देर तक दीवारों की तरफ ताकती रहीं। आखिर वह भी बंद हो गई। हवस ने अपना काम पूरा कर दिया। अब सिर्फ हसरत बाकी थी जो बरसों तक दीवाने खास के दरोदीवार पर छायी रही और जिसकी झलक अभी तक कासिम के मजार पर

घास-फूस की सूरत में नजर आती है।

['जंजीरे हवस' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका में 'कहकशां', सितम्बर-अक्टूबर, 1918 में प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'वासना की कड़ियां' शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-1 में संकलित।]

वफा का खंजर

जयगढ़ और विजयगढ़ दो बहुत ही हरे-भरे, सुसंस्कृत, दूर-दूर तक फैले हुए मजबूत राज्य थे। दोनों ही में विद्या और कला खूब उन्नत थी। दोनों का धर्म एक, रहन-सहन एक, रस्म-रिवाज एक, दर्शन एक, तरक्की का उसूल एक, जीवन का मानदंड एक और जबान में भी नाममात्र का ही अंतर था। जयगढ़ के कवियों की कविताओं पर विजयगढ़ वाले सर धुनते और विजयगढ़ी दार्शनिकों के विचार जयगढ़ के लिए धर्म की तरह थे। जयगढ़ी सुंदरियों से विजयगढ़ के घर-बार रौशन होते थे और विजयगढ़ की देवियां जयगढ़ में पुजती थीं। तब भी दोनों राज्यों में हमेशा ठनी रहती थी। ठनी ही नहीं रहती थी बल्कि आपसी फूट और ईर्ष्या-द्वेष का बाजार बुरी तरह गर्म रहता और दोनों ही हमेशा एक-दूसरे के खिलाफ खंजर उठाए रहते थे। जयगढ़ में अगर कोई देश का सुधार किया जाता तो विजयगढ़ में शोर मच जाता कि हमारी जिंदगी खतरे में है। इसी तरह विजयगढ़ में कोई व्यापारिक उन्नति दिखाई देती तो जयगढ़ में शोर मच जाता था। जयगढ़ अगर रेलवे की कोई नई शाख निकालता तो विजयगढ़ उसे अपने लिए काला सांप समझता और विजयगढ़ में कोई नया जहाज तैयार होता जो जयगढ़ को वह खून पीने वाला घड़ियाल नजर आता था। अगर यह बदगुमानियां अनपढ़ों या साधारण लोगों में पैदा होतीं तो एक बात थी, मजे की बात यह थी कि राग-द्वेष, विद्या और जागृति, वैभव और प्रताप की धरती में पैदा होता था। अशिक्षा और जड़ता की जमीन उनके लिए ठीक न थी। खास सोच-विचार और नियम-व्यवस्था के उपजाऊ क्षेत्र में तो इस बीज का बढ़ना कल्पना की शक्ति को भी मात कर देता था। नन्हा-सा बीज पलक मारते भर में ऊंचा पूरा दरख्त हो जाता। कूचे और बाजारों में रोने-पीटने की सदाएं गूंजने लगतीं, देश की सभाओं में एक भूचाल-सा आ जाता, अखबारों के दिल जलाने वाले शब्द राज्य में हलचल मचा देते, कहीं से आवाज आ जाती—जयगढ़, प्यारे जयगढ़, पवित्र जयगढ़ के लिए यह कठिन परीक्षा का अवसर है। दुश्मन ने जो शिक्षा की व्यवस्था तैयार की है, वह हमारे लिए मृत्यु का संदेश है। अब जरूरत और बहुत सख्त जरूरत है कि हम हिम्मत बांधें और साबित कर दें कि जयगढ़, अमर जयगढ़ इन हमलों से अपनी प्राण-रक्षा कर सकता है। नहीं, उनका मुंहतोड़ जवाब दे सकता है। अगर हम इस वक्त न जागे तो जयगढ़, प्यारा जयगढ़ हस्ती के परदे से हमेशा के लिए मिट जाएगा और इतिहास भी उसे भुला देगा।

दूसरी तरफ से आवाज आती—विजयगढ़ के बेखबर सोने वालो, हमारे मेहरबान पड़ोसियों ने अपने अखबारों की जबान बंद करने के लिए जो नए कायदे लागू किए हैं,

उन पर नाराजगी का इजहार करना हमारा फर्ज है। उनकी मंशा इसके सिवा और कुछ नहीं है कि वहां के मुआमलों से हमको बेखबर रक्खा जाय और इस अंधेरे के परदे में हमारे ऊपर धावे किए जाएं, हमारे गलों पर फेरने के लिए नए-नए हथियार तैयार किए जाएं और आखिरकार हमारा नाम-निशान मिटा दिया जाय। लेकिन हम अपने दोस्तों को जता देना अपना फर्ज समझते हैं कि अगर उन्हें शरारत के हथियारों की ईजाद में कमाल है तो हमें भी उनकी काट करने में कमाल है। अगर शैतान उनका मददगार है तो हमको भी ईश्वर की सहायता प्राप्त है और अगर अब तक हमारे दोस्तों को मालूम नहीं है तो अब होना चाहिए कि ईश्वर की सहायता हमेशा शैतान को दबा देती है।

2

जयगढ़ बाकमाल कलावंतों का अखाड़ा था। शीरीं बाई इस अखाड़े की सब्ज परी थी, उसकी कला की दूर-दूर ख्याति थी। वह संगीत की रानी थी जिसकी ड्योढ़ी पर बड़े-बड़े नामवर आकर सर झुकाते थे। चारों तरफ विजय का डंका बजाकर उसने विजयगढ़ की ओर प्रस्थान किया, जिससे अब तक उसे अपनी प्रशंसा का कर न मिला था। उसके आते ही विजयगढ़ में एक इंकलाब-सा हो गया। राग-द्वेष और अनुचित गर्व हवा से उड़ने वाली सूखी पत्तियों की तरह तितर-बितर हो गए। सौंदर्य और राग-रंग के बाजार में धूल उड़ने लगी, थियेटरों और नृत्यशालाओं में वीरानी छा गई। ऐसा मालूम होता था कि जैसे सारी सृष्टि पर जादू छा गया है। शाम होते ही विजयगढ़ के धनी-धोरी, जवान-बूढ़े शीरीं बाई की मजलिस की तरफ दौड़ते थे। सारा देश शीरीं की भक्ति के नशे में डूब गया।

विजयगढ़ के सचेत क्षेत्रों में देशवासियों के इस पागलपन से एक बेचैनी की हालत पैदा हुई, सिर्फ यही नहीं कि उनके देश की दौलत बर्बाद हो रही थी बल्कि उनका राष्ट्रीय अभिमान और तेज भी धूल में मिला जाता था। जयगढ़ की एक मामूली नाचने वाली, चाहे वह कितनी ही मीठी अदाओं वाली क्यों न हो, विजयगढ़ के मनोरंजन का केंद्र बन जाय, यह बहुत बड़ा अन्याय था। आपस में मशविरे हुए और देश के पुरोहितों की तरफ से देश के मंत्रियों की सेवा में इस खास उद्देश्य से एक शिष्टमंडल उपस्थित हुआ। विजयगढ़ के आमोद-प्रमोद के कर्ताओं की ओर से भी आवेदन-पत्र पेश होने लगे। अखबारों ने राष्ट्रीय अपमान और दुर्भाग्य के तराने छेड़े। साधारण लोगों के हलकों में सवालों की बौछार होने लगी, यहां तक कि वजीर मजबूर हो गए, शीरीं बाई के नाम शाही फरमान पहुंचा—चूंकि तुम्हारे रहने से देश में उपद्रव होने की आशंका है इसलिए तुम फौरन विजयगढ़ से चली जाओ। मगर यह हुक्म अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, आपसी इकरारनामे और सभ्यता के नियमों के सरासर खिलाफ था। जयगढ़ के राजदूत ने, जो विजयगढ़ में नियुक्त था, इस आदेश पर आपत्ति की और शीरीं बाई ने आखिरकार उनको मानने से इंकार किया क्योंकि इससे उसकी आजादी और खुद्दारी और उसके देश के अधिकारों और अभिमान पर चोट लगती थी।

3

जयगढ़ के कूचे और बाजार खामोश थे। सैर की जगहें खाली। तफरीह और तमाशे बंद। शाही महल के लंबे-चौड़े सहन और जनता के हरे-भरे मैदानों में आदमियों की भीड़ थी, मगर उनकी जबानें बंद थीं और आंखें लाल। चेहरे का भाव कठोर और क्षुब्ध, त्योरियां चढ़ी हुईं, माथे पर शिकन, उमड़ी हुई काली घटा थी, डरावनी, खामोश और बाढ़ को अपने दामन में छिपाए हुए।

मगर आम लोगों में एक बड़ा हंगामा मचा हुआ था, कोई सुलह का हामी था, कोई लड़ाई की मांग करता था, कोई समझौते की सलाह दिया करता था, कोई कहता था कि छानबीन करने के लिए कमीशन बैठाओ। मामला नाजुक था, मौका तंग, तो भी आपसी बहस-मुबाहसों, बदगुमानियों और एक-दूसरे पर हमलों का बाजार गर्म था। आधी रात गुजर गई मगर कोई फैसला न हो सका। पूंजी की संगठित शक्ति, उसकी पहुंच और रौब-दाब फैसले की जबान बंद किए हुए था।

तीन पहर रात जा चुकी थी, हवा नींद से मतवाली होकर अंगड़ाइयां ले रही थी और दरख्तों की आंखें झपकी जाती थीं। आकाश के दीपक भी झलमलाने लगे थे, दरबारी कभी दीवारों की तरफ ताकते थे, कभी छत की तरफ। लेकिन कोई उपाय न सूझता था।

अचानक बाहर से आवाज आई—युद्ध ! युद्ध ! सारा शहर इस बुलंद नारे से गूंज उठा। दीवारों ने अपनी खामोश जबान से जवाब दिया—युद्ध ! युद्ध !

यह अदृष्ट से आने वाली एक पुकार थी जिसने उस ठहराव में हरकत पैदा कर दी थी। अब ठहरी हुई चीजों में खलबली पैदा हो गई। दरबारी गोया गफलत की नींद से चौंक पड़े। जैसे कोई भूली हुई बात याद आते ही उछल पड़े। युद्धमंत्री सैयद असकरी ने फरमाया—क्या अब भी लोगों को लड़ाई का ऐलान करने में हिचकिचाहट है ? आम लोगों की जबान खुदा का हुक्म है और उसकी पुकार अभी आपके कानों में आई, उसको पूरा करना हमारा फर्ज है। हमने आज इस लंबी बैठक में यह साबित किया है कि हम जबान के धनी हैं, पर जबान तलवार है, ढाल नहीं। हमें इस वक्त ढाल की जरूरत है, आइए, हम अपने सीनों को ढाल बना लें और साबित कर दें कि हममें अभी वह जौहर बाकी है, जिसने हमारे बुजुर्गों का नाम रौशन किया। कौमी गैरत जिंदगी की रूह है। वह नफे और नुकसान से ऊपर है। वह हुंडी और रोकड़, वसूल और बाकी, तेजी और मंदी की पाबंदियों से आजाद है। सारी खानों की छिपी हुई दौलत, सारी दुनिया की मंडियां, सारी दुनिया के उद्योग-धंधे उसके पासंग हैं। उसे बचाइए वर्ना आपका यह सारा निजाम तितर-बितर हो जाएगा, शीराजा बिखर जायगा, आप मिट जाएंगे। पैसे वालों से हमारा सवाल है—क्या अब भी आपको जंग के ऐलान में हिचकिचाहट है ?

बाहर से सैकड़ों आवाजें आई—जंग ! जंग !

एक सेठ साहब ने फरमाया—आप जंग के लिए तैयार हैं ?

असकरी—हमेशा से ज्यादा।

ख्वाजा साहब—आपको फतह का यकीन है ?

असकरी—पूरा यकीन है।

दूर-पास से 'जंग-जंग' की गरजती हुई आवाजों का तांता बंध गया कि जैसे

हिमालय के किसी अथाह खड्ड से हथौड़ों की झंकार आ रही हो। शहर कांप उठा, जमीन थर्राने लगी, हथियार बंटने लगे। दरबारियों ने एकमत से लड़ाई का फैसला किया। गैरत जो कुछ न कर सकती थी, वह अवाम के नारे ने कर दिखाया।

4

आज से तीस साल पहले एक जबर्दस्त इंकलाब ने जयगढ़ को हिला डाला था। वर्षों तक आपसी लड़ाइयों का दौर रहा; हजारों खानदान मिट गए। सैकड़ों कस्बे वीरान हो गए। बाप, बेटे के खून का प्यासा था। भाई, भाई की जान का गाहक। जब आखिरकार आजादी की फतेह हुई तो उसने ताज के फिदाइयों को चुन-चुनकर मारा। मुल्क के कैदखाने देशभक्तों से भर उठे। उन्हीं जांबाजों में एक मिर्जा मंसूर भी था। उसे कन्नौज के किले में कैद किया गया जिसके तीन तरफ ऊंची दीवारें थीं और एक तरफ गंगा नदी। मंसूर को सारे दिन हथौड़े चलाने पड़ते। सिर्फ शाम को आध घंटे के लिए नमाज की छुट्टी मिलती थी। उस वक्त मंसूर गंगा के किनारे आ बैठता और देश-भाइयों की हालत पर रोता। वह सारी राष्ट्रीय और सामाजिक व्यवस्था जो उसके विचार में राष्ट्रीयता का आवश्यक अंग थी, इस हंगामे की बाढ़ में नष्ट हो रही थी। वह एक ठंडी आह भरकर कहता—जयगढ़, अब तेरा खुदा ही रखवाला है, तूने खाक को अक्सीर बनाया और अक्सीर को खाक। तूने खानदान की इज्जत को, अदब और इखलाक को, इल्मो-कमाल को मिटा दिया, बर्बाद कर दिया। अब तेरी बागडोर हमारे हाथ में नहीं है, चरवाहे तेरे रखवाले और बनिए तेरे दरबारी हैं। मगर देख लेना यह हवा है, और चरवाहे और साहूकार एक दिन तुझे खून के आंसू रुलाएंगे। धन और वैभव अपना ढंग न छोड़ेगा, हुकूमत अपना रंग न बदलेगी, लोग चाहे बदल जाएं, लेकिन निजाम वही रहेगा। यह तेरे नए शुभचिंतक जो इस वक्त विनय, सत्य और न्याय की मूर्तियां बने हुए हैं, एक दिन वैभव के नशे में मतवाले होंगे, उनकी सख्तियां ताज की सख्तियों से कहीं ज्यादा सख्त होंगी और उनके जुल्म इससे कहीं ज्यादा तेज !

इन्हीं खयालों में डूबे हुए मंसूर को अपने वतन की याद आ जाती। घर का नक्शा आंखों में खिंच जाता, मासूम बच्चे, असकरी की प्यारी-प्यारी सूरत आंखों में फिर जाती, जिसे तकदीर ने मां के लाड़-प्यार से वंचित कर दिया था। तब मंसूर एक ठंडी आह खींचकर उठ खड़ा होता और अपने बेटे से मिलने की पागल इच्छा में उसका जी चाहता कि गंगा में कूदकर पार निकल जाऊं।

धीरे-धीरे इस इच्छा ने इरादे की सूरत अख्तियार की। गंगा उमड़ी हुई थी, ओर-छोर का कहीं पता न था। तेज और गरजती हुई लहरें दौड़ते हुए पहाड़ों के समान थीं। पाट देखकर सर में चक्कर-सा आ जाता था। मंसूर ने सोचा, नदी उतरने दूं। लेकिन नदी उतरने के बदले भयानक रोग की तरह बढ़ती जाती थी, यहां तक कि मंसूर को फिर धीरज न रहा, एक दिन वह रात को उठा और उस पुरशोर लहरों से भरे हुए अंधेरे में कूद पड़ा।

मंसूर सारी रात लहरों के साथ लड़ता-भिड़ता रहा, जैसे कोई नन्हीं-सी चिड़िया तूफान में थपेड़े खा रही हो, कभी उसकी गोद में छिपा हुआ, कभी एक रेले में दस कदम आगे, कभी एक धक्के में दस कदम पीछे। जिंदगी पानी की लिखावट की जिंदा मिसाल ! जब वह नदी के पार

हुआ तो एक बेजान लाश था, सिर्फ सांस बाकी थी और सांस के साथ मिलने की इच्छा।

इसके तीसरे दिन मंसूर विजयगढ़ जा पहुंचा। एक गोद में असकरी था और दूसरे हाथ में गरीबी का एक छोटा-सा बुकचा। वहां उसने अपना नाम मिर्जा जलाल वताया। हुलिया भी बदल लिया था, हट्टा-कट्टा सजीला जवान था, चेहरे पर शराफत और कुलीनता की कांति झलकती थी, नौकरी के लिए किसी और सिफारिश की जरूरत न थी। सिपाहियों में दाखिल हो गया और पांच ही साल में अपनी खिदमतों और भरोसे के बदौलत मंदौर के सरहदी पहाड़ी किले का सूबेदार बना दिया गया।

लेकिन मिर्जा जलाल को वतन की याद हमेशा सताया करती। वह असकरी को गोद में ले लेता और कोट पर चढ़कर उसे जयगढ़ की वह मुस्कराती हुई चरागाहें और मतवाले झरने और सुथरी बस्तियां दिखाता जिनके कंगूरे किले से नजर आते। उस वक्त बेअख्तियार उसके जिगर से एक सर्द आह निकल जाती और आंखें डबडबा आतीं। वह असकरी को गले लगा लेता और कहता—बेटा, वह तुम्हारा देश है। वही तुम्हारा और तुम्हारे बुजुर्गो का घोंसला है। तुमसे हो सके तो उसके एक कोने में बैठे हुए अपनी उम्र खत्म कर देना, मगर कभी उसकी आन में बट्टा न लगाना। कभी उससे दगा मत करना क्योंकि तुम उसी की मिट्टी और पानी से पैदा हुए हो और तुम्हारे बुजुर्गो की पाक रूहें अब भी वहां मंडरा रही हैं। इस तरह बचपने से ही असकरी के दिल पर देश की सेवा और प्रेम अंकित हो गया था। वह जवान हुआ, तो जयगढ़ पर जान देता था। उसकी शान-शौकत पर निसार, उसके रौब-दाब की माला जपने वाला। उसकी बेहतरी को आगे बढ़ाने के लिए हर वक्त तैयार। उसके झंडे को नई अछूती धरती में गाड़ने का इच्छुक। बीस साल का सजीला जवान था, इरादा मजबूत, हौसले बुलंद, हिम्मत बड़ी, फौलादी जिस्म, आकर जयगढ़ की फौज में दाखिल हो गया और इस वक्त जयगढ़ की फौज का चमकता सूरत बना हुआ था।

5

जयगढ़ ने अल्टीमेटम दे दिया। अगर चौबीस घंटों के अंदर शीरीं बाई जयगढ़ न पहुंची तो उसकी अगवानी के लिए जयगढ़ की फौज रवाना होगी।

विजयगढ़ ने जवाब दिया—जयगढ़ की फौज आए, हम उसकी अगवानी के लिए हाजिर हैं। शीरीं बाई जब तक यहां की अदालत से हुक्म-उदूली की सजा न पा ले, वह रिहा नहीं हो सकती और जयगढ़ को हमारे अंदरूनी मामलों में दखल देने का कोई हक नहीं।

असकरी ने मुंहमांगी मुराद पाई। खुफिया तौर पर एक दूत मिर्जा जलाल के पास रवाना किया और खत में लिखा—

'आज विजयगढ़ से हमारी जंग छिड़ गई, अब खुदा ने चाहा तो दुनिया जयगढ़ की तलवार का लोहा मान जायगी। मंसूर का बेटा असकरी फतेह के दरबार का एक अदना दरबारी बन सकेगा और शायद मेरी वह दिली तमन्ना भी पूरी हो जो हमेशा मेरी रूह को तड़पाया करती है। शायद मैं मिर्जा मंसूर को फिर जयगढ़ की रियासत में एक ऊंची जगह पर बैठे हुए देख सकूं। हम मंदौर से न बोलेंगे और आप भी हमें न छेड़िएगा लेकिन अगर खुदा न ख्वास्ता कोई मुसीबत आ ही पड़े तो आप मेरी यह मुहर जिस सिपाही या अफसर

को दिखा देंगे वह आपकी इज्जत करेगा और आपको मेरे कैंप में पहुंचा देगा। मुझे यकीन है कि अगर जरूरत पड़े तो उस जयगढ़ के लिए जो आपके लिए इतना प्यारा है और उस असकरी की खातिर जो आपके जिगर का टुकड़ा है, आप थोड़ी-सी तकलीफ से (मुमकिन है वह रूहानी तकलीफ हो) दरेग न फरमाएंगे।

इसके तीसरे दिन जयगढ़ की फौज ने विजयगढ़ पर हमला किया और मंदौर से पांच मील के फासले पर दोनों फौजों का मुकाबला हुआ। विजयगढ़ को अपने हवाई जहाजों, जहरीले गड्ढों और दूर तक मार करने वाली तोपों का घमंड था। जयगढ़ को अपनी फौज की बहादुरी, जीवट, समझदारी और बुद्धि का भरोसा। विजयगढ़ की फौज नियम और अनुशासन की गुलाम थी, जयगढ़ वाले जिम्मेदारी और तमीज के कायल।

एक महीने तक दिन-रात मार-काट के मार्के होते रहे। हमेशा आग और गोलों और जहरीली हवाओं का तूफान उठा रहता। इंसान थक जाता था, पर कलें अथक थीं। जयगढ़ियों के हौसले पस्त हो गए, बार-बार हार-पर-हार खाई। असकरी को मालूम हुआ कि जिम्मेदारी फतेह में चाहे करिश्मे कर दिखाए, पर शिकस्त में मैदान हुक्म की पाबंदी ही के हाथ रहता है।

जयगढ़ के अखबारों ने मंत्रियों पर हमले शुरू किए। असकरी सारी कौम की लानत मलामत का निशाना बन गया। वही असकरी जिस पर जयगढ़ फिदा होता था, सबकी नजरों का कांटा हो गया। अनाथ बच्चों के आंसू, विधवाओं की आहें, घायलों की चीख-पुकार, व्यापारियों की तबाही, राष्ट्र का अपमान—इन सबका कारण वही एक व्यक्ति असकरी था। कौम की अगुअई सोने का राजसिंहासन भले हो पर फूलों की सेज वह हर्गिज नहीं।

अब जयगढ़ की जान बचने की इसके सिवा और कोई सूरत न थी कि किसी तरह विरोधी सेना का संबंध मंदौर के किले से काट दिया जाय, जो लड़ाई और रसद के सामान और यातायान के साधनों का केंद्र था। लड़ाई कठिन थी, बहुत खतरनाक, सफलता की आशा बहुत कम, असफलता की आशंका जी पर भारी। कामयाबी अगर सूखे धान का पानी थी तो नाकामी उसकी आग। मगर छुटकारे की और कोई दूसरी तदबीर न थी। असकरी ने मिर्जा जलाल को लिखा—

"प्यारे अब्बाजान, अपने पिछले खत में मैंने जिस जरूरत का इशारा किया था, बदकिस्मती से वह जरूरत आ पड़ी। आपका प्यारा जयगढ़ भेड़ियों के पंजे में फंसा हुआ है और आपका प्यारा असकरी नाउम्मीदी के भंवर में, दोनों आपकी तरफ आस लगाए ताक रहे हैं। आज हमारी आखिरी कोशिश है, हम मुखालिफ फौज को मंदौर के किले से अलग करना चाहते हैं। आधी रात के बाद यह मार्का शुरू होगा। आपसे सिर्फ इतनी दरख्वास्त है कि अगर हम सर हथेली पर लेकर किले के सामने तक पहुंच सकें, तो हमें लोहे के दरवाजे से सर टकराकर वापस न होना पड़े। वर्ना आप अपनी कौम की इज्जत और अपने बेटे की लाश को उसी जगह पर तड़पते देखेंगे और जयगढ़ आपको कभी मुआफ न करेगा। उससे आपको कितनी ही तकलीफ क्यों न पहुंची हो मगर आप उसके हकों से सुबुकदोश नहीं हो सकते।"

शाम हो चुकी थी, मैदाने जंग ऐसा नजर आता था कि जैसे जंगल आग से जल गया हो। विजयगढ़ी फौज एक खूरेज मार्के के बाद खंदकों में आ रही थी, घायल मंदौर के किले

के अस्पताल में पहुंचाए जा रहे थे, तोपें थककर चुप हो गई थीं और बंदूकें जरा दम ले रही थीं। उसी वक्त जयगढ़ी फौज का एक अफसर विजयगढ़ी वर्दी पहने हुए असकरी के खेमे से निकला, थकी हुई तोपें, सर झुकाए हुए हवाई जहाज, घोड़ों की लाशें, औंधी पड़ी हुई हवागाड़ियां और सजीव मगर टूटे-फूटे किले, उसके लिए पर्दे का काम करने लगे। उनकी आड़ में छिपता हुआ वह विजयगढ़ी घायलों की कतार में जा पहुंचा और चुपचाप जमीन पर लेट गया।

6

आधी रात गुजर चुकी थी। मंदौर का किलेदार मिर्जा जलाल किले की दीवार पर बैठा हुआ मैदाने जंग का तमाशा देख रहा था और सोचता था कि असकरी को मुझे खत लिखने की हिम्मत क्योंकर हुई। उसे समझना चाहिए था कि जिस शख्स ने अपने वसूलों पर अपनी जिंदगी न्योछावर कर दी, देश से निकाला गया और गुलामी की तौक गर्दन में डाला वह अब अपनी जिंदगी के आखिरी दौर में ऐसा कोई काम न करेगा, जिससे उसको बट्टा लगे। अपने उसूलों को न तोड़ेगा। खुदा के दरबार में वतन और वतन वाले और बेटा एक भी साथ न देगा। अपने भले-बुरे की सजा या इनाम आप ही भुगतना पड़ेगा। हिसाब के रोज उसे कोई न बचा सकेगा।

'तौबा ! जयगढ़ियों से फिर वही बेवकूफी हुई। खामखाह गोलेबारी से दुश्मनों को खबर कर देने की क्या जरूरत थी ? अब इधर से भी जवाब दिया जाएगा और हजारों जानें जाया होंगी। रात के अचानक हमले के माने तो यह हैं कि दुश्मन सर पर आ जाय और कानोंकान खबर न हो, चौतरफा खलबली पड़ जाय। माना कि मौजूदा हालात में अपनी हरकतों को पोशीदा रखना मुश्किल है। इसका इलाज अंधेरे के खंदक से करना चाहिए था। मगर आज शायद उनकी गोलेबारी मामूल से ज्यादा तेज है। विजयगढ़ की कतारों और तमाम मोर्चेबंदियों को चीरकर बजाहिर उनका यहां तक आना तो मुहाल मालूम होता था, लेकिन अगर मान लो आ ही जाएं तो मुझे क्या करना चाहिए। इस मसले को तय क्यों न कर लूं ? खूब, इसमें तय करने की बात ही क्या है ? मेरा रास्ता साफ है। मैं विजयगढ़ का नमक खाता हूं। मैं जब बेघरबार, परीशान और अपने देश से निकाला हुआ था तो विजयगढ़ ने मुझे अपने दामन में पनाह दी और मेरी खिदमतों का मुनासिब लिहाज किया। उसकी बदौलत तीस साल तक मेरी जिंदगी नेकनामी और इज्जत से गुजरी। उससे दगा करना हद दर्जे की नमकहरामी है। ऐसा गुनाह जिसकी कोई सजा नहीं ! वह ऊपर शोर हो रहा है। हवाई जहाज होंगे, वह गोला गिरा, मगर खैरियत हुई, नीचे कोई नहीं था।

'मगर क्या दगा हर एक हालत में गुनाह है ? ऐसी हालतें भी तो हैं, जब दगा वफा से भी ज्यादा अच्छी हो जाती है। अपने दुश्मन से दगा करना क्या गुनाह है ? अपनी कौम के दुश्मन से दगा करना क्या गुनाह है ? कितने ही काम जो जाती हैसियत से ऐसे होते हैं कि उन्हें माफ नहीं किया जा सकता, कौमी हैसियत से नेक काम हो जाते हैं। वही बेगुनाह का खून जो जाती हैसियत से सख्त से सख्त सजा के काबिल है, मजहबी हैसियत से शहादत का दर्जा पाता है और कौमी हैसियत से देश-प्रेम का। कितनी बेरहमियां और जुल्म, कितनी दगाएं और चालबाजियां, कौमी और मजहबी नुक्ते-निगाह से सिर्फ ठीक ही

नहीं, फर्जों में दाखिल हो जाती हैं। हाल की योरोप की बड़ी लड़ाई में इसकी कितनी ही मिसालें मिल सकती हैं। दुनिया का इतिहास ऐसी दगाओं से भरा पड़ा है। इस नए दौर में भले और बुरे का जाती एहसास कौमी मसलहत के सामने कोई हकीकत नहीं रखता। कौमियत ने जात को मिटा दिया है। मुमकिन है यही खुदा की मंशा हो। और उसके दरबार में भी हमारे कारनामे कौम की कसौटी ही पर परखे जाएं। यह मसला इतना आसान नहीं है जितना मैं समझा था।

'फिर आसमान में शोर हुआ मगर शायद यह इधर-हवाई जहाज हैं। आज जयगढ़ वाले बड़े दमखम से लड़ रहे हैं। इधर वाले दबते नजर आते हैं। आज यकीनन मैदान उन्हीं के हाथ रहेगा। जान पर खेले हुए हैं। जयगढ़ी वीरों की बहादुरी मायूसी ही में खूब खुलती है। उनकी हार जीत से भी ज्यादा शानदार होती है। बेशक, असकरी दांव-पेच का उस्ताद है, किस खूबसूरती से अपनी फौज का रुख किले के दरवाजे की तरफ फेर दिया। मगर सख्त गलती कर रहे हैं। अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहे हैं। सामने का मैदान दुश्मन के लिए खाली किए देते हैं। वह चाहे तो बिला रोक-टोक आगे बढ़ सकता है और सुबह तक जयगढ़ की सरजमीन में दाखिल हो सकता है। जयगढ़ियों के लिए वापसी या तो गैरमुमकिन है या निहायत खतरनाक। किले का दरवाजा बहुत मजबूत है। दीवारों की संधियों से उन पर बेशुमार बंदूकों के निशाने पड़ेंगे। उनका इस आग में एक घंटा भी ठहरना मुमकिन नहीं है। क्या इतने देशवासियों की जानें सिर्फ एक उसूल पर, सिर्फ हिसाब के दिन के डर पर, सिर्फ अपने इखलाकी एहसास पर कुर्बान कर दूं ? और महज जानें ही क्यों ? इस फौज की तबाही जयगढ़ की तबाही है। कल जयगढ़ की पाक सरजमीन दुश्मन के जीत के नक्कारों से गूंज उठेगी। मेरी माएं, बहनें और बेटियां हया को जलाकर खाक कर देने वाली हरकतों का शिकार होंगी। सारे मुल्क में कत्ल और तबाही के हंगामे बरपा होंगे। पुरानी अदावत और झगड़ों के शोले भड़केंगे। कब्रिस्तान में सोई हुई रूहें दुश्मन के कदमों से पामाल होंगी। वह इमारतें जो हमारे अगले बड़प्पन की जिंदा निशानियां हैं, वह यादगारें जो हमारे बुजुर्गों की देन हैं, जो हमारे कारनामों के इतिहास, कमालों का खजाना और हमारी मेहनतों की रौशन गवाहियां हैं, जिनकी सजावट और खूबी को दुनिया की कौमें स्पर्द्धा की आंखों से देखती हैं, वह अर्द्ध-बर्बर, असभ्य लश्करियों का पड़ाव बनेंगी और उनके तबाही के जोश का शिकार। क्या अपनी कौम को इन तबाहियों का निशाना बनने दूं ? महज इसलिए कि वफा का मेरा उसूल न टूटे ?

उफ्, यह किले में जहरीले गैस कहां से आ गए ! किसी जयगढ़ी जहाज की हरकत होगी! सर में चक्कर-सा आ रहा है। यहां से कुमक भेजी जा रही है। किले की दीवार के सूराखों में भी तोपें चढ़ाई जा रही हैं। जयगढ़ वाले किले के सामने आ गए। एक धावे में वह हूमायूं दरवाजे तक आ पहुंचेंगे। विजयगढ़ वाले इस बाढ़ को अब नहीं रोक सकते। जयगढ़ वालों के सामने कौन ठहर सकता है ? या अल्लाह, किसी तरह दरवाजा खुद-ब-खुद खुल जाता, कोई जयगढ़ी हवाबाज मुझसे जबर्दस्ती कुंजी छीन लेता, मुझे मार डालता। आह, मेरे इतने अजीज हमवतन प्यारे भाई आन की आन में खाक में मिल जाएंगे और मैं बेबस हूं ! हाथों में जंजीर है, पैरों में बेड़ियां। एक-एक रोआं रस्सियों से जकड़ा हुआ है। क्यों न इस जंजीर को तोड़ दूं, इन बेड़ियों के टुकड़े-टुकड़े कर दूं और दरवाजे के दोनों बाजू अपने अजीज फतेह करने वालों की अगवानी के

लिए खोल दूं। माना कि यह गुनाह है पर यह मौका गुनाह से डरने का नहीं। जहन्नुम के आग उगलने वाले सांप और खून पीने वाले जानवर और लपकते हुए शोले मेरी रूह को जलाएं, तड़पाएं, कोई बात नहीं। अगर महज मेरी रूह की तबाही, मेरी कौम और वतन को मौत के गड्ढे से बचा सके तो वह मुबारक है। विजयगढ़ ने ज्यादती की है, उसने महज जयगढ़ को जलील करने के लिए, सिर्फ उसको भड़काने के लिए शीरीं बाई को शहर-निकाले का हुक्म जारी किया जो सरासर बेजा था। हाय, अफसोस, मैंने उसी वक्त इस्तीफा क्यों न दे दिया और गुलामी की इस कैद से क्यों न निकल गया।

हाय गजब, जयगढ़ी फौज खंदकों तक पहुंच गई, या खुदा ! इन जांबाजों पर रहम कर, इनकी मदद कर। कलदार तोपों से कैसे गोले बरस रहे हैं, गोया आसमान के बेशुमार तारे टूट पड़ते हैं। अल्लाह की पनाह, हुमायूं दरवाजे पर गोलों की कैसी चोटें पड़ रही हैं। कान के परदे फटे जाते हैं। काश, दरवाजा टूट जाता ! हाय मेरा असकरी, मेरे जिगर का टुकड़ा, वह घोड़े पर सवार आ रहा है। कैसा बहादुर, कैसा जांबाज, कैसी पक्की हिम्मत वाला ! आह, मुझ अभागे कलमुंहे को मौत क्यों नहीं आ जाती ! मेरे सर पर कोई गोला क्यों नहीं आ गिरता ! हाय, जिस पौदे को अपने जिगर के खून से पाला, जो मेरी पतझड़ जैसी जिंदगी का सदाबहार फूल था, जो मेरी अंधेरी रात का चिराग, मेरी जिंदगी की उम्मीद, मेरी हस्ती का दारोमदार, मेरी आरजू का इंतहा था, वह मेरी आंखों के सामने आग के भंवर में पड़ा हुआ है, और मैं हिल नहीं सकता। इस कातिल जंजीर को क्योंकर तोड़ दूं। इस बागी दिल को क्योंकर समझाऊं ? मुझे मुंह में कालिख लगाना मंजूर है, मुझे जहन्नुम की मुसीबतें झेलना मंजूर है, मैं सारी दुनिया के गुनाहों का बोझ अपने सर पर लेने को तैयार हूं, सिर्फ इस वक्त मुझे गुनाह करने की, वफा के पैमाने को तोड़ने की, नमकहराम बनने की तौफीक दे ! एक लमहे के लिए मुझे शैतान के हवाले कर दे, मैं नमकहराम बनूंगा, दगाबाज बनूंगा पर कौमफरोश नहीं बन सकता !

आह, जालिम सुरंगें उड़ाने की तैयारी कर रहे हैं। सिपहसालार ने हुक्म दे दिया। वह तीन आदमी तहखाने की तरफ चले। जिगर कांप रहा है, जिस्म कांप रहा है। यह आखिरी मौका है। एक लमहा और, बस फिर अंधेरा है और तबाही। हाय, मेरे ये बेवफा हाथ-पांव अब भी नहीं हिलते, जैसे इन्होंने मुझसे मुंह मोड़ लिया हो। यह खून अब भी गरम नहीं होता। आह, वह धमाके की आवाज हुई, खुदा की पनाह, जमीन कांप उठी, हाय असकरी, असकरी, रुखसत, मेरे प्यारे बेटे, रुखसत, इस जालिम बेरहम बाप ने तुझे अपनी वफा पर कुर्बान कर दिया ! मैं तेरा बाप न था, तेरा दुश्मन था ! मैंने तेरे गले पर छुरी चलाई। अब धुआं साफ हो गया। आह, वह फौज कहां है जो सैलाब की तरह बढ़ती आती थी और इन दीवारों से टकरा रही थी। खंदकें लाशों से भरी हुई हैं और वह जिसका मैं दुश्मन था, जिसका कातिल, वह बेटा, वह मेरा दुलारा असकरी कहां है, कहीं नजर नहीं आता...आह... ।'

['खंजरे वफा' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू पत्रिका 'जमाना', नवम्बर, 1918 में प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'वफा का खंजर' शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-1 में संकलित।]

बोध

पंडित चन्द्रधर ने एक अपर प्राइमरी में मुदर्रिसी तो कर ली थी, किंतु सदा पछताया करते कि कहाँ से इस जंजाल में आ फँसे। यदि किसी अन्य विभाग में होते, आराम से जीवन व्यतीत होता। यहाँ तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कहीं पंद्रह रुपये देखने को मिलते हैं। वह भी इधर आये, उधर गायब। न खाने का सुख, न पहनने का आराम। हमसे तो मजूर ही भले।

पंडित जी के पड़ोस में दो महाशय और रहते थे। एक ठाकुर अतिबलसिंह, वह थाने में हेड कान्सटेबुल थे। दूसरे मुंशी बैजनाथ, वह तहसील में सियाहेनवीस थे। इन दोनों आदमियों का वेतन पंडित से कुछ अधिक न था, तब भी उनकी चैन से गुजरती थी। संध्या को वह कचहरी से आते, बच्चों को पैसे और मिठाइयाँ देते। दोनों आदमियों के पास टहलते थे। घर में कुरसियाँ, मेजें, फर्श आदि सामग्रियाँ मौजूद थीं। ठाकुर साहब शाम को आराम कुरसी पर लेट जाते और खुशबूदार खमीरा पीते। मुंशी जी को शराब-कबाब का व्यसन था। अपने सुसज्जित कमरे में बैठे हुए बोतल की बोतल साफ कर देते। जब कुछ नशा होता तो हारमोनियम बजाते। सारे मुहल्ले में उनका रोबदाब था। उन दोनों महाशयों को आते-जाते देख कर बनिये उठ कर सलाम करते। उनके लिए बाजार में अलग भाव था। चार पैसे की चीज टके में लाते। लकड़ी-ईंधन मुफ्त में मिलता। पंडित जी उनके ठाट-बाट को देख कर कुढ़ते और अपने भाग्य को कोसते। वह लोग इतना भी न जानते थे कि पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है अथवा सूर्य पृथ्वी का। साधारण पहाड़ों का भी ज्ञान न था, जिस पर भी ईश्वर ने उन्हें इतनी प्रभुता दे रखी थी। यह लोग पंडित जी पर बड़ी कृपा रखते थे। कभी सेर-आध सेर दूध भेज देते और कभी थोड़ी-सी तरकारियाँ। किन्तु इनके बदले में पंडित जी को ठाकुर साहब के दो और मुंशी जी के तीन लड़कों की निगरानी करनी पड़ती। ठाकुर साहब कहते, पंडित जी ! यह लड़के हर घड़ी खेला करते हैं, जरा इनकी खबर लेते रहिए। मुंशी जी कहते, यह लड़के आवारा हुए जाते हैं, जरा इनका ख्याल रखिए। यह बातें बड़ी अनुग्रहपूर्ण रीति से कही जाती थीं मानो पंडित जी उनके गुलाम हैं। पंडित जी को यह व्यवहार असह्य था, किंतु इन लोगों को नाराज करने का साहस न कर सकते थे, उनकी बदौलत कभी-कभी दूध-दही के दर्शन हो जाते, कभी अचार-चटनी चख लेते। केवल इतना ही नहीं, बाजार से चीजें भी सस्ती लाते। इसलिए बेचारे इस अनीति को विष की घूँट के समान पीते। इस दुरवस्था से निकलने के लिए उन्होंने बड़े-बड़े यत्न किये थे। प्रार्थना-पत्र लिखे, अफसरों की खुशामदें कीं, पर आशा पूरी न हुई। अंत में हार कर बैठ रहे। हाँ, इतना था कि अपने काम में त्रुटि न होने देते। ठीक समय पर जाते, देर करके आते, मन लगा कर पढ़ाते इससे उनके अफसर लोग खुश थे। साल में कुछ इनाम देते और वेतन-वृद्धि का जब कभी अवसर आता, उनका विशेष ध्यान रखते। परन्तु इस विभाग की वेतन-वृद्धि ऊसर की खेती है। बड़े भाग से हाथ लगती है। बस्ती के लोग उनसे संतुष्ट थे। लड़कों की संख्या बढ़ गयी थी और पाठशाला के लड़के भी उन पर जान देते थे। कोई उनके घर आकर पानी भर देता, कोई उनकी बकरी के लिए पत्तियाँ तोड़ लाता। पंडित जी इसी को बहुत समझते थे।

2

एक बार सावन के महीने में मुंशी बैजनाथ और ठाकुर अतिबलसिंह ने श्री अयोध्या जी की यात्रा की सलाह की। दूर की यात्रा थी। हफ्तों पहले से तैयारियाँ होने लगीं। बरसात के दिन, सपरिवार जाने में अड़चन थी; किंतु स्त्रियाँ किसी भाँति भी न मानती थीं। अंत में विवश हो कर दोनों महाशयों ने एक-एक सप्ताह की छुट्टी ली और अयोध्या जी चले। पंडित जी को भी साथ चलने के लिए बाध्य किया। मेले-ठेले में एक फालतू आदमी से बड़े काम निकलते हैं। पंडित जी असमंजस में पड़े, परन्तु जब उन लोगों ने उनका व्यय देना स्वीकार किया तो इन्कार न कर सके और अयोध्या जी की यात्रा का ऐसा सुअवसर पा कर न रुक सके।

बिल्हौर से एक बजे रात को गाड़ी छूटती थी। यह लोग खा-पीकर स्टेशन पर आ बैठे। जिस समय गाड़ी आयी, चारों ओर भगदड़-सी पड़ गयी—हजारों यात्री जा रहे थे। उस उतावली में मुंशी जी पहले निकल गये। पंडित जी और ठाकुर साहब साथ थे। एक कमरे में बैठे। इस आफत में कौन किसका रास्ता देखता है।

गाड़ियों में जगह की बड़ी कमी थी, परन्तु जिस कमरे में ठाकुर साहब थे उसमें केवल चार मनुष्य थे। वह सब लेटे हुए थे। ठाकुर साहब चाहते थे कि वह उठ जायें तो जगह निकल आये। उन्होंने एक मनुष्य से डाँट कर कहा—उठ बैठो जी, देखते नहीं हम लोग खड़े हैं।

मुसाफिर लेटे-लेटे बोला—क्यों उठ बैठें जी ? कुछ तुम्हारे बैठने का ठेका लिया है ?

ठाकुर—क्या हमने किराया नहीं दिया है ?

मुसाफिर—जिसे किराया दिया हो, उससे जा कर जगह माँगो।

ठाकुर—जरा होश क़ी बातें करो। इस डब्बे में दस यात्रियों के बैठने की आज्ञा है।

मुसाफिर—यह थाना नहीं है, जरा जबान सँभाल कर बातें कीजिए।

ठाकुर—तुम कौन हो जी ?

मुसाफिर—हम वही हैं जिस पर आपने खुफिया फरोसी का अपराध लगाया था और जिसके द्वार से आप नकद पच्चीस रुपये लेकर टले थे।

ठाकुर—अहा ! अब पहचाना। परन्तु मैंने तो तुम्हारे साथ रियायत की थी। चालान कर देता तो तुम सजा पा जाते।

मुसाफिर—और मैंने भी तुम्हारे साथ रियायत की कि गाड़ी में खड़ा रहने दिया। ढकेल देता तो तुम नीचे जाते और तुम्हारी हड्डी-पसली का पता न लगता।

इतने में दूसरा लेटा हुआ यात्री जोर से ठट्ठा मार कर हँसा और बोला—और क्यों दारोगा साहब, मुझे क्यों नहीं उठाते ?

ठाकुर साहब क्रोध से लाल हो रहे थे। सोचते थे अगर थाने में होता तो इनकी जबान खींच लेता, पर इस समय बुरे फँसे थे। यह बलवान मनुष्य थे पर दोनों मनुष्य भी हट्टे-कट्टे देख पड़ते थे।

ठाकुर—सन्दूक नीचे रख दो, बस जगह हो जाय।

दूसरा मुसाफिर बोला—और आप ही क्यों न नीचे बैठ जायँ। इसमें कौन-सी हेठी हुई जाती है। यह थाना थोड़े ही है कि आपके रोब में फर्क पड़ जायगा।

ठाकुर साहब ने उनकी ओर भी ध्यान से देखकर पूछा—क्या तुम्हें भी मुझसे कोई बैर है ?

'जी हाँ, मैं तो आपके खून का प्यासा हूँ।'

'मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, तुम्हारी तो सूरत भी नहीं देखी।'

दूसरा मुसाफिर—आपने मेरी सूरत न देखी होगी पर आपके डंडे ने देखी है। इसी कल के मेले में आपने मुझे कई डंडे लगाये। मैं चुपचाप तमाशा देखता था पर आपने आ कर मेरा कचूमर निकाल लिया। मैं चुप रह गया, घाव दिल पर लगा हुआ है। आज उसकी दवा मिलेगी।

यह कह कर उसने और भी पाँव फैला दिया और क्रोधपूर्ण नेत्रों से देखने लगा। पंडित जी अब तक चुपचाप खड़े थे। डरते थे कि कहीं मार-पीट न हो जाय। अवसर पाकर ठाकुर साहब को समझाया ज्योंही तीसरा स्टेशन आया, ठाकुर साहब ने बाल-बच्चों को वहाँ से निकाल कर दूसरे कमरे में बैठाया। इन दोनों दुष्टों ने उनका असबाब उठा-उठा कर जमीन पर फेंक दिया। जब ठाकुर साहब गाड़ी से उतरने लगे तो उन्होंने उनको ऐसा धक्का दिया कि बेचारे प्लेटफार्म पर गिर पड़े। गार्ड से कहने दौड़े थे कि इंजिन ने सीटी दी, जा कर गाड़ी में बैठ गये।

उधर मुंशी बैजनाथ की और भी बुरी दशा थी। सारी रात जागते गुजारी। जरा पैर फैलाने की जगह न थी। आज उन्होंने जेब में बोतल भर कर रख ली थी। प्रत्येक स्टेशन पर कोयला-पानी ले लेते थे। फल यह हुआ कि पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ गया। एक बार उल्टी हुई और पेट में मरोड़ होने लगी। बेचारे बड़ी मुश्किल में पड़े। चाहते थे कि किसी भाँति लेट जायँ, पर वहाँ पैर हिलाने की भी जगह न थी। लखनऊ तक तो उन्होंने किसी तरह जब्त किया। आगे चल कर विवश हो गये। एक स्टेशन पर उतर पड़े। प्लेटफार्म पर लेट गये। पत्नी भी घबरायी। बच्चों को लेकर उतर पड़ी। असबाब उतारा परंतु जल्दी में ट्रंक उतारना भूल गयी। गाड़ी चल दी। दारोगा जी ने अपने मित्र को इस दशा में देखा तो वह भी उतर पड़े। समझ गये कि हजरत आज ज्यादा चढ़ा गये। देखा तो मुंशी जी की दशा बिगड़ गयी थी। ज्वर, पेट में दर्द, नसों में तनाव, कै और दस्त। बड़ा खटका हुआ। स्टेशन मास्टर ने यह हाल देखा तो समझे हैजा हो गया है। हुक्म दिया, रोगी को अभी बाहर ले जाओ। विवश होकर लोग मुंशी जी को एक पेड़ के नीचे उठा लाये। उनकी पत्नी रोने लगी। हकीम-डॉक्टर की तलाश हुई। पता लगा कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तरफ से वहाँ एक छोटा-सा अस्पताल है। लोगों की जान में जान आयी। किसी से यह भी मालूम हुआ कि डॉक्टर साहब बिल्हौर के रहने वाले हैं। ढाढ़स बँधा। दारोगा जी अस्पताल दौड़े। डॉक्टर साहब से समाचार कह सुनाया और कहा—आप चल कर जरा उन्हें देख तो लीजिए।

डॉक्टर का नाम था चोखेलाल। कम्पौंडर थे, लोग आदर से डॉक्टर कहा करते थे। सब वृत्तांत सुन कर रुखाई से बोले—सबेरे के समय मुझे बाहर जाने की आज्ञा नहीं है।

दारोगा—तो क्या मुंशी जी को यहीं लावें ?

चोखेलाल—हाँ, आपका जी चाहे लाइए।

दारोगा जी ने दौड़-धूप कर एक डोली का प्रबंध किया। मुंशी जी को लाद कर अस्पताल लाये। ज्योंही बरामदे में पैर रखा चोखेलाल ने डाँट कर कहा—हैजे (विसूचिका) के रोगी को ऊपर लाने की आज्ञा नहीं है।

बैजनाथ अचेत तो थे नहीं, आवाज सुनी, पहचाना, धीरे से बोले—अरे यह तो बिल्हौर ही के हैं—भला-सा नाम है। तहसील में आया-जाया करते हैं। क्यों महाशय। मुझे पहचानते हैं ?

चोखेलाल—जी हाँ, खूब पहचानता हूँ।

बैजनाथ—पहचान कर भी इतनी निठुरता। मेरी जान निकल रही है। जरा देखिए, मुझे क्या हो गया ?

चोखे—हाँ, यह सब कर दूँगा और मेरा काम ही क्या ? फीस ?

दारोगा जी—अस्पताल में कैसी फीस जनाबेमन।

चोखे—वैसे ही जैसी इन मुंशी जी ने मुझसे वसूल की थी जनाबेमन।

दारोगा जी—आप कहते हैं, मेरी समझ में नहीं आता।

चोखे—मेरा घर बिल्हौर में है। वहाँ मेरी थोड़ी-सी जमीन है। साल में दो बार उसकी देखभाल को जाना पड़ता है। जब तहसील में लगान जमा करने जाता हूँ मुंशी जी डाँटकर अपना हक वसूल कर लेते हैं। न दूँ तो शाम तक खड़ा रहना पड़े। स्याहा न हो। फिर जनाब कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। मेरी फीस दस रुपये निकालिए। देखूँ, दवा दूँ तो अपनी राह लीजिए।

दारोगा—दस रुपये !!

चोखे—जी हाँ, और यहाँ ठहरना चाहें तो दस रुपये रोज़।

दारोगा जी विवश हो गये। बैजनाथ की स्त्री से रुपये माँगे। तब उसे अपने बक्स की याद आयी। छाती पीट ली। दारोगा जी के पास भी अधिक रुपये नहीं थे, किसी तरह दस रुपयें निकालकर चोखेलाल को दिये—उन्होंने दवा दी। दिन भर कुछ फायदा न हुआ। रात को दशा सँभली। दूसरे दिन फिर दवा की आवश्यकता हुई। मुंशियाइन का एक गहना जो बीस रुपये से कम का न था बाजार में बेचा गया तब काम चला। शाम तक मुंशी जी चंगे हुए। रात को गाड़ी पर बैठ कर खूब गालियाँ दीं।

श्री अयोध्या जी में पहुँच कर स्थान की खोज हुई। पंडों के घर जगह न थी। घर-घर में आदमी भरे हुए थे। सारी बस्ती छान मारी पर कहीं ठिकाना न मिला। अंत में यह निश्चय हुआ कि किसी पेड़ के नीचे डेरा जमाना चाहिए। किन्तु जिस पेड़ के नीचे जाते थे वहीं यात्री पड़े मिलते। खुले मैदान में, रेत पर पड़े रहने के सिवा और कोई उपाय न था। एक स्वच्छ स्थान देखकर बिस्तरे बिछाये और लेटे। इतने में बादल घिर आये। बूँदें गिरने लगीं। बिजली चमकने लगी। गरज से कान के परदे फटे जाते थे। लड़के रोते थे। स्त्रियों के कलेजे काँप रहे थे। अब यहाँ ठहरना दुस्सह था, पर जायें कहाँ।

अकस्मात् एक मनुष्य नदी की तरफ से लालटेन लिये आता हुआ दिखायी दिया—वह निकट पहुँच गया तो पंडित जी ने उसे देखा। आकृति कुछ पहचानी हुई मालूम हुई किंतु यह विचार न आया कि कहाँ देखा है। पास जाकर बोले—क्यों भाई साहब, यहाँ यात्रियों के ठहरने के लिए जगह न मिलेगी ? वह मनुष्य रुक गया। पंडित जी की ओर

ध्यान से देखकर बोला—आप पंडित चन्द्रधर तो नहीं हैं ?

पंडित जी प्रसन्न हो कर बोले—जी हाँ। आप मुझे कैसे जानते हैं ?

उस मनुष्य ने सादर पंडित जी के चरण छुए और बोला—मैं आपका पुराना शिष्य हूँ। मेरा नाम कृपाशंकर है। मेरे पिता कुछ दिनों बिल्हौर में डाक-मुंशी रहे थे। उन्हीं दिनों मैं आपकी सेवा में पढ़ता था।

पंडित जी की स्मृति जागी, बोले—ओहो तुम्हीं हो कृपाशंकर ! तब तो तुम दुबले-पतले लड़के थे कोई आठ-नौ साल हुए होंगे।

कृपा—जी हाँ, नवाँ साल था। मैंने वहाँ से आ कर इन्ट्रेंस पास किया, अब यहाँ म्युनिसिपिल्टी में नौकर हूँ। कहिए आप तो अच्छी तरह रहे। सौभाग्य था कि आपके दर्शन हो गये।

पंडित—मुझे भी तुमसे मिल कर बड़ा आनंद हुआ। तुम्हारे पिता अब कहाँ हैं?

कृपा—उनका तो देहांत हो गया। माता साथ हैं। आप यहां कब आये।

पंडित—आज ही आया हूँ। पंडों के घर जगह न मिली। विवश हो कर यहीं रात काटने की ठानी।

कृपा—बाल-बच्चे भी साथ हैं ?

पंडित—नहीं, मैं तो अकेले ही आया हूँ। पर मेरे साथ दरोगा जी और सियाहेनवीस साहब हैं—उनके बाल-बच्चे भी साथ हैं।

कृपा—कुल कितने मनुष्य होंगे ?

पंडित जी—हैं तो दस किन्तु थोड़ी-सी जगह में निर्वाह कर लेंगे।

कृपा—नहीं साहब, बहुत-सी जगह लीजिए। मेरा बड़ा मकान खाली पड़ा है। चलिए, आराम से एक, दो, तीन दिन रहिए। मेरा परम सौभाग्य है कि आपकी कुछ सेवा करने का अवसर मिला।

कृपाशंकर ने कई कुली बुलाये। असबाब उठवाया और सबको अपने मकान पर ले गया। साफ-सुथरा घर था। नौकर ने चटपट चारपाइयाँ बिछा दीं। घर में पूरिया पकने लगीं। कृपाशंकर हाथ बाँधे सेवक की भाँति दौड़ता था। हृदयोल्लास से उसका मुख-कमल चमक रहा था। उसकी विनय और नम्रता ने सबको मुग्ध कर लिया।

और सब लोग तो खा-पी कर सोये। किंतु पंडित चंद्रधर को नींद नहीं आयी। उनकी विचार शक्ति इस यात्रा की घटनाओं का उल्लेख कर रही थी। रेलगाड़ी की रगड़-झगड़ और चिकित्सालय की नोच-खसोट के सम्मुख कृपाशंकर की सहायता और शालीनता प्रकाशमय दिखायी देती थी।

पंडित जी ने आज शिक्षक का गौरव समझा।

उन्हें आज इस पद की महानता ज्ञात हुई।

यह लोग तीन दिन अयोध्या रहे। किसी बात का कष्ट न हुआ। कृपाशंकर ने उनके साथ जा कर प्रत्येक धाम का दर्शन कराया।

तीसरे दिन जब लोग चलने लगे तो वह स्टेशन तक पहुँचाने आया। जब गाड़ी ने सीटी दी तो उसने सजल नेत्रों से पंडित जी के चरण छुए और बोला, कभी-कभी इस सेवक को याद करते रहिएगा।

पंडित जी घर पहुँचे तो उनके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन हो गया था। उन्होंने फिर किसी दूसरे विभाग में जाने की चेष्टा नहीं की।

[हिन्दी कहानी। प्रथम संस्करण अज्ञात। 'प्रेम पूर्णिमा' (हिन्दी कहानी संग्रह), प्रथम संसकरण, 1918 में पहली बार संकलित-प्रकाशित। बाद में 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। उर्दू रूप 'इबरत' शीर्षक से उर्दू कहानी संग्रह 'ख़्वाबोख़याल' में संकलित।]

सच्चाई का उपहार

तहसीली मदरसा बराँव के प्रथमाध्यापक मुंशी भवानीसहाय को बागवानी का कुछ व्यसन था। क्यारियों में भाँति-भाँति के फूल और पत्तियाँ लगा रखी थीं। दरवाजों पर लताएँ चढ़ा दी थीं। इससे मदरसे की शोभा अधिक हो गयी थी। वह मिडिल कक्षा के लड़कों से भी अपने बगीचे के सींचने और साफ करने में मदद लिया करते थे। अधिकांश लड़के इस काम को रुचिपूर्वक करते। इससे उनका मनोरंजन होता था किंतु दरजे में चार-पाँच लड़के जमींदारों के थे। उनमें कुछ ऐसी दुर्जनता थी कि यह मनोरंजक कार्य भी उन्हें बेगार प्रतीत होता। उन्होंने बाल्यकाल से आलस्य में जीवन व्यतीत किया था। अमीरी का झूठा अभिमान दिल में भरा हुआ था। वह हाथ से कोई काम करना निंदा की बात समझते थे। उन्हें इस बगीचे से घृणा थी। जब उनके काम करने की बारी आती तो कोई-न-कोई बहाना करके उड़ जाते। इतना ही नहीं, दूसरे लड़कों को भी बहकाते और कहते वाह ! पढ़ें फारसी, बेचें तेल ! यदि खुरपी, कुदाल ही करना है तो मदरसे में किताबों से सिर मारने की क्या जरूरत ? यहाँ पढ़ने आते हैं, कुछ मजदूरी करने नहीं आते। मुंशी जी इस अवज्ञा के लिए उन्हें कभी-कभी दंड दे देते थे। इससे उनका द्वेष और भी बढ़ता था। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि एक दिन उन लड़कों ने सलाह करके उस पुष्प-वाटिका को विध्वंस करने का निश्चय किया। दस बजे मदरसा लगता था, किंतु उस दिन वह आठ ही बजे आ गये, और बगीचे में घुस कर उसे उजाड़ने लगे। कहीं पौधे उखाड़ फेंके, कहीं क्यारियों को रौंद डाला, पानी की नालियाँ तोड़ डालीं, क्यारियों की मेड़ें खोद डालीं। मारे भय के छाती धड़क रही थी कि कोई देखता न हो। लेकिन एक छोटी-सी फुलवारी को उजाड़ते कितने देर लगती है। दस मिनिट में हरा-भरा बाग नष्ट हो गया। तब यह लड़के शीघ्रता से निकले, लेकिन दरवाजे तक आये थे कि उन्हें अपने एक सहपाठी की सूरत दिखायी दी। यह एक दुबला-पतला दरिद्र और चतुर लड़का था। उसका नाम बाजबहादुर था। बड़ा गम्भीर, शांत लड़का था। ऊधम पार्टी के लड़के उससे जलते थे। उसे देखते ही उनका रक्त सूख गया। विश्वास हो गया कि इसने जरूर देख लिया। यह मुंशी जी से कहे बिना न रहेगा। बुरे फँसे, आज कुशल नहीं है। यह राक्षस इस समय यहाँ क्या करने आया था। आपस में इशारे हुए। यह सलाह हुई कि इसे मिला लेना चाहिए। जगत् सिंह उनका मुखिया था। आगे बढ़कर बोला; बाजबहादुर ! सबेरे कैसे आ गये ? हमने तो आज तुम लोगों के गले की फाँसी छुड़ा दी। लाला बहुत दिक किया करते थे, यह करो, वह करो। मगर यार देखो कहीं मुंशी जी से जड़ मत देना, नहीं तो लेने के देने पड़ जायँगे।

जयराम ने कहा—कह क्या देंगे, अपने ही तो हैं, हमने जो कुछ किया है। वह सबके लिए किया है, केवल अपनी भलाई के लिए नहीं। चलो यार तुम्हें बाजार की सैर करा दें, मुँह, मीठा करा दें।

बाजबहादुर ने कहा—नहीं, मुझे आज घर पर पाठ याद करने का अवकाश नहीं मिला। यहीं बैठ कर पढूँगा !

जगतसिंह—अच्छा मुंशी जी से कहोगे तो न ?

बाजबहादुर—मैं स्वयं कुछ न कहूँगा, लेकिन उन्होंने मुझसे पूछा तो ?

जगतसिंह—कह देना मुझे नहीं मालूम।

बाजबहादुर—यह झूठ मुझसे न बोला जायगा।

जयराम—अगर तुमने चुगली खायी और हमारे ऊपर मार पड़ी तो हम तुम्हें पीटे बिना न छोड़ेंगे।

बाजबहादुर—हमने कह दिया कि चुगली न खायेंगे लेकिन मुंशी जी ने पूछा तो झूठ भी न बोलेंगे।

जयराम—तो हम तुम्हारी हड्डियाँ भी तोड़ देंगे।

बाजबहादुर—इसका तुम्हें अधिकार है।

2

दस बजे जब मदरसा लगा और मुंशी भवानीसहाय ने बाग की यह दुर्दशा देखी तो क्रोध से आग हो गये। बाग के उजड़ने का इतना खेद न था जितना लड़कों की शरारत का। यदि किसी साँड़ ने यह दुष्कृत्य किया होता तो वह केवल हाथ मल कर रह जाते। किंतु लड़कों के इस अत्याचार को सहन न कर सके। ज्यों ही लड़के दरजे में बैठ गये, वह तेवर बदले हुए आये और पूछा—यह बाग किसने उजाड़ा है ?

कमरे में सन्नाटा छा गया। अपराधियों के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। मिडिल कक्षा के पच्चीस विद्यार्थियों में कोई ऐसा न था जो इस घटना को न जानता हो किंतु किसी में यह साहस न था कि उठ कर साफ-साफ कह दे। सब सिर झुकाये मौन धारण किये बैठे थे।

मुंशी जी का क्रोध और भी प्रचंड हुआ। चिल्ला कर बोले—मुझे विश्वास है कि तुम्हीं लोगों में किसी की शरारत है। जिसे मालूम हो स्पष्ट कह दे, नहीं तो मैं एक सिरे से पीटना शुरू करूँगा। फिर कोई यह न कहे कि हम निरपराध मारे गये।

एक लड़का भी न बोला। वही सन्नाटा !

मुंशी—देवीप्रसाद तुम जानते हो ?

देवी—जी नहीं, मुझे कुछ नहीं मालूम।

'शिवदास तुम जानते हो ?'

'जी नहीं, मुझे कुछ नहीं मालूम।'

'बाजबहादुर तुम कभी झूठ नहीं बोलते, तुम्हें मालूम है ?'

बाजबहादुर खड़ा हो गया, उसके मुख-मंडल पर वीरत्व का प्रकाश था। नेत्रों में साहस झलक रहा था। बोला—जी हाँ ! मुंशी जी ने कहा—शाबाश !

अपराधियों ने बाजबहादुर की ओर रक्त-वर्ण आँखों से देखा और मन में कहा-अच्छा!

3

भवानीसहाय बड़े धैर्यवान मनुष्य थे। यथाशक्ति लड़कों को यातना नहीं देते थे। किन्तु ऐसी दुष्टता का दंड देने में वह लेशमात्र भी दया न दिखाते थे। छड़ी मँगा कर पाँचों अपराधियों को दस-दस छड़ियाँ लगायीं, सारे दिन बेंच पर खड़ा रखा और चाल-चलन के रजिस्टर में उनके नाम के सामने काले चिह्न बना दिये।

बाजबहादुर से शरारत पार्टी वाले लड़के यों ही जला करते थे, आज उसकी सच्चाई के कारण उसके खून के प्यासे हो गये। यंत्रणा में सहानुभूति पैदा करने की शक्ति होती है। इस समय दरजे के अधिकांश लड़के अपराधियों के मित्र हो रहे थे। उनमें षड्यंत्र रचा जाने लगा कि आज बाजबहादुर की खबर ली जाय। ऐसा मारो कि फिर मदरसे में मुँह न दिखावे। यह हमारे घर का भेदी है। दगाबाज ! बड़ा सच्चे की दुम बना है ! आज सचाई का हाल मालूम हो जायगा ! बेचारे बाजबहादुर को इस गुप्त-लीला की जरा भी खबर न थी। विद्रोहियों ने उसे अंधकार में रखने का पूरा यत्न किया था।

छुट्टी होने के बाद बाजबहादुर घर की तरफ चला। रास्ते में एक अमरूद का बाग था। वहाँ जगतसिंह और जयराम कई लड़कों के साथ खड़े थे। बाजबहादुर चौंका, समझ गया कि यह लोग मुझे छेड़ने पर उतारू हैं, किंतु बचने का कोई उपाय न था। कुछ हिचकता हुआ आगे बढ़ा। जगतसिंह बोला—आओ लाला ! बहुत राह दिखायी। आओ सच्चाई का इनाम लेते जाओ।

बाजबहादुर—रास्ते से हट जाओ, मुझे जाने दो।

जयराम—ज़रा सचाई का मजा तो चखते जाइए।

बाजबहादुर—मैंने तुमसे कह दिया था कि जब मेरा नाम ले कर पूछेंगे तो मैं बता दूँगा।

जयराम—हमने भी तो कह दिया था कि तुम्हें इस काम का इनाम दिये बिना न छोड़ेंगे।

यह कहते ही वह बाजबहादुर की तरफ घूँसा तान कर बढ़ा। जगतसिंह ने उसके दोनों हाथ पकड़ने चाहे। जयराम का छोटा भाई शिवराम अमरूद की एक टहनी लेकर झपटा। शेष लड़के चारों तरफ खड़े हो कर तमाशा देखने लगे। यह 'रिजर्व' सेना थी जो आवश्यकता पड़ने पर मित्रदल की सहायता के लिए तैयार थी। बाजबहादुर दुर्बल लड़का था। उसकी मरम्मत करने को वह तीन मजबूत लड़के काफी थे। सब लोग यही समझ रहे थे कि क्षण भर में यह तीनों उसे गिरा लेंगे। बाजबहादुर ने जब देखा कि शत्रुओं ने शस्त्र-प्रहार करना शुरू कर दिया तो उसने कनखियों से इधर-उधर देखा, तब तेजी से झपट कर शिवराम के हाथ से अमरूद की टहनी छीन ली, और दो कदम पीछे हट कर टहनी ताने हुए बोला—तुम मुझे सच्चाई का इनाम या सजा देने वाले कौन होते हो ?

दोनों ओर से दाँव-पेंच होने लगे। बाजबहादुर था तो कमजोर, पर अत्यंत चपल और सतर्क, उस पर सत्य का विश्वास हृदय को और भी बलवान बनाये हुए था। सत्य चाहे सिर कटा दे, लेकिन कदम पीछे नहीं हटाता। कई मिनट तक बाजबहादुर उछल-उछल कर वार

करता और हटाता रहा। लेकिन अमरूद की टहनी कहाँ तक थाम सकती। जरा देर में उसकी धज्जियाँ उड़ गयीं। जब तक वह उसके हाथ में तलवार रही कोई उसके निकट आने की हिम्मत न करता था। निहत्था होने पर वह ठोकरों और घूँसों से जवाब देता रहा। मगर अंत में अधिक संख्या ने वियज पायी। वाजबहादुर की पसली में शिवराम का एक घूँसा ऐसा पड़ा कि वह बेदम होकर गिर पड़ा। आँखें पथरा गयीं; और मूर्छा-सी आ गयी। शत्रुओं ने यह दशा देखी तो उनके हाथों के तोते उड़ गये। समझे इसकी जान निकल गयी। बेतहाशा भागे।

कोई दस मिनिट के पीछे बाजबहादुर सचेत हुआ। कलेजे पर चोट लग गयी। घाव ओछा पड़ा था, तिस पर भी खड़े होने की शक्ति न थी। साहस करके उठा और लँगड़ाता हुआ घर की ओर चला।

उधर यह विजय दल भागते-भागते जयराम के मकान पर पहुँचा। रास्ते ही में सारा दल तितर-बितर हो गया। कोई इधर से निकल भागा, कोई उधर से, कठिन समस्या आ पड़ी थी। जयराम के घर तक केवल तीन सुदृढ़ लड़के पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उनकी जान में जान आयी :

जयराम—कहीं मर न गया हो। मेरा घूँसा बैठ गया था।

जगतसिंह—तुम्हें पसली में नहीं मारना था। अगर तिल्ली फट गयी होगी तो न बचेगा !

जयराम—यार मैंने जान के थोड़े ही मारा था। संयोग ही था। अब बताओ क्या किया जाय ?

जगत—करना क्या है, चुपचाप बैठे रहो।

जयराम—कहीं मैं अकेला तो न फँसूँगा ?

जगत—अकेले कौन फँसेगा, सबके साथ चलेंगे।

जयराम—अगर बाजबहादुर मरा नहीं है तो उठ कर सीधे मुंशी जी के पास जायगा।

जगत—और मुंशी जी कल हम लोगों की खाल अवश्य उधेड़ेंगे।

जयराम—इसलिए मेरी सलाह है कि कल मदरसे जाओ ही नहीं। नाम कटा के दूसरी जगह चले चलें। नहीं तो बीमारी का बहाना करके बैठे रह। महीने-दो-महीने के बाद जब मामला ठंडा पड़ जायगा तो देखा जायगा।

शिवराम—और जो परीक्षा होने वाली है।

जयराम—ओ हो ! इसका तो खयाल ही न था। एक ही महीना तो और रह गया है।

जगत—तुम्हें अबकी जरूर वजीफ़ा मिलता।

जयराम—हाँ, मैंने बहुत परिश्रम किया था। तो फिर ?

जगत—कुछ नहीं तरक्की तो हो ही जायगी। वज़ीफे से हाथ धोना पड़ेगा ?

जयराम—बाजबहादुर के हाथ लग जायगा।

जगत—बहुत अच्छा होगा ! बेचारे ने मार भी तो खायी है।

दूसरे दिन मदरसा लगा। जगतसिंह, जयराम और शिवराम तीनों ग़ायब थे। वली मुहम्मद पैर में पट्टी बाँधे आये थे, लेकिन भय के मारे बुरा हाल था। कल के दर्शकगण भी थरथरा रहे थे कि कहीं हम लोग भी गेहूँ के साथ घुन की तरह न पिस जायँ। बाजबहादुर नियमानुसार अपने काम में लगा हुआ था। ऐसा मालूम होता था मानो उसे कल की बातें

याद ही नहीं हैं। किसी से उनकी चर्चा न की। हाँ, आज वह अपने स्वभाव के प्रतिकूल कुछ प्रसन्नचित्त देख पड़ता था। विशेषतः कल के योद्धाओं से वह अधिक हिलामिला हुआ था। वह चाहता था कि यह लोग मेरी ओर से निःशंक हो जायँ। रात भर की विवेचना के पश्चात् उसने यही निश्चय किया था और जब संध्या समय वह घर चला तो उसे अपनी उदारता का फल मिल चुका था। उसके शत्रु लज्जित थे और उसकी प्रशंसा करते थे।

मगर वह तीनों अपराधी दूसरे दिन भी न आये। तीसरे दिन भी उनका कहीं पता न था। वह घर से मदरसे को चलते लेकिन देहात की तरफ निकल जाते। वहाँ दिन भर किसी वृक्ष के नीचे बैठे रहते, अथवा गुल्ली डंडे खेलते। शाम को घर चले आते।

उन्होंने यह पता तो लगा लिया था कि इस समर के अन्य सभी योद्धागण मदरसे आते हैं और मुंशी जी उनसे कुछ नहीं बोलते, किन्तु चित्त से शंका दूर न होती थी। बाजबहादुर ने ज़रूर कहा होगा। हम लोगों के जाने की देर है। गये और बेभाव की पड़ी। यही सोच कर मदरसे आने का साहस न कर सकते।

5

चौथे दिन प्रातःकाल तीनों अपराधी बैठे सोच रहे थे कि आज किधर चलना चाहिए। इतने में बाजबहादुर आता हुआ दिखायी दिया। इन लोगों को आश्चर्य तो हुआ परंतु उसे अपने द्वार पर आते देख कर कुछ आशा बँध गयी। यह लोग अभी बोलने भी न पाये थे कि बाजबहादुर ने कहा—क्यों मित्रो, तुम लोग मदरसे क्यों नहीं आते ? तीन दिन से ग़ैरहाज़िरी हो रही है।

जगत—मदरसे क्या जायँ, जान भारी पड़ी है ? मुंशी जी एक हड्डी भी न छोड़ेंगे।

बाजबहादुर—क्यों, वलीमुहम्मद, दुर्गा, सभी तो जाते हैं, मुंशी जी ने किसी से भी कुछ कहा ?

जयराम—तुमने उन लोगों को छोड़ दिया होगा, लेकिन हमें भला तुम क्यों छोड़ने लगे। तुमने एक-एक की तीन-तीन जड़ी होगी।

बाज बहादुर—आज मदरसे चल कर इसकी परीक्षा ही कर लो।

जगत—यह झाँसे रहने दीजिए। हमें पिटवाने की चाल है।

बाज बहादुर—तो मैं कहीं भागा तो नहीं जाता ? उस दिन सच्चाई की सज़ा दी थी, आज झूठ का इनाम दे देना।

जयराम—सच कहते हो तुमने शिकायत नहीं की।

बाज बहादुर -शिकायत की कौन बात थी। तुमने मुझे मारा, मैंने तुम्हें मारा। अगर तुम्हारा घूँसा न पड़ता तो मैं तुम लोगों को रणक्षेत्र से भगा कर दम लेता। आपस के झगड़ों की शिकायत करने की मेरी आदत नहीं है।

जगत—चलूँ तो यार लेकिन विश्वास नहीं आता ! तुम हमें झाँसे दे रहे हो, कचूमर निकलवा लोगे।

बाज बहादुर—तुम जानते हो झूठ बोलने की मेरी बान नहीं है !

यह शब्द बाजबहादुर ने ऐसी विश्वासोत्पादक रीति से कहे कि उन लोगों का भ्रम दूर हो गया ! बाजबहादुर के चले आने के पश्चात् तीनों देर तक उसकी बातों की विवेचना

करते रहे। अंत में यही निश्चय हुआ कि आज चलना चाहिए !

ठीक दस बजे तीनों मित्र मदरसे पहुँच गये, किन्तु चित्त में आशंकित थे ! चेहरे का रंग उड़ा हुआ था।

मुंशी जी कमरे में आये। लड़कों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया, उन्होंने तीनों मित्रों की ओर तीव्र दृष्टि से देख कर केवल इतना कहा—तुम लोग तीन दिन से गैरहाज़िर हो। देखो दरजे में जो इम्तहानी सवाल हुए हैं उन्हें नकल कर लो।

फिर पढ़ने में मग्न हो गये !

6

जब पानी पीने के लिए लड़कों को आध घंटे का अवकाश मिला तो तीनों मित्र और उनके सहयोगी जमा होकर बातें करने लगे।

जयराम—हम तो जान पर खेल कर मदरसे आते थे, मगर बाजबहादुर है बात का धनी।

नतीमुहम्मद—मुझे तो ऐसा मालूम होता है वह आदमी नहीं देवता है। यह आँखों देखी बात न होती तो मुझे कभी इस पर विश्वास न आता।

जगत—भलमनसी इसी को कहते हैं। हमसे बड़ी भूल हुई कि उसके साथ ऐसा अन्याय किया।

दुर्गा—चलो उससे क्षमा माँगें।

जयराम—हाँ, यह तुम्हें खूब सूझी। आज ही।

जब मदरसा बंद हुआ तो दरजे के सब लड़के मिलकर बाजबहादुर के पास गये। जगतसिंह उनका नेता बन कर बोला, भाई साहेब ! हम सब-के-सब तुम्हारे अपराधी हैं। तुम्हारे साथ हम लोगों ने जो अत्याचार किया है उस पर हम हृदय से लज्जित हैं। हमारा अपराध क्षमा करो। तुम सज्जनता की मूर्ति हो, हम लोग उजड्ड, गँवार और मूर्ख हैं; हमें अब क्षमा प्रदान करो।

बाजबहादुर की आँखों में आँसू भर आये—बोला, मैं पहले भी तुम लोगों को अपना भाई समझता था और अब भी वही समझता हूँ। भाइयों के झगड़े में क्षमा कैसी?

सब-के-सब उसके गले मिले। इसकी चर्चा सारे मदरसे में फैल गयी। सारा मदरसा बाजबहादुर की पूजा करने लगा। वह अपने मदरसे का मुखिया, नेता और सिरमौर बन गया।

पहले उसे सच्चाई का दंड मिला, अबकी सच्चाइ का उपहार मिला।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन अज्ञात। 'प्रेम पूर्णिमा' (हिन्दी कहानी संग्रह), प्रथम संस्करण, 1918 में पहली बार संकलित-प्रकाशित। बाद में 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

बैंक का दिवाला

लखनऊ नेशनल-बैंक के दफ्तर में लाला साईंदास आरामकुर्सी पर लेटे हुए शेयरों का भाव देख रहे थे और सोच रहे थे कि इस बार हिस्सेदारों को मुनाफा कहाँ से दिया जायगा। चाय,

कोयला या जूट के हिस्से खरीदने, चाँदी, सोने या रुई का सट्टा करने का इरादा करते; लेकिन नुकसान के भय से कुछ तय न कर पाते थे। नाज के व्यापार में इस बार बड़ा घाटा रहा; हिस्सेदारों के ढाढ़स के लिए हानि-लाभ का कल्पित ब्योरा दिखाना पड़ा और नफ़ा पूँजी से देना पड़ा। इससे फिर नाज के व्यापार में हाथ डालते जी काँपता था।

पर रुपये को बेकार डाल रखना असम्भव था। दो-एक दिन में उसे कहीं न कहीं लगाने का उचित उपाय करना जरूरी था; क्योंकि डाइरेक्टरों की तिमाही बैठक एक ही सप्ताह में होने वाली थी। और यदि उस समय कोई निश्चय ही न हुआ, तो आगे तीन महीने तक फिर कुछ न हो सकेगा, और छमाही मुनाफे के बँटवारे के समय फिर वही फरजी कार्रवाई करनी पड़ेगी, जिसको बार-बार सहन करना बैंक के लिए कठिन है। बहुत देर तक इस उलझन में पड़े रहने के बाद साईदास ने घंटी बजायी। इस पर बगल के दूसरे कमरे से एक बंगाली बाबू ने सिर निकाल कर झाँका।

साईदास–ताजा-स्टील कम्पनी को एक पत्र लिख दीजिए कि अपना नया बैलेंस शीट भेज दें।

बाबू–उन लोगों को रुपया का गरज नहीं। चिट्ठी का जवाब नहीं देता।

साईदास–अच्छा; नागपुर की स्वदेशी मिल को लिखिए।

बाबू–उसका कारोबार अच्छा नहीं है। अभी उसके मजदूरों ने हड़ताल किया था। दो महीना तक मिल बंद रहा।

साईदास–अजी, तो कहीं लिखो भी ! तुम्हारी समझ में सारी दुनिया बेईमानों से भरी है।

बाबू–बाबा, लिखने को तो हम सब जगह लिख दें; मगर खाली लिख देने से तो कुछ लाभ नहीं होता।

लाला साईदास अपनी कुल-प्रतिष्ठा और मर्यादा के कारण बैंक के मैनेजिंग डाइरेक्टर हो गये थे पर व्यावहारिक बातों से अपरिचित थे। यही बंगाली बाबू इनके सलाहकार थे और बाबू साहब को किसी कारखाने या कम्पनी पर भरोसा न था। इन्हीं के अंधविश्वास के कारण पिछले साल बैंक का रुपया संदूक से बाहर न निकल सका था, और अब वही रंग फिर दिखायी देता था। साईदास को इस कठिनाई से बचने का कोई उपाय न सूझता था। न इतनी हिम्मत थी कि अपने भरोसे किसी व्यापार में हाथ डालें। बेचैनी की दशा में उठ कर कमरे में टहलने लगे कि दरबान ने आ कर खबर दी–बरहल की महारानी की सवारी आयी है।

2

लाला साईदास चौंक पड़े। बरहल की महारानी को लखनऊ आये तीन-चार दिन हुए थे और हर एक के मुँह से उन्हीं की चर्चा सुनायी देती थी। कोई उनके पहनावे पर मुग्ध था, कोई सुंदरता पर, कोई उनकी स्वच्छंद वृत्ति पर। यहां तक कि उनकी दासियाँ और सिपाही आदि भी लोगों की चर्चा के पात्र बने हुए थे। रायल होटल के द्वार पर दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। कितने ही शौकीन, बेफिक्रे लोग, इतर-फरोश, बजाज या तम्बाकूगर का वेश धर कर उनका दर्शन कर चुके थे। जिधर से महारानी की सवारी निकल जाती, दर्शकों से ठट

लग जाते थे। वाह-वाह, क्या शान है ! ऐसी इराकी जोड़ी लाट साहब के सिवा किसी राजा-रईस के यहाँ तो शायद ही निकले, और सजावट भी क्या खूब है ! भई, ऐसे गोरे आदमी तो यहाँ भी दिखायी नहीं देते। यहाँ के रईस तो मृगांक, चंद्रोदय, और ईश्वर जाने, क्या-क्या खाक-बला खाते हैं, पर किसी के बदन पर तेज या प्रकाश का नाम नहीं। ये लोग न जाने क्या भोजन करते और किस कुएँ का पानी पीते हैं कि जिसे देखिए, ताजा सेव बना हुआ है। यह सब जलवायु का प्रभाव है।

बरहल उत्तर दिशा में नेपाल के समीप, अँगरेजी-राज्य में एक रियासत थी। यद्यपि जनता उसे बहुत मालदार समझती थी; पर वास्तव में उस रियासत की आमदनी दो लाख से अधिक न थी। हाँ, क्षेत्रफल बहुत विस्तृत था। बहुत भूमि ऊसर और उजाड़ थी। बसा हुआ भाग भी पहाड़ी और बंजर था। जमीन बहुत सस्ती उठती थी।

लाला साईदास ने तुरन्त अलगनी से रेशमी सूट उतार कर पहन लिया और मेज़ पर आ कर शान से बैठ गये, मानो राजा-रानियों का यहाँ आना कोई साधारण बात है। दफ्तर के क्लर्क भी सँभल गये। सारे बैंक में सन्नाटे की हलचल पैदा हो गयी। दरबान ने पगड़ी सँभाली। चौकीदार ने तलवार निकाली, और अपने स्थान पर खड़ा हो गया। पंखा-कुली की मीठी नींद भी टूटी और बंगाली बाबू महारानी के स्वागत के लिए दफ्तर से बाहर निकले।

साईदास ने बाहरी ठाट तो बना लिया, किंतु चित्त आशा और भय से चंचल हो रहा था। एक रानी से व्यवहार करने का यह पहला ही अवसर था; घबराते थे कि बात करते बने या न बने। रईसों का मिजाज आसमान पर होता है। मालूम नहीं, मैं बात करने में कहीं चूक जाऊँ। उन्हें इस समय अपने में एक कमी मालूम हो रही थी। वह राजसी नियमों से अनभिज्ञ थे। उनका सम्मान किस प्रकार करना चाहिए, उनसे बातें करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। उनकी मर्यादा-रक्षा के लिए कितनी नम्रता उचित है, इस प्रकार के प्रश्न से वह बड़े असमंजस में पड़े हुए थे, और जी चाहता था किसी तरह परीक्षा से शीघ्र ही छुटकारा हो जाय। व्यापारियों, मामूली जमींदारों या रईसों से वह रुखाई और सफाई का बर्ताव किया करते थे और पढ़े-लिखे सज्जनों से शील और शिष्टता का। उन अवसरों पर उन्हें किसी विशेष विचार की आवश्यकता न होती थी; पर इस समय बड़ी परेशानी हो रही थी। जैसे कोई लंका-वासी तिब्बत में आ गया हो, जहाँ के रस्म-रिवाज और बातचीत का उसे ज्ञान न हो।

एकाएक उनकी दृष्टि घड़ी पर पड़ी। तीसरे पहर के चार बज चुके थे, परंतु घड़ी अभी दोपहर की नींद में मग्न थी। तारीख की सुई ने दौड़ में समय को भी मात कर दिया था। वह जल्दी से उठे कि घड़ी को ठीक कर दें, इतने में महारानी का कमरे में पदार्पण हुआ। साईदास ने घड़ी को छोड़ा और महारानी के निकट जा बगल में खड़े हो गये। निश्चय न कर सके कि हाथ मिलायें या झुक कर सलाम करें। रानी जी ने स्वयं हाथ बढ़ा कर उन्हें इस उलझन से छुड़ाया।

जब कुर्सियों पर बैठ गये, तो रानी के प्राइवेट सेक्रेटरी ने व्यवहार की बातचीत शुरू की। बरहल की पुरानी गाथा सुनाने के बाद उसने उन उन्नतियों का वर्णन किया, जो रानी साहब के प्रयत्न से हुई थीं। इस समय नहरों की एक शाखा निकालने के लिए दस लाख रुपयों की आवश्यकता थी; परंतु उन्होंने एक हिन्दुस्तानी बैंक से ही व्यवहार करना अच्छा

समझा। अब यह निर्णय नेशनल बैंक के हाथ में था कि वह इस अवसर से लाभ उठाना चाहता है या नहीं।

बंगाली बाबू—हम रुपया दे सकता है, मगर कागज-पत्तर देखे बिना कुछ नहीं कर सकता।

सेक्रेटरी—आप कोई जमानत चाहते हैं।

साईदास उदारता से बोले—महाशय, जमानत के लिए आपकी जबान ही काफी है।

बंगाली बाबू—आपके पास रियासत का कोई हिसाब-किताब है ?

लाला साईंदास को अपने हेडक्लर्क का दुनियादारी का बर्ताव अच्छा न लगता था। वह इस समय उदारता के नशे में चूर थे। महारानी की सूरत ही पक्की जमानत थी। उनक सामने कागज और हिसाब का वर्णन करना बनियापन जान पड़ता था, जिससे अविश्वास की गंध आती है।

महिलाओं के सामने हम शील और संकोच के पुतले बन जाते हैं। साईदास बंगाली बाबू की ओर क्रूर-कठोर दृष्टि से देख कर बोले—कागजों की जॉच कोई आवश्यक बात नहीं है, केवल हमको विश्वास होना चाहिए।

बंगाली बाबू—डाइरेक्टर लोग कभी न मानेगा।

साईंदास—हमको इसकी परवा नहीं, हम अपनी जिम्मेदारी पर रुपये दे सकते हैं।

रानी ने साईंदास की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से देखा। उनके होठों पर हल्की मुस्कराहट दिखलायी पड़ी।

3

परंतु डाइरेक्टरों ने हिसाब-किताब, आय-व्यय देखना आवश्यक समझा, और यह काम लाला साईदास के सिपुर्द हुआ, क्योंकि और किसी को अपने काम से फुर्सत न थी कि वह एक पूरे दफ्तर का मुआयना करता। साईदास ने नियमपालन किया। तीन-चार दिन तक हिसाब जाँचते रहे। तब अपने इतमीनान के अनुकूल रिपोर्ट लिखी। मामला तय हो गया। दस्तावेज़ लिखा गया, रुपये दे दिये गये। नौ रुपये सैकड़े ब्याज ठहरा।

तीन साल तक बैंक के कारोबार में अच्छी उन्नति हुई। छठे महीने बिना कहे-सुने पैंतालिस हजार रुपयों की थैली दफ्तर में आ जाती थी। व्यवहारियों को पाँच रुपये सैकड़े ब्याज दे दिया जाता था। हिस्सेदारों को सात रुपये सैकड़े लाभ था।

साईदास से सब लोग प्रसन्न थे, सब लोग उनकी सूझ-बूझ की प्रशंसा करते। यहाँ तक कि बंगाली बाबू भी धीरे-धीरे उनके कायल होते जाते थे। साईंदास उनसे कहा करते—बाबू जी, विश्वास संसार से न लुप्त हुआ है और न होगा। सत्य पर विश्वास रखना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। जिस मनुष्य के चित्त से विश्वास जाता रहता है उसे मृतक समझना चाहिए। उसे जान पड़ता है, मैं चारों ओर शत्रुओं से घिरा हुआ हूँ। बड़े से बड़े सिद्ध महात्मा भी उसे रंगे-सियार जान पड़ते हैं। सच्चे से सच्चे देश-प्रेमी उसकी दृष्टि में अपनी प्रशंसा के भूखे ही ठहरते हैं। संसार उसे धोखे और छल से परिपूर्ण दिखायी देता है। यहाँ तक कि उसके मन से परमात्मा पर श्रद्धा और भक्ति लुप्त हो जाती है। एक प्रसिद्ध फिलासफर का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य को जब तक कि उसके विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष

प्रमाण न पाओ भलामानस समझो। वर्तमान शासन प्रथा इसी महत्त्वपूर्ण सिद्धांत पर गठित है। और घृणा तो किसी से करनी ही न चाहिए। हमारी आत्माएँ पवित्र हैं। उनसे घृणा करना परमात्मा से घृणा करने के समान हे। मैं यह नहीं कहता हूँ कि संसार में कपट-छल है ही नहीं; है, और बहुत अधिकता से है परंतु उसका निवारण अविश्वास से नहीं मानव चरित्र के ज्ञान से होता है और यह ईश्वरदत्त गुण है। मैं यह दावा तो नहीं करता परंतु मुझे विश्वास है कि मैं मनुष्य को देख कर उसके आंतरिक भावों तक पहुँच जाता हूँ। कोई कितना ही वेश बदले, रंग-रूप सँवारे, परंतु मेरी अंतर्दृष्टि को धोखा नहीं दे सकता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है और अविश्वास से अविश्वास। यह प्राकृतिक नियम है। जिस मनुष्य को आप शुरू से ही धूर्त, कपटी, दुर्जन, समझ लेंगे, वह कभी आपसे निष्कपट व्यवहार न करेगा। वह एकाएक आपको नीचा दिखाने का यत्न करेगा। इसके विपरीत आप एक चोर पर भी भरोसा करें, तो वह आपका दास जो जायेगा। सारे संसार को लूटे परंतु आपको धोखा न देगा। वह कितना ही कुकर्मी, अधर्मी क्यों न हो, पर आप उसके गले में विश्वास की जंजीर डाल कर उसे जिस ओर चाहें, ले जा सकते हैं। यहाँ तक कि वह आपके हाथों पुण्यात्मा भी बन सकता है।

बंगाली बाबू के पास इन दार्शनिक तर्कों का कोई उत्तर न था।

4

चौथे वर्ष की पहली तारीख थी। लाला साईदास बैंक के दफ्तर में बैठे डाकिये की राह देख रहे थे। आज बरहल से पैंतालिस हजार रुपये आवेंगे। अबकी इनका इरादा था कि कुछ सजावट के सामान और मोल ले लें। अब तक बैंक में टेलीफोन नहीं था। उसका भी तखमीना मँगा लिया था। आशा की आभा चेहरे से झलक रही थी। बंगाली बाबू से हँस कर कहते थे—इस तारीख को मेरे हाथों में अदबदा के खुजली होने लगती है। आज भी हथेली खुजला रही है। कभी दफ्तरी से कहते—अरे मियाँ शराफत, जरा सगुन तो विचारो; सिर्फ सूद ही सूद आ रहा है या दफ्तरवालों के लिए नज़राना- शुकराना भी। आशा का प्रभाव कदाचित् स्थान पर भी होता है। बैंक भी आज खुला हुआ दिखायी पड़ता था।

डाकिया ठीक समय पर आया। साईदास ने लापरवाही से उसकी ओर देखा। उसने अपनी थैली से कई रजिस्टरी लिफाफे निकाले। साईदास ने लिफ़ाफों को उड़ती निगाहों से देखा। बरहल का कोई लिफाफा न था। न बीमा, न मुहर, न वह लिखावट। कुछ निराशा-सी हुई। जी में आया, डाकिये से पूछें, कोई रजिस्टरी रह तो नहीं गयी पर रुक गये; दफ्तर के क्लर्कों के सामने इतना अधैर्य अनुचित था। किन्तु जब डाकिया चलने लगा तब उनसे न रहा गया ? पूछ ही बैठे—अरे भाई, कोई बीमा का लिफाफा रह तो नहीं गया ? आज उसे आना चाहिए था। डाकिये ने कहा—सरकार भला ऐसी बात हो सकती है ! और कहीं भूल-चूक चाहे हो भी जाय पर आपके काम में कहीं भूल हो सकती है ?

साईदास का चेहरा उतर गया, जैसे कच्चे रंग पर पानी पड़ जाय। डाकिया चला गया, तो बंगाली बाबू से बोले—यह देर क्यों हुई ? और तो कभी ऐसा न होता था।

बंगाली बाबू ने निष्ठुर भाव से उत्तर दिया—किसी कारण से देर हो गया होगा। घबराने की कोई बात नहीं।

निराशा असम्भव को सम्भव बना देती है। साईदास को इस समय यह ख़्याल हुआ कि कदाचित् पार्सल से रुपये आते हों। हो सकता है, तीन हज़ार अशर्फियों का पार्सल करा दिया हो। यद्यपि इस विचार को औरों पर प्रकट करने का उन्हें साहस न हुआ, पर उन्हें यह आशा उस समय तक बनी रही जब तक पार्सल वाला डाकिया वापस नहीं गया। अंत में संध्या को वह बेचैनी की दशा में उठ कर घर चले गये। अब खत या तार का इंतजार था। दो-तीन बार झुँझला कर उठे, डॉट कर पत्र लिखूँ और साफ-साफ कह दूँ कि लेन-देन के मामले में वादा पूरा न करना विश्वासघात है। एक दिन की देर भी बैंक के लिए घातक हो सकती है। इससे यह होगा कि फिर कभी ऐसी शिकायत करने का अवसर न मिलेगा; परंतु फिर कुछ सोच कर न लिखा।

शाम हो गयी थी, कई मित्र आ गये। गपशप होने लगी। इतने में पोस्टमैन ने शाम की डाक दी। यों वह पहले अखबारों को खोला करते पर आज चिट्ठियाँ खोलीं; किन्तु बरहल का कोई ख़त न था। तब बेदम हो एक अँगरेज़ी अखबार खोला। पहले ही तार का शीर्षक देख कर उनका खून सर्द हो गया। लिखा था—

'कल शाम को बरहल की महारानी जी का तीन दिन की बीमारी के बाद देहांत हो गया।'

इसके आगे एक संक्षिप्त नोट में यह लिखा हुआ था—बरहल की महारानी की अकाल मृत्यु केवल इस रियासत के लिए ही नहीं, किन्तु समस्त प्रांत के लिए शोक-जनक घटना है। बड़े-बड़े भिषगाचार्य (वैद्यराज) अभी रोग की परख भी न कर पाये थे कि मृत्यु ने काम तमाम कर दिया। रानी जी को सदैव अपनी रियासत की उन्नति का ध्यान रहता था। उनके थोड़े-से राज्यकाल में ही उनसे रियासत को जो लाभ हुए हैं, वे चिरकाल तक स्मरण रहेंगे। यद्यपि यह मानी हुई बात थी कि राज्य उनके बाद दूसरे के हाथ जायगा, तथापि यह विचार कभी रानी साहिबा के कर्त्तव्य पालन में बाधक नहीं बना। शास्त्रानुसार उन्हें रियासत की जमानत पर ऋण लेने का अधिकार न था। परंतु प्रजा की भलाई के विचार से उन्हें कई बार इस नियम का उल्लंघन करना पड़ा। हमें विश्वास हे कि यदि वह कुछ दिन और जीवित रहतीं, तो रियासत को ऋण से मुक्त कर देतीं। उन्हें रात-दिन इसका ध्यान रहता था। परंतु इस असामयिक मृत्यु ने अब यह फैसला दूसरों के अधीन कर दिया। देखना चाहिए, इन ऋणों का क्या परिणाम होता है। हमें विश्वस्त रीति से यह मालूम हुआ है कि नये महाराज ने, जो लखनऊ में विराजमान हैं, अपने वकीलों की सम्मति के अनुसार मृतक महारानी के ऋण सम्बन्धी हिसाबों को चुकाने से इन्कार कर दिया है। हमें भय है कि इस निश्चय से महाजनी टोले में बड़ी हलचल पैदा होगी और लखनऊ के कितने ही धन-सम्पत्ति के स्वामियों को यह शिक्षा मिल जायगी कि ब्याज का लोभ कितना अनिष्टकारी होता है।

लाला साईदास ने अखबार मेज पर रख दिया और आकाश की ओर देखा, जो निराशा का अंतिम आश्रय है। अन्य मित्रों ने भी यह समाचार पढ़ा। इन प्रश्न पर वाद-विवाद होने लगा। साईदास पर चारों ओर से बौछार पड़ने लगी। सारा दोष उन्हीं के सिर पर मढ़ा गया और उनकी चिरकाल की कार्यकुशलता और परिणाम-दर्शिता मिट्टी में मिल गयी। बैंक इतना बड़ा घाटा सहने में असमर्थ था। अब यह विचार उपस्थित हुआ कि कैसे उसके प्राणों की रक्षा की जाय।

5

शहर में यह खबर फैलते ही लोग अपने रुपये वापस लेने के लिए आतुर हो गये। सुबह से शाम तक लेनदारों का ताँता लगा रहता था। जिन लोगों का धन चालू हिसाब में जमा था, उन्होंने तुरंत निकाल लिया, कोई उज्र न सुना। यह उसी पत्र के लेख का फल था कि नेशनल बैंक की साख उठ गयी। धीरज से काम लेते, तो बैंक सँभल जाता। परंतु आँधी और तूफान में कौन नौका स्थिर रह सकती है ? अंत में खजांची ने टाट उलट दिया। बैंक की नसों से इतनी रक्तधाराएँ निकलीं कि वह प्राण-रहित हो गया।

तीन दिन बीत चुके थे। बैंक घर के सामने सहस्रों आदमी एकत्र थे। बैंक के द्वार पर सशस्त्र सिपाहियों का पहरा था। नाना प्रकार की अफवाहें उड़ रही थीं। कभी खबर उड़ती, लाल साईदास ने विष-पान कर लिया। कोई उनके पकड़े जाने की सूचना लाता था। कोई कहता था—डाइरेक्टर हवालात के भीतर हो गये।

एकाएक सड़क पर से एक मोटर निकली और बैंक के सामने आ कर रुक गयी। किसी ने कहा—बरहल के महाराज की मोटर है। इतना सुनते ही सैकड़ों मनुष्य मोटर की ओर घबराये हुए दौड़े और उन लोगों ने मोटर को घेर लिया।

कुंवर जगदीशसिंह महारानी की मृत्यु के बाद वकीलों से सलाह लेने लखनऊ आये थे। बहुत कुछ सामान भी खरीदना था। वे इच्छाएँ जो चिरकाल से ऐसे सुअवसर की प्रतीक्षा में बँधी थीं, पानी की भाँति राह पा कर उबली पड़ती थीं। यह मोटर आज ही ली गयी थी। नगर में एक कोठी लेने की बातचीत हो रही थी। बहुमूल्य विलास-वस्तुओं से लदी एक गाड़ी बरहल के लिए चल चुकी थी। यहाँ भीड़ देखी, तो सोचा, कोई नवीन नाटक होने वाला है, मोटर रोक दी। इतने में सैकड़ों की भीड़ लग गयी।

कुँवर साहब ने पूछा—यहाँ आप लोग क्यों जमा हैं ? कोई तमाशा होने वाला है क्या ?

एक महाशय, जो देखने में कोई बिगड़े रईस मालूम होते थे, बोले—जी हाँ, बड़ा मजेदार तमाशा है।

कुँवर—किसका तमाशा है ?

वह—तकदीर का।

कुँवर महाशय को यह उत्तर पा कर आश्चर्य तो हुआ, परंतु सुनते आये थे कि लखनऊ वाले बात-बात में बात निकाला करते हैं, अतः उसी ढंग से उत्तर देना आवश्यक हुआ। बोले—तकदीर का खेल देखने के लिए यहाँ आना तो आवश्यक नहीं।

लखनवी महाशय ने कहा—आपका कहना सच है, लेकिन दूसरी जगह यह मजा कहाँ ? यहाँ सुबह से शाम तक के बीच भाग्य ने कितनों को धनी से निर्धन और निर्धन से भिखारी बना दिया। सवेरे जो लोग महल में बैठे थे, उन्हें इस समय वृक्ष की छाया भी नसीब नहीं। जिनके द्वार पर सदावर्त खुले थे, उन्हें इस समय रोटियों के लाले पड़े हैं। अभी एक सप्ताह पहले जो लोग काल-गति, भाग्य के खेल और समय के फेर को कवियों की उपमा समझते थे इस समय उनकी आह और करुण क्रंदन वियोगियों को भी लज्जित करता है। ऐसे तमाशे और कहाँ देखने में आवेंगे ?

कुँवर—जनाब आपने तो पहेली को और गाढ़ा कर दिया। देहाती हूँ, मुझसे

साधारण तौर से बात कीजिए।

इस पर एक सज्जन ने कहा—साहब यह नेशनल बैंक है। इसका दिवाला निकल गया है। आदाब-अर्ज, मुझे पहचाना ?

कुँवर साहब ने उसकी ओर देखा, तो मोटर से कूद पड़े और उनसे हाथ मिलाते हुए बोले—अरे, मिस्टर नसीम ? तुम यहाँ कहाँ ? भाई तुमसे मिलकर बड़ा आनंद हुआ।

मिस्टर नसीम कुँवर साहब के साथ देहरादून-कालेज में पढ़ते थे। दोनों साथ-साथ देहरादून की पहाड़ियों पर सैर करते थे, परंतु जब से कुँवर महाशय ने घर के झंझटों से विवश होकर कॉलेज छोड़ा, तब से दोनों मित्रों में भेंट न हुई थी। नसीम भी उनके आने के कुछ समय पीछे अपने घर लखनऊ चले आये थे।

नसीम ने उत्तर दिया—शुक्र है, आपने पहचाना तो। कहिए, अब तो पौ-बारह है। कुछ दोस्तों की भी सुध है।

कुँवर—सच कहता हूँ। तुम्हारी याद हमेशा आया करती थी। कहो, आराम से तो हो? मैं रायल होटल में टिका हूँ, आज आओ, तो इत्मीनान से बातचीत हो।

नसीम—जनाब, इत्मीनान तो नेशनल बैंक के साथ चला गया। अब तो रोजी की फिक्र सवार है। जो कुछ जमा-पूँजी थी, सब आपको भेंट हुई। इस दिवाले ने फकीर बना दिया। अब आपके दरवाजे पर आ कर धरना दूँगा।

कुँवर—तुम्हारा घर है, बेखटके आओ। मेरे साथ ही क्यों न चलो। क्या बतलाऊँ, मुझे कुछ भी ध्यान न था कि मेरे इन्कार करने का यह फल होगा। जान पड़ता है बैंक ने बहुतेरों को तबाह कर दिया।

नसीम—घर-घर मातम छाया हुआ है। मेरे पास तो इन कपड़ों के सिवा और कुछ नहीं रहा।

इतने में एक तिलकधारी पंडित जी आ गये और बोले—साहब, आपके शरीर पर वस्त्र तो हैं। यहाँ तो धरती आकाश कहीं ठिकाना नहीं। राघोजी पाठशाला का अध्यापक हूँ। पाठशाला का सब धन इसी बैंक में जमा था। पचास विद्यार्थी इसी के आसरे संस्कृत पढ़ते और भोजन पाते थे। कल से पाठशाला बंद हो जायेगी। दूर-दूर के विद्यार्थी हैं। वह अपने घर किस तरह पहुँचेंगे, ईश्वर ही जानें।

एक महाशय, जिनके सिर पर पंजाबी ढंग की पगड़ी थी, गाढ़े का कोट और चमरौधा जूता पहने हुए थे, आगे बढ़ आये और नेतृत्व के भाव से बोले—महाशय, इस बैंक के फेलियर ने कितने ही इंस्टीट्यूशनों को समाप्त कर दिया। लाला दीनानाथ का अनाथालय अब एक दिन भी नहीं चल सकता। उसके एक लाख रुपये डूब गये। अभी पन्द्रह दिन हुए, मैं डेपुटेशन से लौटा तो पन्द्रह हजार रुपये अनाथालय कोष में जमा किये थे, मगर अब कहीं कौड़ी का ठिकाना नहीं !

एक बूढ़े ने कहा—साहब, मेरी तो जिंदगी भर की कमाई मिट्टी में मिल गयी। अब कफन का भी भरोसा नहीं।

धीरे-धीरे और लोग भी एकत्र हो गये और साधारण बातचीत होने लगी। प्रत्येक मनुष्य अपने पास वाले को अपनी दुःख कथा सुनाने लगा। कुँवर साहब आधे घंटे नसीम के साथ खड़े ये विपत् कथाएँ सुनते रहे। ज्यों ही मोटर पर बैठे और होटल की ओर चलने

की आज्ञा दी, त्यों ही उनकी दृष्टि एक मनुष्य पर पड़ी, जो पृथ्वी पर सिर झुकाये बैठा था। यह एक अहीर था जो लड़कपन में कुँवर साहब के साथ खेला था। उस समय उनमें ऊँच-नीच का विचार न था, कबड्डी खेले, साथ पेड़ों पर चढ़े और चिड़ियों के बच्चे चुराये थे। जब कुँवर जी देहरादून पढ़ने गये, तब यह अहीर का लड़का शिवदास अपने बाप के साथ लखनऊ चला आया। उसने यहाँ एक दूध की दूकान खोल ली थी। कुँवर साहब ने उसे पहचाना और उच्च स्वर से पुकारा—अरे शिवदास इधर देखो।

शिवदास ने बोली सुनी; परन्तु सिर ऊपर न उठाया। वह अपने स्थान पर बैठा ही कुँवर साहब को देख रहा था। बचपन के वे दिन याद आ रहे थे, जब वह जगदीश के साथ गुल्ली-डंडा खेलता था, जव दोनों बुड्ढे गफूर मियाँ को मुँह चिढ़ा कर घर में छिप जाते थे जव वह इशारों से जगदीश को गुरु जी के पास से बुला लेता था, और दोनों रामलीला देखने चले जाते थे। उसे विश्वास था कि कुँवर साहब जी मुझे भूल गये होंगे, वे लड़कपन की बातें अब कहाँ ? कहाँ मैं और कहाँ यह ! लेकिन कुँवर साहब ने उसका नाम लेकर बुलाया, तो उसने प्रसन्न होकर मिलने के बदले और भी सिर नीचा कर लिया और वहाँ से टल जाना चाहा। कुँवर साहब की सहृदयता में वह साम्यभाव न था। मगर कुँवर साहब उसे हटते देख कर मोटर से उतरे और उसका हाथ पकड़ कर बोले—अरे शिवदास। क्या मुझे भूल गये ?

अब शिवदास अपने मनोवेग को रोक न सका। उसके नेत्र डबडबा आये। कुँवर के गले से लिपट गया और बोला—भूला तो नहीं। पर आपके सामने आते लज्जा आती है।

कुँवर—यहाँ दूध की दूकान करते हो क्या ? मुझे मालूम ही न था, नहीं अठवारों से पानी पीते-पीते जुकाम क्यों होता ? आओ, इसी मोटर पर बैठ जाओ। मेरे साथ होटल तक चलो। तुमसे बातें करने को जी चाहता है। तुम्हें बरहल ले चलूँगा और एक बार फिर गुल्ली-डंडे का खेल खेलेंगे।

शिवदास—ऐसा न कीजिए, नहीं तो देखनेवाले हँसेंगे। मैं होटल में आ जाऊँगा। वही हजरतगंज वाले होटल में ठहरे हैं न ?

कुँवर—हाँ, अवश्य आओगे न ?

शिवदास—आप बुलायेंगे, और मैं न आऊँगा ?

कुँवर—यहाँ कैसे बैठे हो ? दूकान तो चल रही है न ?

शिवदास—आज सवेरे तक तो चलती थी। आगे का हाल नहीं मालूम।

कुँवर—तुम्हारे रुपये भी बैंक में जमा थे क्या ?

शिवदास—जब आऊँगा तो बताऊँगा।

कुँवर साहब मोटर पर आ बैठे और ड्राइवर से बोले—होटल की ओर चलो।

ड्राइवर—हुजूर ने ह्वाइटवे कम्पनी की दूकान पर चलने की आज्ञा जो दी थी।

कुँवर—अब उधर न जाऊँगा।

ड्राइवर—जेकब साहब बारिस्टर के यहाँ भी न चलेंगे ?

कुँवर—(झुँझला कर) नहीं, कहीं मत चलो। मुझे सीधे होटल पहुँचाओ।

निराशा और विपत्ति के इन दृश्यों ने जगदीशसिंह के चित्त में यह प्रश्न उपस्थित कर दिया था कि अब मेरा क्या कर्त्तव्य है ?

6

आज से सात वर्ष पूर्व जब बरहल के महाराज ठीक युवावस्था में घोड़े से गिर कर मर गये थे और विरासत का प्रश्न उठा तो महाराज के कोई सन्तान न होने के कारण, वंश-क्रम मिलाने से उनके सगे चचेरे भाई ठाकुर रामसिंह को विरासत का हक पहुँचता था। उन्होंने दावा किया, लेकिन न्यायालयों ने रानी को ही हकदार ठहराया। ठाकुर साहब ने अपीलें कीं, प्रिवी कौंसिल तक गये, परन्तु सफलता न हुई। मुकदमेबाजी में लाखों रुपये नष्ट हुए, अपने पास की मिलकियत भी हाथ से जाती रही; किन्तु हार कर भी वह चैन से न बैठे। सदैव विधवा रानी को छेड़ते रहे। कभी असामियों को भड़काते, कभी असामियों से रानी की बुराई करते, कभी उन्हें जाली मुकदमों में फँसाने का उपाय करते, परन्तु रानी बड़े जीवट की स्त्री थीं। वह भी ठाकुर साहब के प्रत्येक आघात का मुँहतोड़ उत्तर देतीं। हाँ, इस खींचतान में उन्हें बड़ी-बड़ी रकमें अवश्य खर्च करनी पड़ती थीं। असामियों से रुपये न वसूल होते इसलिए उन्हें बार-बार ऋण लेना पड़ता था, परन्तु कानून के अनुसार उन्हें ऋण लेने का अधिकार न था। इसलिए उन्हें या तो इस व्यवस्था को छिपाना पड़ता था, या सूद की गहरी दर स्वीकार करनी पड़ती थी।

कुँवर जगदीशसिंह का लड़कपन तो लाड़-प्यार में बीता था, परन्तु जब ठाकुर रामसिंह मुकदमेबाजी से बहुत तंग आ गये और यह सन्देह होने लगा कि कहीं रानी की चालों से कुँवर साहब का जीवन संकट में न पड़ जाये, तो उन्होंने विवश हो कर कुँवर साहब को देहरादून भेज दिया। कुँवर साहब वहाँ दो वर्ष तक तो आनन्द से रहे, किन्तु ज्यों ही कॉलेज की प्रथम श्रेणी में पहुँचे कि पिता परलोकवासी हो गये। कुँवर साहब को पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बरहल चले आये, सिर पर कुटुम्ब-पालन और रानी से पुरानी शत्रुता के निभाने को बोझ आ पड़ा। उस समय से महारानी के मृत्यु-काल तक उनकी दशा बहुत गिरी रही। ऋण या स्त्रियों के गहनों के सिवा और कोई आधार न था। उस पर कुल-मर्यादा की रक्षा की चिन्ता भी थी। ये तीन वर्ष तक उनके लिये कठिन परीक्षा के समय थे। आये दिन साहूकारों से काम पड़ता था। उनके निर्दय बाणों से कलेजा छिद गया था। हाकिमों के कठोर व्यवहार और अत्याचार भी सहने पड़ते; परन्तु सबसे हृदय-विदारक अपने आत्मीयजनों का बर्ताव था, जो सामने बात न करके बगली चोटें करते थे, मित्रता और ऐक्य की आड़ में कपट हाथ चलाते थे, इन कठोर यातनाओं ने कुँवर साहब को अधिकार, स्वेच्छाचार और धन-सम्पत्ति का जानी दुश्मन बना दिया था। वह बड़े भावुक पुरुष थे। सम्बन्धियों की अकृपा और देश-बंधुओं की दुर्नीति उनके हृदय पर काला चिह्न बनाती जाती थी, साहित्य-प्रेम ने उन्हें मानव-प्रकृति का तत्त्वान्वेषी बना दिया था और जहाँ यह ज्ञान उन्हें प्रतिदिन सभ्यता से दूर लिये जाता था, वहाँ उनके चित्त में जन-सत्ता और साम्यवाद के विचार पुष्ट करता जाता था। उन पर प्रकट हो गया था कि यदि सद्व्यवहार जीवित है, तो वह झोंपड़ों और गरीबों में ही है। उस कठिन समय में, जब चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था, उन्हें कभी-कभी सच्ची सहानुभूति का प्रकाश यहीं दृष्टिगोचर हो जाता था। धन-सम्पत्ति को वह श्रेष्ठ प्रसाद नहीं, ईश्वर का प्रकोप समझते थे जो मनुष्य के हृदय से दया और प्रेम के भावों को मिटा देता है; यह वह मेघ है, जो चित्त के प्रकाशित तारों पर छा जाता है।

परंतु महारानी की मृत्यु के बाद ज्यों ही धन-सम्पत्ति ने उन पर वार किया, बस

दार्शनिक तर्कों की यह ढाल चूर-चूर हो गयी। आत्मनिदर्शन की शक्ति नष्ट हो गयी। वे मित्र बन गये जो शत्रु सरीखे थे और जो सच्चे हितैषी थे, वे विस्मृत हो गये। साम्यवाद के मनोगत विचारों में घोर परिवर्तन आरम्भ हो गया। हृदय में असहिष्णुता का उद्भव हुआ। त्याग ने भोग की ओर सिर झुका दिया, मर्यादा की वेड़ी गले में पड़ी। वे अधिकारी, जिन्हें देख कर उनके तेवर बदल जाते थे, अव उनके सलाहकार बन गये। दीनता और दरिद्रता को, जिनसे उन्हें सच्ची सहानुभूति थी, देख कर अब वह आँखें मूँद लेते थे।

इसमें संदेह नहीं कि कुँवर साहब अब भी साम्यवाद के भक्त थे, किन्तु उन विचारों के प्रकट करने में वह पहले-की सी स्वतंत्रता न थी। विचार अब व्यवहार से डरता था। उन्हें कथन को कार्य-रूप में परिणत करने का अवसर प्राप्त था; पर अब कार्य-क्षेत्र कठिनाइयों से घिरा हुआ जान पड़ता था। बेगार के वह जानी दुश्मन थे; परन्तु अब बेगार को बंद करना दुष्कर प्रतीत होता था। स्वच्छता और स्वास्थ्य रक्षा के वह भक्त थे, किन्तु अब धन व्यय न करके भी उन्हें ग्राम-वासियों की ही ओर से विरोध की शंका होती थी। असामियों से पोत उगाहने में कठोर बर्ताव को वह पाप समझते थे; मगर अब कठोरता के बिना काम चलता न जान पड़ता था। सारांश यह कि कितने ही सिद्धांत, जिन पर पहले उनको श्रद्धा थी अब असंगत मालूम होते थे।

परंतु आज जो दुःखजनक दृश्य बैंक के हाते में नजर आये उन्होंने उनके दया-भाव को जाग्रत कर दिया। उस मनुष्य की-सी दशा हो गयी, जो नौका में बैठा सुरम्य तट की शोभा का आनंद उठाता हुआ किसी श्मशान के सामने आ जाये, चिता पर लाशें जलती देखे, शोक-संतप्तों के करुण-क्रंदन को सुने और नाव से उतर कर उनके दुःख में सम्मिलित हो जाय !

रात के दस बज गये थे। कुँवर साहब पलंग पर लेटे थे। बैंक के हाते का दृश्य आँखों के सामने नाच रहा था। वही विलाप-ध्वनि कानों में आ रही थी ! चित्त में प्रश्न हो रहा था, क्या इस विडम्बना का कारण मैं ही हूँ ! मैंने तो वही किया, जिसका मुझे कानूनन अधिकार था। यह बैंक के संचालकों की भूल है, जो उन्होंने बिना पूरी जमानत के इतनी रकम कर्ज दे दी। लेनदारों को उन्हीं की गरदन नापनी चाहिए। मैं कोई खुदाई फौजदार नहीं हूँ, कि दूसरों की नादानी का फल भोगूँ। फिर विचार पलटा, मैं नाहक इस होटल में ठहरा। चालीस रुपये प्रतिदिन देने पड़ेंगे। कोई चार सौ रुपये के मत्थे जायेगी। इतना सामान भी व्यर्थ ही लिया। क्या आवश्यकता थी ? मखमली गद्दे की कुर्सियों या शीशे की सजावट से मेरा गौरव नहीं बढ़ सकता। कोई साधारण मकान पाँच रुपये पर ले लेता, तो क्या काम न चलता ? मैं और साथ के सब आदमी आराम से रहते। यही न होता कि लोग निंदा करते। इसकी क्या चिंता। जिन लोगों के मत्थे यह ठाट कर रहा हूँ, वे गरीब तो रोटियों को तरसते हैं। ये ही दस-बारह हजार रुपये लगा कर कुएँ बनवा देता, तो सहस्रों दीनों का भला होता। अब फिर लोगों के चकमे में न जाऊँगा। यह मोटरकार व्यर्थ है। मेरा समय इतना महँगा नहीं है कि घंटे-आध घंटे की किफायत के लिए दो सौ रुपये महीने का खर्च बढ़ा लूँ। फाका करने वाले असामियों के सामने मोटर दौड़ाना उनकी छातियों पर मूँग दलना है। माना कि वे रोब में आ जायेंगे, जिधर से निकल जाऊँगा, सैकड़ों स्त्रियाँ और बच्चे देखने के लिए खड़े हो जायेंगे, मगर केवल इतने ही दिखावे के लिए इतना खर्च

बढ़ाना मूर्खता है। यदि दूसरे रईस ऐसा करते हैं तो करें, मैं उनकी बराबरी क्यों करूँ ? अब तक दो हजार रुपये सालाने में मेरा निर्वाह हो जाता था। अब दो के बदले चार हजार बहुत हैं। फिर मुझे दूसरों की कमाई इस प्रकार उड़ाने का अधिकार ही क्या है ? मैं कोई उद्योग-धंधा, कोई कारोबार नहीं करता जिसका यह नफा हो। यदि मेरे पुरखों ने हठधर्मी, जबरदस्ती से इलाका अपने हाथों में रख लिया, तो मुझे उनके लूट के धन में शरीक होने का क्या अधिकार है ? जो लोग परिश्रम करते हैं, उन्हें अपने परिश्रम का पूरा फल मिलना चाहिए। राज्य उन्हें केवल दूसरों के कटोर हाथों से बचाता है। उसे इस सेवा का उचित मुआवजा मिलना चाहिए। बस, मैं तो राज्य की ओर से यह मुआवजा वसूल करने के लिए नियत हूँ। इसके सिवा इन गरीबों की कमाई में मेरा और कोई भाग नहीं। बेचारे दीन हैं, मूर्ख हैं, बेजबान हैं, इस समय हम इन्हें चाहे जितना सता लें। इन्हें अपने स्वत्व का ज्ञान नहीं। मैं अपने महत्त्व को नहीं समझता पर एक समय ऐसा अवश्य आयेगा, जब इनके मुँह में भी जबान होगी, इन्हें भी अपने अधिकारों का ज्ञान होगा। तब हमारी दशा बुरी होगी। ये भोग-विलास मुझे अपने आदमियों से दूर किये देते हैं। मेरी भलाई इसी में है, कि इन्हीं में रहूँ, इन्हीं की भाँति जीवन-निर्वाह और इनकी सहायता करूँ। कोई छोटी-मोटी रकम होती, तो कहता लाओ, जिस सिर पर बहुत भार है, उसी तरह यह भी सही। मूल के अलावा कई हजार रुपये सूद के अलग हुए। फिर महाजनों के भी तीन लाख रुपये हैं। रियासत की आमदनी डेढ़-दो लाख रुपये सालाना है, अधिक नहीं। मैं इतना बड़ा साहस करूँ भी, तो किस बिरते पर ? हाँ, यदि बैरागी हो जाऊँ तो सम्भव है, मेरे जीवन में—यदि कहीं अचानक मृत्यु न हो जाय तो यह झगड़ा पाक हो जाय। इस अग्नि में कूदना अपने सम्पूर्ण जीवन, अपनी उमंगों और अपनी आशाओं को भस्म करना है। आह ! इन दिनों की प्रतीक्षा में मैंने क्या-क्या क़ष्ट नहीं भोगे। पिता जी ने इस चिंता में प्राण-त्याग किया। यह शुभ मुहूर्त हमारी अँधेरी रात के लिए दूर का दीपक था। हम इसी के आसरे जीवित थे। सोते-जागते सदैव इसी की चर्चा रहती थी। इससे चित्त को कितना संतोष और कितना अभिमान था। भूखे रहने के दिन भी हमारे तेवर मैले न होते थे। जब इतने धैर्य और संतोष के बाद अच्छे दिन आये तो उससे कैसे विमुख हुआ जाय। फिर अपनी ही चिंता तो नहीं, रियासत की उन्नति की कितनी ही स्कीमें सोच चुका हूँ। क्या अपनी इच्छाओं के साथ उन विचारों को भी त्याग दूँ। इस अभागी रानी ने मुझे बुरी तरह फँसाया, जब तक जीती रही, कभी चैन से न बैठने दिया। मरी तो मेरे सिर पर यह बला डाल दी। परंतु मैं दरिद्रता से इतना डरता क्यों हूँ ? दरिद्रता कोई पाप नहीं है। यदि मेरा त्याग हजारों घरानों को कष्ट और दुरावस्था से बचाये तो मुझे उससे मुँह न मोड़ना चाहिए। केवल सुख से जीवन व्यतीत करना ही हमारा ध्येय नहीं है। हमारी मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति सुख-भोग ही से तो नहीं हुआ करती। राजमंदिरों में रहने वालों और विलास में रत राणाप्रताप को कौन जानता है ? यह उनका आत्म-समर्पण और कठिन व्रत पालन ही है, जिसने उन्हें हमारी जाति का सूर्य बना दिया है। श्रीरामचन्द्र ने यदि अपना जीवन सुख-भोग में बिताया होता तो, आज हम उनका नाम भी न जानते। उनके आत्म बलिदान ने ही उन्हें अमर बना दिया। हमारी प्रतिष्ठा धन और विलास पर अवलम्बित नहीं है। मैं मोटर पर सवार हुआ तो क्या, और टट्टू पर चढ़ा तो क्या, होटल में ठहरा तो क्या और किसी मामूली घर ठहरा तो क्या। बहुत

होगा, ताल्लुकेदार लोग मेरी हँसी उड़ावेंगे। इसकी परवा नहीं। मैं तो हृदय से चाहता हूँ कि उन लोगों से अलग-अलग रहूँ। यदि इतनी निंदा से सैकड़ों परिवार का भला हो जाय, तो मैं मनुष्य नहीं, यदि प्रसन्नता से उसे सहन न करूँ। यदि अपने घोड़े और फिटन, सैर और शिकार, नौकर-चाकर और स्वार्थ-साधक हित-मित्रों से रहित हो कर मैं सहस्रों अमीर-गरीब कुटुम्बों का, विधवाओं, अनाथों का भला कर सकूँ, तो मुझे इसमें कदापि विलम्ब न करना चाहिए। सहस्रों परिवारों के भाग्य इस समय मेरी मुट्ठी में हैं। मेरा सुखभोग उनके लिए विष और मेरा आत्म-संयम उनके लिए अमृत है। मैं अमृत बन सकता हूँ, विष क्यों बनूँ ? और फिर इसे आत्म-त्याग समझना भी मेरी भूल है। यह एक संयोग है कि मैं आज इस जायदाद का अधिकारी हूँ। मैंने उसे कमाया नहीं। उसके लिए रक्त नहीं बहाया। न पसीना बहाया। यदि वह जायदाद मुझे न मिली होती तो मैं सहस्रों दीन भाइयों की भाँति आज जीविकोपार्जन में लगा रहता। मैं क्यों न भूल जाऊँ कि मैं इस राज्य का स्वामी हूँ। ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य की परख होती है। मैंने वर्षों पुस्तकावलोकन किया, वर्षों परोपकार के सिद्धान्तों का अनुयायी रहा। यदि इस समय उन सिद्धांतों को भूल जाऊँ, स्वार्थ को मनुष्यता और सदाचार से बढ़ने दूँ तो, वस्तुतः यह मेरी अत्यंत कायरता और स्वार्थपरता होगी। भला स्वार्थसाधन की शिक्षा के लिए गीता, मिल, एमर्सन और अरस्तू का शिष्य बनने की क्या आवश्यकता थी। यह पाठ तो मुझे अपने दूसरे भाइयों से यों ही मिल जाता। प्रचलित प्रथा से बढ़ कर और कौन गुरु था ? साधारण लोगों की भाँति क्या मैं भी स्वार्थ के सामने सिर झुका दूँ ? तो फिर विशेषता क्या रही ? नहीं, मैं नानशंस (विवेक-बुद्धि) का खून न करूँगा। जहाँ पुण्य कर सकता हूँ, पाप न करूँगा। परमात्मन् तुम मेरी सहायता करो, तुमने मुझे राजपूत-घर में जन्म दिया है। मेरे कर्म से इस महान् जाति को लज्जित न करो। नहीं, कदापि नहीं, यह गर्दन स्वार्थ के सम्मुख न झुकेगी। मैं राम, भीष्म, और प्रताप का वंशज हूँ। शरीर-सेवक न बनूँगा।

कुँवर जगदीश सिंह को इस समय ऐसा ज्ञात हुआ, मानो वह किसी ऊँचे मीनार पर चढ़ गये हैं। चित्त अभिमान से पूरित हो गया। आँखें प्रकाशमान हो गयीं। परंतु एक ही क्षण में इस उमंग का उतार होने लगा, ऊँचे मीनार के नीचे की ओर आँखें गयीं। सारा शरीर काँप उठा। उस मनुष्य की-सी दशा हो गयी, जो किसी नदी के तट पर बैठा उसमें कूदने का विचार कर रहा हो।

उन्होंने सोचा, क्या मेरे घर के लोग मुझसे सहमत होंगे ? यदि मेरे कारण वे सहमत भी हो जायें, तो क्या मुझे अधिकार है कि अपने साथ उनकी इच्छाओं का भी बलिदान करूँ? और-तो-और माता जी कभी न मानेंगी, और कदाचित् भाई लोग भी अस्वीकार करें। रियासत की हैसियत को देखते हुए वे कम-से-कम दस हजार सालाना के हिस्सेदार हैं। और उनके भाग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मैं केवल अपना मालिक हूँ, परन्तु मैं भी तो अकेला नहीं हूँ। सावित्री स्वयं चाहे मेरे साथ आग में कूदने को तैयार हो, किंतु अपने प्यारे पुत्र को इस आँच के समीप कदापि न आने देगी।

कुँवर महाशय और अधिक न सोच सके। वह एक विकल दशा में पलंग पर से उठ बैठे और कमरे में टहलने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने जंगले के बाहर की ओर झाँका और किवाड़ खोल कर बाहर चले गये। चारों ओर अँधेरा था। उनकी चिंताओं की भाँति सामने

अपार और भयंकर गोमती नदी बह रही थी। वह धीरे-धीरे नदी के तट पर चले गये और देर तक वहाँ टहलते रहे। आकुल हृदय को जल-तरंगों से प्रेम होता है। शायद इसीलिए कि लहरें व्याकुल हैं। उन्होंने अपने चंचल चित्त को फिर एकाग्र किया। यदि रियासत की आमदनी से ये सब वृत्तियाँ दी जायेंगी, तो ऋण का सूद निकलना भी कठिन होगा। मूल का तो कहना ही क्या ! क्या आय में वृद्धि नहीं की जा सकती ? अभी अस्तबल में बीस घोड़े हैं। मेरे लिए एक काफी है। नौकरों की संख्या सौ से कम न होगी। मेरे लिए दो अधिक हैं। यह अनुचित है कि अपने ही भाइयों से नीच सेवाएँ करायी जायँ। उन मनुष्यों को मैं अपने सीर की जमीन दे दूँगा। सुख से खेती करेंगे और मुझे आशीर्वाद देंगे। बगीचों के फल अब तक डालियों की भेंट हो जाते थे। अब उन्हें बेचूँगा, और सबसे बड़ी आमदनी तो बयाई की है। केवल महेशगंज के बाजार के दस हजार रुपये आते हैं। यह सब आमदनी महंत जी उड़ा जाते हैं। उनके लिए एक हजार रुपये साल होना चाहिए। अबकी इस बाजार का ठेका दूँगा। आठ हजार से कम न मिलेंगे। इन मदों से पच्चीस हजार रुपये की वार्षिक आय होगी। सावित्री और लल्ला (लड़के) के लिए एक हजार रुपये काफी हैं। मैं सावित्री से स्पष्ट कह दूँगा कि या तो एक हजार रुपये मासिक लो और मेरे साथ रहो या रियासत की आधी आमदनी ले लो, और मुझे छोड़ दो। रानी बनने की इच्छा हो, तो खुशी से बनो, परंतु मैं राजा न बनूँगा।

अचानक कुँवर साहब के कानों में आवाज आयी—राम नाम सत्य है। उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा। कई मनुष्य एक लाश लिये आते थे। उन लोगों ने नदी किनारे चिता बनायी और उसमें आग लगा दी। दो स्त्रियाँ चिंघाड़ कर रो रही थीं। इस विलाप का कुँवर साहब के चित्त पर कुछ प्रभाव न पड़ा। वह चित्त में लज्जित हो रहे थे कि मैं कितना पाषाण-हृदय हूँ। एक दीन मनुष्य की लाश जल रही है, स्त्रियाँ विलाप कर रही हैं और मेरा हृदय तनिक भी नहीं पसीजता ! पत्थर की मूर्ति की भाँति खड़ा हूँ। एकबारगी स्त्री ने रोते हुए कहा—'हाय मेरे राजा ! तुम्हें विष कैसे मीठा लगा ? यह हृदय-विदारक विलाप सुनते ही कुँवर साहब के चित्त में एक घाव-सा लग गया। करुणा सजग हो गयी और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। कदाचित् इसने विष-पान करके प्राण दिये हैं। हाय ! उसे विष कैसे मीठा लगा। इसमें कितनी करुणा है, कितना दुख, कितना आश्चर्य ! विष तो कड़वा पदार्थ है। क्योंकर मीठा हो गया ! कटु विष के बदले जिसने अपने मधुर प्राण दे दिये उस पर कोई बड़ी मुसीबत पड़ी होगी। ऐसी ही दशा में विष मधुर हो सकता है। कुँवर साहब तड़प गये। कारुणिक शब्द बार-बार उनके हृदय में गूँजते थे। अब उनसे वहाँ न खड़ा रहा गया। वह उन आदमियों के पास आये, एक मनुष्य से पूछा—क्या बहुत दिनों से बीमार थे ? इस मनुष्य ने कुँवर साहब की ओर आँसू-भरे नेत्रों से देख कर कहा—नहीं साहब, कहाँ की बीमारी ! अभी आज संध्या तक भली-भाँति बातें कर रहे थे। मालूम नहीं, संध्या को क्या खा लिया कि खून की कै होने लगी। जब तक वैद्यराज के यहाँ जायँ, तब तक आँखें उलट गयीं। नाड़ी छूट गयी। वैद्यराज ने आकर देखा, तो कहा—अब क्या हो सकता है ? अभी कुल बाईस-तेईस वर्ष की अवस्था थी। ऐसा पट्ठा सारे लखनऊ में नहीं था।

कुँवर—कुछ मालूम हुआ, विष क्यों खाया ?

उस मनुष्य ने संदेह-दृष्टि से देख कर कहा—महाशय, और तो कोई बात नहीं हुई।

जब से यह बड़ा बैंक टूटा है, बहुत उदास रहते थे। कोई हजार रुपये बैंक में जमा किये थे। घी-दूध-मलाई की बड़ी दूकान थी। बिरादरी में मान था। वह सारी पूँजी डूब गयी। हम लोग रोकते रहे कि बैंक में रुपये मत जमा करो; किन्तु होनहार यह थी। किसी की नहीं सुनी। आज सबेरे स्त्री से गहने माँगते थे कि गिरवी रख कर अहीरों के दूध के दाम दे दें। उससे बातों-बातों में झगड़ा हो गया। बस न जाने क्या खा लिया।

कुँवर साहब का हृदय काँप उठा। तुरन्त ध्यान आया—शिवदास तो नहीं है ! पूछा—इनका नाम शिवदास तो नहीं था। उस मनुष्य ने विस्मय से देख कर कहा—हाँ, यही नाम था। क्या आपसे जान-पहचान थी ?

कुँवर—हाँ, हम और यह बहुत दिनों तक बरहल में साथ-साथ खेले थे। आज शाम को वह हमसे बैंक में मिले थे। यदि उन्होंने मुझसे तनिक भी चर्चा की होती, तो मैं यथाशक्ति उनकी सहायता करता। शोक ?

उस मनुष्य ने तब ध्यानपूर्वक कुँवर साहब को देखा, और जा कर स्त्रियों से कहा—चुप हो जाओ, बरहल के महाराज आये हैं। इतना सुनते ही शिवदास की माता जोर-जोर से सिर पटकती और रोती हुई आकर कुँवर के पैरों पर गिर पड़ी। उसके मुख से केवल ये शब्द निकले—'बेटा, बचपन से जिसे तुम भैया कहा करते थे'—और गला रुंध गया।

कुँवर महाशय की आँखों से भी अश्रुपात हो रहा था। शिवदास की मूर्ति उनके सामने खड़ी यह कहती देख पड़ती थी कि तुमने मित्र हो कर मेरे प्राण लिये !

7

भोर हो गया; परन्तु कुँवर साहब को नींद न आयी। जब से वह गोमती तीर से लौटे थे, उनके चित्त पर एक वैराग्य-सा छाया हुआ था। वह कारुणिक दृश्य उनके स्वार्थ के तर्कों को छिन्न-भिन्न किये देता था। सावित्री के विरोध, लल्ला के निराशा-युक्त हठ और माता के कुशब्दों का अब उन्हें लेशमात्र भी भय न था। सावित्री कुढ़ेगी कुढ़े, लल्ला को भी संग्राम के क्षेत्र में कूदना पड़ेगा, कोई चिंता नहीं ! माता प्राण देने पर तत्पर होगी, क्या हर्ज है। मैं अपनी स्त्री-पुत्र तथा हित-मित्रादि के लिए सहस्रों परिवारों की हत्या न करूँगा। हाय ! शिवदास को जीवित रखने के लिए मैं ऐसी कितनी रियासतें छोड़ सकता हूँ। सावित्री को भूखों रहना पड़े, लल्ला को मजदूरी करनी पड़े; मुझे द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़े, तब भी दूसरों का गला न दबाऊँगा। अब विलम्ब का अवसर नहीं। न जाने आगे यह दिवाला और क्या-क्या आपत्तियाँ खड़ी करे। मुझे इतना आगा-पीछा क्यों हो रहा है ? यह केवल आत्म-निर्बलता है वरना यह कोई ऐसा बड़ा काम नहीं, जो किसी ने न किया हो। आये दिन लोग रुपये दान-पुण्य करते हैं। मुझे अपना कर्त्तव्य का ज्ञान है। उससे क्यों मुँह मोड़ूँ। जो कुछ हो, जो चाहे सिर पड़ें, इसकी क्या चिंता। कुँवर ने घंटी बजायी। एक क्षण में अरदली आँखें मलता हुआ आया।

कुँवर साहब बोले—अभी जेकब बारिस्टर के पास जाकर मेरा सलाम दो। जाग गये होंगे। कहना, जरूरी काम है। नहीं, यह पत्र लेते जाओ। मोटर तैयार करा लो।

8

मिस्टर जेकब ने कुँवर साहब को बहुत समझाया कि आप इस दलदल में न फँसें, नहीं तो निकलना कठिन होगा। मालूम नहीं, अभी कितनी ऐसी रकमें हैं जिनका आपको पता नहीं है, परन्तु चित्त में दृढ़ हो जाने वाला निश्चय चूने का फर्श है, जिसको आपत्ति के थपेड़े और भी पुष्ट कर देते हैं, कुँवर साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। दूसरे दिन समाचार-पत्रों में छपवा दिया कि मृत महारानी पर जितना कर्ज है वह हम सकारते हैं और नियत समय के भीतर चुका देंगे।

इस विज्ञापन के छपते ही लखनऊ में खलबली पड़ गयी। बुद्धिमानों की सम्मति में यह कुँवर महाशय की नितांत भूल थी और जो लोग कानून से अनभिज्ञ थे, उन्होंने सोचा कि इसमें अवश्य कोई भेद है। ऐसे बहुत कम मनुष्य थे, जिन्हें कुँवर साहब की नीयत की सच्चाई पर विश्वास आया हो परंतु कुँवर साहब का बखान चाहे न हुआ हो, आशीर्वाद की कमी न थी। बैंक के हजारों गरीब लेनदार सच्चे हृदय से उन्हें आशीर्वाद दे रहे थे।

एक सप्ताह तक कुँवर साहब को सिर उठाने का अवकाश न मिला। मिस्टर जेकब का विचार सत्य सिद्ध हुआ। देना प्रतिदिन बढ़ता जाता था। कितने ही प्रोनोट ऐसे मिले, जिनका उन्हें कुछ भी पता न था। जौहरियों और अन्य बड़े-बड़े दूकानदारों का लेना भी कम न था। अंदाजन तेरह-चौदह लाख का था। मीजान बीस लाख तक पहुंचा। कुँवर साहब घबराये। शंका हुई—ऐसा न हो कि उन्हें भाइयों का गुजारा भी बन्द करना पड़े। जिसका उन्हें कोई अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि सातवें दिन उन्होंने कई साहूकारों को बुरा-भला कह कर सामने से दूर किया। जहाँ व्याज की दर अधिक थी, उसे कम कराया और जिन रकमों की मीयादें बीत चुकी थीं, उनसे इनकार कर दिया।

उन्हें साहूकारों की कठोरता पर क्रोध आता था। उनके विचार से महाजनों को डूबते धन का एक भाग पा कर ही संतोष कर लेना चाहिए था। इतनी खींचतान करने पर भी कुल उन्नीस लाख से कम न हुआ।

कुँवर साहब इन कामों से अवकाश पा कर एक दिन नेशनल बैंक की ओर जा निकले। बैंक खुला हुआ था। मृतक शरीर में प्राण आ गये थे। लेनदारों की भीड़ लगी हुई थी। लोग प्रसन्नचित्त लौटे जा रहे थे। कुँवर साहब को देखते ही सैकड़ों मनुष्य बड़े प्रेम से उनकी ओर दौड़े। किसी ने रो कर, किसी ने पैरों पर गिर कर और किसी ने सभ्यतापूर्वक अपनी कृतज्ञता प्रकट की। वह बैंक के कार्यकर्त्ताओं से भी मिले। लोगों ने कहा—इस विज्ञापन ने बैंक को जीवित कर दिया। बंगाली बाबू ने लाला साईंदास की आलोचना की—वह समझता था कि संसार में सब मनुष्य भलामानस हैं। हमको उपदेश करता था। अब उसकी आँख खुल गई है। अकेला घर में बैठा रहता है। किसी को मुँह नहीं दिखाता। हम सुनता है, वह वहाँ से भाग जाना चाहता था। परन्तु बड़ा साहब बोला, भागेगा तो तुम्हारा ऊपर वारंट जारी कर देगा। अब साईंदास की जगह बंगाली बाबू मैनेजर हो गये थे।

इसके बाद कुँवर साहब बरहल आये। भाइयों ने यह वृत्तांत सुना, तो बिगड़े, अदालत की धमकी दी। माता जी को ऐसा धक्का पहुँचा कि वह उसी दिन बीमार हो कर एक ही सप्ताह में इस संसार से विदा हो गयीं। सावित्री को भी चोट लगी, पर उसने केवल संतोष ही नहीं किया, पति की उदारता और त्याग की प्रशंसा भी की। रह गये लाल साहब।

उन्होंने जब देखा कि अस्तबल से घोड़े निकले जाते हैं, हाथी मकनपुर के मेले में बिकने के लिए भेज दिये गये हैं और कहार विदा किये जा रहे हैं, तो व्याकुल हो पिता से बोले—बाबू जी, यह सब नौकर, घोड़े, हाथी कहाँ जा रहे हैं ?

कुँवर—एक राजा साहब के उत्सव में।

लाल जी—कौन से राजा ?

कुँवर—उनका नाम राजा दीनसिंह है।

लाल जी—कहाँ रहते हैं ?

कुँवर—दरिद्रपुर।

लाल जी—तो हम भी जायेंगे।

कुँवर—तुम्हें भी ले चलेंगे; परंतु इस बारात में पैदल चलने वालों का सम्मान सवारों से अधिक होगा।

लाल जी—तो हम भी पैदल चलेंगे।

कुँवर—वहाँ परिश्रमी मनुष्य की प्रशंसा होती है।

लाल जी—तो हम सबसे ज्यादा परिश्रम करेंगे।

कुंवर साहब के दोनों भाई पाँच-पाँच हजार रुपये गुज़ारा लेकर अलग हो गये। कुँवर साहब अपने और परिवार के लिए कठिनाई से एक हजार सालाना का प्रबन्ध कर सके, पर यह आमदनी एक रईस के लिए किसी तरह पर्याप्त नहीं थी। अतिथि-अभ्यागत प्रतिदिन टिके ही रहते थे। उन सब का भी सत्कार करना पड़ता था। बड़ी कठिनाई से निर्वाह होता था। इधर एक वर्ष से शिवदास के कुटुम्ब का भार भी सिर पर पड़ा, परन्तु कुँवर साहब कभी अपने निश्चय पर शोक नहीं करते। उन्हें कभी किसी ने चिंतित नहीं देखा। उनका मुख-मंडल धैर्य और सच्चे अभिमान से सदैव प्रकाशित रहता है। साहित्य-प्रेम पहले से था। अब बागवानी से प्रेम हो गया है। अपने बाग में प्रातःकाल से शाम तक पौदों की देख-रेख किया करते हैं और लाल साहब तो पक्के कृषक होते दिखाई देते हैं। अभी नव-दस वर्ष से अधिक अवस्था नहीं है, लेकिन अँधेरे मुँह खेत पहुंच जाते हैं। खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती।

उनका घोड़ा मौजूद है; परन्तु महीनों उस पर नहीं चढ़ते। उनकी यह धुन देख कर कुँवर साहब प्रसन्न होते हैं और कहा करते हैं—रियासत के भविष्य की ओर से निश्चिंत हूँ। लाल साहब कभी इस पाठ को न भूलेंगे। घर में सम्पत्ति होती, तो सुख-भोग, शिकार, दुराचार के सिवा और क्या सूझता ! सम्पत्ति बेचकर हमने परिश्रम और संतोष खरीदा, और यह सौदा बुरा नहीं। सावित्री इतनी संतोषी नहीं। वह कुँवर साहब के रोकने पर भी असामियों से छोटी-मोटी भेंट ले लिया करती है और कुल-प्रथा नहीं तोड़ना चाहती।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक 'कहकशां', फ़रवरी-मार्च 1919 में प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित। 'प्रेम द्वादसी' कहानी संग्रह में भी संकलित हुई।]

विमाता

स्त्री की मृत्यु के तीन ही मास बाद पुनर्विवाह करना मृतात्मा के साथ ऐसा अन्याय और उसकी आत्मा पर ऐसा आघात है जो कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। मैं यह न कहूँगा कि उस स्वर्गवासिनी की मुझसे अंतिम प्रेरणा थी और न मेरा शायद यह कथन ही मान्य समझा जाय कि हमारे छोटे बालक के लिए 'माँ' की उपस्थिति परमावश्यक थी। परन्तु इस विषय में मेरी आत्मा निर्मल है और मैं आशा करता हूँ कि स्वर्गलोक में मेरे इस कार्य की निर्दय आलोचना न की जायगी। सारांश यह कि मैंने विवाह किया और यद्यपि एक नव-विवाहिता वधू को मातृत्व उपदेश बेसुरा राग था, पर मैंने पहले ही दिन अम्बा से कह दिया कि मैंने तुमसे केवल इस अभिप्राय से विवाह किया है कि तुम मेरे भोले बालक की माँ बनो और उसके हृदय से उसकी माँ की मृत्यु का शोक भुला दो।

2

दो मास व्यतीत हो गये। मैं संध्या समय मुन्नू को साथ ले कर वायु सेवन को जाया करता था। लौटते समय कतिपय मित्रों से भेंट भी कर लिया करता था। उन संगतों में मुन्नू श्यामा की भाँति चहकता। वास्तव में इन संगतों से मेरा अभिप्राय मनोविनोद नहीं, केवल मुन्नू के असाधारण बुद्धि चमत्कार को प्रदर्शित करना था। मेरे मित्रगण जब मुन्नू को प्यार करते और उसकी विलक्षण बुद्धि की सराहना करते तो मेरा हृदय बाँसों उछलने लगता था। एक दिन मैं मुन्नू के साथ बाबू ज्वालासिंह के घर बैठा हुआ था। ये मेरे परम मित्र थे। मुझमें और उनमें कुछ भेदभाव न था। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी क्षुद्रताएँ, अपने पारिवारिक कलहादि और अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ बयान किया करते थे। नहीं हम इन मुलाकातों में भी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते थे और अपनी दुरवस्था का जिक्र कभी हमारी जबान पर न आता था। अपनी कालिमाओं को सदैव छिपाते थे। एकता में भी भेद था और घनिष्ठता में भी अंतर। अचानक बाबू ज्वालासिंह ने मुन्नू से पूछा—"क्यों तुम्हारी अम्माँ तुम्हें खूब प्यार करती हैं न ?" मैंने मुस्करा कर मुन्नू की ओर देखा। उसके उत्तर के विषय में मुझे कोई संदेह न था। मैं भली-भाँति जानता था कि अम्बा उसे बहुत प्यार करती है। परन्तु मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मुन्नू ने इस प्रश्न का उत्तर मुख से न दे कर नेत्रों से दिया। उसके नेत्रों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं। मैं लज्जा से गड़ गया। इस अश्रु-जल ने अम्बा के उस सुंदर चित्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जो गत दो मास से मैंने हृदय में अंकित कर रखा था। ज्वालासिंह ने कुछ संशय की दृष्टि से देखा और पुनः मुन्नू से पूछा—"क्यों रोते हो बेटा ?" मुन्नू बोला—"रोता नहीं हूँ, आँखों में धुआँ लग गया था।" ज्वालासिंह का विमाता की ममता पर संदेह करना स्वाभाविक बात थी; परन्तु वास्तव में मुझे भी सन्देह हो गया ! अम्बा सहृदयता और स्नेह की वह देवी नहीं है, जिसकी सराहना करते मेरी जिह्वा न थकती थी। वहाँ से उठा तो मेरा हृदय भरा हुआ था और लज्जा से माथा न उठता था।

3

मैं घर की ओर चला तो मन में विचार करने लगा कि किस प्रकार अपने क्रोध को प्रकट

करूँ। क्यों न मुँह ढाँक कर सो रहूँ। अम्बा जब पूछे तो कठोरता से कह दूँ कि सिर में पीड़ा है, मुझे तंग मत करो। भोजन के लिए उठाये तो झिड़क कर उत्तर दूँ। अम्बा अवश्य समझ जायगी कि कोई बात मेरी इच्छा के प्रतिकूल हुई है। मेरे पाँव पकड़ने लगेगी। उस समय अपनी व्यंग्यपूर्ण बातों से उसका हृदय बेध डालूँगा। ऐसा रुलाऊँगा कि वह भी याद करे। पुनः विचार आया कि उसका हँसमुख चेहरा देख कर मैं अपने हृदय को वश में रख सकूँगा या नहीं। उसकी एक प्रेम-पूर्ण दृष्टि, एक मीठी बात, एक रसीली चुटकी मेरी शिलातुल्य रुष्टता के टुकड़े-टुकड़े कर सकती है। परन्तु हृदय की इस निर्बलता पर मेरा मन झुँझला उठा। यह मेरी क्या दशा है, क्यों इतनी जल्दी मेरे चित्त की काया पलट गयी ? मुझे पूर्ण विश्वास था कि मैं इन मृदुल वाक्यों की आँधी और ललित कटाक्षों के बहाव में भी अचल रह सकता हूँ और कहाँ अब यह दशा हो गयी कि मुझमें साधारण झोंके को भी सहन करने की सामर्थ्य नहीं ! इन विचारों से हृदय में कुछ दृढ़ता आयी, तिस पर भी क्रोध की लगाम पग-पग पर ढीली होती जाती थी। अंत में मैंने हृदय को बहुत दबाया और बनावटी क्रोध का भाव धारण किया। ठान लिया कि चलते ही चलते एकदम से बरस पड़ूँगा।

ऐसा न हो कि विलम्बरूपी वायु इस क्रोधरूपी मेघ को उड़ा ले जाय, परंतु ज्यों ही घर पहुंचा, अम्बा ने दौड़ कर मुन्नू को गोदी में ले लिया और प्यार से सने हुए कोमल स्वर से बोली—"आज तुम इतनी देर तक कहाँ घूमते रहे ? चलो, देखो, मैंने तुम्हारे लिए कैसी अच्छी-अच्छी फुलौड़ियाँ बनायी हैं।" मेरा कृत्रिम क्रोध एक क्षण में उड़ गया। मैंने विचार किया, इस देवी पर क्रोध करना भारी अत्याचार है। मुन्नू अबोध बालक है। सम्भव है कि वह अपनी माँ का स्मरण कर रो पड़ा हो। अम्बा इसके लिए दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। हमारे मनोभाव पूर्व विचारों के अधीन नहीं होते, हम उनको प्रकट करने के निमित्त कैसे-कैसे शब्द गढ़ते हैं, परंतु समय पर शब्द हमें धोखा दे जाते हैं और वे ही भावनाएँ स्वाभाविक रूप से प्रकट होती हैं। मैंने अम्बा को न तो कोई व्यंग्यपूर्ण बातें ही कहीं और न क्रोधित हो मुख ढाँक कर सोया ही, बल्कि अत्यंत कोमल स्वर में बोला—मुन्नू ने आज मुझे अत्यंत लज्जित किया। खचानची साहब ने पूछा तुम्हारी नयी अम्माँ तुम्हें प्यार करती हैं या नहीं, तो ये रोने लगा। मैं लज्जा से गड़ गया। मुझे तो स्वप्न में भी यह विचार नहीं हो सकता कि तुमने इसे कुछ कहा होगा। परंतु अनाथ बच्चों का हृदय उस चित्र की भाँति होता है जिस पर एक बहुत ही साधारण परदा पड़ा हुआ हो। पवन का साधारण झोंका भी उसे हटा देता है।

ये बातें कितनी कोमल थीं, तिस पर भी अम्बा का विकसित मुखमंडल कुछ मुरझा गया। वह सजल नेत्र हो कर बोली—इस बात का विचार तो मैंने यथासाध्य पहले ही दिन से रखा है। परंतु यह असम्भव है कि मैं मुन्नू के हृदय से माँ का शोक मिटा दूँ। मैं चाहे अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँ, परंतु मेरे नाम पर जो सौतेलेपन की कालिमा लगी हुई है, वह मिट नहीं सकती।

4

मुझे भय था कि इस वार्तालाप का परिणाम कहीं विपरीत न हो, परन्तु दूसरे ही दिन मुझे अम्बा के व्यवहार में बहुत अंतर दिखायी देने लगा। मैं उसे प्रातः-सायंकाल पर्यत मुन्नू की

ही सेवा में लगी हुई देखता, यहाँ तक कि उस धुन में उसे मेरी भी चिंता न रहती थी। परंतु मैं ऐसा त्यागी न था कि अपने आराम को मुन्नू पर अर्पण कर देता। कभी-कभी मुझे अम्बा की यह अश्रद्धा न भाती, परंतु मैं कभी भूल कर भी इसकी चर्चा न करता। एक दिन मैं अनियमित रूप से दफ्तर से कुछ पहले ही आ गया। क्या देखता हूँ कि मुन्नू द्वार पर भीतर की ओर मुख किये खड़ा है। मुझे इस समय आँख-मिचौनी खेलने की सूझी। मैंने दबे पाँव पीछे से जा कर उसके नेत्र मूँद लिये। पर शोक ! उसके दोनों गाल अश्रुपूरित थे। मैंने तुरंत दोनों हाथ हटा लिये। ऐसा प्रतीत हुआ मानो सर्प ने डस लिया हो। हृदय पर एक चोट लगी। मुन्नू को गोद में लेकर बोला—मुन्नू, क्यों रोते हो ? यह कहते-कहते मेरे नेत्र भी सजल हो आये।

मुन्नू आंसू पी कर बोला—जी नहीं, रोता नहीं हूँ।

मैंने उसे हृदय से लगा लिया और कहा—अम्माँ ने कुछ कहा तो नहीं ?

मुन्नू ने सिसकते हुए कहा—जी नहीं, मुझे वह बहुत प्यार करती हैं।

मुझे विश्वास न हुआ, पूछा—वह प्यार करती तो तुम रोते क्यों ? उस दिन खजानची के घर भी तुम रोये थे। तुम मुझसे छिपाते हो। कदाचित् तुम्हारी अम्माँ अवश्य तुमसे कुछ क्रुद्ध हुई हैं।

मुन्नू ने मेरी ओर कातर दृष्टि से देख कर कहा—जी नहीं वह मुझे प्यार करती हैं इसी कारण मुझे बारम्बार रोना आता है। मेरी अम्माँ मुझे अत्यंत प्यार करती थीं। वह मुझे छोड़कर चली गयीं। नयी अम्माँ उससे भी अधिक प्यार करती हैं। इसीलिए मुझे भय लगता है कि उसकी तरह यह भी मुझे छोड़कर न चली जायं।

यह कह कर मुन्नू पुनः फूट-फूटकर रोने लगा। मैं भी रो पड़ा। अम्बा के इस स्नेहमय व्यवहार ने मुन्नू के सुकोमल हृदय पर कैसा आघात किया था। थोड़ी देर तक मैं स्तम्भित रह गया। किसी कवि की यह वाणी स्मरण आ गयी कि पवित्र आत्माएँ इस संसार में चिरकाल तक नहीं ठहरतीं। कहीं भावी ही इस बालक की जिह्वा से तो यह शब्द नहीं कहला रही है। ईश्वर न करे कि वह अशुभ दिन देखना पड़े। परन्तु मैंने तर्क द्वारा इस शंका को दिल से निकाल दिया। समझा कि माता की मृत्यु ने प्रेम और वियोग में एक मानसिक सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया है और कोई बात नहीं है। मुन्नू को गोद में लिये हुए अम्बा के पास गया और मुस्करा कर बोला—'इनसे पूछो क्यों रो रहे हैं ?' अम्बा चौंक पड़ी। उसके मुख की कांति मलिन हो गयी। बोली—तुम्हीं पूछो। मैंने कहा—यह इसलिए रोते हैं कि तुम इन्हें अत्यंत प्यार करती हो और इनको भय है कि तुम भी इनकी माता की भाँति इन्हें छोड़कर न चली जाओ। जिस प्रकार गर्द साफ हो जाने से दर्पण चमक उठता है, उसी भाँति अम्बा का मुख मंडल प्रकाशित हो गया। उसने मुन्नू को मेरी गोद से छीन लिया और कदाचित् यह प्रथम अवसर था कि उसने ममतापूर्ण स्नेह से मुन्नू के पाँव का चुम्बन किया।

5

शोक ! महा शोक !! मैं क्या जानता था कि मुन्नू की अशुभ कल्पना इतनी शीघ्र पूर्ण हो जायगी। कदाचित् उसकी बाल-दृष्टि ने होनहार को देख लिया था, कदाचित् उसके बाल

श्रवण मृत्यु दूतों के विकराल शब्दों से परिचित थे।

छह मास भी व्यतीत न होने पाये थे कि अम्बा बीमार पड़ी और एन्फ्लुएंज़ा ने देखते-देखते उसे हमारे हाथों से छीन लिया। पुनः वह उपवन मरुतुल्य हो गया, पुनः वह बसा हुआ घर उजड़ गया। अम्बा ने अपने को मुन्नू पर अर्पण कर दिया था—हाँ, उसने पुत्र-स्नेह का आदर्श रूप दिखा दिया। शीतकाल था और वह घड़ी रात्रि शेष रहते ही मुन्नू के लिए प्रातःकाल का भोजन बनाने उठती थी। उसके इस स्नेह-बाहुल्य ने मुन्नू पर स्वाभाविक प्रभाव डाल दिया था। वह हठीला और नटखट हो गया था। जब तक अम्बा भोजन कराने न बैठे, मुँह में कौर न डालता, जब तक अम्बा पंखा न झले, वह चारपाई पर पाँव न रखता। उसे छेड़ता, चिढ़ाता और हैरान कर डालता। परंतु अम्बा को इन बातों से आत्मिक सुख प्राप्त होता था। एन्फ्लुएंज़ा से कराह रही थी, करवट लेने तक की शक्ति न थी, शरीर तवा हो रहा था, परंतु मुन्नू के प्रातःकाल के भोजन की चिंता लगी रहती थी। हाय ! वह निःस्वार्थ मातृ-स्नेह अब स्वप्न हो गया। उस स्वप्न के स्मरण से अब भी हृदय गद्गद हो जाता है। अम्बा के साथ मुन्नू का चुलबुलापन तथा बाल क्रीड़ा विदा हो गयी। अब वह शोक और नैराश्य की जीवित मूर्ति है, वह अब भी नहीं रोता। ऐसा पदार्थ खो कर अब उसे कोई खटका, कोई भय नहीं रह गया।

['सौतेली मां' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक पत्रिका में 'कहकशां', जून, 1919 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में 'विमाता' शीर्षक से संकलित। हिन्दी रूप 'विमाता' नाम से 'श्री शारदा' मासिक पत्रिका, अप्रैल, 1921 में प्रकाशित।]

अनिष्ट शंका

चाँदनी रात, समीर के सुखद झोंके, सुरम्य उद्यान। कुँवर अमरनाथ अपनी विस्तीर्ण छत पर लेटे हुए मनोरमा से कह रहे थे—तुम घबराओ नहीं, मैं जल्द आऊँगा।

मनोरमा ने उनकी ओर कातर नेत्रों से देखकर कहा—मुझे क्यों नहीं लेते चलते?

अमरनाथ—तुम्हें वहाँ कष्ट होगा, मैं कभी यहाँ रहूँगा, कभी वहाँ, सारे दिन मारा-मारा फिरूँगा, पहाड़ी देश है, जंगल और बीहड़ के सिवाय बस्ती का कोसों पता नहीं, उन पर भयंकर पशुओं का भय, तुमसे यह तकलीफें न सही जायँगी।

मनोरमा—तुम भी तो इन तकलीफों के आदी नहीं हो।

अमरनाथ—मैं पुरुष हूँ, आवश्यकता पड़ने पर सभी तकलीफों का सामना कर सकता हूँ।

मनोरमा (गर्व से)—मैं भी स्त्री हूँ, आवश्यकता पड़ने पर आग में कूद सकती हूँ। स्त्रियों की कोमलता पुरुषों की काव्य-कल्पना है। उनमें शारीरिक सामर्थ्य चाहे न हो पर उनमें वह धैर्य और साहस है जिस पर काल की दुश्चिंताओं का जरा भी असर नहीं होता।

अमरनाथ ने मनोरमा को श्रद्धामय दृष्टि से देखा और बोले—यह मैं मानता हूँ, लेकिन जिस कल्पना को हम चिरकाल से प्रत्यक्ष समझते आये हैं वह एक क्षण में नहीं

मिट सकती। तुम्हारी तकलीफ मुझसे न देखी जायेगी, मुझे दुःख होगा ! देखो इस समय चाँदनी में कितनी बहार है।

मनोरमा—मुझे बहलाओ मत। मैं हठ नहीं करती, लेकिन यहाँ मेरा जीवन अपाढ़ हो जायेगा। मेरे हृदय की दशा विचित्र है। तुम्हें अपने सामने न देख कर मेरे मन में तरह-तरह की शंकाएँ होती हैं कि कहीं चोट न लग गयी हो, शिकार खेलने जाते हो तो डरती हूँ कहीं घोड़े ने शरारत न की हो। मुझे अनिष्ट का भय सदैव सताया करता है।

अमरनाथ—लेकिन मैं तो विलास का भक्त हूँ। मुझ पर इतना अनुराग करके तुम अपने ऊपर अन्याय करती हो।

मनोरमा ने अमरनाथ को दबी हुई दृष्टि से देखा जो कह रही थी मैं तुमको तुमसे ज्यादा पहचानती हूँ।

बुंदेलखंड में भीषण दुर्भिक्ष था। लोग वृक्षों की छालें छील-छील कर खाते थे। क्षुधा-पीड़ा ने भक्ष्याभक्ष्य की पहचान मिटा दी थी। पशुओं का तो कहना ही क्या, मानव संतानें कौड़ियों के मोल बिकती थीं। पादरियों की चढ़ बनी थी, उनके अनाथालयों में नित्य गोल के गोल बच्चे भेंड़ों की भाँति हाँके जाते थे। माँ की ममता मुट्ठी भर अनाज पर कुर्बान हो जाती। कुँवर अमरनाथ काशी-सेवा-समिति के व्यवस्थापक थे। समाचार-पत्रों में यह रोमांचकारी समाचार देखे तो तड़प उठे। समिति के कई नवयुवकों को साथ लिया और बुंदेलखण्ड जा पहुँचे। मनोरमा को वचन दिया कि प्रतिदिन पत्र लिखेंगे और यथासम्भव जल्द लौट आयेंगे।

एक सप्ताह तक तो उन्होंने अपना वचन पालन किया, लेकिन शनैः-शनैः पत्रों में विलम्ब होने लगा। अक्सर इलाके डाकघर से वहुत दूर पड़ते थे। यहाँ से नित्यप्रति पत्र भेजने का प्रबन्ध करना दुःसाध्य था।

मनोरमा वियोग-दुःख से विकल रहने लगी। वह अव्यवस्थित दशा में उदास बैठी रहती, कभी नीचे आती, कभी ऊपर जाती, कभी बाग में जा बैठती। जब तक पत्र न आ जाता वह इसी भाँति व्यग्र रहती, पत्र मिलते ही सूखे धान में पानी पड़ जाता।

लेकिन जब पत्रों के आने में देर होने लगी तो उसका वियोग-विकल-हृदय अधीर हो गया। बार-बार पछताती कि मैं नाहक उनके कहने में आ गयी, मुझे उनके साथ जाना चाहिए था। उसे किताबों से प्रेम था पर अब उनकी ओर ताकने का भी जी न चाहता। विनोद की वस्तुओं से उसे अरुचि-सी हो गयी ! इस प्रकार एक महीना गुजर गया।

एक दिन उसने स्वप्न देखा कि अमरनाथ द्वार पर नंगे सिर, नंगे पैर, खड़े रो रहे हैं। वह घबरा कर उठ बैठी और उग्रावस्था में दौड़ी द्वार तक आयी। यहाँ का सन्नाटा देख कर उसे होश आ गया। उसी दम मुनीम को जगाया और कुँवर साहब के नाम तार भेजा। किंतु जवाब न आया। सारा दिन गुजर गया मगर कोई जवाब नहीं। दूसरी रात भी गुजरी लेकिन जवाब का पता न था। मनोरमा निर्जल, निराहार मूर्च्छित दशा में अपने कमरे में पड़ी रहती। जिसे देखती उसी से पूछती जवाब आया ? कोई द्वार पर आवाज देता तो दौड़ी हुई जाती और पूछती—कुछ जवाब आया ?

उसके मन में विविध शंकाएँ उठतीं; लौंडियों से स्वप्न का आशय पूछती। स्वप्नों के कारण और विवेचना पर कई ग्रंथ पढ़ डाले, पर कुछ रहस्य न खुला। लौंडियाँ उसे दिलासा

देने के लिए कहतीं, कुँवर जी कुशल से हैं। स्वप्न में किसी को नंगे पैर देखें तो समझो वह घोड़े पर सवार है। घबराने की कोई बात नहीं। लेकिन रमा को इस बात से तस्कीन न होती। उसे तार के जवाब की रट लगी हुई थी, यहाँ तक कि चार दिन गुजर गए।

किसी मुहल्ले में मदारी का आ जाना बालवृन्द के लिए एक महत्त्व की बात है। उसके डमरू की आवाज में खोंचे वाले की क्षुधावर्धक ध्वनि से भी अधिक आकर्षण होता है। इसी प्रकार मुहल्ले में किसी ज्योतिषी का आ जाना मारके की बात है। एक क्षण में इसकी खबर घर-घर फैल जाती है। सास अपनी बहू को लिये आ पहुँचती है, माता भाग्यहीन कन्या को ले कर आ जाती है। ज्योतिषी जी दुःख-सुख की अवस्थानुसार वर्षा करने लगते हैं। उनकी भविष्यवाणियों में बड़ा गूढ़ रहस्य होता है। उनका भाग्य निर्णय भाग्य-रेखाओं से भी जटिल और दुष्ग्राह्य होता है। संभव है कि वर्तमान शिक्षा विधाता ने ज्योतिष का आदर कुछ कम कर दिया हो पर ज्योतिषी जी के माहात्म्य में जरा कमी नहीं हुई। उनकी बातों पर चाहे किसी को विश्वास न हो पर सुनना सभी चाहते हैं। उनके एक-एक शब्दों में आशा और भय को उत्तेजित करने की शक्ति भरी रहती है, विशेषतः उसकी अमंगल सूचना तो वज्रपात के तुल्य है, घातक और दग्धकारी।

तार भेजे हुए आज पाँचवाँ दिन था कि कुँवर साहब के द्वार पर एक ज्योतिषी का आगमन हुआ। तत्काल मुहल्ले की महिलाएँ जमा हो गयीं। ज्योतिषी जी भाग्य-विवेचन करने लगे, किसी को रुलाया, किसी को हँसाया। मनोरमा को खबर मिली। उन्हें तुरंत अंदर बुला भेजा और स्वप्न का आशय पूछा।

ज्योतिषी जी ने इधर-उधर देखा, पन्ने के पन्ने उल्टे, उँगलियों पर कुछ गिना, पर कुछ निश्चय न कर सके कि क्या उत्तर देना चाहिए, बोले क्या सरकार ने यह स्वप्न देखा है ?

मनोरमा बोली—नहीं, मेरी एक सखी ने देखा है, मैं कहती हूँ, यह अमंगलसूचक है। वह कहती है, मंगलमय है। आप इसकी क्या विवेचना करते हैं ?

ज्योतिषी जी फिर बगलें झाँकने लगे। उन्हें अमरनाथ की यात्रा का हाल न मालूम था और न इतनी मुहलत ही मिली थी कि यहाँ आने के पूर्व वह अवस्थाज्ञान प्राप्त कर लेते जो अनुमान के साथ मिल कर जनता में ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रश्न पूछा था उसका भी कुछ सूत्रसूचक उत्तर न मिला। निराश हो कर मनोरमा के समर्थन करने ही में अपना कल्याण देखा। बोले—सरकार जो कहती हैं वही सत्य है। यह स्वप्न अमंगलसूचक है।

मनोरमा खड़ी सितार के तार की भाँति थर-थर काँपने लगी। ज्योतिषी जी ने उस अमंगल का उद्‌घाटन करते हुए कहा—उनके पति पर कोई महान् संकट आने वाला है, उनका घर नाश हो जायगा, वह देश-विदेश मारे-मारे फिरेंगे।

मनोरमा ने दीवार का सहारा ले कर कहा—भगवान्, मेरी रक्षा करो और मूर्च्छित हो कर जमीन पर गिर पड़ी।

ज्योतिषी जी अब चेते। समझ गये कि बड़ा धोखा खाया। आश्वासन देने लगे, आप कुछ चिंता न करें। मैं उस संकट का निवारण कर सकता हूँ। मुझे एक बकरा, कुछ लौंग और कच्चा धागा मँगा दें। जब कुँवर जी के यहाँ से कुशल-समाचार आ जाय तो जो दक्षिणा चाहें दे दें। काम कठिन है पर भगवान की दया से असाध्य नहीं है। सरकार देखें मुझे

बड़े-बड़े हाकिमों ने सर्टिफिकेट दिये हैं। अभी डिप्टी साहब की कन्या बीमार थीं। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था। मैंने यंत्र दिया, बैठे-बैठे आँखें खुल गयीं। कल की बात है, सेठ चंदूलाल के यहाँ से रोकड़ की एक थैली उड़ गयी थी, कुछ पता न चलता था, मैंने सगुन विचारा और बात की बात में चोर पकड़ लिया। उनके मुनीम का काम था, थैली ज्यों की त्यों निकल आयी।

ज्योतिषी जी तो अपनी सिद्धियों की सराहना कर रहे थे और मनोरमा अचेत पड़ी हुई थी।

अकस्मात् वह उठ बैठी, मुनीम को बुलाकर कहा—यात्रा की तैयारी करो, मैं शाम की गाड़ी से बुंदेलखंड जाऊँगी।

4

मनोरमा ने स्टेशन पर आ कर अमरनाथ को तार दिया—"मैं आ रही हूँ।" उनके अंतिम पत्र से ज्ञात हुआ था कि वह कबरई में हैं, कबरई का टिकट लिया। लेकिन कई दिनों से जागरण कर रही थी। गाड़ी पर बैठते ही नींद आ गयी और नींद आते ही अनिष्ट शंका ने एक भीषण स्वप्न का रूप धारण कर लिया।

उसने देखा सामने एक अगम सागर है, उसमें एक टूटी हुई नौका हलकोरें खाती बहती चली जाती है। उस पर न कोई मल्लाह है न पाल, न डाँड़े। तरंगें उसे कभी ऊपर ले जाती हैं कभी नीचे, सहसा उस पर एक मनुष्य दृष्टिगोचर हुआ। यह अमरनाथ थे, नंगे सिर, नंगे पैर, आँखों से आँसू बहाते हुए। मनोरमा थर-थर काँप रही थी। जान पड़ता था नौका अब डूबी और अब डूबी। उसने जोर से चीख मारी और जाग पड़ी। शरीर पसीने से तर था, छाती धड़क रही थी। वह तुरंत उठ बैठी, हाथ-मुँह धोया और इसका इरादा किया अब न सोऊँगी ! हाँ ! कितना भयावह दृश्य था। परम पिता ! अब तुम्हारा ही भरोसा है। उनकी रक्षा करो।

उसने खिड़की से सिर निकालकर देखा। आकाश पर तारागण दौड़ रहे थे। घड़ी देखी, बारह बजे थे, उसको आश्चर्य हुआ मैं इतनी देर तक सोयी। अभी तो एक झपकी भी पूरी न होने पायी।

उसने एक पुस्तक उठा ली और विचारों को एकाग्र कर पढ़ने लगी। इतने में प्रयाग आ पहुँचा, गाड़ी बदली। उसने फिर किताब खोली और उच्च स्वर से पढ़ने लगी। लेकिन कई दिनों की जगी आँखें इच्छा के अधीन नहीं होतीं। बैठे-बैठे झपकियाँ लेने लगी, आँखें बंद हो गयीं और एक दूसरा दृश्य सामने उपस्थित हो गया।

उसने देखा, आकाश से मिला हुआ एक पर्वत-शिखर है। उसके ऊपर के वृक्ष छोटे-छोटे पौधों के सदृश दिखाई देते हैं। श्यामवर्ण घटाएँ छायी हुई हैं, बिजली इतने जोर से कड़कती है कि कान के परदे फटे जाते हैं, कभी यहाँ गिरती है कभी वहाँ। शिखर पर एक मनुष्य नंगे सिर बैठा हुआ है, उसकी आँखों का अश्रु-प्रवाह साफ दीख रहा है। मनोरमा दहल उठी, यह अमरनाथ थे। वह पर्वत शिखर से उतरना चाहते थे लेकिन मार्ग न मिलता था। भय से उनका मुख वर्ण-शून्य हो रहा था। अकस्मात् एक बार बिजली का भयंकर नाद सुनायी दिया, एक ज्वाला-सी दिखायी दी और अमरनाथ अदृश्य हो गया। मनोरमा ने फिर

चीख मारी और जाग पड़ी। उसका हृदय बाँसों उछल रहा था, मस्तिष्क चक्कर खाता था। जागते ही उसकी आँखों में जल-प्रवाह होने लगा। वह उठ खड़ी हुई और कर जोड़ कर ईश्वर से विनय करने लगी—ईश्वर मुझे ऐसे बुरे-बुरे स्वप्न दिखाई दे रहे हैं, न जाने उन पर क्या बीत रही है, तुम दीनों के बन्धु हो, मुझ पर दया करो, मुझे धन और सम्पत्ति की इच्छा नहीं, मैं झोंपड़ी में खुश रहूँगी, मैं केवल उनकी शुभकामना रखती हूँ। मेरी इतनी प्रार्थना स्वीकार करो।

वह फिर अपनी जगह पर बैठ गयी। अरुणोदय की मनोरम छटा और शीतल सुखद समीरण ने उसे आकर्षित कर लिया। उसे संतोष हुआ, किसी तरह रात कट गयी, अब तो नींद न आयेगी। पर्वतों से मनोहर दृश्य दिखायी देने लगे, कहीं पहाड़ियों पर भेड़ों के गल्ले, कहीं पहाड़ियों के दामन में मृगों के झुंड, कहीं कमल के फूलों से लहराते सागर। मनोरमा एक अर्धस्मृति की दशा में इन दृश्यों को देखती रही। लेकिन फिर न जाने कब उसकी अभागी आँखें झपक गयीं।

उसने देखा अमरनाथ घोड़े पर सवार एक पुल पर चले जाते हैं। नीचे नदी उमड़ी हुई है, पुल बहुत तंग है, घोड़ा रह-रह कर बिचकता है और अलग हो जाता है। मनोरमा के हाथ-पाँव फूल गये। वह उच्च-स्वर से चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगी—घोड़े से उतर पड़ो, घोड़े से उतर पड़ो, यह कहते हुए वह उनकी तरफ झपटी, आँखें खुल गयीं। गाड़ी किसी स्टेशन के प्लेटफार्म से सनसनाती चली जाती थी। अमरनाथ नंगे सिर, नंगे पैर प्लेटफार्म पर खड़े थे। मनोरमा की आँखों में अभी तक वही भयंकर स्वप्न समाया हुआ था। कुँवर को देख कर उसे भय हुआ कि वह घोड़े से गिर पड़े और नीचे नदी में फिसलना चाहते हैं। उसने तुरन्त उन्हें पकड़ने के लिए हाथ फैलाया और जब उन्हें न पा सकी तो उसी सुषुप्तावस्था में उसने गाड़ी का द्वार खोला और कुँवर साहब की ओर हाथ फैलाये हुए गाड़ी के बाहर निकल आयी। तब वह चौंकी, जान पड़ा किसी ने उठा कर आकाश से भूमि पर पटक दिया, जोर से एक धक्का लगा और चेतना शून्य हो गयी।

5

वह कबरई का स्टेशन था। अमरनाथ तार पाकर स्टेशन पर आये थे। मगर यह डाक थी, वहाँ न ठहरती थी, मनोरमा को हाथ फैलाये गाड़ी से गिरते देखकर वह हाँ हाँ, करते हुए लपके लेकिन कर्मलेख पूरा हो चुका था। मनोरमा प्रेमवेदी पर बलिदान हो चुकी थी।

इसके तीसरे दिन वह नंगे सिर, नंगे पैर भग्नहृदय घर पहुँचे। मनोरमा का स्वप्न सच्चा हुआ।

उस प्रेमविहीन स्थान में अब कोन रहता। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति काशी-सेवा समिति को प्रदान कर दी और अब नंगे सिर, नंगे पैर, विरक्त दशा में देश-विदेश घूमते रहते हैं। ज्योतिषी जी की विवेचना भी चरितार्थ हो गयी।

['ख्वाबे-परेशां' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक पत्रिक 'कहकशां', अगस्त, 1919 में प्रकाशित। उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'अनिष्ट शंका' शीर्षक से 'आज', 27 जून, 1921 में प्रकाशित तथा 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

इज्जत का खून

मैंने कहानियों और इतिहासों में तकदीर के उलट-फेर की अजीबोगरीब दास्तानें पढ़ी हैं। शाह को भिखमंगा और भिखमंगे को शाह बनते देखा है। तकदीर एक छुपा हुआ भेद है। गलियों में टुकड़े चुनती हुई औरतें सोने के सिंहासन पर बैठ गई हैं और वह ऐश्वर्य के मतवाले जिनके इशारे पर तकदीर भी सर झुकाती थी, आन की आन में चील-कौओं का शिकार बन गए हैं। पर मेरे सर पर जो कुछ बीती उसकी नजीर कहीं नहीं मिलती। आह, उन घटनाओं को आज याद करती हूं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं और हैरत होती है कि अब तक मैं क्यों और क्योंकर जिंदा हूं। सौंदर्य लालसाओं का स्रोत है। मेरे दिल में क्या-क्या लालसाएं न थीं पर आह, निष्ठुर भाग्य के हाथों मर मिटीं। मैं क्या जानती थी कि वही आदमी जो मेरी एक-एक अदा पर कुर्बान होता था, एक दिन मुझे इस तरह जलील और बर्बाद करेगा।

आज तीन साल हुए जब मैंने इस घर में कदम रखा, उस वक्त यह एक हरा-भरा चमन था। मैं इस चमन की बुलबुल थी, हवा में उड़ती थी, डालियों पर चहकती थी, फूलों पर सोती थी। सईद मेरा था, मैं सईद की थी। इस संगमरमर के हौज के किनारे हम मुहब्बत के पांसे खेलते थे। इन्हीं क्यारियों में उल्फत के तराने गाते थे। इसी चमन में हमारी मुहब्बत की गुपचुप बातें होती थीं, मस्तियों के दौर चलते थे। वह मुझसे कहते थे—तुम मेरी जान हो। मैं उनसे कहती थी—तुम मेरे दिलदार हो। हमारी जायदाद लम्बी-चौड़ी थी। जमाने की कोई फिक्र, जिंदगी का कोई गम न था। हमारे लिए जिंदगी सशरीर आनन्द, एक अनन्त चाह और बहार का तिलिस्म थी, जिसमें मुरादें खिलती थीं और खुशियां हंसती थीं। जमाना हमारी इच्छाओं पर चलने वाला था। आसमान हमारी भलाई चाहता था और तकदीर हमारी साथी थी।

एक दिन सईद ने आकर कहा—मेरी जान, मैं तुमसे एक विनती करने आया हूं। देखना इन मुस्कराते हुए होंठों पर इंकार का हर्फ न आए। मैं चाहता हूं कि अपनी सारी मिलकियत, सारी जायदाद तुम्हारे नाम चढ़वा दूं। मेरे लिए तुम्हारी मुहब्बत काफी है। यही मेरे लिए सबसे बड़ी नेमत है। मैं अपनी हकीकत को मिटा देना चाहता हूं। चाहता हूं कि तुम्हारे दरवाजे का फकीर बनकर रहूं। तुम मेरी नूरजहां बन जाओ, मैं तुम्हारा सलीम बनूंगा, और तुम्हारी मूंगे जैसी हथेली के प्यालों पर उम्र बसर करूंगा।

मेरी आंखें भर आईं। खुशियां अपनी चोटी पर पहुंचकर आंसू की बूंद बन गईं।

2

पर अभी पूरा साल भी न गुजरा था कि मुझे सईद के मिजाज में कुछ तबदीली नजर आने लगी। हमारे दरमियान कोई लड़ाई-झगड़ा या बदमजगी न हुई थी। मगर अब वह सईद न था जिसे एक लमहे के लिए भी मेरी जुदाई दूभर थी। वह अब रात की रात गायब रहता। उसकी आंखों में प्रेम की वह उमंग न थी, न अन्दाजों में वह प्यास, न मिजाज में वह गर्मी।

कुछ दिनों तक इस रूखेपन ने मुझे खूब रुलाया। मुहब्बत के मजे याद आ-आकर तड़पा देते। मैंने पढ़ा था कि प्रेम अमर होता है, क्या वह स्रोत इतनी जल्दी सूख गया ?

आह, नहीं, वह अब भी लहरें मार रहा था। पर अब उसका बहाव किसी दूसरी ओर था। वह अब किसी दूसरे चमन को शादाब करता था। आखिर मैं भी सईद से आंखें चुराने लगी। बेदिली से नहीं, सिर्फ इसलिए कि अब मुझे उससे आंखें मिलाने की ताब न थी। उसे देखते ही मुहब्बत के हजारों करिश्मे नजरों के सामने आ जाते और आंखें भर आतीं। मेरा दिल अब भी उसकी तरफ खिंचता था, कभी-कभी बेअख्तियार जी चाहता कि उसके पैरों पर गिरूं और कहूं -मेरे दिलदार, यह बेरहमी क्यों ? क्यां तुमने मुझसे मुंह फेर लिया है, मुझसे क्या खता हुई है ? लेकिन इस स्वाभिमान का बुरा हो जो दीवार बनकर रास्ते में खड़ा हो जाता।

यहां तक कि धीरे-धीरे दिल में भी मुहब्बत की जगह हसरत ने ले ली। निराशा के धैर्य ने दिल को तम्कीन दी। मेरे लिए सईद अब बीते हुए बसंत का एक भूला हुआ गीत था। दिल की गर्मी ठंडी हो गई। प्रेम का दीपक बुझ गया। यही नहीं, उसकी इज्जत भी मेरे दिल से रुखसत हो गई। जो आदमी प्रेम के पवित्र मन्दिर में मैल से भरा हुआ हो वह हरगिज इस योग्य नहीं कि मैं उसके लिए घुलूं और मरूं।

एक रोज शाम के वक्त मैं अपने कमरे में पलंग पर पड़ी एक किस्सा पढ़ रही थी, तभी अचानक एक सुंदर स्त्री मेरे कमरे में आइ। ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कमरा जगमगा उठा। रूप की ज्योति ने दरो-दीवार को रौशन कर दिया, गोया अभी सफेदी हुई है। उसकी अलंकृत शोभा, उसका खिला हुआ फूल-जैसा लुभावना चेहरा, उसकी नशीली मिठास, किसकी तारीफ करूं ! मुझ पर एक रोब-सा छा गया। मेरा रूप का घमण्ड धूल में मिल गया। मैं आश्चर्य में थी कि यह कौन रमणी है और यहां क्योंकर आई ? बेअख्तियार उठी कि उससे मिलूं और पूछूं कि सईद भी मुस्कराता हुआ कमरे में आया। मैं समझ गई कि यह रमणी उसकी प्रेमिका है। मेरा गर्व जाग उठा। मैं उठी जरूर पर शान से गर्दन उठाए हुए। आंखों में हुस्न के रोब की जगह घृणा का भाव आ बैठा। मेरी आंखों में अब वह रमणी रूप की देवी नहीं, डसने वाली नागिन थी। मैं फिर चारपाई पर बैठ गई और किताब खोलकर सामने रख ली। वह रमणी एक क्षण तक खड़ी मेरी तस्वीरों को देखती रही, तब कमरे से निकली, चलते वक्त उसने एक बार मेरी तरफ देखा, उसकी आंखों से अंगारे निकल रहे थे जिनकी किरणों में हिंस्र प्रतिशोध की लाली झलक रही थी। मेरे दिल में सवाल पैदा हुआ—सईद इसे यहां क्यों लाया ? क्या मेरा घमण्ड तोड़ने के लिए ?

3

जायदाद पर मेरा नाम था पर यह केवल एक भ्रम था, उस पर अधिकार पूरी तरह सईद का था। नौकर भी उसी को अपना मालिक समझते थे और अक्सर मेरे साथ ढिठाई से पेश आते। मैं सब्र के साथ जिंदगी के दिन काट रही थी। जब दिल में उमंगें न रहीं, तो पीड़ा क्यों होती ?

सावन का महीना था, काली घटा छायी हुई थी और रिमझिम बूंदें पड़ रही थीं। बगीचे पर हसरत का अंधेरा और सियाह दरख्तों पर जुगनुओं की चमक ऐसी मालूम होती थी कि जैसे उनके मुंह से चिनगारियों जैसी आहें निकल रही हैं। मैं देर तक हसरत का यह तमाशा देखती रही। कीड़े एक साथ चमकते थे और एक साथ बुझ जाते थे, गोया रोशनी

की बाढ़ें छूट रही हैं। मुझे भी झूला झूलने और गाने का शौक हुआ। मौसम की हालतें हसरत के मारे हुए दिलों पर भी अपना जादू कर जाती हैं। बगीचे में एक गोल बंगला था। मैं उसमें आई और बरामदे की एक कड़ी में झूला डलवाकर झूलने लगी। मुझे आज मालूम हुआ कि निराशा में भी एक आध्यात्मिक आनन्द होता है जिसका हाल उनको नहीं मालूम जिनकी इच्छाएं पूर्ण हैं। मैं चाव से एक मल्हार गाने लगी। सावन विरह और शोक का महीना है। गीत में एक वियोगी हृदय की कथा ऐसे दर्द भरे शब्दों में बयान की गई थी कि बरबस आंखों से आंसू टपकने लगे। इतने में बाहर से एक लालटेन की रोशनी नजर आई। सईद का नौकर पिछले दरवाजे से दाखिल हुआ। उसके पीछे वही हसीना और सईद दोनों चले आ रहे थे। हसीना ने मेरे पास आकर कहा—आज यहां नाच-रंग की महफिल सजेगी और शराब के दौर चलेंगे।

मैंने घृणा से कहा—मुबारक हो।

हसीना—बारहमासे और मल्हार की तानें उड़ेंगी, साजिंदे आ रहे हैं।

मैं—शौक से।

हसीना—तुम्हारा सीना हसद से चाक हो जायगा।

सईद ने मुझसे कहा—जुबैदा, तुम अपने कमरे में चली जाओ, यह इस वक्त आपे में नहीं हैं।

हसीना ने फिर मेरी तरफ लाल-लाल आंखें निकालकर कहा—मैं तुम्हें अपने पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझती।

मुझे फिर जब्त न रहा, अकड़कर बोली—और मैं तुझे क्या समझती हूं, एक कुतिया, दूसरों की उगली हुई हड्डियां चिचोड़ती फिरती है !

अब सईद के भी तेवर बदले, मेरी तरफ भयानक आंखों से देखकर बोले—जुबैदा, तुम्हारे सर पर शैतान तो नहीं सवार है ?

सईद का यह जुमला मेरे जिगर में चुभ गया, तड़प उठी, जिन होंठों से हमेशा मुहब्बत और प्यार की बातें सुनी हों उन्हीं से यह जहर निकले, और बिल्कुल बेकसूर! क्या मैं ऐसी नाचीज और हकीर हो गई हूं कि एक बाजारू औरत भी मुझे छेड़कर गालियां दे सकती है और मेरा जबान खोलना मना ! मेरे दिल में साल-भर से जो बुखार जमा हो रहा था, वह उबल पड़ा। मैं झूले से उतर पड़ी और सईद की तरफ शिकायत-भरी निगाहों से देखकर बोली—शैतान मेरे सर पर सवार है या तुम्हारे सर पर, इसका फैसला तुम खुद कर सकते हो। सईद, मैं तुमको अब तक शरीफ और गैरत वाला समझती थी, तुमने मेरे साथ बेवफाई की, इसका मलाल मुझे जरूर था, मगर मैंने सपने में भी यह न सोचा था कि तुम गैरत से इतने खाली हो कि एक हया-फरोश औरत के पीछे मुझे इस तरह जलील करोगे। इसका बदला तुम्हें खुदा से मिलेगा।

हसीना ने तेज होकर कहा—तू मुझे हया-फरोश कहती है ?

मैं—बेशक कहती हूं।

सईद—और मैं बेगैरत हूं ?

मैं—बेशक। बेगैरत ही नहीं, शोबदेबाज, मक्कार, पापी, सब कुछ। यह अल्फाज बहुत घिनावने हैं, लेकिन मेरे गुस्से के इजहार के लिए काफी नहीं।

मैं यह बातें कह ही रही थी कि एकाएक सईद के लम्बे-तगड़े, हट्टे-कट्टे नौकर ने मेरी दोनों बाहें पकड़ लीं और पलक मारते भर में हसीना ने झूले की रस्सियां उतारकर मुझे बरामदे के एक लोहे के खम्भे से बांध दिया।

इस वक्त मेरे दिल में क्या खयाल आ रहे थे, यह याद नहीं, पर मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया था, ऐसा मालूम होता था कि यह तीनों इन्सान नहीं, यमदूत हैं। गुस्से की जगह दिल में एक डर समा गया था। इस वक्त अगर कोई गैबी ताकत मेरे बन्धनों को काट देती, मेरे हाथों में आबदार खंजर दे देती तो भी मैं जमीन पर बैठकर अपनी जिल्लत और बेकसी पर आंसू बहाने के सिवा और कुछ न कर सकती। मुझे खयाल आता था कि शायद खुदा की तरफ से मुझ पर यह कहर नाजिल हुआ है। शायद मेरी बेनमाजी और बेदीनी की यह सजा मिल रही है। मैं अपनी पिछली जिंदगी पर निगाह डाल रही थी कि मुझसे कौन-सी गलती हुई है जिसकी यह सजा है। मुझे इसी हालत में छोड़कर तीनों सूरतें कमरे में चली गईं। मैंने समझा मेरी सजा खत्म हुई। लेकिन क्या यह सब मुझे यों ही बंधा रक्खेंगे ? लौंडियां मुझे इस हालत में देख लें तो क्या कहें ? नहीं, अब मैं इस घर में रहने के काबिल ही नहीं। मैं सोच रही थी कि रस्सियां क्योंकर खोलूं मगर अफसोस, मुझे न मालूम था कि अभी तक मेरी जो गति हुई है, वह आने वाली बेरहमियों का सिर्फ बयाना है। मैं अब तक न जानती थी कि यह छोटा आदमी कितना बेरहम, कितना कातिल है। मैं अपने दिल से बहस कर रही थी कि अपनी इस जिल्लत का इल्जाम मुझ पर कहां तक है। अगर मैं हसीना की उन दिल जलाने वाली बातों का जवाब न देती तो क्या यह नौबत न आती ? आती और जरूर आती। वह काली नागिन मुझे डसने का इरादा करके चली थी। इसीलिए उसने ऐसे दिल दुखाने वाले लहजे में बात ही शुरू की थी कि मैं गुस्से में आकर उसको लान-तान करूं और उसे मुझे जलील करने का बहाना मिल जाय।

पानी जोर से बरसने लगा था, बौछारों से मेरा सारा शरीर तर हो गया था। सामने गहरा अंधेरा था। मैं कान लगाए सुन रही थी कि अन्दर क्या मिसकौट हो रही है मगर मेह की सनसनाहट के कारण आवाजें साफ न सुनायी देती थीं। इतने में लालटेन फिर कमरे से बरामदे में आई और तीनों डरावनी सूरतें फिर सामने आकर खड़ी हो गईं। अब की उस खूनी परी के हाथों में एक पतली-सी कमची थी। उसके तेवर देखकर मेरा खून सर्द हो गया। उसकी आंखों में एक खून पीने वाली वहशत, एक कातिल, पागलपन दिखाई दे रहा था। मेरी तरफ शरारत-भरी नजरों से देखकर बोली—बेगम साहबा, मैं तुम्हारी बदजबानियों का ऐसा सबक देना चाहती हूं जो तुम्हें सारी उम्र याद रहे। और मेरे गुरु ने बतलाया है कि कमची से ज्यादा देर तक ठहरने वाला और कोई सबक नहीं होता।

यह कहकर उस जालिम ने मेरी पीठ पर एक कमची जोर से मारी। मैं तिलमिला गई, मालूम हुआ कि किसी ने पीठ पर आग की चिनगारी रख दी। मुझसे जब्त न हो सका। मां-बाप ने कभी फूल की छड़ी से भी न मारा था। जोर से चीखें मार-मारकर रोने लगी। स्वाभिमान, लज्जा, सब लुप्त हो गई। कमची की डरावनी और रौशन असलियत के सामने और सब भावनाएं गायब हो गईं। उन हिन्दू देवियों के दिल शायद लोहे के होते होंगे जो अपनी आन पर आग में कूद पड़ती थीं। मेरे दिल पर तो इस वक्त यही खयाल छाया हुआ था कि इस मुसीबत से क्योंकर छुटकारा हो। सईद तस्वीर की तरह खामोश खड़ा

था। मैं उसकी तरफ फरियाद की आंखों से देखकर बड़े विनती के स्वर में बोली—सईद, खुदा के लिए मुझे इस जालिम से बचाओ, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, तुम मुझे जहर दे दो, खंजर से गर्दन काट लो लेकिन यह मुसीबत सहने की मुझमें ताब नहीं। उन दिलजोइयों को याद करो, मेरी मुहब्बत को याद करो, उसी के सदके इस वक्त मुझे इस अजाब से बचाओ, खुदा तुम्हें इसका इनाम देगा।

सईद इन बातों से कुछ पिघला। हसीना की तरफ डरी हुई आंखों से देखकर बोला—जरीना, मेरे कहने से अब जाने दो। मेरी खातिर से इन पर रहम करो।

जरीना तेवर बदलकर बोली—तुम्हारी खातिर से सब कुछ कर सकती हूं, गालियां नहीं बर्दाश्त कर सकती।

सईद—क्या अभी तुम्हारे खयाल में गालियों की काफी सजा नहीं हुई ?

जरीना—तब तो आपने मेरी इज्जत की खूब कद्र की ! मैंने रानियों से चिलमचियां उठवायी हैं, यह बेगम साहबा हैं किस खयाल में ? मैं इसे अगर कुन्द छुरी से काटूं तब भी इसकी बदजबानियों की काफी सजा न होगी।

सईद—मुझसे अब यह जुल्म नहीं देखा जाता।

जरीना—आंखें बंद कर लो।

सईद—जरीना, गुस्सा न दिलाओ, मैं कहता हूं, अब इन्हें माफ करो।

जरीना ने सईद को ऐसी हिकारत भरी आंखों से देखा गोया वह उसका गुलाम है। खुदा जाने उस पर उसने क्या मन्तर मार दिया था कि उसमें खानदानी गैरत और बड़ाई और इन्सानियत का जरा भी एहसास बाकी न रहा था। वह शायद उसे गुस्से जैसे मर्दाना जज्बे के काबिल ही न समझती थी। हुलिया पहचानने वाले कितनी गलती करते हैं क्योंकि दिखाई कुछ पड़ता है, अन्दर कुछ और होता है ! बाहर के ऐसे सुंदर रूप के परदे में इतनी बेरहमी, इतनी निष्ठुरता ! कोई शक नहीं, रूप हुलिया पहचानने की विद्या का दुश्मन है। बोली—अच्छा, तो अब आपको मुझ पर गुस्सा आने लगा। क्यों न हो, आखिर निकाह तो आपने बेगम ही से किया है। मैं तो हया-फरोश कुतिया ही ठहरी !

सईद—तुम ताने देती हो और मुझसे यह खून नहीं देखा जाता।

जरीना—तो यह कमची हाथ में लो और इसे गिनकर सौ लगाओ। गुस्सा उतर जाएगा, इसका यही इलाज है।

सईद—फिर वही मजाक !

जरीना—नहीं, मैं मजाक नहीं करती।

सईद ने कमची लेने को हाथ बढ़ाया मगर मालूम नहीं जरीना को क्या शुबहा पैदा हुआ, उसने समझा शायद यह कमची को तोड़कर फेंक देंगे। कमची हटा ली और बोली—अच्छा, मुझसे यह दगा ! तो लो, अब मैं ही हाथों की सफाई दिखाती हूं। यह कहकर उस बेदर्द ने मुझे बेतहाशा कमचियां मारना शुरू कीं। मैं दर्द से ऐंठ-ऐंठकर चीख रही थी। उसके पैरों पड़ती थी, मिन्नतें करती थी, अपने किए पर शर्मिन्दा थी, दुआएं देती थी, पीर और पैगम्बर का वास्ता देती थी, पर उस कातिल को जरा भी रहम न आता था। सईद काठ के पुतले की तरह दर्दोसितम का यह नजारा आंखों से देख रहा था और उसको जोश न आता था। शायद मेरा बड़े से बड़ा दुश्मन भी मेरे रोने-धोने पर तरस खाता। मेरी

पीठ छिलकर लहूलुहान हो गई, जख्म पड़ते थे, हरेक चोट आग के शोले की तरह बदन पर लगती थी। मालूम नहीं उसने मुझे कितने दुर्रे लगाए, यहां तक कि कमची को मुझ पर रहम आ गया, वह फटकर टूट गई। लकड़ी का कलेजा फट गया मगर इन्सान का दिल न पिघला।

4

मुझे इस तरह जलील और तबाह करके तीनों खबीस रूहें वहां से रुखसत हो गई। सईद के नौकर ने चलते वक्त मेरी रस्सियां खोल दीं। मैं कहां जाती ? उस घर में क्योंकर कदम रखती ?

मेरा सारा जिस्म नासूर हो रहा था लेकिन दिल के फफोले उससे कहीं ज्यादा जानलेवा थे। सारा दिल फफोलों से भर उठा था। अच्छी भावनाओं के लिए जगह भी बाकी न रही थी। उस वक्त मैं किसी अंधे को कुएं में गिरते देखती तो मुझे हंसी आती, किसी यतीम का दर्दनाक रोना सुनती तो उसको मुंह चिढ़ाती। दिल की हालत में एक जबर्दस्त बदलाव हो गया था। मुझे गुस्सा न था, गम न था, मौत की आरजू न थी, यहां तक कि बदला लेने की भावना भी न थी। उस इन्तहाई जिल्लत ने बदला लेने की इच्छा को भी खत्म कर दिया था। हालांकि मैं चाहती तो कानून सईद को शिकंजे में ला सकती थी, उसे दाने-दाने के लिए तरसा सकती थी लेकिन यह बेइज्जती, यह बेआबरूई, यह पामाली बदले के खयाल के दायरे से बाहर थी। बस, सिर्फ एक चेतना बाकी थी और वह अपमान की चेतना थी। मैं हमेशा के लिए जलील हो गई। क्या यह दाग किसी तरह मिट सकता था ? हरगिज नहीं। हां, वह छिपाया जा सकता था और उसकी एक ही सूरत थी कि जिल्लत के काले गड्ढे में गिर पड़ूं ताकि सारे कपड़ों की सियाही यह सियाह दाग को छिपा दे। क्या इस घर से बियाबान अच्छा नहीं, जिसकी दीवारें टूटकर ढेर हो गई हों ? इस किश्ती से क्या पानी की सतह अच्छी नहीं, जिसके पेंदे में एक बड़ा छेद हो गया हो ? इस हालत में यही दलील मुझ पर छा गई। मैंने अपनी तबाही को और भी मुकम्मल, अपनी जिल्लत को और भी गहरा, अपने काले चेहरे को और भी काला करने का पक्का इरादा कर लिया। मैं अनजान में ही सईद से नैतिक रूप से बदला लेने पर आमादा हो गई। रात-भर मैं वहीं पड़ी कभी दर्द से कराहती और कभी इन्हीं खयालात में उलझती रही। यह घातक इरादा हर क्षण मजबूत से और भी मजबूत होता जाता था। घर में किसी ने मेरी खबर न ली। पौ फटते ही मैं बागीचे से बाहर निकल आई, मालूम नहीं मेरी लाज-शर्म कहां गायब हो गई थी। जो शख्स समुन्दर में गोते खा चुका हो उसे ताल-तलैयों का क्या डर ? मैं जो दरोदीवार से शर्माती थी, इस वक्त शहर की गलियों में बेधड़क चली जा रही थी—और कहां ? वहीं जहां जिल्लत की कद्र है, जहां किसी पर कोई हंसने वाला नहीं, जहां बदनामी का बाजार सजा हुआ है, जहां हया बिकती है और शर्म लुटती है !

इसके तीसरे दिन रूप की मण्डी के एक अच्छे हिस्से में एक ऊंचे कोठे पर बैठी हुई मैं उस मण्डी की सैर कर रही थी। शाम का वक्त था, नीचे सड़क पर आदमियों की ऐसी भीड़ थी कि कंधे से कंधा छिलता था। आज सावन का मेला था, लोग साफ-सुथरे कपड़े

पहने कतार की कतार दरिया की तरफ जा रहे थे। हमारे बाजार की बेशकीमती जिन्स भी आज नदी के किनारे सजी हुई थी। कहीं हसीना के झूले थे, कहीं सावन के गीत, लेकिन मुझे इस बाजार की सैर दरिया के किनारे से ज्यादा पुरलुत्फ मालूम होती थी। ऐसा मालूम होता था कि शहर की और सब सड़कें बंद हो गई हैं, सिर्फ यही तंग गली खुली हुई है और सबकी निगाहें कोठों ही की तरफ लगी थीं, गोया वह जमीन पर नहीं चल रहे हैं, हवा में उड़ना चाहते हैं। हां, पढ़े-लिखे लोगों को मैंने इतना बेधड़क नहीं पाया। वह भी घूरते थे मगर कनखियों से। अधेड़ उम्र के लोग सबसे ज्यादा बेधड़क मालूम होते थे। शायद उनकी मंशा जवानी के जोश को जाहिर करना था। बाजार क्या था एक लम्बा-चौड़ा थियेटर था, लोग हंसी-दिल्लगी करते थे, लुत्फ उठाने के लिए नहीं, हसीनों को सुनाने के लिए। मुंह दूसरी तरफ था, निगाह किसी दूसरी तरफ। बस, भांड़ों और नक्कालों की मजलिस थी।

यकायक सईद की फिटन नजर आई। मैं उस पर कई बार सैर कर चुकी थी। सईद अच्छे कपड़े पहने अकड़ा हुआ बैठा था। ऐसा सजीला, बांका जवान सारे शहर में न था, चेहरे-मोहरे से मर्दानापन बरसता था। उसकी आंख एक बार मेरे कोठे की तरफ उठी और नीचे झुक गई। उसके चेहरे पर मुर्दनी-सी छा गई जैसे किसी जहरीले सांप ने काट खाया हो। उसने कोचवान से कुछ कहा, दम-के-दम में फिटन हवा हो गई। इस वक्त उसे देखकर मुझे जो द्वेषपूर्ण प्रसन्नता हुई, उसके सामने उस जानलेवा दर्द की कोई हकीकत न थी। मैंने जलील होकर उसे जलील कर दिया। यह कटार कमचियों से कहीं ज्यादा तेज थी। उसकी हिम्मत न थी कि अब मुझसे आंख मिला सके। नहीं, मैंने उसे हरा दिया, उसे उम्र-भर के लिए कैद में डाल दिया। इस कालकोठरी से अब उसका निकलना गैर-मुमकिन था क्योंकि उसे अपने खानदान के बड़प्पन का घमण्ड था।

दूसरे दिन भोर में खबर मिली कि किसी कातिल ने मिर्जा सईद का काम तमाम कर दिया। उसकी लाश उसी बागीचे के गोल कमरे में मिली। सीने में गोली लग गई थी। नौ बजे दूसरी खबर सुनायी दी, जरीना को भी किसी ने रात के वक्त कत्ल कर डाला था। उसका सर तन से जुदा कर दिया गया था। बाद को जांच-पड़ताल से मालूम हुआ कि यह दोनों वारदातें सईद के ही हाथों हुईं। उसने पहले जरीना को उसके मकान पर कत्ल किया और तब अपने घर आकर अपने सीने में गोली मारी। इस मर्दाना गैरतमन्दी ने सईद की मुहब्बत मेरे दिल में ताजा कर दी।

शाम के वक्त मैं अपने मकान पर पहुंच गई। अभी मुझे यहां से गए हुए सिर्फ चार दिन गुजरे थे मगर ऐसा मालूम होता था कि वर्षों के बाद आई हूं। दरोदीवार पर हसरत छायी हुई थी। मैंने घर में पांव रखा तो बरबस सईद की मुस्कराती हुई सूरत आंखों के सामने आकर खड़ी हो गई—वही मर्दाना हुस्न, वही बांकपन, वही मनुहार आंखें। बेअख्तियार मेरी आंखें भर आईं और दिल से एक ठण्डी आह निकल आई। गम इसका न था कि सईद ने क्यों जान दे दी। नहीं, उसकी वह मुजरिमाना बेहिसी और रूप के पीछे भागना इन दोनों बातों को मरते दम तक माफ न करूंगी। गम यह था कि यह पागलपन उसके सर में क्यों समाया ? इस वक्त दिल की जो कैफियत है उससे मैं समझती हूं कि कुछ दिनों में सईद की बेवफाई और बेरहमी का घाव भर जायगा, अपनी जिल्लत की याद भी शायद मिट जाय,

मगर उसकी चन्दरोजा मुहब्बत का नक्श बाकी रहेगा और अब यह मेरी जिंदगी का सहारा है।

['खूने-हुर्मत' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक 'सुबहे-उम्मीद', सितम्बर, 1919 में प्रकाशित। उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'इज्जत का खून' शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित, संकलनकर्त्ता व रूपांतरकार श्री अमृतराय। डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने 'खूने-हुर्मत' (प्रतिष्ठा की हत्या) शीर्षक से उर्दू लिप्यन्तरण करके दुबारा 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित किया। 'सोलह अप्राप्य कहानियां' में भी संकलित।]

दफ्तरी

रफाकत हुसेन मेरे दफ़्तर का दफ्तरी था। दस रु. मासिक वेतन पाता था। दो-तीन रुपये बाहर के फुटकर काम से मिल जाते थे। यही उसकी जीविका थी, पर वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। उसकी आंतरिक अवस्था तो ज्ञात नहीं, पर वह सदैव साफ-सुथरे कपड़े पहनता और प्रसन्नचित्त रहता। कर्ज इस श्रेणी के मुनष्यों का आभूषण है। रफाकत पर इसका जादू न चलता था। उसकी बातों में कृत्रिम शिष्टाचार की झलक भी न होती। बेलाग और खरी कहता था। अमलों में जो बुराइयाँ देखता, साफ कह देता। इसी साफगोई के कारण लोग उसका सम्मान हैसियत से ज्यादा करते थे। उसे पशुओं से विशेष प्रेम था। एक घोड़ी, एक गाय, कई बकरियाँ, एक बिल्ली और एक कुत्ता और कुछ मुर्गियाँ पाल रखी थीं। इन पशुओं पर जान देता था। बकरियों के लिए पत्तियाँ तोड़ लाता, घोड़ी के लिए घास छील लाता। यद्यपि उसे आये दिन मवेशीखाने के दर्शन करने पड़ते थे, और बहुधा लोग उसके पशु-प्रेम की हँसी उड़ाते थे, पर वह किसी की न सुनता था और उसका यह निःस्वार्थ प्रेम था। किसी ने उसे मुर्गियों के अंडे बेचते नहीं देखा। उसकी बकरियों के बच्चे कभी बूचड़ की छुरी के नीचे नहीं गये और उसकी घोड़ी ने कभी लगाम का मुँह नहीं देखा। गाय का दूध कुत्ता पीता था। बकरी का दूध बिल्ली के हिस्से में आता था। जो कुछ बचा रहता, वह आप पीता था।

सौभाग्य से उसकी पत्नी भी साध्वी थी। यद्यपि उसका घर बहुत छोटा था, पर किसी ने द्वार पर उसकी आवाज नहीं सुनी। किसी ने उसे द्वार पर झाँकते नहीं देखा। वह गहने-कपड़ों के तगादों से पति की नींद हराम न करती थी। दफ्तरी उसकी पूजा करता था। वह गाय का गोबर उठाती, घोड़ों को घास डालती, बिल्ली को अपने साथ बिठा कर खिलाती, यहाँ तक कि कुत्ते को नहलाने से भी उसे घृणा न होती थी।

2

बरसात थी, नदियों में बाढ़ आयी हुई थी। दफ़्तर के कर्मचारी मछलियों का शिकार खेलने चले। शामत का मारा रफाकत भी उनके साथ हो लिया। दिन भर लोग शिकार खेला किये, शाम को मूसलाधार पानी बरसने लगा। कर्मचारियों ने तो एक गाँव में रात काटी, दफ्तरी

घर चला, पर अँधेरी रात, राह भूल गया और सारी रात भटकता फिरा। प्रातःकाल घर पहुँचा तो अभी अँधेरा ही था, लेकिन दोनों द्वार-पट खुले हुए थे। उसका कुत्ता पूँछ दबाये करुण-स्वर से कराहता हुआ आकर, उसके पैरों पर लोट गया। द्वार खुले देख कर दफ्तरी का कलेजा सन्न-से हो गया। घर में कदम रखे तो बिलकुल सन्नाटा था। दो-तीन बार स्त्री को पुकारा, किंतु कोई उत्तर न मिला। घर भाँय-भाँय कर रहा था। उसने दोनों कोठरियों में जा कर देखा। जब वहाँ भी उसका पता न मिला तो पशुशाला में गया। भीतर जाते हुए अज्ञात भय हो रहा था जो किसी अँधेरे खोह में जाते हुए होता है। उसकी स्त्री वहीं भूमि पर चित्त पड़ी हुई थी। मुँह पर मक्खियाँ बैठी हुई थीं, होंठ नीले पड़ गये थे, आँखें पथरा गयी थीं। लक्षणों से अनुमान होता था कि साँप ने डस लिया है।

दूसरे दिन रफाकत आया तो उसे पहचानना मुश्किल था। मालूम होता था, बरसों का रोगी है। बिलकुल खोया हुआ, गुम-सुम बैठा रहा मानो किसी दूसरी ही दुनिया में है। संध्या होते ही वह उठा और स्त्री की कब्र पर जा कर बैठ गया। अँधेरा हो गया। तीन-चार घड़ी रात बीत गयी, पर दीपक के टिमटिमाते हुए प्रकाश में उसी कब्र पर नैराश्य और दुःख की मूर्ति बना बैठा रहा, मानो मृत्यु की राह देख रहा हो। मालूम नहीं, कब घर आया। अब यही उसका नित्य का नियम हो गया। प्रातःकाल उठ कर मजार पर जाता, झाड़ू लगाता, फूलों के हार चढ़ाता, लोबान जलाता और नौ बजे तक कुरान का पाठ करता, संध्या समय फिर यही क्रम शुरू होता। अब यही उसके जीवन का नियमित कर्म था। अब वह अंतर्जगत में बसता था। बाह्य जगत् से उसने मुँह मोड़ लिया था। शोक ने विरक्त कर दिया था।

3

कई महीने तक यही हाल रहा। कर्मचारियों को दफ्तरी से सहानुभूति हो गयी थी। उसके काम कर लेते, उसे कष्ट न देते। उसकी पत्नी-भक्ति पर लोगों को विस्मय होता था।

लेकिन मनुष्य सर्वदा प्राणलोक में नहीं रह सकता। वहाँ का जलवायु उसके अनुकूल नहीं। वहाँ वह रूपमय, रसमय, भावनाएँ कहाँ ? विराग में वह चिंतामय उल्लास कहाँ ? वह आशामय आनंद कहाँ ? दफ्तरी को आधी रात तक ध्यान में डूबे रहने के बाद चूल्हा जलाना पड़ता, प्रातःकाल पशुओं की देखभाल करनी पड़ती। यह बोझा उसके लिए असह्य था। अवस्था ने भावुकता पर विजय पायी। मरुभूमि के प्यासे पथिक की भाँति दफ्तरी फिर दाम्पत्य-सुख जल-स्रोत की ओर दौड़ा। वह फिर जीवन का यही सुखद अभिनय देखना चाहता था। पत्नी की स्मृति दाम्पत्य-सुख के रूप में विलीन होने लगी। यहाँ तक कि छह महीने में उस स्थिति का चिह्न भी शेष न रहा।

इस मुहल्ले के दूसरे सिरे पर बड़े साहब का एक अरदली रहता था। उसके यहाँ से विवाह की बातचीत होने लगी, मियाँ रफाकत फूले न समाये। अरदली साहब का सम्मान मुहल्ले में किसी वकील से कम न था। उनकी आमदनी पर अनेक कल्पनाएँ की जाती थीं। साधारण बोलचाल में कहा जाता था "जो कुछ मिल जाय वह थोड़ा है।" वह स्वयं कहा करते थे कि तकाबी के दिनों में मुझे जेब की जगह थैली रखनी पड़ती थी। दफ्तरी ने समझा भाग्य उदय हुआ। इस तरह टूटे, जैसे बच्चे खिलौने पर टूटते हैं। एक ही सप्ताह में

सारा विधान पूरा हो गया और नववधू घर में आ गयी। जो मनुष्य कभी एक सप्ताह पहले संसार से विरक्त, जीवन से निराश बैठा हो, उसे मुँह पर सेहरा डाले घोड़े पर सवार नवकुसुम की भाँति विकसित देखना मानव-प्रकृति की एक विलक्षण विवेचना थी।

किंतु एक ही अठवारे में नववधू के जौहर खुलने लगे। विधाता ने उसे रूपेन्द्रिय से वंचित रखा था। पर उसकी कसर पूरी करने के लिए अति तीक्ष्ण वाक्येन्द्रिय प्रदान की थी। इसका सबूत उसकी वह वाक्पटुता थी जो अब बहुधा पड़ोसियों को विनोदित और दफ्तरी को अपमानित किया करती थी। उसने आठ दिन तक दफ्तरी के चरित्र का तात्विक दृष्टि से अध्ययन किया और तब एक दिन उससे बोली–तुम विचित्र जीव हो। आदमी पशु पालता है अपने आराम के लिए न कि जंजाल के लिए। यह क्या कि गाय का दूध कुत्ते पियें, बकरियां का दूध बिल्ली चट कर जाय। आज से सब दूध घर में लाया करो।

दफ्तरी निरुत्तर हो गया। दूसरे दिन घोड़ी का रातिब बंद हो गया। वह चने अब भाड़ में भुनने और नमक-मिर्च से खाये जाने लगे। प्रातःकाल ताजे दूध का नाश्ता होता, आये दिन तस्मई बनती। बड़े घर की बेटी, पान बिना क्योंकर रहती ? घी, मसाले का भी खर्च बढ़ा : पहले ही महीने में दफ्तरी को विदित हो गया कि मेरी आमदनी गुजर के लिए काफी नहीं है। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी थी, जो शक्कर के धोखे में कुनैन फाँक गया हो।

दफ्तरी बड़ा धर्मपरायण मनुष्य था। दो-तीन महीने तक वह विषम वेदना सहता रहा। पर उसकी सूरत उसकी अवस्था को शब्दों से अधिक व्यक्त कर देती थी। वह दफ्तरी जो अभाव में भी संतोष का आनंद उठाता था, अब चिंता की सजीव मूर्ति था। कपड़े मैले, सिर के बाल बिखरे हुए, चेहरे पर उदासी छायी हुई, अहर्निश हाय-हाय किया करता था। उसकी गाय अब हड्डियों की ढाँचा थी, घोड़ी को जगह से हिलना कठिन था, बिल्ली पड़ोसियों के छींकों पर उचकती और कुत्ता घूरों पर हड्डियाँ नोचता फिरता था। पर अब भी वह हिम्मत का धनी इन पुराने मित्रों को अलग न करता था। सबसे बड़ी विपत्ति पत्नी की वह वाक्प्रचुरता थी जिसके सामने कभी उसका धैर्य, उसकी कर्मनिष्ठा, उसकी उत्साहशीलता प्रस्थान कर जाती और अपनी अँधेरी कोठरी के एक कोने में बैठ कर खूब फूट-फूट कर रोता। संतोष के आनन्द को दुर्लभ पा कर रफाकत का पीड़ित हृदय उच्छृंखलता की ओर प्रवृत्त हुआ। आत्माभिमान जो संतोष का प्रसाद है, उसके चित्त से लुप्त हो गया। उसने फाकेमस्ती का पथ ग्रहण किया। अब उसके पास पानी रखने के लिए कोई बरतन न था। वह उस कुएँ से पानी खींच कर उसी दम पी जाना चाहता था जिसमें वह जमीन पर बह न जाय। वेतन पा कर अब वह महीने भर का सामान जुटाता, ठंडे पानी और रूखी रोटियों से अब उसे तस्कीन न होती, बाजार से बिस्कुट लाता, मलाई के दोनों और कलमी आमों की ओर लपकता। दस रुपये की भुगत ही क्या : एक सप्ताह में सब रुपये उड़ जाते, तब जिल्दबंदियों की पेशगी पर हाथ बढ़ाता, फिर दो-एक उपवास होता, अंत में उधार माँगने लगता। शनैः-शनैः यह दशा हो गयी कि वेतन देनदारों ही के हाथों में चला जाता और महीने के पहले ही दिन कर्ज लेना शुरू करता। वह पहले दूसरों को मितव्ययिता का उपदेश दिया करता था, अब लोग उसे समझाते, पर वह लापरवाही से कहता–साहब, आज

मिलता है खाते हैं कल का खुदा मालिक है; मिलेगा खायेंगे नहीं पड़ कर सो रहेंगे। उसकी अवस्था अब उस रोगी-सी हो गयी जो आरोग्य लाभ से निराश हो कर पथ्यापथ्य का विचार त्याग दे, जिसमें मृत्यु के आने तक वह भोज्य-पदार्थों से भली-भाँति तृप्त हो जाय।

लेकिन अभी तक उसने घोड़ी और गाय न बेची, यहाँ तक कि एक दिन दोनों मवेशीखाने में दाखिल हो गयीं। बकरियाँ भी तृष्णा व्याघ्र के पंजे में फँस गयीं। पोलाव और जरदे के चस्के ने नानबाई का ऋणी बना दिया था। जब उसे मालूम हो गया कि नगद रुपये वसूल न होंगे तो एक दिन सभी बकरियाँ हाँक ले गया। दफ्तरी मुँह ताकता रह गया। बिल्ली ने भी स्वामिभक्ति से मुँह मोड़ा। गाय और बकरियों के जाने के बाद अब उसे दूध के बर्तनों को चाटने की भी आशा न रही, जो उसके स्नेह-बंधन का अंतिम सूत्र था। हाँ, कुत्ता पुराने सद्व्यवहारों की याद करके अभी तक आत्मीयता का पालन करता जाता था, किन्तु उसकी सजीवता विदा हो गयी थी। यह वह कुत्ता न था जिसके सामने द्वार पर किसी अपरिचित मनुष्य या कुत्ते का निकल जाना असम्भव था। वह अब भी भूंकता था, लेकिन लेटे-लेटे और प्रायः छाती में सिर छिपाये हुए, मानो अपनी वर्तमान स्थिति पर रो रहा हो। या तो उसमें अब उठने की शक्ति ही न थी, या वह चिरकालीन कृपाओं के लिए इतना कीर्तिगान पर्याप्त समझता था।

4

संध्या का समय था। मैं द्वार पर बैठा हुआ पत्र पढ़ रहा था कि अकस्मात् दफ्तरी को आते देखा। कदाचित् कोई किसान सम्मन पाने वाले चपरासी से भी इतना भयभीत न होगा, बाल-वृन्द टीका लगाने वाले से भी इतना न डरते होंगे। मैं अव्यवस्थित हो कर उठा और चाहा कि अंदर जा कर द्वार बंद कर लूँ कि इतने में दफ्तरी लपक कर सामने आ पहुँचा। अब कैसे भागता ? कुर्सी पर बैठ गया, पर नाक-भौं चढ़ाये हुए। दफ्तरी किसलिए आ रहा था इसमें मुझे लेशमात्र भी शंका न थी। ऋणेच्छुओं की हृदय-चेष्टा उनकी मुखाकृति पर, उनके आचार-व्यवहार पर उज्ज्वल रंगों से अंकित होती है। वह एक विशेष नम्रता, संकोचमय परवशता होती है जिसे एक बार देख कर फिर नहीं भुलाया जा सकता।

दफ्तरी ने आते ही बिना किसी प्रस्तावना के अभिप्राय कह सुनाया जो मुझे पहले ही ज्ञात हो चुका था।

मैंने रुखाई से उत्तर दिया—मेरे पास रुपये नहीं हैं।

दफ्तरी ने सलाम किया और उल्टे पाँव लौटा। उसके चेहरे पर ऐसी दीनता और बेकसी छायी थी कि मुझे उस पर दया आ गयी। उसका इस भाँति बिना कुछ कहे-सुने लौटना कितना सारपूर्ण था ! इसमें लज्जा थी, संतोष था, पछतावा था। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला, लेकिन उसका चेहरा कह रहा था, मुझे विश्वास था कि आप यही उत्तर देंगे ! इसमें मुझे जरा भी संदेह न था। लेकिन यह जानते हुए भी मैं यहाँ तक आया, मालूम नहीं क्यों ? मेरी समझ में स्वयं नहीं आता। कदाचित् आपकी दयाशीलता, आपकी वात्सल्यता मुझे यहाँ तक लायी। अब जाता हूँ, वह मुँह ही नहीं रहा कि अपनी कुछ कथा सुनाऊँ।

मैंने दफ्तरी को आवाज दी—जरा सुनो तो, क्या काम है ?

दफ्तरी को कुछ उम्मेद हुई। बोला—आपसे क्या अर्ज करूँ, दो दिन से उपवास हो रहा है।

मैंने बड़ी नम्रता से समझाया—इस तरह कर्ज ले कर कै दिन तुम्हारा काम चलेगा। तुम समझदार आदमी हो, जानते हो कि आजकल सभी को अपनी फिक्र सवार रहती है। किसी के पास फालतू रुपये नहीं रहते और यदि हों भी तो वह ऋण दे कर रार क्यों लेने लगा। तुम अपनी दशा सुधारते क्यों नहीं।

दफ्तरी ने विरक्त भाव से कहा—यह सब दिनों का फेर है। और क्या कहूँ। जो चीज महीने भर के लिए लाता हूँ, वह एक दिन में उड़ जाती है, मैं घरवाली के चटोरेपन से लाचार हूँ। अगर एक दिन दूध न मिले तो महनामथ मचा दे, बाजार से मिठाइयाँ न लाऊँ तो घर में रहना मुश्किल हो जाय, एक दिन गोश्त न पके तो मेरी बोटियाँ नोच खाय। खानदान का शरीफ हूँ। यह बेइज्जती नहीं सही जाती कि खाने के पीछे स्त्री से झगड़ा-तकरार करूँ। जो कुछ कहती है सिर के बल पूरा करता हूँ। अब ख़ुदा से यही दुआ है कि मुझे इस दुनिया से उठा ले। इसके सिवाय मुझे दूसरी कोई सूरत नहीं नजर आती, सब कुछ करके हार गया।

मैंने संदूक से पांच रुपये निकाले और उसे दे कर बोला—यह लो, यह तुम्हारे पुरुषार्थ का इनाम है। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारा हृदय इतना उदार, इतना वीररसपूर्ण है।

गृहदाह में जलने वाले वीर, रणक्षेत्र के वीरों से कम महत्त्वशाली नहीं होते।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक 'कहकशां', अक्टूबर, 1919 में प्रकाशित। 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'आज', 24 अप्रैल, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

आत्माराम

वेदों-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायवान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बंद हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ गायब हो गयी। वह नित्य-प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिए कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देख कर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता', लोग समझ जाते कि भोर हो गयी।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे, लेकिन उसके बोझ को हल्का करने वाला कोई न था। लड़के कहते—'जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनंद भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगी ही।' बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में

साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निघोष होता कि वह भूखा ही उठ जाता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उनका व्यावसायिक जीवन और भी अशांतिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये दिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता था। ज्यों ही यह कलह शांत होता, वह अपने तोते की ओर देख कर पुकार उठता–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मंत्र को जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

2

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न-से हो गया। तोता कहाँ गया। उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता गायब था ! महादेव घबड़ा कर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे; बल्कि इसलिए कि उनके कारण वह अपने आनंददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिए कि वे अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी, तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था जब मनुष्य को शांति भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उसे दिखा कर कहने लगा–'आ-आ' 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र हो कर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगायी ? तोता उड़ा और गाँव से बाहर निकल कर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिये उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतिगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुंदर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गयी थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मजा आता था। किसी ने कंकड़ फेंके, किसी ने तालियाँ बजायीं। तोता फिर उड़ा और वहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजड़ा लिये मेंढक की भाँति उचकता चला। बाग में पहुँचा तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी; सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठा कर कहने लगा–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' तोता फुनगी से उतर कर नीचे की एक डाल पर आ बैठा, किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़ कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आ कर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' का

मंत्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया और लपका कि तोते को पकड़ ले; किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था, तो तोता मूर्तिमयी माया। यहाँ तक कि शाम हो गयी। माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

3

रात हो गयी ! चारों ओर निबिड़ अंधकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़ कर नहीं जा सकता। और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया। रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की बूँद भी उसके कंठ में न गयी; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास ! तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था; इसलिए कि यह उसकी अंतःप्रेरणा थी; जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उसे चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रह कर झपकियाँ ले लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंक कर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज़ सुनायी देती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'।

आधी रात गुजर गयी थी। सहसा वह कोई आहट पा कर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला गया; किंतु जिस प्रकार बंदूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं उसी प्रकार उसे आते देख सब-के-सब उठ कर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो-ठहरो' एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—'चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो।' चोरों ने पीछे फिर कर न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला जो मोर्चे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा। हाँ, मोहर थी। उसने तुरंत कलसा उठा लिया, और दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिप कर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देख कर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहर कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटा कर कई गड्ढे बनाये, उन्हें मोहरों से भर कर मिट्टी से ढँक दिया।

4

महादेव के अंतर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा जगत् था, चिंताओं और कल्पना से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गयी, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गयीं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौट कर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग भी लग गया और वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया। कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर ? उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया। और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिंता शांत हो गयी। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गयी। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आयी—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुँह से निकलते थे, पर उनका धार्मिक भाव कभी भी उसके अंतःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था। निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजरित न कर सकती थी; पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आयी थीं। इस वायु-प्रवाह से झूम उठा, गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता पैरों को जोड़े हुए ऊँची डाल से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे और आ कर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित हो कर दौड़ा और पिंजड़े को उठा कर बोला—'आओ आत्माराम तुमने कष्ट तो बहुत दिया, पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिछड़े में रखूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।' उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु तुम कितने दयावान् हो ! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था ! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गयी ! वह अनुरक्त हो कर कह उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

5

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाद में छिपा

दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढँक कर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया तो वह सीधे पुरोहित के घर पहुँचा। पुरोहित पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकदमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—यजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पंडित जी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट हो कर पूछा—क्या है जी, क्या कहते हो। जानते नहीं, हम इस समय पूजा पर रहते हैं।

महादेव ने कहा—महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।

पुरोहित जी विस्मित हो गये। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—आज क्या है ?

महादेव बोला—कुछ नहीं, ऐसी इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। वेदों के निकटवर्ती गाँवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरांत भोज का भी नेवता था। जो सुनता आश्चर्य करता। आज रेत में दूब कैसे जमी।

संध्या समय जब सब लोग जमा हो, और पंडित जी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर में बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गयी। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितने खरे को खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सब भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलना हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आ कर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जा कर कह दीजिए, कल से एक महीने तक, जब जी चाहे, आये और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिला कर बोला—हम कहते न थे। किसी ने अविश्वास से कहा—क्या खा कर भरेगा, हज़ारों का टोटल हो जायेगा।

एक ठाकुर ने ठठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये।

महादेव ने उत्तर दिया—उसके घर वाले तो होंगे।

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहित जी बोले—तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था, तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ, याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा ?

पुरोहित—पचास रुपये से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहित जी के सामने रख दीं।

पुरोहित जी की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी खराब ! राम-राम !!

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गयी। एक घंटा बीत गया पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी खड़ा न हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं, इसलिए आज कथा होने दीजिए। मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञान हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है और अच्छे के लिए अच्छा।

6

इस घटना को हुए पचास वर्ष बीत चुके हैं। आप वेदों जाइये, तो दूर ही से एक सुनहला कलश दिखायी देता है। वह ठाकुरद्वारे का कलश है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता, तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृति-चिह्न है, उसके सम्बन्ध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, वह रत्नजड़ित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता, वह 'सत्त गुरुदत्त' कहता हुआ अंतर्ध्यान हो गया, पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी-रूपी चंद्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी कितनी ही जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौट कर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक 'जमाना', जनवरी, 1920 में प्रकाशित। उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'आत्माराम' शीर्षक से 'आज', 26-27 मई, 9121 में प्रकाशित तथा 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित।]

बाँसुरी

रात ज़्यादा आ गयी थी। अष्टमी का चाँद ख़ाबगा में जा चुका था। दुपहर के कँवल की तरह साफ़-व-शफ़्फ़ाफ़ (स्वच्छ एवं उज्ज्वल) आसमान में सितारे खिले हुए थे। किसी खेत के रखवाले की बाँसुरी की आवाज़, जिसे दूरी ने तासीर, सन्नाटे ने सुरीलापन और तारीकी (अंधकार) ने रूहानियत की दिलक़शी (सुंदरता, मनोज्ञता) बख़्शी थी, यूँ कानों में आ रही थी, गोया कोई मुबारक रूह नदी के किनारे बैठी हुई पानी की लहरों को या दूसरे साहिल (किनारे) के ख़ामोश व पुरकशिश दरख़्तों को अपनी ज़िन्दगी की दास्ताने-ग़म सुना रही हो।

यह उर्दू कहानी मूल उर्दू कहानी 'तिरिया चरितर' ('ज़माना', जनवरी, 1913) का एक अवतरण मात्र है, जिसे प्रेमचन्द ने एक स्वतन्त्र कहानी के रूप में प्रकाशित करा दिया। अमृतराय ने 'गुप्तधन'-1 में 'त्रिया-चरित्र' प्रस्तुत करते हुए इस अंश को बदलकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"रात ज्यादा आ गई थी। अष्टमी का चाँद सोने जा चुका था। दोपहर के कमल की तरह साफ आसमान में सितारे खिले हुए थे। किसी खेत के रखवाले की बाँसुरी की आवाज़, जिसे दूरी ने तासीर, सन्नाटे ने सुरीलापन और अँधेरे ने आत्मिकता का आकर्षण दे दिया था, कानों में आ रही थी कि जैसे कोई पवित्र आत्मा नदी के किनारे बैठी हुई पानी की लहरों से या दूसरे किनारे के ख़ामोश और अपनी तरफ़ खींचने वाले पेड़ों से अपनी ज़िन्दगी की ग़म की कहानी सुना रही है।"

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'कहकशां', जनवरी, 1920 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'बासुरी' शीर्षक से 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

पशु से मनुष्य

दुर्गा माली डॉक्टर मेहरा बार-ऐट ला के यहाँ नौकर था। पाँच रुपये मासिक वेतन पाता था। उसके घर में स्त्री और दो-तीन छोटे बच्चे थे। स्त्री पड़ोसियों के लिए गेहूँ पीसा करती थी। दो बच्चे, जो समझदार थे, इधर-उधर से लकड़ियाँ, गेहूँ, उपले चुन लाते थे। किंतु इतना यत्न करने पर भी वे बहुत तकलीफ में रहते थे। दुर्गा, डॉक्टर साहब की नजर बचा कर बगीचे से फूल चुन लेता और बाजार में पुजारियों के हाथ बेच दिया करता था। कभी-कभी फलों पर भी हाथ साफ किया करता। यही उसकी ऊपरी आमदनी थी। इससे नोन-तेल आदि का काम चल जाता था। उसने कइ बार डॉक्टर महोदय से वेतन बढ़ाने के लिए प्रार्थना की, परंतु डॉक्टर साहब नौकर की वेतन-वृद्धि को छूत की बीमारी समझते थे, जो एक से अनेकों को ग्रस लेती है। वे साफ कह दिया करते कि, "भाई मैं तुम्हें बाँधे तो हूँ नहीं। तुम्हारा निर्वाह यहाँ नहीं होता; तो और कहीं चले जाओ, मेरे लिए मालियों का अकाल नहीं है।" दुर्गा में इतना साहस न था कि वह लगी हुई रोजी छोड़ कर नौकरी ढूँढ़ने निकलता। इससे अधिक वेतन पाने की आशा भी नहीं। इसलिए वह इसी निराशा में पड़ा

हुआ जीवन के दिन काटता और अपने भाग्य को रोता था।

डॉक्टर महोदय को बागवानी से विशेष प्रेम था। नाना प्रकार के फूल-पत्ते लगा रखे थे। अच्छे-अच्छे फलों के पौधे दरभंगा, मलीहाबाद, सहारनपुर आदि स्थानों से मँग्वा कर लगाये थे। वृक्षों को फलों से लदे हुए देख कर उन्हें हार्दिक आनंद होता था। अपने मित्रों के यहाँ गुलदस्ते और शाक-भाजी की डालियाँ तोहफे के तौर पर भिजवाते रहते थे। उन्हें फलों को आप खाने का शौक न था, पर मित्रों को खिलाने में उन्हें असीम आनंद प्राप्त होता था। प्रत्येक फल के मौसिम में मित्रों की दावत करते, और 'पिकनिक पार्टियाँ' उनके मनोरंजन का प्रधान अंग थीं।

एक बार गर्मियों में उन्होंने अपने कई मित्रों को आम खाने की दावत दी। मलीहाबादी में सुफेदे के फल खूब लगे हुए थे। डॉक्टर साहब इन फलों को प्रतिदिन देखा करते थे। ये पहले ही फले थे, इसलिए वे मित्रों से उनके मिठास और स्वाद का बखान सुनना चाहते थे। इस विचार से उन्हें वही आमोद था, जो किसी पहलवान को अपने पट्ठों के करतब दिखाने से होता है। इतने बड़े सुन्दर और सुकोमल सुफेदे स्वयं उनकी निगाह से न गुजरे थे। इन फलों के स्वाद का उन्हें इतना विश्वास था कि वे एक फल चख कर उनकी परीक्षा करना आवश्यक न समझते थे, प्रधानतः इसलिए कि एक फल की कमी एक मित्र को रसास्वादन से वंचित कर देगी।

संध्या का समय था, चैत का महीना। मित्रगण आ कर बगीचे के हौज के किनारे कुरसियों पर बैठे थे। बर्फ और दूध का प्रबन्ध पहले ही से कर लिया गया था, पर अभी तक फल न तोड़े गये थे। डॉक्टर साहब पहले फलों को पेड़ में लगे हुए दिखला कर तब उन्हें तोड़ना चाहते थे, जिसमें किसी को यह संदेह न हो कि फल इनके बाग के नहीं हैं। जब सब सज्जन जमा हो गये तब उन्होंने कहा—आप लोगों को कष्ट होगा, पर ज़रा चलकर फलों को पेड़ में लटकते हुए देखिए। बड़ा ही मनोहर दृश्य है। गुलाब में भी ऐसी लोचनप्रिय लाली न होगी। रंग से स्वाद टपक पड़ता है। मैंने इसकी कलम खास मलीहाबाद से मंगवायी थी और उसका विशेष रीति से पालन किया है।

मित्रगण उठे। डॉक्टर साहब आगे-आगे चले—रविशों के दोनों ओर गुलाब की क्यारियाँ थीं। उनकी छटा दिखाते हुए वे अन्त में सुफेदे के पेड़ के सामने आ गये। मगर, आश्चर्य ! वहाँ एक फल भी न था। डॉक्टर साहब ने समझा, शायद वह यह पेड़ नहीं है। दो पग और आगे चले, दूसरा पेड़ मिल गया। और आगे बढ़े तीसरा पेड़ मिला। फिर पीछे लौटे और एक विस्मित दशा में सुफेदे के वृक्ष के नीचे आ कर रुक गये। इसमें सन्देह नहीं कि वृक्ष यही है, पर फल क्या हुए ? बीस-पच्चीस आम थे, एक का भी पता नहीं ! मित्रों की ओर अपराधपूर्ण नेत्रों से देख कर बोले—आश्चर्य है कि इस पेड़ में एक भी फल नहीं है। आज सुबह मैंने देखा था, पेड़ फलों से लदा हुआ था। यह देखिए, फलों का डंठल है। यह अवश्य माली की शरारत है। मैं आज उसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा। उस पाजी ने मुझे कितना धोखा दिया ! मैं बहुत लज्जित हूँ कि आप लोगों को व्यर्थ कष्ट हुआ। मैं सत्य कहता हूँ, इस समय मुझे जितना दुःख है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। ऐसे रंगीले, कोमल, कमनीय फल मैंने अपने जीवन में कभी न देखे थे। उनके यों लुप्त हो जाने से मेरे हृदय के टुकड़े हुए जाते हैं।

यह कह कर वे नैराश्य-वेदना से कुरसी पर बैठ गये। मित्रों ने सांत्वना देते हुए कहा—नौकरों का सब जगह यही हाल है। यह जाति ही पाजी होती है। आप हम लोगों के कष्ट का खेद न करें। यह सुफेदे न सही दूसरे फल सही।

एक सज्जन ने कहा—साहब, मुझे तो सब आम एक ही से मालूम होते हैं। सुफेदे, मोहनभोग, लँगड़े, बम्बई, फजली, दशहरी इनमें कोई भेद ही नहीं मालूम होता, न जाने आप लोगों को कैसे उनके स्वाद में फर्क मालूम होता है।

दूसरे सज्जन बोले—यहाँ भी वही हाल है। इस समय जो फल मिले, वही मँगवाइए। जो गये उनका अफसोस क्या ?

डॉक्टर साहब ने व्यथित भाव से कहा—आमों की क्या कमी है, सारा बाग भरा पड़ा है, खूब शौक से खाइए और बांध कर घर ले जाइए। वे हैं और किस लिए ? पर वह रस और स्वाद कहाँ ? आपको विश्वास न होगा, उन सुफेदों पर ऐसा निखार था कि सेव मालूम होते थे। सेव भी देखने में ही सुन्दर होता है, उसमें वह रुचिवर्द्धक लालित्य, वह सुधामय मृदुता कहाँ ! इस माली ने आज वह अनर्थ किया है कि जी चाहता है, नमकहराम को गोली मार दूँ। इस वक्त सामने आ जाय तो अधमुआ कर दूँ।

माली बाजार गया हुआ था। डॉ. साहब ने साईस से कुछ आम तुड़वाये, मित्रों ने आम खाये, दूध पिया और डॉक्टर साहब को धन्यवाद दे कर अपने-अपने घर की राह ली। लेकिन मिस्टर मेहरा वहाँ हौज के किनारे हाथ में हंटर लिए माली की बाट जोहते रहे। आकृति से जान पड़ता था मानो साक्षात् क्रोध मूर्तिमान हो गया था।

2

कुछ रात गये दुर्गा बाजार से लौटा। वह चौकन्नी आँखों से इधर-उधर देख रहा था। ज्यों ही उसने डॉक्टर साहब को हौज के किनारे हाथ में हंटर लिये बैठे देखा, उसके होश उड़ गये। समझ गया कि चोरी पकड़ ली गयी। इसी भय से उसने बाजार में खूब देर की थी। उसने समझा था, डॉक्टर साहब कहीं सैर करने गये होंगे, मैं चुपके कटहल के नीचे अपनी झोंपड़ी में जा बैठूँगा, सवेरे कुछ पूछताछ भी हुई तो मुझे सफाई देने का अवसर मिल जायगा। कह दूँगा, सरकार, मेरे झोंपड़े की तलाशी ले लें, इस प्रकार मामला दब जायगा। समय सफल चोर का सबसे बड़ा मित्र है। एक-एक क्षण उसे निर्दोष सिद्ध करता जाता है। किन्तु जब वह रँगे हाथों पकड़ा जाता है तब उसे बच निकलने की कोई राह नहीं रहती। रुधिर के सूखे हुए धब्बे रंग के दाग बन सकते हैं, पर ताजा लोहू आप ही आप पुकारता है। दुर्गा के पैर थम गये, छाती धड़कने लगी। डॉक्टर साहब की निगाह उस पर पड़ गयी थी। अब उल्टे पाँव लौटना व्यर्थ था।

डॉक्टर साहब उसे दूर से देखते ही उठे कि चल कर उसकी खूब मरम्मत करूँ। लेकिन वकील थे, विचार किया कि इसका बयान लेना आवश्यक है। इशारे से निकट बुलाया और पूछा—सुफेदे के पेड़ में कई आम लगे हुए थे। एक भी नहीं दिखायी देता। क्या हो गये ?

दुर्गा ने निर्दोष भाव से उत्तर दिया—हुजूर, अभी मैं बाजार गया हूँ तब तक तो सब आम लगे हुए थे। इतनी देर में कोई तोड़ ले गया हो तो मैं नहीं कह सकता।

डॉक्टर—तुम्हारा किस पर संदेह है ?

दुर्गा—सरकार, अब मैं किसे बताऊँ ! इतने नौकर-चाकर हैं, न जाने किसकी नीयत बिगड़ी हो।

डॉक्टर—मेरा संदेह तुम्हारे ऊपर है, अगर तोड़ कर रखे हो तो ला कर दे दो या साफ-साफ कह दो कि मैंने तोड़े हैं, नहीं तो मैं बुरी तरह पेश आऊँगा।

चोर केवल दंड से ही नहीं बचना चाहता, वह अपमान से भी बचना चाहता है। वह दंड से उतना नहीं डरता जितना अपमान से। जब उसे सजा से बचने की कोई आशा नहीं रहती, उस समय भी वह अपने अपराध को स्वीकार नहीं करता। वह अपराधी बन कर छूट जाने से निर्दोष बन कर दंड भोगना बेहतर समझता है। दुर्गा इस समय अपराध स्वीकार करके सजा से बच सकता था, पर उसने कहा—हुजूर मालिक हैं, जो चाहें करें, पर मैंने आम नहीं तोड़े। सरकार ही बतायें; इतने दिन मुझे आप की ताबेदारी करते हो गये, मैंने एक पत्ती भी छुई है।

डॉक्टर—तुम कसम खा सकते हो ?

दुर्गा—गंगा की कसम जो मैंने आमों को हाथ से छुआ भी हो।

डॉक्टर—मुझे इस कसम पर विश्वास नहीं है। तुम पहले लोटे में पानी लाओ, उसमें तुलसी की पत्तियाँ डालो, तब कसम खा कर कहो कि अगर मैंने तोड़े हों तो मेरा लड़का मेरे काम न आये। तब मुझे विश्वास आवेगा।

दुर्गा—हुजूर साँच को आँच क्या, जो कसम कहिए खाऊँगा। जब मैंने काम ही नहीं किया तो मुझ पर कसम क्या पड़ेगी।

डॉक्टर—अच्छा; बातें न बनाओ, जा कर पानी लाओ।

डॉक्टर महोदय मानव-चरित्र के ज्ञाता थे। सदैव अपराधियों से व्यवहार रहता था। यद्यपि दुर्गा जबान से हेकड़ी की बातें कर रहा था, पर उसके हृदय में भय समाया हुआ था। वह अपने झोंपड़े में आया, लेकिन लोटे में पानी लेकर जाने की हिम्मत न हुई। उसके हाथ थरथराने लगे। ऐसी घटनाएं याद आ गयीं जिनमें झूठी गंगा उठाने वाले पर दैवी कोप का प्रहार हुआ था। ईश्वर के सर्वज्ञ होने का ऐसा मर्मस्पर्शी विश्वास उसे कभी नहीं हुआ था। उसने निश्चय किया 'मैं झूठी गंगा न उठाऊँगा, यही न होगा, निकाल दिया जाऊँगा। नौकरी फिर कहीं न कहीं मिल जायगी और नौकरी भी न मिले तो मजूरी तो कहीं नहीं गयी है। कुदाल भी चलाऊँगा तो साँझ तक आध सेर आटे का ठिकाना हो जायगा।' वह धीरे-धीरे खाली हाथ डॉक्टर साहब के सामने आ कर खड़ा हो गया !

डॉक्टर साहब ने कड़े स्वर से पूछा—पानी लाया ?

दुर्गा—हुजूर, मैं गंगा न उठाऊँगा।

डॉक्टर—तो तुम्हारा आम तोड़ना साबित है !

दुर्गा—अब सरकार जो चाहें, समझें। मान लीजिए, मैंने ही आम तोड़े तो आपका गुलाम ही तो हूँ। रात-दिन ताबेदारी करता हूँ, बाल-बच्चे आमों के लिए रोवें तो कहाँ जाऊँ। अबकी जान बकसी जाय, फिर ऐसा कसूर न होगा।

डॉक्टर महोदय इतने उदार न थे। उन्होंने यही बड़ा उपकार किया कि दुर्गा को पुलिस के हवाले न किया और हंटर ही लगाये। उसकी इस धार्मिक श्रद्धा ने उन्हें कुछ नर्म

कर दिया था। मगर ऐसे दुर्बल हृदय को अपने यहाँ रखना असम्भव था। उन्होंने उसी क्षण दुर्गा को जवाब दे दिया और उसकी आधे महीने की बाकी मजूरी जब्त कर ली।

3

कई मास के पश्चात् एक दिन डॉक्टर मेहरा बाबू प्रेमशंकर के बाग की सैर करने गये। वहाँ से कुछ अच्छी-अच्छी कलमें लाना चाहते थे। प्रेमशंकर को भी बागवानी से प्रेम था और दोनों मनुष्यों में यही समानता थी, अन्य सभी विषयों में एक दूसरे से भिन्न थे। प्रेमशंकर बड़े संतोषी, सरल सहृदय मनुष्य थे। वे कई साल अमेरिका रह चुके थे। वहाँ उन्होंने कृषि-विज्ञान का खूब अध्ययन किया था और यहाँ आ कर इस वृत्ति को अपनी जीविका का आधार बना लिया था। मानव-चरित्र और वर्तमान सामाजिक संगठन के विषय में उनके विचार विचित्र थे। इसीलिए शहर के सभ्य समाज में लोग उनकी उपेक्षा करते थे और उन्हें झक्की समझते थे। इसमें संदेह नहीं कि उनके सिद्धान्तों से लोगों को एक प्रकार की दार्शनिक सहानुभूति थी, पर उनके क्रियात्मक होने के विषय में उन्हें बड़ी शंका थी। संसार कर्मक्षेत्र है, मीमांसा क्षेत्र नहीं। यहाँ सिद्धांत, सिद्धांत ही रहेंगे, उनका प्रत्यक्ष घटनाओं से सम्बन्ध नहीं।

डॉक्टर साहब बगीचे में पहुँचे तो उन्होंने प्रेमशंकर को क्यारियों में पानी देते हुए पाया। कुएँ पर एक मनुष्य खड़ा पम्प से पानी निकाल रहा था। मेहरा ने उसे तुरंत ही पहचान लिया। वह दुर्गा माली था। डॉक्टर साहब के मन में उस समय दुर्गा के प्रति एक विचित्र ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ। जिस नराधम को उन्होंने दंड दे कर अपने यहाँ से अलग कर दिया था, उसे नौकरी क्यों मिल गयी ? यदि दुर्गा इस वक्त फटेहाल रोनी सूरत बनाये दिखायी देता तो डॉक्टर साहब को उस पर दया आ जाती। वे सम्भवतः उसे कुछ इनाम देते और प्रेमशंकर से उसकी प्रशंसा भी कर देते। उनकी प्रकृति में दया था और अपने नौकरों पर उनकी कृपादृष्टि रहती थी। परंतु उनकी इस कृपा और दया में लेशमात्र भी भेद न था, जो अपने कुत्तों और घोड़ों से थी। इस कृपा का आधार न्याय नहीं, दीन-पालन है। दुर्गा ने उन्हें देखा, कुएँ पर खड़े-खड़े सलाम किया और फिर अपने काम में लग गया। उसका यह अभिमान डॉक्टर साहब के हृदय में भाले की भाँति चुभ गया। उन्हें यह विचार कर अत्यंत क्रोध आया कि मेरे यहाँ से निकलना इसके लिए हितकर हो गया। उन्हें अपनी सहृदयता पर जो घमंड था, उसे बड़ा आघात लगा। प्रेमशंकर ज्योंही उनसे हाथ मिला कर उन्हें क्यारियों की सैर कराने लगे, त्योंही डॉक्टर साहब ने उनसे पूछा—यह आदमी आपके यहाँ कितने दिनों से है?

प्रेमशंकर—यही छः या सात महीने होंगे।

डॉक्टर—कुछ नोच-खसोट तो नहीं करता ? यह मेरे यहाँ माली था। इसके हथलपकेपन से तंग आ कर मैंने इसे निकाल दिया था। कभी फूल तोड़ कर बेच आता, कभी पौधे उखाड़ ले जाता, और फलों का कहना ही क्या ? वे इसके मारे बचते ही न थे। एक बार मैंने मित्रों की दावत की थी। मलीहाबादी सुफेदे में खूब फल लगे हुए थे। जब सब आकर बैठ गये और मैं उन्हें फल दिखाने के लिए ले गया तो सारे फल गायब ! कुछ न पूछिये, उस घड़ी कितनी भद्द हुई ! मैंने उसी क्षण इन महाशय को दुत्कार बतायी। बड़ा ही दगाबाज आदमी

है, और ऐसा चतुर है कि इसको पकड़ना मुश्किल है। कोई वकीलों ही जैसा काइयाँ आदमी हो तो इसे पकड़ सकता है। ऐसी सफाई और ढिठाई से ढुलकता है कि इसका मुँह देखते रह जाइए। आपको भी तो कभी चरका नहीं दिया ?

प्रेमशंकर–जी नहीं, कभी नहीं। मुझे इसने शिकायत का कोई अवसर नहीं दिया। यहाँ तो खूब मेहनत करता है, यहाँ तक कि दोपहर की छुट्टी में भी आराम नहीं करता। मुझे तो इस पर इतना भरोसा हो गया कि सारा बगीचा इस पर छोड़ रक्खा है। दिन भर में जो कुछ आमदनी होती है, वह शाम को मुझे दे देता है और कभी एक पाई का भी अंतर नहीं पड़ता।

डॉक्टर–यही तो इसका कौशल है कि आपको उलटे छुरे मूँड़े और आपको खबर भी नहीं। आप इसे वेतन क्या देते हैं ?

प्रेमशंकर–यहाँ किसी को वेतन नहीं दिया जाता। सब लोग लाभ में बराबर के साझेदार हैं। महीने भर में आवश्यक व्यय के पश्चात् जो कुछ बचता है, उनमें से दस रुपये प्रति सैकड़ा धर्मखाते में डाल दिया जाता है, शेष रुपये समान भागों में बाँट दिये जाते हैं। पिछले महीने में एक सौ चालीस रुपये की आमदनी हुई थी। मुझे मिला कर यहाँ सात आदमी हैं। बीस रुपये हिस्से पड़े। अबकी नारंगियाँ खूब हुई हैं, मटर की फलियों, गन्ने, गोभी आदि से अच्छी आमदनी हो रही है चालीस रुपये से कम न पड़ेंगे।

डॉक्टर मेहरा ने आश्चर्य से पूछा–इतने में आपका काम चल जाता है ?

प्रेमशंकर–जी हाँ, बड़ी सुगमता से। मैं इन्हीं आदमियों के-से कपड़े पहनता हूँ, इन्हीं का-सा खाना खाता हूँ और मुझे कोई दूसरा व्यसन नहीं है। यहाँ बीस रुपये मासिक उन औषधियों का खर्च है, जो गरीबों को दी जाती हैं। ये रुपये संयुक्त आय से अलग कर लिये जाते हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। यह सायकिल जो आप देखते हैं संयुक्त आय से ही ली गयी है। जिसे जरूरत होती है इस पर सवार होता है। मुझे ये सब अधिक कार्य कुशल समझते हैं और मुझ पर पूरा विश्वास रखते हैं। बस मैं इनका मुखिया हूँ। जो कुछ सलाह देता हूँ, उसे सब मानते हैं। कोई भी यह नहीं समझता कि मैं किसी का नौकर हूँ। सब के सब अपने को साझेदार समझते हैं और जी तोड़ कर मिहनत करते हैं। जहाँ कोई मालिक होता है और दूसरा उनका नौकर तो उन दोनों में तुरंत द्वेष पैदा हो जाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने, लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम से कम काम करूँ उसमें स्नेह या सहानुभूति का नाम तक नहीं होता। दोनों यथार्थ में एक-दूसरे के शत्रु होते हैं। इस प्रतिद्वंद्विता का दुष्परिणाम हम और आप देख ही रहे हैं। मोटे और पतले आदमियों के पृथक्-पृथक् दल बन गए हैं और उनमें घोर संग्राम हो रहा है। कल-चिह्नों से ज्ञात होता है कि यह प्रतिद्वंद्विता अब कुछ ही दिनों की मेहमान है। इसकी जगह अब सहकारिता का आगमन होने वाला है। मैंने अन्य देशों में इस घातक संग्राम के दृश्य देखे हैं और मुझे घृणा हो गयी है। सहकारिता ही हमें इस संकट से मुक्त कर सकती है।

डॉक्टर–तो यह कहिए कि आप 'सोशलिस्ट' हैं।

प्रेमशंकर–जी नहीं, मैं 'सोशलिस्ट' या 'डिमोक्रेट' कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। मैं निःस्वार्थ सेवा को विद्या से श्रेष्ठ समझता हूँ। मैं अपनी आत्मिक

और मानसिक-शक्तियों को, बुद्धि सामर्थ्य को, धन और वैभव का गुलाम नहीं बनाना चाहता। मुझे वर्तमान शिक्षा और सभ्यता पर विश्वास नहीं। विद्या का धर्म है—आत्मिक उन्नति का फल, उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्यायपरता और दयाशीलता। जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने के लिए तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनाये, जो हमें भोग-विलास में डुबाये, जो हमें दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनाये, वह शिक्षा नहीं है, अगर मूर्ख, लोभ और मोह के पंजे में फँस जायँ तो वे क्षम्य हैं, परंतु विद्या और सभ्यता के उपासकों की स्वार्थान्धता अत्यंत लज्जाजनक हैं। हमने विद्या और बुद्धि-बल की विभूति-शिखर पर चढ़ने का मार्ग बना लिया। वास्तव में वह सेवा और प्रेम का साधन था। कितनी विचित्र दशा है कि जो जितना ही बड़ा विद्वान् है, वह उतना ही बड़ा स्वार्थ सेवी है। बस, हमारी सारी विद्या और बुद्धि, हमारा सारा उत्साह और अनुराग, धनलिप्सा में ग्रसित है। हमारे प्रोफेसर साहब एक हजार से कम वेतन पायें तो उसका मुँह ही नहीं सीधा होता। हमारे दीवान और माल के अधिकारी लोग दो हजार मासिक पाने पर भी अपने भाग्य को रोया करते हैं। हमारे डॉक्टर साहब चाहते हैं कि मरीज मरे या जिये, मेरी फीस में बाधा न पड़े और हमारे वकील साहब (क्षमा कीजिएगा) ईश्वर से मनाया करते हैं कि ईर्ष्या और द्वेष का प्रकोप हो और सोने की दीवार खड़ी कर लूँ। 'समय धन है' इसी वाक्य में हम ईश्वर-वाक्य समझ रहे हैं। इन महान् पुरुषों में से प्रत्येक व्यक्ति सैकड़ों नहीं हजारों-लाखों की जीविका हड़प जाते हैं। और फिर भी उन्हें जाति का भक्त बनने का दावा है। वह अपने स्वजाति-प्रेम का डंका बजाता फिरता है। पैदा दूसरे करें, पसीना दूसरे बहायें, खाना और मोछों पर ताव देना इनका काम है। मैं समस्त शिक्षित समुदाय को केवल निकम्मा ही नहीं, वरन् अनर्थकारी भी समझता हूँ।

डॉक्टर साहब ने बहुत धैर्य से काम ले कर पूछा—तो क्या आप चाहते हैं कि हम सब के सब मजूरी करें ?

प्रेमशंकर—जी नहीं, हालांकि ऐसा हो तो मनुष्य-जाति का बहुत उपकार हो। मुझे जो आपत्ति है, यह केवल दशाओं में इस अन्यायपूर्ण समता से है। यदि एक मजूर पांच रुपया में अपना निर्वाह कर सकता है, तो एक मानसिक काम करने वाले प्राणी के लिए इससे दुगुनी-तिगुनी आय काफी होनी चाहिए और वह अधिकता इसलिए कि उसे कुछ उत्तम भोजन-वस्त्र तथा सुख की आवश्यकता होती है। मगर पाँच और पाँच हजार, पचास और पचास हजार का अस्वाभाविक अंतर क्यों हो ? इतना ही नहीं, हमारा समाज पाँच और पाँच लाख के अंतर का भी तिरस्कार नहीं करता; वरन् उसकी और भी प्रशंसा करता है। शासन-प्रबंध, वकालत, चिकित्सा, चित्र-रचना, शिक्षा, दलाली, व्यापार, संगीत और इसी प्रकार की सैकड़ों अन्य कलाएँ शिक्षित समुदाय की जीवन-वृत्ति बनी हुई हैं। पर इनमें से एक भी धनोपार्जन नहीं करतीं। इनका आधार दूसरों की कमाई पर है। मेरी समझ में नहीं आता कि वह उद्योग-धंधे जो जीवन की सामग्रियाँ पैदा करते हैं, जिन पर जीवन का अवलम्बन है, क्यों उन पेशों से नीचे समझे जायँ, जिनका काम केवल मनोरंजन या अधिक-से-अधिक धनोपार्जन में सहायता करना है। आज सारे वकीलों को देश निकाला हो जाय, सारे अधिकारी वर्ग लुप्त हो जायँ और सारे दलाल स्वर्ग को सिधारें, तब भी संसार का काम चलता रहेगा, बल्कि और भी सरलता से। किसान भूमि जोतेंगे, जुलाहे कपड़े

बुनेंगे, बढ़ई, लोहार, राज, चर्मकार, सब-के-सब पूर्ववत् अपना-अपना काम करते रहेंगे। उनकी पंचायतें उनके झगड़ों का निबटारा करेंगी। लेकिन यदि किसान न हों तो सारा संसार क्षुधा-पीड़ा से व्याकुल हो जाय। परन्तु किसान के लिए पांच रुपये बहुत समझा जाता है और वकील साहब या डॉक्टर साहब को पाँच हजार भी काफ़ी नहीं।

डॉक्टर—आप अर्थशास्त्र के उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को भूले जाते हैं जिसे श्रम-विभाजन (Division of Labour) कहते हैं। प्रकृति ने प्राणियों को भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रदान की हैं और उनके विकास के लिए भिन्न-भिन्न दशाओं की आवश्यकता है।

प्रेमशंकर—मैं यह कब कहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य को मजूरी करने पर मजबूर किया जाय ! नहीं जिसे परमात्मा ने विचार की शक्ति दी है, वह शास्त्रों की विवेचना करे। जो भावुक हो, वह काव्य की रचना करे। जो अन्याय से घृणा करता हो वह वकालत करे। मेरा कथन यह है कि विभिन्न कार्यों की हैसियत में इतना अंतर न रहना चाहिए। मानसिक और औद्योगिक कामों में इतना फर्क न्याय के विरुद्ध है। यह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल ज्ञात होता है कि आवश्यक और अनिवार्य कार्यों पर अनावश्यक और निवार्य कार्यों की प्रधानता हो। कतिपय सज्जनों का मत है कि इस साम्य से गुणी लोगों का अनादर होगा और संसार को उनके सद्विचारों और सतकार्यों से लाभ न पहुँच सकेगा। किंतु वे भूल जाते हैं कि संसार के बड़े-से-बड़े पंडित, बड़े-से-बड़े कवि, बड़े-से-बड़े आविष्कारक, बड़े से बड़े शिक्षक धन और प्रभुता के लोभ से मुक्त थे। हमारे अस्वाभाविक जीवन का एक कुपरिणाम यह भी है कि हम बलात् कवि और शिक्षक बन जाते हैं। संसार में आज अगणित लेखक और कवि, वकील और शिक्षक उपस्थित हैं। वे सब के सब पृथ्वी पर भार-रूप हो रहे हैं। जब उन्हें मालूम होगा कि इन दिव्य कलाओं में कुछ लाभ नहीं है तो वही लोग कवि होंगे, जिन्हें कवि होना चाहिए। संक्षेप में कहना यही है कि धन की प्रधानता ने हमारे समस्त समाज को उलट-पलट दिया है।

डॉक्टर मेहरा अधीर हो गये; बोले—महाशय, समाज-सगठन का यह रूप देवलोक के लिए चाहे उपयुक्त हो, पर भौतिक संसार के लिए और इस भौतिक काल में वह कदापि उपयोगी नहीं हो सकता।

प्रेमशंकर—केवल इसी कारण से अभी तक धनवानों का, जमींदारों का और शिक्षित समुदाय का प्रभुत्व जमा हुआ है। पर इसके पहले भी, कई बार इस प्रभुत्व को धक्का लग चुका है। और चिह्नों से ज्ञात होता है कि निकट भविष्य में फिर इसकी पराजय होने वाली है। कदाचित् वह हार निर्णयात्मक होगी। समाज का चक्र साम्य से आरम्भ होकर फिर साम्य पर ही समाप्त होता है। एकाधिपत्य, रईसों का प्रभुत्व और वाणिज्य-प्राबल्य, उसकी मध्यवर्ती दशायें हैं। वर्तमान चक्र ने मध्यवर्ती दशाओं को भोग लिया है और वह अपने अंतिम स्थान के निकट आता-जाता है। किन्तु हमारी आँखें अधिकार और प्रभुता के मद में ऐसी भरी हुई हैं कि हमें आगे-पीछे कुछ नहीं सूझता। चारों ओर से जनतावाद का घोर नाद हमारे कानों में आ रहा है, पर हम ऐसे निश्चिंत हैं मानो वह साधारण मेघ की गरज है। हम अभी तक उन्हीं विद्याओं और कलाओं में लीन हैं जिनका आश्रय दूसरों की मेहनत है। हमारे विद्यालयों की संख्या बढ़ती जाती हैं, हमारे वकीलखाने में पाँव रखने की जगह बाकी

नहीं, गली-गली फोटो स्टूडियो खुल रहे हैं, डॉक्टरों की संख्या मरीज़ों से भी अधिक हो गयी है, पर अब भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। हम इस अस्वाभाविक जीवन, इस सभ्यता के तिलिस्म से बाहर निकलने की चेष्टा नहीं करते। हम शहरों में कारखाने खोलते फिरते हैं, इसलिए कि मजदूरों की मेहनत से मोटे हो जायँ। तीस रुपये और चालीस रुपये सैकड़े लाभ की कल्पना करके फूले नहीं समाते, पर ऐसा कहीं देखने में नहीं आता कि किसी शिक्षित सज्जन ने कपड़ा बुनना या जमीन जोतना शुरू किया हो। यदि कोई दुर्भाग्यवश ऐसा करे भी तो उसकी हँसी उड़ायी जाती है। हम उसी को मान-प्रतिष्ठा के योग्य समझते हैं, जो तकियागद्दी लगाये बैठा रहे, हाथ-पैर न हिलाये और लेन-देन पर, सूद-बट्टे पर लाखों के वारे-न्यारे करता हो...।

यही बातें हो रही थीं कि दुर्गा माली एक डाली नारंगियाँ, गोभी के फूल, अमरूद, मटर की फलियाँ आदि सजा कर लाया और उसे डॉक्टर साहब के सामने रख दिया। उसके चेहरे पर एक प्रकार का गर्व था, मानो उसकी आत्मा जागरित हो गई है। वह डॉक्टर साहब के समीप एक मोटे मोढ़े पर बैठ गया और बोला—हुजूर को कैसी कलमें चाहिए ? आप बाबू जी को एक चिट पर उनके नाम लिख कर दे दीजिए। मैं कल आपके मकान पहुँचा दूँगा। आपके बाल-बच्चे तो अच्छी तरह हैं।

डॉक्टर साहब ने कुछ सकुचा कर कहा—हाँ, लड़के अच्छी तरह हैं, तुम यहाँ अच्छी तरह हो ?

दुर्गा—जी हाँ, आपकी दया से बहुत आराम से हूँ।

डॉक्टर साहब उठ कर चले तो प्रेमशंकर उन्हें विदा करने साथ-साथ फाटक तक आये। डॉक्टर साहब मोटर पर बैठे तो मुस्करा कर प्रेमशंकर से बोले—मैं आपके सिद्धांतों का कायल नहीं हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि आपने एक पशु को मनुष्य बना दिया। यह आपके सत्संग का फल है। लेकिन क्षमा कीजिएगा, मैं फिर भी कहूँगा कि आप इससे होशियार रहियेगा। 'यूजेनिक्स' (सुप्रजनन-शास्त्र) अभी तक किसी ऐसे प्रयोग का आविष्कार नहीं कर सका है, जो जन्म के संस्कारों को मिटा दे !

[हिन्दी कहानी। 'प्रभा' मासिक पत्रिका, 'फरवरी', 1920 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। 'इस्लाह' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'कहकशां', अप्रैल 1920 में प्रकाशित।]

आबे-हयात (सुधा-रस)

डॉक्टर घोष अजीबो-गरीब आदमी थे। एक बार उन्होंने अपने चार मुअज़्ज़िज (प्रतिष्ठित) दोस्तों को तजरबागाह (प्रयोगशाला) में मिलने के लिए बुलाया। उनमें से तीन असहाब इतने किब्रसिन (वृद्ध) थे कि उनकी दाढ़ियां भी सफेद हो गई थीं। उनके नाम थे—बाबू दयाराम, ठाकुर विक्रमसिंह और लाला करोड़ीमल। चौथी एक बेवा थी जिनका नाम मुसम्मात (श्रीमती) चंचल कुंवर था। बुढ़ापे ने उनके जिस्म पर झुर्रियां डाल दी थीं। यह चारों अशखास (व्यक्ति) बहुत मलूल-ओ-महज़ूं (उदास और शोकान्वित) रहा करते थे।

उनकी जिन्दगियां तल्ख हो गई थीं और सबसे बड़ा सितम यही था कि वे अभी तक बकैदेहयात (जीवित) थे।

लाला करोड़ीमल शबाब में एक मुतमव्विल ताजिर (सम्पन्न व्यापारी) थे। मगर उन्होंने अपनी सारी दौलत सट्टे में उड़ा दी थी और अब सिर्फ मुहज़्ज़ब गदा गरी (शिष्ट भिक्षावृत्ति) पर गुज़रान करते थे। ठाकुर विक्रमसिंह ऐश-ओ-तरब (भोग-विलास और आनन्द) के बन्दे थे। उन्होंने अपनी दौलत ही नहीं, अपनी सेहत भी हवसरानियों (भोग-लिप्साओं) पर कुर्बान कर दी थी और अब उनका जिस्म मुतअद्दिद अमराज़ (रोग समूह) का मामन (केन्द्र) बना हुआ था। वह बहुत परेशान और अफ़सुर्दा ख़ातिर (उदास-मन) रहा करते थे। बाबू दयाराम किसी ज़माने में वकील थे और क़ौमी तहरीकों में भी कुछ हिस्सा लिया था। मगर किसी-न-किसी वजह से वह बदनाम हो गये थे और अब कोई उनके क़रीब न फटकता था। गोशा-ए-नाकामी में पड़े दिन काट रहे थे। रहीं मुसम्मात चंचल कुंवर—किसी ज़माने में उनके हुस्न का शोहरा था। बहुत अर्से से वह मुतबर्रिक मुक़ामात (पवित्र स्थानों) की ज़ियारत (तीर्थ-स्थान) करने में मारूफ़ थीं। शुरफ़ाए-शहर (नगर के सम्मानित व्यक्ति) यहां तक कि उनके अज़ीज़-ओ-रिश्तेदार भी उनसे मुहतरिज़ (बचकर, परहेज) रहते थे। करोड़ीमल, दयाराम, विक्रमसिंह—तीनों हज़रात किसी ज़माने में इन मुसम्मात के अश्शाक़ (प्रेमी) थे। यहां तक कि एक बार बाहमी रक़ाबत (परस्पर लाग-डांट) के बाइस उनमें खून-ख़राबे की नौबत भी आ चुकी थी मगर अब वे पिछली बातें ख्वाब-ओ-ख़याल हो गई थीं। उनकी याद भी दिलफ़िगार (कष्टप्रद) हो गई थी।

डॉक्टर घोष उन आदमियों को बैठने का इशारा करके बोले—"दोस्तो ! आपको मालूम है कि मैं अपना वक्त छोटे-मोटे तजुर्बात करने में सर्फ किया करता हूं। आज मुझे एक तजुर्बे में आपकी मदद की ज़रूरत है।"

अगर रवायतों (कहीं बातों) पर एतबार किया जाए तो डॉक्टर घोष की लैबोरेटरी एक अजूबा चीज़ थी। कमरा तारीक (अंधकार) पुरानी वज़ा (किस्म, चाल, ढंग) का था। मकड़ियों के जाले खिड़कियों पर पर्दे का काम दे रहे थे और फ़र्श पर बरसों की गर्द जमी हुई थी। दीवारों से मिली हुई कई साखू की आल्मारियां थीं। उनमें मुजल्लिद (सजिल्द) किताबें चुनी हुई थीं। बीच की आल्मारी में भैरों की एक मूरत रखी हुई थी। कुछ लोगों का ख़याल था कि मुशकिलात में डॉक्टर साहब इसी मूरत से मशवरा किया करते थे। कमरे के सबसे अंधेरे गोशे में एक ऊंची-पतली आल्मारी थी। उसमें से एक इन्सान का उस्तुख्वानी (अस्थि-पंजर) ढांचा कुछ-कुछ नज़र आता था। उसी के क़रीब दो आल्मारियों के बीच में एक धुंधला-सा आईना रखा हुआ था, जिसका सुनहरी चौखटा मेला हो रहा था। कहा जाता था कि डॉक्टर साहब के दस्त-ए-शिफा (स्वास्थ्य लाभ कराने वाला हाथ) से मरे हुए मरीज़ों की रूहें इसी आईने में रहती थीं और जब कभी वे आईने की तरफ देखते थे तो वे सबकी सब उनकी तरफ घूरने लगती थीं। कमरे की दूसरी तरफ एक हसीना की क़दे-आदम तस्वीर थी मगर मुरूरे ऐयाम (समय बीतने) से चेहरे और कपड़े का रंग उड़ गया था। पचास बरस का अर्सा हुआ डॉक्टर साहब ने इसी हसीना से शादी करने की तजवीज की थी। मगर शादी के चन्द रोज़-कब्ल (पूर्व) वह बीमार पड़ी और अपने तालिब (अभिलाषी) डॉक्टर की दवा खाकर इस दुनिया से चल बसी थी। तजुर्बेगाह की सबसे अजीब चीज़ का

ज़िक्र करना अभी बाक़ी है। यह एक सियाह जिल्द की जखीम (मोटी) किताब थी। इस किताब का नाम किसी को न मालूम था, लेकिन लोग यह जानते थे कि यह जादू की किताब है। एक बार ख़ादिम ने गर्द झाड़ने के लिए इस किताब को उठाया था। किताब के उठाते ही आल्मारी में रखा हुआ उस्तुख्वानी ढांचा कांप उठा। हसीना की तस्वीर एक क़दम आगे बढ़ गई और सदहा ख़ौफनाक़ सूरतें आईने में झांकने लगीं। इतना ही नहीं, भैरों की मूरत के तेवर बदल गये और उसके मुंह से 'बस करो, बस करो' की आवाज निकलने लगी थी।

डॉक्टर घोष की ज़बान से तजुर्बे का ज़िक्र सुनकर उनके चारों दोस्तों ने समझा कि या तो हमें हवा से ख़ाली शीशे की नली में किसी चूहे की मौत का तमाशा दिखाया जाएगा या खुर्दबीन से मकड़ी के जाले का मुलाहिजा (अनुशीलन) करना होगा या किसी क़िस्म की और कोई दूर अज़कार (वर्णनातीत) बेवकूफ़ी बात होगी, क्योंकि ऐसे ही तजुर्बात के मुशाहदे के लिए डॉक्टर साहब पहले भी बीसियों बार अपने दोस्तों को दिक़ कर चुके थे। उन्हें इस मुज़ब्विज़ा तजुर्बे (निर्णायक प्रयोग) में कुछ ज्यादा शौक़ न पैदा हुआ। मगर डॉक्टर साहब उनके जवाब का इन्तजार किए बगैर उठ खड़े हुए और लंगड़ाते हुए कमरे के दूसरे गोशे से वही ज़ख़ीम किताब उठा लाये जो हर्फ़े आम (आम भाषा) में जादू की किताब मशहूर थी। उन्होंने इस किताब को खोला और औराक़ (पृष्ठों) में से एक गुलाब का फूल निकाला जो कभी सुर्ख होगा, पर उस वक्त मटियाला हो रहा था। उसकी पंखुड़ियां ऐसी खुश्क हो गई थीं गोया छूते ही चूर-चूर हो जाएंगी।

डॉक्टर साहब ठण्डी सांस लेकर आहिस्ता से बोले—"आज पचपन साल हुए, यह गुलाब का फूल जो अब बिल्कुल मुरझाया हुआ है और छूने से चूर-चूर हुआ जाता है, सुर्ख और शगुफ़्ता (खिला हुआ) था। यह उस हसीना का तोहफ़ा था, जिसकी तस्वीर सामने लटक रही है और मैं इसे शादी के दिन अपने कपड़ों में लगाना चाहता था। इन औराक़ में यह फूल पचपन साल तक दफ़न रहा है। क्या यह निस्फ़ सदी (अर्द्ध-शताब्दी) का पुराना फूल फिर हरा हो सकता है?" मुसम्मात चंचल कुंवर ने बेदिली से सिर हिलाकर कहा, "यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई पूछे कि किसी बूढ़ी औरत का पुरशिकन (झुर्रीदार) चेहरा फिर चिकना हो सकता है?"

डॉक्टर घोष ने फ़र्माया, "अच्छा देखो।"

यह कहकर उन्होंने मेज पर रखे हुए मटके का ढकना उठाया और उस मुरझाये हुए फूल को पानी डाल दिया जो उसमें भरा हुआ था। पहले कुछ देर तक तो फूल पानी पर तैरता रहा। उस पर पानी का कुछ असर न हुआ। लेकिन एक ही लम्हे में हैरतखेज़ तग़य्युर (आश्चर्यजनक परिवर्तन) नज़र आने लगा। चिपटी और सूखी हुई पंखुड़ियां हिलीं और उनका रंग आहिस्ता-आहिस्ता सुर्ख़ होने लगा। ऐसा मालूम होता था कि फूल एक गहरी नींद से जाग रहा है। पतला डंठल और पत्तियां हरी हो गई और देखते-देखते वह पनजाह (पच्चीस) साला फूल बिल्कुल ताज़ा नौशगुफ़्ता (नवविकसित) मालूम होने लगा। यह अभी अच्छी तरह खिला न था। बीच की कुछ पंखुड़ियां लिपटी हुई थीं। उन पर शबनम की दो बूंदें भी चमक रही थीं।

डॉक्टर साहब के दोस्तों ने लापरवाही से कहा, "तमाशा तो बहुत अच्छा है, लेकिन

बताइए, यह हुआ क्योंकर ?" उन लोगों ने बाज़ीगरों के इससे भी कहीं अजीब शोब्दे (करिश्मे) देखे थे।

डॉक्टर घोष बोले, "क्या आप लोगों ने 'जुल्मात' (वह घोर अंधकार, जो सिकन्दर के अमृत-कुण्ड तक पहुंचने में पड़ा था) का नाम कभी नहीं सुना ?"

दयाराम, "सुना जरूर है, मगर वहां का पानी किसी को मिला कब?"

डॉक्टर घोष, "इसलिए नहीं मिला कि किसी ने उसकी मुनासिब तलाश नहीं की। अब तहक़ीक़ से मालूम हुआ है कि जुल्मात में आबे-हयात का एक चश्मा है। उसके किनारे बड़े-बड़े दरख़्त हैं जो कई सदियों के पुराने होने पर भी आज तक हरे-भरे हैं। मुझे इन इन्किशाफ़ों (गवेषणाओं) का दिलदादा (प्रेमी) समझकर मेरे एक दोस्त ने थोड़ा-सा पानी मेरे पास भेजा है। वह इस प्याले में भरा हुआ है।"

ठाकुर विक्रमसिंह को इन बातों का मुतलक़ यक़ीन न हुआ। ताहम उन्होंने पूछा, "हां, होगा, लेकिन यह बतलाइए कि इस पानी का असर इन्सान के जिस्म पर भी हो सकता है ?"

डॉक्टर घोष, "यह आपको अभी एक लख़्ते (क्षण) में मालूम हुआ जाता है। आप सब हज़रात इस पानी को बेतकल्लुफ़ पिए, ताकि आपका शबाब एक बार फिर लौट आए। मुझे तो जवान होने की हवस नहीं है, क्योंकि मैं बहुत मुसीबतें झेलकर इस आलम तक पहुंचा हूं। अगर आपको शौक़ हो तो मैं इस पानी का तजुर्बा करूं।"

यह कहकर डॉक्टर घोष ने चार शीशे के गिलास निकाले और उन्हें उस पानी से भरने लगे। पानी में कोई जान नवाज़ (जीवनदायी) कूबत ज़रूर थी, क्योंकि गिलासों के हाथ से छोटे-छोटे बुलबुले लगातार उठने लगे। वह ऊपर आकर चमकीली फ़ुवार बनते थे और तब फूट जाते थे। इसके सिवा इसमें से एक दिलआवेज़ (मनोहर) ख़ुशबू निकल रही थी। यह देखकर लोगों को पानी की तासीर का कुछ यक़ीन होने लगा। हालांकि उन्हें यह बावर (विश्वास) न होना था कि कोई बूढ़ा आदमी यह पानी पीकर जवान हो सकता है। ताहम सबके-सब पानी पीने पर आमदा हो गये। डॉक्टर घोष ने उन्हें इस क़दर शायक़ (शौक़ीन) देखकर उनसे एक लम्हे तअम्मुल (सोच-विचार) करने की दरख़्वास्त की और बोले, "मेरे प्यारे और मुअज़्ज़िज़ दोस्तो ! आप लोगों को पूरी ज़िन्दगी का तजुर्बा हो चुका है, इसलिए पानी को नोश करने से पहले कुछ ऐसे उसूल-ए-ज़िन्दगी मुक़र्रर कर लीजिए, ताकि शबाब की दुश्वारियां दोबारा आपको ख़स्ता-ओ-ख़्वार (बरबाद) न करें और आप इस वादिए-तारीक़ (अंधकारपूर्ण) से बख़ैरो-आफ़ियत (कुशलतापूर्वक) गुज़र जाएं। सोचिये कि गर्मो-सर्द जमाने के इतने तजुर्बे के बाद अगर आप मुहासिन-ए-अख़्लाक़ (चरित्र-चित्रण) में नौजवानाने-दुनिया के लिए नमूना न बन सके तो कितने शर्म की बात होगी।"

डॉक्टर साहब का यह वाज़ (उपदेश) सुनकर इन लोगों के चेहरों पर ख़फ़ीफ़ (हल्की)-सी मुस्कराहट नमूदार हो गई। उन्होंने इसका कुछ जवाब न दिया। यह ख़याल ही मज़हकोख़ेज़ (जिस पर हंसी आये) सुना कि शबाब की ग़लतकारियों और लाउबालियों (बेपर्वा और उच्छृंखल काम करना) के ऐसे तल्ख़ तजुर्बे के बाद यह लोग फिर अमूमन (जान-बूझकर) उनमें गिरफ्तार होंगे।

डॉक्टर साहब ने अन्दाज़े तलत्तुफ़ (कृपापूर्वक) से कहा—"अब आप लोग इसे शौक़

से पियें। मुझे बेइन्तहा मसर्रत है कि मुझे अपने तजुर्बे के लिए आप जैसे लायक़ आदमी मिल गये।"

नहीफ (दुर्बल) हाथों से इन चारों आदमियों ने गिलासों को उठाकर होंठों से लगाया। अगर फिलवाके (यथार्थतः) डॉक्टर साहब के ख़याल के मुताबिक इस पानी में जांबख़्श असर था तो इन आदमियों से ज़्यादा दुनिया में शायद ही किसी को इसकी ज़रूरत होगी। उनके बुशरों (मुखाकृतियों) से ऐसा गुमान होता था कि उन्होंने शबाब की सूरत ही नहीं देखी और मादरज़ाद (जन्मजात) बूढ़े थे, गोया वे हमेशा से ऐसे ही ख़स्ता, मायूस और सफ़ेद हो रहे थे। ये लोग डॉक्टर साहब की मेज़ के चारों तरफ़ झुके हुए बैठे थे। आने वाली जवानी की ख़ुशी भी उनके चेहरों पर रौनक न पैदा कर सकती थी। उनके जिस्म और दिल बिल्कुल बेजान हो गये थे। पानी पीकर उन्होंने गिलास मेज़ पर रख दिए।

मगर एक लम्हे में उन लोगों की हालत में एक खुशगवार तब्दीली नमूदार हुई। उनके चेहरे रौशन हो गये। रौनक़ नज़र आने लगी। उनके ज़र्द और बेरंग रुख़सारों पर सुर्ख़ी पैदा हो गई। उन्होंने एक-दूसरे की तरफ़ देखा। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि फिलवाके (यथार्थतः) कोई बर्क़ी कूव्वत (विद्युतीय शक्ति) उनके जिस्म से उन अलामतों (चिह्नों) को मिटा रही है, जिन्हें बेरहम ज़माना अर्सेदराज से नक़्श करता रहा है। मुसम्मात चंचल कुंवर को ऐसा महसूस हुआ कि मुझ पर फिर जोबन आ रहा है। उसने एक अन्दाज़ से चेहरे पर घूंघट बढ़ा लिया।

सब लोग ख़ुश होकर बोले—"थोड़ा-सा आबे-हयात और अता कीजिये। हम कुछ जवान ज़रूर हो गये हैं लेकिन अभी कुछ कसर है। लाइये, जल्द एक गिलास और पिलाइये।"

डॉक्टर घोष, जो बैठे हुए अपने तजुर्बे को आलिमाना दिलचस्पी के अन्दाज से देख रहे थे, बोले, "ज़रा सब्र कीजिये। आप लोगों को बूढ़ा होने में बहुत दिन लगे थे, मगर जवान होने में आध घंटा लग जाए तो आपको बेसब्र न होना चाहिए। यह पानी हाजिर है, आप लोग जितना चाहें पी सकते हैं।"

यह कहकर डॉक्टर साहब ने चारों गिलासों को दुबारा भरा। खुम (घड़े) में अब भी इतना पानी बाक़ी था कि शहर के आधे बूढ़े अपने नाती-पोतों के हमसिन (समवयस्क) हो सकते थे। अभी गिलासों में बुलबुले उठ ही रहे थे और चारों आदमियों ने झपटकर मेज़ से गिलास उठा लिये और एक ही जुरा (घूंट) में ख़ाली कर दिया। यक़ीनन यह आबे-हयात था। अभी पानी उन लोगों के हलक़ से उतरा ही था कि उनकी सूरत में इन्क़लाब पैदा होने लगा। उनकी आंखों में शबाब का-सा नूर आ गया। सफ़ेद बाल सियाह होने लगा। एक लम्हा और गुज़रा। मेज़ के गिर्द चार बूढ़ों की जगह तीन नौजवान मर्द बैठे थे और एक हसीन और गुलफाम नाज़नीन (पुष्पांगी सुन्दरी)। ठाकुर विक्रमसिंह ने चंचल कुंवर की तरफ़ मस्ताना निगाह से देखकर कहा, "प्यारी चंचल, तुम पर इस वक्त ग़ज़ब का निख़ार है।"

तन्वरी-ए-सुबह (प्रातःकालीन प्रकाश) से जिस तरह तारीकी (अन्धकार) हटने लगती है उस तरह चंचल कुंवर का चेहरा शगुफ्ता होता जाता था। उसे पुराना तजुर्बा था कि ठाकुर साहब की मदूह सराइयाँ (तारीफें) हमेशा सच्ची नहीं होतीं, इसलिए वह दौड़ी हुई

आईने के सामने गई और उसमें अपनी सूरत देखने लगी। उसे अब भी ख़ौफ़ था कि कहीं बुढ़ापे की मकरूह सूरत (घृणित रूप) न नज़र आए। बाक़ी तीनों आदमियों के अन्दाज से ऐसा मालूम होता था कि इस पानी में कुछ नशा-अंगेज़ सिफ्त है। शायद इसका यह ही सबब हो कि बुढ़ापे का बोझ सिर से उतर जाने के बाइस खुशी के मारे मतवाले हो गये थे। बाबू दयाराम मुल्की मसायल पर ग़ौर कर रहे थे, लेकिन उन मसायल का तअल्लुक़ ज़माना-ए-हाल से था या माज़ी या इस्तिक़बाल (अतीत या भविष्य) से, इसका पता लगाना मुश्किल था। कभी तो वह ब-आवाज बुलन्द हुब्बे-वतन (देश-भक्ति), ख़िदमते क़ौम या हुकूके-इन्सान (माननीय अधिकारों) पर तक़रीर करने लगते। कभी किसी खुफ़िया मामले के मुतअल्लिक ऐसी दबी ज़बान से सरगोशी (चुपके से कहना) करते कि उन्हें अपनी ही आवाज़ न सुनाई देती थी और कभी रुक-रुककर निहायते मुअद्दिबाना अन्दाज़ (विनम्र रीति) से बोलने लगते, गोया किसी हाकिमे-आला (उच्चाधिकारी) के रूबरू बोल रहे हों। ठाकुर विक्रमसिंह भी कोई चलती हुई चीज़ गुनगुना रहे थे और गिलास पर अंगुलियों से ताल भी देते जाते थे। उनकी आंखें चंचल कुंवर के हसीन चेहरे की तरफ़ लगी हुई थीं। मेज़ की दूसरी तरफ़ सेठ करोड़ीमल रोकड़ और खाते की धुन में मह्व (लीन) थे और सोच रहे थे कि अगर हिमालय पहाड़ से बरफ के तोदे काट-काटकर लाये जाएं तो कितना नफा हो, और चंचल कुंवर आईने के सामने खड़ी अपनी सूरत देख-देखकर खुशी से मुस्करा रही थी। रह-रहकर वह अपना चेहरा आईने की क़रीब ले जाकर यह देखने की कोशिश करती थी कि कोई पुराना दाग़ तो बाक़ी नहीं रहा। उन्हें अपने निखार पर अब भी कामिल इत्मीनान न हुआ। उन्हें याद आता था कि मैं शबाब में इससे ज़्यादा हसीन थी। आख़िर वह एक अन्दाज से घूंघट उठाये हुए मेज़ के क़रीब आई और बोलीं, ''डॉक्टर साहब, बराहे-करम मुझे एक गिलास और दे दीजिए।''

डॉक्टर घोष ने हंसकर कहा, ''हां-हां शौक़ से लीजिये। यह देखिए, मैं गिलास भरे देता हूं।''

आबे-हयात से लबरेज़ गिलास मेज़ पर रखे हुए थे। उनसे निकलने वाली महीन फुहारें हीरों के रेजों (कणों) की तरह चमक रही थीं। सूरज डूब चुका था। इसलिए कमरे में ज़्यादा अंधेरा हो गया था, लेकिन खुम में से चांदनी की हल्की-सी रोशनी निकलकर डॉक्टर और उनके दोस्तों के चेहरों पर पड़ रही थी। डॉक्टर साहब के चेहरों पर पड़ी झुर्रियों और उसकी ज़र्दी इस रोशनी में और भी वाजे (प्रकट) हो रही थी।

तीसरा गिलास पीते ही इन चारों आदमियों की रगों में जवानी की उमंगें लहरें मारने लगीं। अब उनका उन्फुवाने शबाब (जवानी की उठान) था। जोशे-मसर्रत उनके दिलों में न समाता था। मायूसी और ग़मेजाफ (शोक-पीड़ा) और बेकसी का बुढ़ापा अब उन्हें एक ख्वाब-सा मालूम होता था, जिसे उन्होंने अर्सा हुआ देखा था। उन्हें अब हर एक चीज़ में एक ख़ास रौनक नज़र आने लगी। वह रूहानी शगुफ़्तगी जिससे वे लोग क़ब्ल अज़वक्त (समय से पूर्व) महरूम (वंचित) हो चुके थे और जिसके बग़ैर दुनिया के दिलफरेब नज़ारे उन्हें धुंधली तस्वीरों की तरह नज़र आते थे, फिर उन पर तमन्नाओं का जादू करने लगीं। उन्हें ऐसा मालूम होता था कि हम एक नयी दुनिया के नये वजूद (अस्तित्व में) हैं। सबके

सब झुककर बोले, "हम जवान हो गये। हम जवान हो गये।"

फिलवाक़ई (यथार्थतः) यह सुबुकसर (ओछे) नौजवानों की एक जमाअत थी, जिन्हें तक़ाज़ाए सिन (आयु की मांग) ने शोरीदासरी (दीवानगी) पर मायल (प्रवृत्त) कर दिया था। उनकी खुशफुलियों (मनोविनोद) का सबसे अजीव पहलू यह था कि उन लोगों को इस पीरी (वृद्धावस्था) और नक़ाहत (निर्बलता) का मज़हका (उपवास) उड़ाने की दिली तहरीक (इच्छा, कोशिश) हो रही थी जिससे अभी-अभी उनकी गुलूख़लासी (छुटकारा) हुई थी। वह अपनी पुरानी वज़ा के कपड़ों को देखकर खूब क़हक़हे मारकर हंसने लगे। एक साहब वजे मुफ़ासिल (ऋतु-परिवर्तन) के दर्द से कराहते हुए बूढ़े बाबा की नक़ल करके लंगड़ा-लंगड़ाकर चलने लगे। दूसरे साहब नाक पर ऐनक रखकर जादू की किताव को ग़ौर से पढ़ने का वहाना करने लगे। तीसरे साहब एक आरामकुर्सी पर बैठ गये और डॉक्टर घोष की वुजुर्गाना मतानत (दृढ़ता) की नक़ल करने लगे। फिर सबके सब बग़लें बजा-बजाकर कमरे मे कूदने-फांदने लगे। मुसम्मात चंचल कुंवर एक दिलरुबाना अन्दाज़ से डॉक्टर साहब के पास आई। उनके गुलाब-से रुख़सारों (कपोलों) पर एक दिलफ़रेब और शरारत-आमेज़ शोख़ी थी। डॉक्टर साहब से बोलीं, "प्यारे डॉक्टर, उठ खड़े हो, जरा मेरे साथ नाचो।"

इस पर चारों आदमियों ने यह सोचकर क़हक़हा मारा कि डॉक्टर साहब इस हसीना के पहलू म कस हवन्नक़ (मूर्ख) मालूम होंगे।

डॉक्टर साहब ने मतानत से कहा, "मुझे माफ कीजिये ! मैं बूढ़ा हूं, गठिये ने नाक में दम कर रखा है। मेरे नाचने के दिन कब के रुखसत हो गये, लेकिन इन तीन नौज़वानों में से कोई भी तुम्हारे साथ नाचने के लिए जान दे देगा।"

ठाकुरसिंह ने फ़र्माया, "चंचल, मेरे साथ नाचो।"

बाबू दयाराम बोले, "नहीं, वह मेरे साथ नाचेगी।"

लाला करोड़ीमल ने कहा, "वाह, में इनका पुराना रफ़ीक़ हूं। पचास साल हुए उन्होंने मेरे साथ नाचने का वायदा किया था।"

यह कहते-कहते तीनों आदमी चंचल कुंवर के गिर्द खड़े हो गये। एक ने बेताब होकर उसके दोनों हाथ पकड़ लिये। दूसरे ने उसकी कमर में हाथ डाल दिया और तीसरे साहब ने उसके अम्बरी जुल्फ़ों (सुगन्धित केशों) का बोसा लेना शुरू किया। चंचल कुंवर लजाती थीं, त्यौरियां बदलती थीं, कोसती थी, हंसती थी, तड़फड़ाती थीं। उसकी गर्म-गर्म सांस बारी-बारी से उन तीनों आदमियों के मुंह पर वह काम कर रही थी जो हवाए-सर्द (ठण्डी हवा) नशा करती है। वह उनके बीच से निकलने के लिए ज़ोर कर रही थी, लेकिन कुछ बस न चलता था। एक जादूतराज़ माशूका (मायावी प्रेमिका) की हमदोशी (साथ) के लिए ऐसी सरगर्म रक़ीबाना कश्मकश (मैत्रीपूर्ण खींचातानी, संघर्ष) का नज़ारा किसी ने कम देखा होगा। मगर कमरे में रखे हुए क़द्दे-आदम शीशे में कुछ और ही माजरा नज़र आता था। वहां तीन कुहनसाल (वयोवृद्ध) और ख़स्ताहाल बूढ़े एक ख़मीदा कमर, (झुकी हुई कमर) मक्रूह (विकृत, घृणित) और झुर्रीदार बुढ़िया से हम-आग़ोश होने के लिए दस्तोगरीबां (गले में हाथ डालना) थे।

लेकिन वे नौजवान थे। उनकी मस्ती इसका सुबूत थी। चंचल कुंवर की इश्वागरी (भाव-भंगिमा) और परहेज़ से बेखुद होकर तीनों रक़ीबों ने बाहम ख़शमगीं नज़रें (कुपित

दृष्टि) डालनी शुरू कीं। हसीन माशूक़ा से चिपटे हुए वे एक-दूसरे पर पिल पड़े। हाथापाई और धौल-धप्पा शुरू हुआ। इस झमेले में मेज़ को ठोकर लगी और वह उलट गई। शीशे का खुम गिरकर चूर-चूर हो गया और वह आबे-ज़िन्दगी एक दरख़्शां (चमकीली) धार की सूरत में फर्श पर बह निकला। एक नीमजान (अधमरी) तितली ज़मीन पर पड़ी सिसक रही थी। उसके पर इस धार से तर हो गये। वह फुर्र से उड़कर डॉक्टर घोष की टोपी पर जा बैठी। डॉक्टर घोष बोले, "बस-बस, यारो ! बस। चंचल कुंवर, बस ! अब बहुत हुआ ! मुझे यह हंगामा क़तई पसन्द नहीं।"

वे सबके सब ख़ामोश हो गये। उन्हें लरज़ा-सा आ गया। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि पीरे-फरतूत ज़माना (बहुत वृद्ध जमाना) हमें शबाब के इस सब्ज़ाजार (हरियाली) से फिर पीरी (वृद्धा) की तारीक वादी (अंधेरी घाटी) की तरफ खींचे लिये जाता है। उन्होंने डॉक्टर घोष की तरफ देखा। वह उस पंजाह (पचास) साला फूल को लिये हस्बे साबिक़ (यथापूर्व) बैठे हुए थे, जिसे उन्होंने खुम के टुकड़े में से निकाल लिया था। उनके हाथों का इशारा पाते ही चारों बादए-मस्ती (उमंग की लहर) के मतवाले अपनी-अपनी जगहों पर आ बैठे, हालांकि वे जवान थे, पर इस कशमकश और ख़रमस्ती (मूर्खतापूर्ण उन्माद) ने उन्हें बेदम कर दिया था।

डॉक्टर घोष ने फूल को शफक़ (प्रातःकालीन अथवा संध्या की लालिमा) को रोशनी में देखकर कहा, "अफ़सोस, यह फूल फिर मुरझाया जाता है।"

यह बिल्कुल सही था। इन लोगों के देखते-देखते फूल ऐसा खुश्क़ और चुरमुरा हो गया, जैसा खुम में डालते वक्त था। डॉक्टर ने उसकी पंखुड़ियों पर लगी हुई पानी की बूंदों को हिलाकर गिरा दिया और उसे अपने सूखे हुए होंठों से लगाकर बोले, "मेरे लिए यह अब भी ताज़ा और शगुफ्ता है।"

डॉक्टर साहब के मुंह से यह अल्फाज निकल रहे थे कि तितली फड़फड़ाई और उनके सिर पर ज़मीन पर गिर पड़ी। डॉक्टर साहब के दोस्तों के जिस्म में फिर रशा (कम्पन) हुआ। एक अजीब क़िस्म की बुरूदत (शीतलता) मालूम नहीं उनके जिस्म या दिल पर दौरती चली जाती थी। वे एक-दूसरे की तरफ़ ताक रहे थे। उन्हें ऐसा ख़याल होता था कि हर एक लम्हा उनके गुले-शबाब (यौवन-पुष्प) को तोड़कर उसकी जगह एक-एक दाग़ छोड़ता चला जाता था। क्या यह बिल्कुल मुग़ालता-नज़री (दृष्टिभम) था ? क्या मुद्दत-उल-उमर (आयु-सीमा) की तब्दीलियां इतने मुख्तसर लम्हों में समेट दी गई थीं? और वे सबके सब चार कुहनसाल बूढ़े थे जो अपने पुराने दोस्त डॉक्टर घोष के साथ बैठे हुए थे। इन लोगों ने मायूसाना लहजे में कहा—"क्या हम फिर इतनी जल्दी बूढ़े हो गये?"

हां, उनका शबाब रुख़सत हो चुका था। इस आबे-हयात (सुधा-रस) में शराब के नशे से भी सरीय तासीर (अधिक प्रभाव) थी। इससे पैदा होने वाली शोरीदगी (प्रभाव) सिर्फ़ तन्ज़ीर (भयग्रस्त) हो चुकी थी। बुढ़ापे ने फिर उन पर अपना सियाह लबादा डाल दिया था। चंचल कुंवर ने एक आलमे-बेबसी (विवशता की दशा) में अपना चेहरा मुस्तर सिफत (जुड़ी) अंगुलियों से ढक लिया। उसके दिल में बेअख़्तियार ख़्वाहिश पैदा हुई कि जब हुस्न ही न रहा तो क्यों न इस पर कफ़न का पर्दा पड़ जाये नसाईयत (सदुपयोग) का यही एक हुस्न उसमें बाक़ी रह गया था।

एक लम्हे की ख़ामोशी के बाद डॉक्टर घोष ने फ़र्माया, "दोस्तो ! अफ़सोस है कि आप फिर बूढ़े हो गये। देखिए, आबे-हयात से ज़मीन तर है, लेकिन अब मुझे इसका मुतलक़ गम नहीं, क्योंकि अगर चश्मे-हयात (अमृत-धार) मेरे दरवाज़े ही पर लहरें मारे तो भी मैं उससे अपने होंठ न तर करूं, चाहे लम्हों के बदले उसका नशा बरसों तक क्यों न क़ायम रहे। आप लोगों से आज मुझे भी इबरत (शिक्षा) हासिल हुई है।"

लेकिन डॉक्टर साहब के अहबाब (मित्रों) को यह इबरत न हुई। उन्होंने चश्मे-हयात के सफ़र का मुसम्मिम (पक्का) इरादा किया, जहां वह सुबह-दोपहर-शाम हसबे-ख़्वाहिश (इच्छानुसार) आबे-हयात (सुधा-रस) नोश करें और सदाबहार जवानी का लुत्फ़ उठायें।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू। उर्दू मासिक पत्रिका 'सुबहे-उम्मीद', मार्च, 1920 में प्रकाशित। उर्दू में असंकलित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'सोलह अप्राप्य कहानियां' और 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित। यह कहानी एक अंग्रेजी कहानी का उर्दू अनुवाद है।]

प्रतिज्ञा

देश में घोर अकाल पड़ा हुआ था। साल भर से पानी की बूँद भी नहीं पड़ी थी। खेतों में धूल उड़ती थी। घास तक जल गयी थी, न कहीं अन्न था और न जल। लोग वृक्षों की छालें कूट-कूट कर खाते थे। अर्धरात्रि दोपहर के समान तप्त रहती और दोपहर को भूमि से अग्नि की ज्वाला निकलती थी। समस्त देश में हा-हाकार मचा हुआ था। लोगों के हृदय शुष्क हो गए थे। कोई किसी की सुधि लेनेवाला न था। सबके सब अपनी-अपनी विपत्ति में बावले हो रहे थे। इंद्र की आराधना नित्य होती थी। लोग देवस्थानों में जमा हो-होकर रोते और विलाप करते थे, पर कदाचित देवताओं में दया, वात्सल्य का लोप हो गया था; न पूजा-पाठ ही से कोई उपकार होता था, न यज्ञ तथा बलि से। ज्योतिषियों के द्वारों पर सदा भीड़ लगी रहती थी। एक वैज्ञानिक महाशय ने वैज्ञानिक साधनों से मेघों को आकर्षित करने का उद्योग किया; पर सारे प्रयत्न निष्फल हुए। इंद्रदेव न पसीजे, पानी न बरसा और प्रजा की अवस्था प्रतिक्षण बिगड़ती गई।

2

अन्त में एक दिन लाखों हिन्दू प्रजा एकत्र होकर देश के बड़े महात्मा बाबा दुर्लभदास की सेवा में पहुँची और उनके द्वार पर, गले पड़ जाने वालों की तरह, जा बैठी। मुसलमान प्रजा ने मौलाना शेख आबिद अली का दामन पकड़ा। दोनों महात्माओं के हृदयों में दया उत्पन्न हुई। बाबा दुर्लभदास ने समस्त देश के साधु-सन्तों को निमन्त्रित किया। औलिया आबिद अली ने मुल्लाओं तथा पीरों के पास क़ासिद रवाना किए। एक सप्ताह में चारों दिशाओं से साधुगण तथा मुल्ला लोग आकर जमा हो गए। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सहस्रों प्रतिभाशाली सन्त पुरुषों ने पदार्पण किया। मुल्लाओं के झुण्ड-के-झुण्ड विराजमान हुए। धर्मज्ञ, ईश्वर-भक्त और सिद्ध पुरुषों का ऐसा विलक्षण समागम कभी देखने में नहीं आया था।

इनमें का प्रत्येक महात्मा अपने-अपने चमत्कारों तथा अलौकिक कृत्यों के लिए प्रसिद्ध था। लोगों को विश्वास था कि इनमें से यदि एक भी सिद्ध पुरुष मन से इच्छा करेगा, तो इन्द्र की शक्ति नहीं कि उस सिद्ध की आज्ञा भंग हो सके।

अस्तु, एक शुभ मुहूर्त देखकर बाबा दुर्लभदास और आबिद अली दल-बल के साथ, बड़ी धूमधाम से, निकले। आगे-आगे ऊँटों पर नगाड़े थे, उनके पीछे नाना प्रकार की साम्प्रदायिक पताकाएँ थीं। इनके पीछे शंख और घण्टे बज रहे थे। फिर साधुओं के दल, कोई हाथी पर सवार था और कोई सजे हुए घोड़े पर। शिष्य लोग छत्र लगाए, चँवर हिलाते चले आते थे। इस प्रकार यह जलूस नगर के चक्कर लगाता और दर्शकों को विस्मित करता हुआ एक ऊँचे पहाड़ी टीले पर जा पहुँचा। यहाँ साधुगण अपने-अपने आसन लगाकर बैठ गए और इन्द्र की आराधना करने लगे। किसी ने समाधि ली, कोई प्राणायाम में मग्न हुआ, कोई अपने योगासनों के कौशल दिखाने लगा। सीताराम प्रेमियों ने उच्च स्वर से 'रामचरित मानस' की चौपाइयों का गान करना आरम्भ किया। कृष्ण केभक्त कीर्तन करने लगे।

पूरे तीन घण्टों तक ये महानुभाव अपने-अपने जप-तप में दत्तचित्त रहे। लाखों मनुष्य नीचे खड़े-खड़े इस दृश्य को कौतूहल से देख रहे थे, और बारम्बार आकाश की ओर ताक रहे थे कि मेघ उठ रहे हैं कि नहीं।

जब मध्याह्न हो गया, सूर्यदेव सिर पर पहुँचे, उनकी प्रखर किरणें लम्बवत् हुई, तब साधुगण व्याकुल होकर वहाँ से उठ खड़े हुए। प्रजा हताश हो गई। बाबा दुर्लभदास ने अन्त में उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, "सज्जनो, तुम्हारे देश में इस दुर्दिन का आना तुम्हारे राजा के अन्याय और दुराचार का फल है। जब तक वे स्वयं अनुष्ठान न करेंगे, तब तक ईश्वर के कोप का निवारण न होगा। तुम लोग उन्हीं के चरणों पर गिरो। उन्हीं के द्वारा तुम्हारा उद्धार होगा।"

3

राजा पृथ्वीपाल सिंह एक दुश्चरित्र मनुष्य थे। अपने भोग-विलास के सिवा और कोई काम न था। महीनों रनिवास से बाहर न निकलते थे। नृत्य, गान और आमोद-प्रमोद की सदा अधिकता रहा करती थी। सारे देश के भाँड़, भड़वे, लुच्चे और लफंगे उनके सहवासी थे। नित्य कई तरह की शराबें मँगाई जाती थीं। नित्य-नूतन पुष्टिकारक भोजन बनाए जाते थे। उन्हें कविता से प्रेम था; परन्तु केवल उसी कविता से जिससे विषय-वासनाओं को उत्तेजना मिलती है। वे स्वयं दादरे और ठुमरियाँ रचते थे और बहुधा नशे में मस्त होकर वेश्याओं के साथ नाचने लगते थे। उन्हें अभी तक इस घोर दुर्भिक्ष की खबर न थी। उनके मन्त्रीगण भी स्वार्थ-सेवी थे—देश की वास्तविक दशा को उनसे छिपाए रखने में वे अपना उपकार समझते थे। देश में चाहे कोई विपत्ति पड़े; परन्तु राज्य-दरबार के लिए रुपए कहीं-न-कहीं से निकल ही आते थे। प्रजा की यह मजाल कहाँ थी कि राज्य-व्यवहार में वह कुछ हस्तक्षेप कर सके ? वह राजा से उदासीन हो रही थी। जो विपत्ति आ पड़ती थी उसे वह झेलती थी; पर राजा की विलास-शान्ति को भंग करने का दुस्साहस न कर सकती थी।

किन्तु जब महात्मा दुर्लभदास ने स्पष्ट कर कह दिया कि उनके संकट का निवारण राजा के सिवा और किसी से न होगा, तब लोग विवश होकर राजभवन के सामने, मैदान में, जमा हो गए और जान पर खेलकर उच्च स्वर से दुहाई मचाने लगे। द्वारपालों तथा सैनिकों ने उन्हें वहाँ से बलात् हटाना चाहा, डाँटा, मारने की धमकी दी; पर इस समय लोग प्राण-समर्पण करने पर उद्यत थे। वे किसी भाँति वहाँ से न टले। उनका आर्तनाद प्रतिक्षण बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि राजा के प्रमोदोल्लास में विघ्न हो गया। उन्होंने क्रुद्ध होकर द्वारपालों से पूछा, "ये कौन हैं जो शोर मचा रहे हैं ?"

एक द्वारपाल ने डरते-डरते कहा, "दीनबन्धु, नगर-निवासियों का असंख्य समूह राजभवन के सामने खड़ा है ओर किसी प्रकार नहीं हटता।"

राजा, "वे लोग क्या चाहते हैं ?"

एक मन्त्री ने उत्तर दिया, "धर्मावतार, कुछ मालूम नहीं कि उनकी क्या इच्छा है। वे कहते हैं कि वे महाराज के दर्शन करेंगे।"

राजा, "आज उन्हें मेरे दर्शन का शौक क्यों हुआ है ?"

मन्त्री, "दीनानाथ, मैंने बहुत समझाया, किन्तु वे कहते हैं कि दर्शन किए बिना वे कदापि वापिस न जायेंगे।"

राजा, "तो उन्हें गोली मारकर भगा दो। उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं उनका राजा हू, मेरे राजा वे नहीं हैं। वे मेरे आज्ञाकारी हैं, मैं उनका आज्ञाकारी नहीं हूँ।"

मन्त्री, "पृथ्वीनाथ, मैं सब-कुछ करके हार गया। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि गोली भी चलाई जाएगी, तो वे द्वार से न हटेंगे, चाहे भले ही मर जाएं।"

राजा ने कुछ सोचकर कहा, "तो अवश्य उन पर संकट है। लाओ, तामज़ान हाज़िर करो।"

एक क्षण में तामज़ान लाया गया। राजा साहब एक पग भी पैरों से न चल सकते थे। उनके पैर केवल अंगों की पूर्ति के निमित्त थे। तामज़ान पर बैठकर वे जनता के सम्मुख आकर उपस्थित हुए। उनके देखते ही असंख्य कंठों से 'जय, जय' की ध्वनि निकल पड़ी। यद्यपि समस्त प्रजा राजा से असन्तुष्ट थी, पर उसके इस प्रजा-वात्सल्य को देखकर मुग्ध हो गई और फिर वह इस समय राजा से वर माँगने आई थी। अतएव यह अवसर उदासीन होने का न था, परन्तु उसके विह्वल होने का मुख्य कारण यह था कि राजा के दर्शन पाते ही जनता में राज-भक्ति की लहर-सी दौड़ गई, जिसने असन्तोष और अश्रद्धा को तृण के समान बहा दिया।

'जय, जय' की ध्वनि शान्त हुई। तदनन्तर लोगों ने विनय की, "महाराज, हम घोर संकट में पड़े हुए हैं। आप हमारे धर्मपिता हैं। यदि हमें आप न बचायेंगे, तो हम सब अन्न-जल के बिना तड़प-तड़प कर मर जायेंगे।

राजा ने आश्चर्य से पूछा, "तुम्हारे ऊपर कौन-सा संकट है ?"

प्रजा, "दीनानाथ, साल भर से एक बूँद जल नहीं बरसा। सारे देश में हाहाकार मचा हुआ है। तालाबों में पानी नहीं है, कुएँ सूख गए हैं। यहाँ तक कि नदियों की धाराएँ बन्द हो गई हैं। आप हमारे स्वामी हैं, आप ही की कृपादृष्टि होने पर हमारा कल्याण हो सकता है।"

राजा, "मुझे तो यह समाचार आज ज्ञात हुआ। क्या वास्तव में वर्षा नहीं हुई ?"

प्रजागण, "दीनानाथ, आप स्वयं चलकर हमारी दशा देख लें। अन्न-जल के बिना हमारी दशा बहुत बुरी हो रही है।"

राजा, "क्या तुम लोगों ने देवताओं की पूजा नहीं की और यज्ञ नहीं किए ?"

प्रजा, "पृथ्वीनाथ, हम सब-कुछ करके हार गए।"

राजा, "तो महात्माओं और सिद्ध पुरुषों की शरण क्यों नहीं गए ? महात्मा दुर्लभदास को क्यों नहीं घेरा ? वे ईश्वर के भक्त हैं, वे चाहें तो क्षणमात्र में जल-थल एक कर दें।"

प्रजा, "धर्मराज, महात्मा दुर्लभदास ने बहुत जप-तप किया, सहस्रों सिद्ध पुरुषों को एकत्रित किया, पर किसी से कुछ न हो सका।"

राजा, "सच ?"

प्रजा, "धर्मावतार, बिलकुल सच है।"

राजा, "मैंने तो उनके अलौकिक चमत्कारों की बड़ी-बड़ी कथाएँ सुनी हैं।"

प्रजागण, "दीनबन्धु, उन्होंने तो यही कहा है कि तुम लोग अपने स्वामी की शरण जाओ। वे ही तुम्हारा उपकार कर सकते हैं।"

राजा ने हँसकर कहा, "जब ऐसे सिद्धगण कुछ नहीं कर सके तो मैं किस गिनती में हूँ।"

प्रजागण, "धर्मावतार, आप इस देश के पति हैं। आपमें ईश्वर का वास है। आप यदि हमारी प्रार्थना को ईश्वर तक पहुँचा दें, तो हमें विश्वास है कि हमारा सन्ताप दूर हो जाएगा।"

राजा ने अनुकम्पित होकर कहा, "सज्जनो, मुझे ऐसी आशा नहीं है। आपके ऊपर विपत्ति पड़ी हुई है, इसका मुझे अत्यन्त दुःख है। जो राजा अपने भोग-विलास में इतना लिप्त हो कि उसे अपनी प्रजा की दशा का तनिक भी ज्ञान न हो, जो सदैव मद्य में चूर पड़ा रहता हो, जो नित्य काम-लिप्सा में मग्न रहता हो, उसके द्वारा तुम्हारा क्या उपकार हो सकता है ? किन्तु मैं तुम लोगों को निराश नहीं करना चाहता। तुम्हारी विपत्ति को अपनी कठोर हृदयता से बढ़ाना नहीं चाहता। मैं ईश्वर से कुछ विनय करने के लिए सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझे उनसे कुछ प्रार्थना करते हुए लज्जा आती है, पर मैं तुम लोगों के कल्याणार्थ निर्लज्ज बनकर उनके सम्मुख जाऊँगा। धीरज रखो !"

4

मध्याह्न-काल था। सूर्य की प्रखर किरणें अग्नि के शरों के समान पृथ्वी पर गिर रही थीं और पृथ्वी पीड़ा तथा भय से काँप रही थी। झुलसती हुई रेती से भाप निकल रही थी, मानो यह अनाथ पृथ्वी की आह का धुआँ था। ऐसे समय में राजा पृथ्वीपाल सिंह राजभवन से बाहर निकले। उनके शरीर पर एक पतली लँगोटी के सिवा और कोई वस्त्र या आभूषण न था। सुन्दर केश मुड़े हुए थे और मुख पर कालिमा पुती हुई थी। उस कालिमा में उनके रक्त-वर्ण नेत्र इस प्रकार चमक रहे थे, मानो काली बनात पर लाल रेशम के फूल बने हों। उनका चेहरा उदास और मलिन था और आँखों में आँसू बह रहे थे। इस भाँति नंगे सिर, नंगे पैर, ग्लानि, नैराश्य तथा लज्जा की मूर्ति बने हुए वे आकर राजभवन के सामने,

जलती हुई भूमि पर खड़े हो गए। मन्त्रियों तथा अन्य अधिकारियों ने राजा को रोकने की बहुत चेष्टा की, पर उन्होंने कुछ दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। वे उससे विचलित न हुए।

नगर-निवासियों ने यह वृत्तान्त सुना। वे दौड़ते हुए उस स्थान पर आकर जमा हो गए। ऐसा कोई हृदय न था जो राजा की ऐसी नैराश्यपूर्ण दृढ़ता पर द्रवित न हो गया हो। लोगों ने बहुत दीनता से कहा, "स्वामी, आप इस कालिमा को धो डालिए, इससे हमारे हृदयों पर चोट लगती है।" राजा ने सुदृढ़ भाव से उत्तर दिया, "भाइयो, यह कालिमा अब ईश्वर की कृपा और दया के जल से धुलेगी, अन्यथा नहीं।"

एक घण्टा बीत गया। राजा का मुख-मण्डल काले तवे के सदृश्य तप रहा था। उनकी आँखों से अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। चोटी का पसीना एड़ी तक जा रहा था। उनका पद-स्थल भीग गया। मस्तक गर्म पानी के सदृश खौल रहा था। प्रतिक्षण लोगों को भय होता था कि कहीं वे मूर्च्छित होकर न गिर पड़ें। लोग अत्यन्त विनीत भाव से कह रहे थे, "दीनबन्धु, आप अपने सुकोमल शरीर को अब कष्ट न दें। हमें अन्न-जल के बिना मर जाना स्वीकार है, पर आपकी यह दशा देखी नहीं जाती।" किन्तु राजा के मुख-मण्डल से अटल प्रतिज्ञा का दिव्य प्रकाश फैल रहा था। उनकी कर्म तथा ज्ञान की समस्त इन्द्रियाँ शून्यावस्था में थीं। हाँ, शरीर का एक-एक रोम स्पष्ट शब्दों में कह रहा था कि—"परम पिता, मेरी प्रजा दुखी है, उसे उबारिए। मैं पापी हूँ, कुकर्मी हूँ, दुराचारी हूँ, दुर्व्यसनी हूँ, मुझे आपसे कुछ प्रार्थना करने में भी लज्जा होती है, पर मेरे कुकर्मों का दण्ड मुझे मिलना चाहिए; मेरी प्रजा निरपराध है, उस पर दया कीजिए। मैं कठोर-से-कठोर यातना के लिए आपके सम्मुख सिर झुकाये खड़ा हूँ। यदि आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार न करेंगे तो मैं यहीं खड़े-खड़े प्राण दे दूँगा, पर प्रजा को अपना मुँह न दिखाऊँगा। मैं आपका दासानुदास हूँ, आपसे अपना दुःख कहने में कोई अपमान नहीं है; किन्तु जो प्रजा मुझे अपना स्वामी समझती है उसके सामने मैं कौन मुँह लेकर जाऊँ ?"

दो घण्टे बीत गये। सूर्य की किरणें और भी प्रचण्ड हुई। भूमि और भी अधिक तप्त हो गई। सारी प्रजा आकाश की ओर टकटकी लगाए देख रही थी, किन्तु बादल का कहीं नाम न था।

5

सारा नगर यह विलक्षण दृश्य देखने के लिए उमड़ा चला आता था। प्रत्येक हृदय राजा के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति से परिपूर्ण हो रहा था। ऐसा राज्यानुराग कभी देखने में न आया था। सहस्रों नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। स्त्रियाँ व्याकुल होकर विलाप कर रही थीं। राजभवन से क्रन्दन-ध्वनि निकलकर सबके हृदयों को विदीर्ण किए देती थी।

तीन बज गये थे, पर सूर्य का तेज लेश मात्र भी कम न हुआ था। राजा पृथ्वीपालसिंह की आँखें फैल गई थीं, माथा सिकुड़ गया था, शरीर को सँभालने और चित्त को बलात्कार से स्थिर रखने के कारण ओठ पुष्पकली के समान बन्द हो गये थे। ऐसा ज्ञात होता था कि उनके शरीर में रक्त-संचार नहीं है, प्राण नहीं हैं, केवल नैराश्यमय दृढ़ता का बल उन्हें पैरों पर खड़ा रक्खे हुए है। लोगों को प्रतिक्षण भय होता था कि राजा अब भूमि पर गिरे, अब गिरे। बहुत से प्राणियों को तो विश्वास था कि यद्यपि राजा खड़े हैं, पर यह केवल शव मात्र

है। जिस ताप और उष्णता को घर में बैठकर सहन करना दुस्तर था, जिस धूप में चील अंडे छोड़ती थी और कीट-पतंग धरती से निकल-निकलकर तड़पते और मर जाते थे, जिस अग्नि-कुण्ड में किसी जीवधारी का एक क्षण खड़ा रहना असम्भव था और दहकती हुई ज्वाला में राजा जैसा सुकोमल, सुखोन्वित मनुष्य इतनी देर तक क्योंकर खड़ा रह सकता है?

सहसा जय-जयकार की ध्वनि से सारा आकाश-मण्डल गूँज उठा, मानो कोई भयंकर भूकम्प आ गया हो, अथवा दो पर्वत टकरा गए हों। लाखों मनुष्य आनन्द से विह्वल होकर उछलने-कूदने लगे। सारी जनता में एक हलचल-सी मच गई। अगणित उँगलियाँ पूर्व दिशा की ओर उठ गई। एक छोटा-सा बादल का टुकड़ा क्षितिज पर उसी तरह दिखाई दे रहा था, जैसे अन्धकार में कोई दीपक टिमटिमा रहा हो।

एक क्षण में किले से तोपें छूटने लगीं। स्त्रियाँ मंगलाचार गाने लगीं, और भवन-द्वार पर खड़ी होकर महारानी यशोदा ने दरिद्रों को अन्न-वस्त्र देना आरम्भ किया, किन्तु प्रजा शान्त हो गई थी। आनन्द की पहली लहर ने उसे अधीर कर दिया था। अपने उल्लास को हृदय में छिपाकर अब वह बादल के टुकड़े की ओर आशा और भय के साथ ताक रही थी।

देखते-देखते बादल के उस छोटे-से टुकड़े ने विराट् रूप धारण कर लिया। जैसे बारूद के ढेर में आग लगते ही क्षण मात्र में चारों ओर धुआँ फैल जाता है, उसी प्रकार वह बीज-रूपी मेघ समस्त आकाश में छा गया। बिजली चमकने लगी और पवन के झकोरे चलने लगे। अकस्मात् एक कर्णभेधी मेघ-ध्वनि सुनायी पड़ी। यह भीषण नाद इस समय लोगों को स्वर्गीय गान से भी अधिक प्रिय मालूम हुआ। इस नाद को सुनने के लिए वे कितने ही दिनों से लालायित हो रहे थे।

सूर्य भगवान् बड़े वेग से अस्ताचल की ओर दौड़े चले जाते थे, मानो वे इस मेघ-दल से भयभीत हो गए हों, पर उनका भागना भी निष्फल हुआ। क्षणभर में वे इस काले मेघ-सागर में विलीन हो गए। पृथ्वी पर अन्धकार छा गया। यह अन्धकार जनता की आशाओं का विमल प्रकाश था।

बादल फिर गरजने लगे और जल-विन्दु पृथ्वी पर गिरने लगी। असंख्य मनुष्य भक्ति, श्रद्धा, आनन्द तथा अनुराग से उन्मत्त होकर राजा की ओर दौड़े और उनके चरणों पर गिर पड़े। राजा अभी तक मूर्ति के समान स्थिर खड़े थे। उनके मुख की
कालिमा धुल-धुल कर बही जाती थी। उनका दिव्य स्वरूप श्याम घटा से इस प्रकार उदित होता आता था, जैसे बादलों में से चाँद निकलता है। उनके मुख पर इस समय एक अलौकिक प्रतिभा थी और नेत्रों से आत्मोत्सर्ग की ज्योति निकल रही थी।

उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मुख की यह कालिमा अब ईश्वर की दया-दृष्टि से ही धुलेगी और यह प्रतिज्ञा पूरी हुई, क्योंकि उनमें दृढ़ता थी, आत्मिक बल था और परमात्मा की दीन बन्धुता पर पूरा-पूरा विश्वास था।

देश कभी इतना उल्लसित, इतना सुखी और इतना गौरवोन्मत्त न हुआ था।

[हिन्दी कहानी। 'श्री शारदा' (हिन्दी पत्रिका), मार्च 1920 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

मनुष्य का परम धर्म

होली का दिन है। लड्डू के भक्त और रसगुल्ले के प्रेमी पंडित मोटेराम शास्त्री अपने आँगन में एक टूटी खाट पर सिर झुकाये, चिंता और शोक की मूर्ति बने बैठे हैं। उनकी सहधर्मिणी उनके निकट बैठी हुई उनकी ओर सच्ची सहवेदना की दृष्टि से ताक रही है और अपनी मृदुवाणी से पति की चिंताग्नि को शांत करने की चेष्टा कर रही है।

पंडितजी बहुत देर तक चिंता में डूबे रहने के पश्चात् उदासीन भाव से बोले—नर्सीबा ससुरा ना जाने कहाँ जा कर सो गया। होली के दिन भी न जागा !

पंडिताइन—दिन ही बुरे आ गये हैं। इहाँ तो जौन ते तुम्हारा हुकुम पावा ओही धड़ी ते साँझ-सबेरे दोनों जून सूरजनरायन से ही बरदान माँगा करित हैं कि कहूँ से बुलौवा आवै सैकड़न दिया तुलसी माई का चढ़ावा, मुदा सब सोय गये। गाढ़ परे कोऊ काम नहीं आवत है।

मोटेराम—कुछ नहीं, ये देवी-देवता सब नाम के हैं। हमारे बखत पर काम आवें तब हम जानें कि कोई देवी-देवता। संत-मंत में मालपुआ और हलुवा खानेवाले तो बहुत हैं।

पंडिताइन—का सहर-भर माँ अब कोई भल मनई नाहीं रहा ? सब मरि गये ?

मोटेराम—सब मर गये, बल्कि सड़ गये। दस-पाँच हैं तो साल-भर में दो-एक बार जीते हैं। वह भी बहुत हिम्मत की तो रुपये की तीन सेर मिठाई खिला दी। मेरा बस चलता तो इन सबों को सीधे काले पानी भिजवा देता, यह सब इसी अरियासमाज की करनी है।

पंडिताइन—तुमहूँ तो घर माँ बैठे रहत हो। अब ई जमाने में कोई ऐसन दाना नाहीं है कि घर बैठे नेवता भेज देय। कभूँ-कभूँ जुबान लड़ा दिया करौ।

मोटेराम—तुम कैसे जानती हो कि मैंने ज़बान नहीं लड़ाई ? ऐसा कौन रईस इस शहर में है, जिसके यहाँ जा कर मैंने आशीर्वाद न दिया हो; मगर कौन ससुरा सुनता है सब अपने-अपने रंग में मस्त हैं।

इतने में पंडित चिन्तामणि जी ने पदार्पण किया। यह पंडित मोटेराम जी के परम मित्र थे। हाँ, अवस्था कुछ कम थी और उसी के अनुकूल उनकी तोंद भी कुछ उतनी प्रतिभाशाली न थी।

मोटेराम—कहो मित्र, क्या समाचार लाये ? है कहीं डौल ?

चिंतामणि—डौल नहीं, अपना सिर है ! अब वह नसीब ही नहीं रहा।

मोटेराम—घर ही से आ रहे हो ?

चिंतामणि—भाई, हम तो साधू हो जायँगे। जब इस जीवन में कोई सुख ही नहीं रहा तो जी कर क्या करेंगे ? अब बताओ कि आज के दिन अब उत्तम पदार्थ न मिले तो कोई क्योंकर जिये।

मोटेराम—हाँ भाई बात तो यथार्थ कहते हो।

चिंतामणि—तो अब तुम्हारा किया कुछ न होगा ? साफ-साफ कहो, हम संन्यास ले लें।

मोटेराम—नहीं मित्र, घबराओ मत। जानते नहीं हो, बिना मरे स्वर्ग नहीं मिलता। तर माल खाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ती है, हमारी राय है कि चलो, इसी समय

गंगातट पर चलें और वहाँ व्याख्यान दें। कौन जाने किसी सज्जन की आत्मा जागृत हो जाय।

चिंतामणि—हाँ, बात तो अच्छी है; चलो चलें।

दोनों सज्जन उठ कर गंगाजी की ओर चले, प्रातःकाल था। सहस्रों मनुष्य स्नान कर रहे थे। कोई पाठ करता था। कितने ही लोग पंडों की चौकियों पर बैठे तिलक लगा रहे थे। कोई-कोई तो गीली धोती ही पहने घर जा रहे थे।

दोनों महात्माओं को देखते ही चारों तरफ से 'नमस्कार', 'प्रणाम' ओर 'पालागन' की आवाजें आने लगीं। दोनों मित्र इन अभिवादनों का उत्तर देते गंगातट पर जा पहुँचे और स्नानादि में प्रवृत्त हो गये। तत्पश्चात् एक पंडे की चौकी पर भजन गाने लगे। वह ऐसी विचित्र घटना थी कि सैकड़ों आदमी कौतूहलवश आ कर एकत्रित हो गये। जब श्रोताओं की संख्या कई सौ तक पहुँच गयी तो पंडित मोटेराम गौरवयुक्त भाव से बोले—सज्जनो, आपको ज्ञात है कि जब ब्रह्मा ने इस असार संसार की रचना की तो ब्राह्मणों को अपने मुख से निकाला। किसी को इस विषय में शंका तो नहीं है।

श्रोतागण—नहीं महाराज, आप सर्वथा सत्य कहते हो। आपको कौन काट सकता है।

मोटेराम—तो ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से निकले, यह निश्चय है। इसलिए मुख मानव शरीर का श्रेष्ठतम भाग है। अतएव मुख को सुख पहुँचाना, प्रत्येक प्राणी का परम कर्त्तव्य है। है या नहीं ? कोई काटता है हमारे वचन को ? सामने आये। हम उसे शास्त्र का प्रमाण दे सकते हैं।

श्रोतागण—महाराज, आप ज्ञानी पुरुष हो। आपको काटने का साहस कौन कर सकता है ?

मोटेराम—अच्छा, तो जब यह निश्चय हो गया कि मुख को सुख देना प्रत्येक प्राणी का परम धर्म है, तो क्या यह देखना कठिन है कि जो लोग मुख से विमुख हैं, वे दुःख के भागी हैं। कोई काटता है इस वचन को ?

श्रोतागण—महाराज, आप धन्य हो, आप न्याय-शास्त्र के पंडित हो।

मोटेराम—अब प्रश्न यह होता है कि मुख को सुख कैसे दिया जाय ? हम कहते हैं—जैसी तुममें श्रद्धा हो, सामर्थ्य हो। इसके अनेक प्रकार हैं, देवताओं के गुण गाओ, ईश्वर-वंदना करो, सत्संग करो और कठोर वचन न बोलो। इन बातों से मुख को सुख प्राप्त होगा। किसी को विपत्ति में देखो तो उसे ढाढ़स दो। इससे मुख को सुख होगा; किंतु इन सब उपायों से श्रेष्ठ, सबसे उत्तम, सबसे उपयोगी एक और ही ढंग है। कोई आप में ऐसा है जो उसे बतला दे ? है कोई, बोले।

श्रोतागण—महाराज, आपके सम्मुख कौन मुँह खोल सकता है। आप ही बताने की कृपा कीजिए।

मोटेराम—अच्छा, तो हम चिल्ला कर, गला फाड़-फाड़ कर कहते हैं कि वह इन सब विधियों से श्रेष्ठ हैं। उसी भाँति जैसे चंद्रमा समस्त नक्षत्रों में श्रेष्ठ है।

श्रोतागण—महाराज, अब विलम्ब न कीजिए। यह कौन-सी विधि है ?

मोटेराम—अच्छा सुनिए, सावधान होकर सुनिए। वह विधि है मुख को उत्तम पदार्थों

का भोजन करवाना, अच्छी-अच्छी वस्तु खिलाना। कोई काटता है हमारी बात को? आये, हम उसे वेद-मंत्रों का प्रमाण दें।

एक मनुष्य ने शंका की—यह समझ में नहीं आता कि सत्यभाषण से मिष्ट-भक्षण क्योंकर मुख के लिए अधिक सुखकारी हो सकता है ?

कई मनुष्यों ने कहा—हाँ-हाँ, हमें भी यही शंका है। महाराज इस शंका का समाधान कीजिए।

मोटेराम—और किसी को कोई शंका है ? हम बहुत प्रसन्न हो कर उसका निवारण करेंगे। सज्जनो, आप पूछते हैं कि उत्तम पदार्थों का भोजन करना और कराना क्योंकर सत्यभाषण से अधिक सुखदायी है। मेरा उत्तर है कि पहला रूप प्रत्यक्ष है और दूसरा अप्रत्यक्ष। उदाहरणतः कल्पना कीजिए कि मैंने कोई अपराध किया। यदि हाकिम मुझे बुला कर नम्रतापूर्वक समझाये कि पंडित जी, आपने यह अच्छा काम नहीं किया, आपको ऐसा उचित नहीं था, तो उसका यह दंड मुझे सुमार्ग पर लाने में सफल न होगा। सज्जनो मैं ऋषि नहीं हूँ, मैं दीन-हीन मायाजाल में फँसा हुआ प्राणी हूँ। मुझ पर इस दंड का कोई प्रभाव न होगा। मैं हाकिम के सामने से हटते ही फिर उसी कुमार्ग पर चलने लगूँगा। मेरी बात समझ में आती है ? कोई इसे काटता है ?

श्रोतागण—महाराज ! आप विद्यासागर हो, आप पंडितों के भूषण हो। आपको धन्य है।

मोटेराम—अच्छा, अब उसी उदाहरण पर फिर विचार करो। हाकिम ने बुला कर तत्क्षण कारागार में डाल दिया और वहाँ मुझे नाना प्रकार के कष्ट दिये गये। अब जब मैं छूटूँगा, तो बरसों तक यातनाओं को याद करता रहूँगा और सम्भवतः कुमार्ग को त्याग दूंगा। आप पूछेंगे, ऐसा क्यों है ? दंड दोनों ही हैं, तो क्यों एक का प्रभाव पड़ता है और दूसरे का नहीं। इसका कारण यही है कि एक का रूप प्रत्यक्ष है और दूसरे का गुप्त। समझे आप लोग ?

श्रोतागण—धन्य हो कृपानिधान ! आपको ईश्वर ने बड़ी बुद्धि-सामर्थ्य दी है।

मोटेराम—अच्छा, तो अब आपका प्रश्न होता है उत्तम पदार्थ किसे कहते हैं ? मैं इसकी विवेचना करता हूं। जैसे भगवान् ने नाना प्रकार के रंग नेत्रों के विनोदार्थ बनाये, उसी प्रकार मुख के लिए भी अनेक रसों की रचना की; किंतु इन समस्त रसों में श्रेष्ठ कौन है ? यह अपनी-अपनी रुचि है; लेकिन वेदों और शास्त्रों के अनुसार मिष्ट रस माना जाता है। देवतागण इसी रस पर मुग्ध होते हैं, यहां तक कि सच्चिदानंद, सर्वशक्तिमान् भगवान् को भी मिष्ट पाकों ही से अधिक रुचि है। कोई ऐसे देवता का नाम बता सकता है जो नमकीन वस्तुओं को ग्रहण करता हो ? है कोई जो ऐसे एक भी दिव्य ज्योति का नाम बता सके। कोई नहीं है। इसी भाँति खट्टे, कड़वे और चरपरे, कसैले पदार्थों से भी देवताओं को प्रीति नहीं है।

श्रोतागण—महाराज, आपकी बुद्धि अपरम्पार है।

मोटेराम—तो यह सिद्ध हो गया कि मीठे पदार्थ सब पदार्थों में श्रेष्ठ हैं। अब आपका पुनः प्रश्न होता है कि क्या समग्र मीठी वस्तुओं से मुख को समान आनंद प्राप्त होता है। यदि मैं कह दूँ 'हां' तो आप चिल्ला उठोगे कि पंडितजी तुम बावले हो, इसलिए मैं कहूँगा, 'नहीं' और बारम्बार 'नहीं'। सब मीठे पदार्थ समान रोचकता नहीं रखते। गुड़ और चीनी में

बहुत भेद है। इसलिए मुख को सुख देने के लिए हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम उत्तम-से-उत्तम मिष्ट-पाकों का सेवन करें और करायें। मेरा अपना विचार है कि यदि आपके थाल में जौनपुर की अमृतियाँ, आगरे के मोतीचूर, मथुरा के पेड़े, बनारस की कलाकंद, लखनऊ के रसगुल्ले, अयोध्या के गुलाबजामुन और दिल्ली का हलुआ-सोहन हो तो यह ईश्वर-भोग के योग्य है। देवतागण उस पर मुग्ध हो जायँगे। और जो साहसी, पराक्रमी जीव ऐसे स्वादिष्ट थाल ब्राह्मणों को जिमायेगा, उसे सदेह स्वर्गधाम प्राप्त होगा। यदि आपको श्रद्धा है तो हम आपसे अनुरोध करेंगे कि अपना धर्म अवश्य पालन कीजिए, नहीं तो, मनुष्य बनने का नाम न लीजिए।

पंडित मोटेराम का भाषण समाप्त हो गया। तालियाँ बजने लगीं। कुछ सज्जनों ने इस ज्ञान-वर्षा ओर धर्मोपदेश से मुग्ध हो कर उन पर फूलों की वर्षा की। तब चिंतामणि ने अपनी वाणी को विभूषित किया—

'सज्जनो, आपने मेरे परम मित्र पंडित मोटेराम का प्रभावशाली व्याख्यान सुना और अब मेरे खड़े होने की आवश्यकता न थी; परन्तु जहाँ मैं उनसे और सभी विषयों में सहमत हूँ, वहाँ उनसे मुझे थोड़ा मतभेद भी है। मेरे विचार में यदि आपके हाथ में केवल जौनपुर की अमृतियाँ हों तो वह पंचमेल मिठाइयों से कहीं सुखवर्द्धक, कहीं स्वादपूर्ण और कहीं कल्याणकारी होगा। इसे मैं शास्त्रोक्त सिद्ध करता हूँ।

मोटेराम ने सरोष हो कर कहा—तुम्हारी यह कल्पना मिथ्या है। आगरे के मोतीचूर और दिल्ली के हलुवा-सोहन के सामने जौनपुर की अमृतियों की तो गणना ही नहीं है।

चिंता.—प्रमाण से सिद्ध कीजिए ?

मोटेराम—प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण ?

चिंता.—यह तुम्हारी मूर्खता है।

मोटेराम—तुम जन्म-भर खाते ही रहे, किंतु खाना न आया।

इस पर चिंतामणि ने अपनी आसनी मोटेराम पर चलायी। शास्त्री जी ने वार खाली दिया और चिंतामणि की ओर मस्त हाथी के समान झपटे; किंतु उपस्थित सज्जनों ने दोनों महात्माओं को अलग-अलग कर दिया।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'स्वदेश', मार्च, 1920 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'इन्सान का मुकद्दस फर्ज' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

ब्रह्म का स्वांग

स्त्री

मैं वास्तव में अभागिन हूँ, नहीं तो क्या मुझे नित्य ऐसे-ऐसे घृणित दृश्य देखने पड़ते! शोक की बात यह है कि वे मुझे केवल देखने ही नहीं पड़ते, वरन् दुर्भाग्य ने उन्हें मेरे जीवन का मुख्य भाग बना दिया है। मैं उस सुपात्र ब्राह्मण की कन्या हूँ, जिसकी व्यवस्था बड़े-बड़े

गहन धार्मिक विषयों पर सर्वमान्य समझी जाती है। मुझे याद नहीं, घर पर कभी बिना स्नान और देवोपासना किये पानी की एक बूंद भी मुँह में डाली हो। मुझे एक बार कठिन ज्वर में स्नानादि के बिना दवा पीनी पड़ी थी; उसका मुझे महीनों खेद रहा। हमारे घर में धोबी कदम नहीं रखने पाता ! चमारिन दालान में भी नहीं बैठ सकती थी। किंतु यहाँ आ कर मैं मानो भ्रष्टलोक में पहुँच गयी हूँ। मेरे स्वामी बड़े दयालु, बड़े चरित्रवान और बड़े सुयोग्य पुरुष हैं ! उनके यह सद्गुण देख कर मेरे पिताजी उन पर मुग्ध हो गये थे। लेकिन! वे क्या जानते थे कि यहाँ लोग अघोर-पंथ के अनुयायी हैं। संध्या और उपासना तो दूर रही, कोई नियमित रूप से स्नान भी नहीं करता। बैठक में नित्य मुसलमान, क्रिस्तान सब आया-जाया करते हैं और स्वामी जी वहीं बैठे-बैठे पानी, दूध, चाय पी लेते हैं। इतना ही नहीं, वह वहीं बैठे-बैठे मिठाइयाँ भी खा लेते हैं। अभी कल की बात है, मैंने उन्हें लेमोनेड पीते देखा था। साईस जो चमार है, बेरोक-टोक घर में चला आता है। सुनती हूँ वे अपने मुसलमान मित्रों के घर दावतें खाने भी जाते हैं। यह भ्रष्टाचार मुझसे नहीं देखा जाता। मेरा चित्त घृणा से व्याप्त हो जाता है। जब वे मुस्कराते हुए मेरे समीप आ जाते हैं और हाथ पकड़ कर अपने समीप बैठा लेते हैं तो मेरा जी चाहता है कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। हा हिंदू जाति ! तूने हम स्त्रियों को पुरुषों की दासी बनना ही क्या हमारे जीवन का परम कर्तव्य बना दिया ! हमारे विचारों का, हमारे सिद्धांतों का, यहाँ तक कि हमारे धर्म का भी कुछ मूल्य नहीं रहा।

अब मुझे धैर्य नहीं। आज मैं इस अवस्था का अंत कर देना चाहती हूँ। मैं इस आसुरिक भ्रष्ट-जाल से निकल जाऊँगी। मैंने अपने पिता की शरण में जाने का निश्चय कर लिया है। आज यहाँ सहभोजन हो रहा है, मेरे पति उसमें सम्मिलित ही नहीं, वरन् उसके मुख्य प्रेषकों में हैं। इन्हीं के उद्योग तथा प्रेरणा से यह विधर्मीय अत्याचार हो रहा है। समस्त जातियों के लोग एक साथ बैठ कर भोजन कर रहे हैं। सुनती हूँ, मुसलमान भी एक ही पंक्ति में बैठे हुए हैं। आकाश क्यों नहीं गिर पड़ता ! क्या भगवान् धर्म की रक्षा करने के लिए अवतार न लेंगे। ब्राह्मण जाति अपने निजी बन्धुओं के सिवाय अन्य ब्राह्मणों का भी पकाया भोजन नहीं करती, वही महान् जाति इस अधोगति को पहुँच गयी कि कायस्थों, बनियों, मुसलमानों के साथ बैठ कर खाने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करती, बल्कि इसे जातीय गौरव, जातीय एकता का हेतु समझती है।

पुरुष

वह कौन शुभ घड़ी होगी कि इस देश की स्त्रियों में ज्ञान का उदय होगा और वे राष्ट्रीय संगठन में पुरुषों की सहायता करेंगे ? हम कब तक ब्राह्मणों के गोरखधंधे में फँसे रहेंगे ? हमारे विवाह-प्रवेश कब तक जानेंगे कि स्त्री और पुरुषों के विचारों की अनुकूलता और समानता गोत्र और वर्ण से कहीं अधिक महत्त्व रखती है। यदि ऐसा ज्ञात होता तो मैं वृन्दा का पति न होता और न वृन्दा मेरी पत्नी। हम दोनों के विचारों में जमीन और आसमान का अन्तर है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष नहीं कहती, किंतु मुझे विश्वास है कि वह मेरे विचारों को घृणा की दृष्टि से देखती है, मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वह मुझे स्पर्श भी नहीं करना

चाहती। यह उसका दोष नहीं, यह हमारे माता-पिता का दोष है, जिन्होंने हम दोनों पर ऐसा घोर अत्याचार किया।

कल वृन्दा खुल पड़ी। मेरे कई मित्रों ने सहभोज का प्रस्ताव किया था। मैंने उसका सहर्ष समर्थन किया। कई दिन के वाद-विवाद के पश्चात् अंत को कल कुछ गिने-गिनाये सज्जनों ने सहभोज का सामान कर ही डाला। मेरे अतिरिक्त केवल चार और सज्जन ब्राह्मण थे, शेष अन्य जातियों के लोग थे। यह उदारता वृन्दा के लिए असह्य हो गयी। जब मैं भोजन करके लौटा तो वह ऐसी विकल थी मानो उसके मर्मस्थल पर आघात हुआ हो। मेरी ओर विषादपूर्ण नेत्रों से देख कर बोली—अब तो स्वर्ग का द्वार अवश्य खुल गया होगा!

यह कठोर शब्द मेरे हृदय पर तीर के समान लगे ! ऐंठकर बोला—स्वर्ग और नर्क की चिंता में वे रहते हैं—जो अपाहिज हैं—कर्त्तव्य-हीन हैं, निर्जीव हैं। हमारा स्वर्ग और नर्क सब इसी पृथ्वी पर है। हम इस कर्मक्षेत्र में कुछ कर जाना चाहते हैं।

वृन्दा—धन्य है आपके पुरुषार्थ को, आपके सामर्थ्य को। आज संसार में सुख और शांति का साम्राज्य हो जायगा। आपने संसार का उद्धार कर दिया। इससे बढ़ कर उसका कल्याण क्या हो सकता है ?

मैंने झुँझला कर कहा—अब तुम्हें इन विषयों के समझने की ईश्वर ने बुद्धि ही नहीं दी, तो क्या समझाऊँ। इस पारस्परिक भेदभाव से हमारे राष्ट्र को जो हानि हो रही है, उसे मोटी से मोटी बुद्धि का मनुष्य भी समझ सकता है। इस भेद को मिटाने से देश का कितना कल्याण होता है, इसमें किसी को संदेह नहीं। हाँ, जो जानकर भी अनजान बने उसकी बात दूसरी है।

वृन्दा—बिना एक साथ भोजन किये परस्पर प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता ?

मैंने इस विवाद में पड़ना अनुपयुक्त समझा। किसी ऐसी नीति की शरण लेनी आवश्यक जान पड़ी, जिसमें विवाद का स्थान ही न हो। वृन्दा की धर्म पर बड़ी श्रद्धा है, मैंने उसी के शास्त्र से उसे पराजित करना निश्चय किया। बड़े गम्भीर भाव से बोला—यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु सोचो तो यह कितना घोर अन्याय है कि हम सब एक ही पिता की संतान होते हुए, एक दूसरे से घृणा करें, ऊँच-नीच की व्यवस्था में मग्न रहें। यह सारा जगत उसी परमपिता का विराट रूप है। प्रत्येक जीव में उसी परमात्मा की ज्योति आलोकित हो रही है। केवल इसी भौतिक परदे ने हमें एक दूसरे से पृथक् कर दिया है। यथार्थ में हम सब एक हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग-अलग घरों में जा कर भिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान् आत्मा पृथक्-पृथक् जीवों में प्रविष्ट हो कर विभिन्न नहीं होती....

मेरी इस ज्ञान वर्षा ने वृन्दा के शुष्क हृदय को तृप्त कर दिया। वह तन्मय हो कर मेरी बात सुनती रही जब मैं चुप हुआ तो उसने मुझे भक्ति-भाव से देखा और रोने लगी।

स्त्री

स्वामी के ज्ञानोपदेश ने मुझे सजग कर दिया, मैं अँधेरे कुएँ में पड़ी थी। इस उपदेश ने मुझे उठा कर पर्वत के ज्योतिर्मय शिखर पर बैठा दिया। मैंने अपनी कुलीनता से, झूठे अभिमान

से, अपने वर्ण की पवित्रता के गर्व में, कितनी आत्माओं का निरादर किया ! परमपिता, तुम मुझे क्षमा करो, मैंने अपने पूज्यपाद पति से इस अज्ञान के कारण, जो अश्रद्धा प्रकट की है, जो कठोर शब्द कहे हैं, उन्हें क्षमा करना !

जब से मैंने यह अमृत वाणी सुनी है, मेरा हृदय अत्यंत कोमल हो गया है, नाना प्रकार की सद्‌कल्पनाएँ चित्त में उठती रहती हैं। कल धोबिन कपड़े लेकर आयी थी। उसके सिर में बड़ा दर्द था। पहले मैं उसे इस दशा में देख कर कदाचित् मौखिक संवेदना प्रकट करती, अथवा महरी से उसे थोड़ा तेल दिलवा देती, पर कल मेरा चित्त विकल हो गया। मुझे प्रतीत हुआ, मानो यह मेरी बहिन है। मैंने उसे अपने पास बैठा लिया और घंटे भर तक उसके सिर में तेल मलती रही। उस समय मुझे जो स्वर्गीय आनंद हो रहा था, वह अकथनीय है। मेरा अंतःकरण किसी प्रबल शक्ति के वशीभूत हो कर उसकी ओर खिंचा चला जाता था। मेरी ननद ने आ कर मेरे इस व्यवहार पर कुछ नाक-भौं चढ़ायी, पर मैंने लेशमात्र भी परवाह न की। आज प्रातःकाल कड़ाके की सर्दी थी। हाथ-पाँव गले जाते थे। महरी काम करने आयी तो खड़ी काँप रही थी। मैं लिहाफ ओढ़े अंगीठी के सामने बैठी हुई थी ! तिस पर भी मुँह बाहर निकालते न बनता था। महरी की सूरत देख कर मुझे अत्यंत दुःख हुआ। मुझे अपनी स्वार्थवृत्ति पर लज्जा आयी। इसके और मेरे बीच में क्या भेद है। इसकी आत्मा में उसी प्रकार की ज्योति है। यह अन्याय क्यों ? क्या इसीलिए कि माया ने हम में भेद कर दिया है ? मुझे कुछ और सोचने का साहस नहीं हुआ। मैं उठी, अपनी ऊनी चादर लाकर महरी को ओढ़ा दी और उसे हाथ पकड़ कर अँगीठी के पास बैठा लिया। इसके उपरांत मैंने अपना लिहाफ रख दिया और उसके साथ बैठ कर बर्तन धोने लगी। वह सरल हृदय मुझे वहाँ से बार-बार हटाना चाहती थी। मेरी ननद ने आ कर मुझे कौतूहल से देखा और इस प्रकार मुँह बना कर चली गयी, मानों मैं क्रीड़ा कर रही हूँ। सारे घर में हलचल पड़ गयी और इस जरा-सी बात पर ! हमारी आँखों पर कितने मोटे परदे पड़ गये हैं। हम परमात्मा का कितना अपमान कर रहे हैं ?

पुरुष

कदाचित् मध्य पथ पर रहना नारी-प्रकृति ही में नहीं है—वह केवल सीमाओं पर ही रह सकती है। वृन्दा कहाँ तो अपनी कुलीनता और अपने कुल-मर्यादा पर जान देती थी, कहाँ अब साम्य और सहृदयता की मूर्ति बनी हुई है। मेरे उस सामान्य उपदेश का यह चमत्कार है ! अब मैं भी अपनी प्रेरक शक्तियों पर गर्व कर सकता हूँ। मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं है कि वह नीच जाति की स्त्रियों के साथ बैठे, हँसे और बोले। उन्हें कुछ पढ़ कर सुनाये, लेकिन उनके पीछे अपने को बिलकुल भूल जाना मैं कदापि पसंद नहीं कर सकता। तीन दिन हुए, मेरे पास एक चमार अपने जमींदार पर नालिश करने आया था। निस्संदेह जमींदारों ने उसके साथ ज्यादती की थी, लेकिन वकीलों का काम मुफ्त में मुकदमे दायर करना नहीं। फिर एक चमार के पीछे एक बड़े जमींदार से बैर करूँ ! ऐसे तो वकालत कर चुका ! उसके रोने की भनक वृन्दा के कान में भी पड़ गयी। बस, वह मेरे पीछे पड़ गयी कि उस मुकदमे को जरूर लो। मुझसे तर्क-वितर्क करने पर उद्यत हो गयी। मैंने बहाना करके उसे किसी प्रकार टालना चाहा, लेकिन उसने मुझसे वकालतनामे पर हस्ताक्षर करा कर तब

पिंड छोड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि, पिछले तीन दिन मेरे यहाँ मुफ्तखोर मुवक्किलों का ताँता लगा रहा और मुझे कई बार वृन्दा से कठोर शब्दों में बातें करनी पड़ीं। इसी से प्राचीन काल के व्यवस्थाकारों ने स्त्रियों को धार्मिक उपदेशों का पात्र नहीं समझा था। इनकी समझ में यह नहीं आता कि प्रत्येक सिद्धांत का व्यावहारिक रूप कुछ और ही होता है। हम सभी जानते हैं कि ईश्वर न्यायशील है, किन्तु न्याय के पीछे अपनी परिस्थिति को कौन भूलता है। आत्मा की व्यापकता को यदि व्यवहार में लाया जाय तो आज संसार में साम्य का राज्य हो जाय, किंतु उसी भाँति साम्य जैसे दर्शन का एक सिद्धांत ही रहा और रहेगा, वैसे ही राजनीति भी एक अलभ्य वस्तु है और रहेगी। हम इन दोनों सिद्धांतों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करेंगे, उन पर तर्क करेंगे। अपने पक्ष को सिद्ध करने में उनसे सहायता लेंगे, किंतु उनका उपयोग करना असम्भव है। मुझे नहीं मालूम था कि वृन्दा इतनी मोटी-सी बात भी न समझेगी !

वृन्दा की वृद्धि दिनों-दिन उलटी होती जाती है। आज रसोई में सबके लिए एक ही प्रकार के भोजन बने। अब तक घरवालों के लिए महीन चावल पकते थे, तरकारियाँ घी में बनती थीं, दूध-मक्खन आदि दिया जाता था। नौकरों के लिए मोटा चावल, मटर की दाल और तेल की भाजियाँ बनती थीं। बड़े-बड़े रईसों के यहाँ भी यही प्रथा चली आती है। हमारे नौकरों ने कभी इस विषय में शिकायत नहीं की। किंतु आज देखता हूँ, वृन्दा ने सबके लिए एक ही भोजन बनाया है। मैं कुछ बोल न सका, भौंचक्का-सा हो गया। वृन्दा सोचती होगी कि भोजन में भेद करना नौकरों पर अन्याय है। कैसा बच्चों का-सा विचार है ! नासमझ ! यह भेद सदा रहा है और रहेगा। मैं राष्ट्रीय ऐक्य का अनुरागी हूँ। समस्त शिक्षित-समुदाय राष्ट्रीयता पर जान देता है। किंतु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरों या सेवावृत्तिधारियों को समता का स्थान देंगे। हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। उनको दीनावस्था से उठाना चाहते हैं। यह हवा संसार भर में फैली हुई है पर इसका मर्म क्या है, यह दिल में भी समझते हैं, चाहे कोई खोल कर न कहे। इसका अभिप्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्त्व बढ़े, हमारा प्रभुत्व उदय हो, हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव अधिक हो, हमें यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वनि केवल मुट्ठी भर शिक्षितवर्ग ही की नहीं, वरन् समस्त जाति की संयुक्त ध्वनि है, पर वृन्दा को यह रहस्य कौन समझावे !

स्त्री

कल मेरे पति महाशय खुल पड़े। इसीलिए मेरा चित्त खिन्न है। प्रभो ! संसार में इतना दिखावा, इतनी स्वार्थांधता है, हम इतने दीन घातक है। उनका उपदेश सुन कर मैं उन्हें देवतुल्य समझने लगी थी। आज मुझे ज्ञान हो गया कि जो लोग एक साथ दो नाव पर बैठना जानते हैं, वे ही जाति के हितैषी कहलाते हैं।

कल मेरी ननद की विदाई थी। वह ससुराल जा रही थी। बिरादरी की कितनी ही महिलाएँ निमंत्रित थीं। वे उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहने कालीनों पर बैठी हुई थीं। मैं उनका स्वागत कर रही थी। निदान मुझे द्वार के निकट कई स्त्रियाँ भूमि पर बैठी हुई दिखायी दीं,

जहाँ इन महिलाओं की जूतियाँ और स्लीपरें रक्खी हुई थीं। वे बेचारी भी विदाई देखने आयी थीं। मुझे उनका वहाँ बैठना अनुचित जान पड़ा। मैंने उन्हें भी ला कर कालीन पर बैठा दिया। इस पर महिलाओं में मटकियाँ होने लगीं और थोड़ी देर में वे किसी न किसी बहाने से एक-एक करके चली गयीं। मेरे पति महाशय से किसी ने यह समाचार कह दिया। वे बाहर से क्रोध में भरे हुए आये और आँखें लाल करके बोले—यह तुम्हें क्या सूझी है, क्या हमारे मुँह में कालिख लगवाना चाहती हो? तुम्हें ईश्वर ने इतनी भी बुद्धि नहीं दी कि किसके साथ बैठना चाहिए। भले घर की महिलाओं के साथ नीच स्त्रियों को बैठा दिया ! वे अपने मन में क्या कहती होंगी ! तुमने मुझे मुँह दिखाने लायक नहीं रखा। छिः ! छिः!!

मैंने सरल भाव से कहा—इससे महिलाओं का तो क्या अपमान हुआ ? आत्मा तो सबकी एक ही है। आभूषणों से आत्मा तो ऊँची नहीं हो जाती !

पति महाशय ने होंठ चबा कर कहा—चुप भी रहो, बेसुरा राग अलाप रही हो। बस वही मुर्गी की एक टाँग। आत्मा एक है, परमात्मा एक है ? न कुछ जानो न बूझो, सारे शहर में नक्कू बना दिया, उस पर और बोलने को मरती हो। उन महिलाओं की आत्मा को कितना दुःख हुआ, कुछ इस पर भी ध्यान दिया ?

मैं विस्मित हो कर उनका मुँह ताकने लगी।

आज प्रातःकाल उठी तो मैंने एक विचित्र दृश्य देखा। रात को मेहमानों की जूठी पत्तल, सकोरे, दोने आदि बाहर मैदान में फेंक दिये गये थे। पचासों मनुष्य उन पत्तलों पर गिरे हुए उन्हें चाट रहे थे ! हाँ, मनुष्य थे, वही मनुष्य जो परमात्मा के निज स्वरूप हैं। कितने ही कुत्ते भी उन पत्तलों पर झपट रहे थे, पर वे कंगले कुत्तों को मार-मार कर भगा देते थे। उनकी दशा कुत्तों से भी गयी-बीती थी। यह कौतुक देख कर मुझे रोमांच होने लगा, मेरी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। भगवान् ! ये भी हमारे भाई-बहन हैं, हमारी आत्माएँ हैं। उनकी ऐसी शोचनीय, दीन दशा ! मैंने तत्क्षण महरी को भेज कर उन मनुष्यों को बुलाया और जितनी पूरी-मिठाइयाँ मेहमानों के लिए रखी हुई थीं, सब पत्तलों में रखकर उन्हें दे दीं। महरी थर-थर काँप रही थी, सरकार सुनेंगे तो मेरे सिर का बाल भी न छोड़ेंगे। लेकिन मैंने उसे ढाढ़स दिया, तब उसकी जान में जान आयी।

अभी ये बेचारे कंगले मिठाइयाँ खा ही रहे थे कि पति महाशय मुँह लाल किये हुए आये और अत्यंत कठोर स्वर में बोले—तुमने भंग तो नहीं खा ली ? जब देखो, एक न एक उपद्रव खड़ा कर देती हो। मेरी तो समझ में नहीं आता कि तुम्हें क्या हो गया है। ये मिठाइयाँ डोमड़ों के लिए नहीं बनायी गयी थीं। इनमें घी, शक्कर, मैदा लगा था, जो आजकल मोतियों के मोल बिक रहा है। हलवाइयों को दूध के धोये रुपये मजदूरी के दिये गये थे। तुमने उठा कर सब डोमड़ों को खिला दीं। अब मेहमानों को क्या खिलाया जायगा ? तुमने मेरी इज्जत बिगाड़ने का प्रण कर लिया है क्या ?

मैंने गम्भीर भाव से कहा—आप व्यर्थ इतने क्रुद्ध होते हैं। आपकी जितनी मिठाइयाँ खिला दी हैं, वह मैं मँगवा दूँगी। मुझसे यह नहीं देखा जाता कि कोई आदमी तो मिठाइयाँ खाय और कोई पत्तलें चाटे। डोमड़े भी तो मनुष्य ही हैं। उनके जीव में भी तो उसी…

स्वामी ने बात काट कर कहा—रहने भी दो, मरी तुम्हारी आत्मा ! बस तुम्हारी ही रक्षा से आत्मा की रक्षा होगी। यदि ईश्वर की इच्छा होती कि प्राणिमात्र को समान सुख प्राप्त हो

तो उसे सबको एक दशा में रखने से किसने रोका था ? वह ऊँच-नीच का भेद होने ही क्यों देता है ? जब उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो इतनी महान् सामाजिक व्यवस्था उसकी आज्ञा के बिना क्योंकर भंग हो सकती है ? जब वह स्वयं सर्वव्यापी है तो वह अपने ही को ऐसे-ऐसे घृणोत्पादक अवस्थाओं में क्यों रखता है ? जब तुम इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दे सकती तो उचित है कि संसार की वर्तमान रीतियों के अनुसार चलो। इन बेसिर-पैर की बातों से हँसी और निंदा के सिवाय और कुछ लाभ नहीं।

मेरे चित्त की क्या दशा हुई, वर्णन नहीं कर सकती। मैं अवाक् रह गयी। हा स्वार्थ ! हा मायांधकार ! हम ब्रह्म का भी स्वाँग बनाते हैं।

उसी क्षण से पतिश्रद्धा और पतिभक्ति का भाव मेरे हृदय से लुप्त हो गया !

यह घर मुझे अब कारागार लगता है; किन्तु मैं निराश नहीं हूँ। मुझे विश्वास है कि जल्दी या देर ब्रह्मज्योति यहाँ अवश्य चमकेगी और वह इस अंधकार को नष्ट कर देगी।

[हिन्दी कहानी। 'प्रभा', मई, 1920 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। उर्दू रूप 'नोक-झोंक' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', दिसम्बर, 1920 में प्रकाशित।]

पुत्र-प्रेम

बाबू चैतन्यदास ने अर्थशास्त्र खूब पढ़ा था, और केवल पढ़ा ही नहीं था, उसका यथायोग्य व्यवहार भी वे करते थे। वे वकील थे, दो-तीन गांवों में उनकी जमींदारी भी थी, बैंक में भी कुछ रुपये थे। यह सब उसी अर्थशास्त्र के ज्ञान का फल था। जब कोई खर्च सामने आता तब उनके मन में स्वभावतः प्रश्न होता था—इससे पहले स्वयं मेरा उपकार होगा या किसी अन्य पुरुष का ? यदि दो में से किसी का कुछ भी उपकार न होता तो वे बड़ी निर्दयता से उस खर्च का गला दबा देते थे। 'व्यर्थ' को वे विष के समान समझते थे। अर्थशास्त्र के सिद्धांत उनके जीवन-स्तंभ हो गए थे।

बाबू साहब के दो पुत्र थे। बड़े का नाम प्रभुदास था, छोटे का शिवदास। दोनों कॉलेज में पढ़ते थे। उनमें केवल एक श्रेणी का अंतर था। दोनों ही चतुर, होनहार युवक थे। किंतु प्रभुदास पर पिता का स्नेह अधिक था। उसमें सदुत्साह की मात्रा अधिक थी और पिता को उसकी जात से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। वे उसे विद्योन्नति के लिए इंग्लैंड भेजना चाहते थे। उसे बैरिस्टर बनाना उनके जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी।

2

किंतु कुछ ऐसा संयोग हुआ कि प्रभुदास को बी. ए. की परीक्षा के बाद ज्वर आने लगा। डॉक्टरों की दवा होने लगी। एक मास तक नित्य डॉक्टर साहब आते रहे, पर ज्वर में कमी न हुई। दूसरे डॉक्टर का इलाज होने लगा पर उससे भी कुछ लाभ न हुआ। प्रभुदास दिनोंदिन क्षीण होता चला जाता था। उठने-बैठने की शक्ति न थी। यहां तक कि परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने का शुभ संवाद सुनकर भी उसके चेहरे पर हर्ष का कोई चिह्न न

दिखाई दिया। वह सदैव गहरी चिंता में डूबा रहता था। उसे अपना जीवन बोझ-सा जान पड़ने लगा था। एक रोज चैतन्यदास ने डॉक्टर साहब से पूछा—यह क्या बात है कि दो महीने हो गए और अभी तक दवा का कोई असर नहीं हुआ ?

डॉक्टर साहब ने संदेहजनक उत्तर दिया—मैं आपको संशय में नहीं डालना चाहता। मेरा अनुमान है कि यह ट्यूबरक्युलोसिस है।

चैतन्यदास ने व्यग्र होकर कहा—तपेदिक ?

डॉक्टर—जी हां, उसके सभी लक्षण दिखाई देते हैं।

चैतन्यदास ने अविश्वास के भाव से कहा, मानो उन्हें विस्मयकारी बात सुन पड़ी हो—तपेदिक हो गया !

डॉक्टर ने खेद करते हुए कहा—यह रोग बहुत ही गुप्त रीति से शरीर में प्रवेश करता है।

चैतन्यदास—मेरे खानदान में तो यह रोग किसी को न था।

डॉक्टर—संभव है, मित्रों से इसके जर्म (कीटाणु) मिले हों।

चैतन्यदास कई मिनट तक सोचने के बाद बोले—अब क्या करना चाहिए ?

डॉक्टर—दवा करते रहिए। अभी फेफड़ों तक असर नहीं हुआ है। इनके अच्छे होने की आशा है।

चैतन्यदास—आपके विचार में कब तक दवा का असर होगा ?

डॉक्टर—निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। लेकिन तीन-चार महीने में ये स्वस्थ हो जाएंगे। जाड़ों में इस रोग का जोर कम हो जाया करता है।

चैतन्यदास—अच्छे हो जाने पर ये पढ़ने में परिश्रम कर सकेंगे ?

डॉक्टर—मानसिक परिश्रम के योग्य तो ये शायद ही हो सकें।

चैतन्यदास—किसी सैनेटोरियम (पहाड़ी स्वास्थ्यालय) में भेज दूं तो कैसा हो ?

डॉक्टर—बहुत ही उत्तम।

चैतन्यदास—तब तो ये पूर्ण रीति से स्वस्थ हो जाएंगे ?

डॉक्टर—हो सकते हैं, लेकिन इस रोग को दबा रखने के लिए इनका मानसिक परिश्रम से बचना ही अच्छा है।

चैतन्यदास नैराश्य भाव से बोले—तब तो इनका जीवन ही नष्ट हो गया।

3

गर्मी बीत गई। बरसात के दिन आए। प्रभुदास की दशा दिनोंदिन बिगड़ती गई। वह पड़े-पड़े बहुधा इस रोग पर की गई बड़े-बड़े डॉक्टरों की व्याख्याएं पढ़ा करता था। उनके अनुभवों से अपनी अवस्था की तुलना किया करता। पहले कुछ दिनों तक तो वह अस्थिरचित्त-सा हो गया था। दो-चार दिन भी दशा संभली रहती तो पुस्तकें देखने लगता और विलायत-यात्रा की चर्चा करता। दो-चार दिन भी ज्वर का प्रकोप बढ़ जाता तो जीवन से निराश हो जाता। किंतु कई मास के पश्चात् जब उसे विश्वास हो गया कि इस रोग से मुक्त होना कठिन है तब उसने जीवन की भी चिंता छोड़ दी। पथ्यापथ्य का विचार न करता, घरवालों की निगाह बचाकर औषधियां जमीन पर गिरा देता। मित्रों के साथ बैठकर

जी बहलाता। यदि कोई उससे स्वास्थ्य के विषय में कुछ पूछता तो चिढ़कर मुंह मोड़ लेता। उसके भावों में एक शांतिमय उदासीनता आ गई थी और बातों में एक दार्शनिक मर्मज्ञता पाई जाती थी। वह लोक-रीति और सामाजिक प्रथाओं पर बड़ी निर्भीकता से आलोचनाएं किया करता। यद्यपि बाबू चैतन्यदास के मन में रह-रहकर शंका उठा करती थी कि जब परिणाम विदित ही है तब इस प्रकार धन का अपव्यय करने से क्या लाभ, तथापि वे कुछ तो पुत्र-प्रेम और कुछ लोक-मत के भय से धैर्य के साथ दवा-दर्पन करते जाते थे।

जाड़े का मौसम था। चैतन्यदास पुत्र के सिरहाने बैठे हुए डॉक्टर साहब की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि से देख रहे थे। जब डॉक्टर साहब टेंपरेचर लेकर (थर्मामीटर लगाकर) कुर्सी पर बैठे तब चैतन्यदास ने पूछा—अब तो जाड़ा आ गया। आपको कुछ अंतर मालूम होता है ?

डॉक्टर—बिल्कुल नहीं, बल्कि रोग और भी दुस्साध्य होता जाता है।

चैतन्यदास ने कठोर स्वर में पूछा—तब आप लोग क्यों मुझे इस भ्रम में डाले हुए थे कि जाड़े में अच्छे हो जाएंगे ? इस प्रकार दूसरों की सरलता का उपयोग करना अपना मतलब साधने का साधन हो तो हो, इसे सज्जनता कदापि नहीं कह सकते।

डॉक्टर ने नम्रता से कहा—ऐसी दशाओं में हम केवल अनुमान कर सकते हैं और अनुमान सदैव सत्य नहीं होते। आपको जेरबारी अवश्य हुई, पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मेरी इच्छा आपको भ्रम में डालने की नहीं थी।

शिवदास बड़े दिन की छुट्टियों में आया हुआ था, इसी समय वह कमरे में आ गया और डॉक्टर साहब से बोला—आप पिताजी की कठिनाइयों का स्वयं अनुमान कर सकते हैं। अगर उनकी बात नागवार लगी हो तो उसे क्षमा कीजिएगा।

चैतन्यदास ने छोटे पुत्र की ओर वात्सल्य की दृष्टि से देखकर कहा—तुम्हें यहां आने की क्या जरूरत थी। मैं तुमसे कितनी बार कह चुका हूं कि यहां मत आया करो। लेकिन तुमको सबर ही नहीं होती।

शिवदास ने लज्जित होकर कहा—मैं अभी चला जाता हूं। आप नाराज न हों। मैं केवल डॉक्टर साहब से यह पूछना चाहता था कि भाई साहब के लिए अब क्या करना चाहिए ?

डॉक्टर ने कहा—अब केवल एक ही साधन और है। इन्हें इटली के किसी सैनेटोरियम में भेज देना चाहिए।

चैतन्यदास ने सजग होकर पूछा—कितना खर्च होगा ?

"ज्यादा से ज्यादा तीन हजार। साल-भर रहना होगा।"

"निश्चय है कि वहां से अच्छे होकर आवेंगे ?"

"जी नहीं। यह तो एक भयंकर रोग है, साधारण बीमारियों में भी कोई बात निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती।"

"इतना खर्च करने पर भी वे वहां से ज्यों के त्यों लौट आए तो ?"

"तो ईश्वर की इच्छा। आपको यह तसकीन हो जायगी कि इनके लिए मैं जो कुछ कर सकता था, कर दिया।"

4

आधी रात तक घर में प्रभुदास को इटली भेजने के प्रस्ताव पर वाद-विवाद होता रहा। चैतन्यदास का कथन था कि एक संदिग्ध फल के लिए तीन हजार का खर्च उठाना बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल है। शिवदास भी उनसे सहमत था। किंतु उसकी माता इस प्रस्ताव का बड़ी दृढ़ता के साथ अनुमोदन कर रही थी। अंत में माता की धिक्कारों का यह फल हुआ कि शिवदास लज्जित होकर उसके पक्ष में हो गया। बाबू साहब अकेले रह गए। तपेश्वरी ने तर्क से काम लिया। पति के सद्भावों को प्रज्ज्वलित करने की चेष्टा की। धन की नश्वरता की लोकोक्तियां कहीं। इन शस्त्रों से विजय-लाभ न हुआ तो अश्रुवर्षा करने लगी। बाबू साहब जल-बिंदुओं के इस शर-प्रहार के सामने न ठहर सके। इन शब्दों में हार स्वीकार की—अच्छा भाई, रोओ मत। जो कुछ तुम कहती हो वही होगा।

तपेश्वरी—तो कब ?

"रुपये हाथ में आने दो।"

"तो यह क्यों नहीं कहते कि भेजना ही नहीं चाहते ?"

"भेजना चाहता हूं किंतु अभी हाथ खाली है। क्या तुम नहीं जानतीं ?"

"बैंक में तो रुपये हैं ? जायदाद तो है ? दो-तीन हजार का प्रबंध करना ऐसा क्या कठिन है ?"

चैतन्यदास ने पत्नी को ऐसी दृष्टि से देखा मानो उसे खा जाएंगे और एक क्षण के बाद बोले—बिल्कुल बच्चों की-सी बातें करती हो। इटली में ऐसी कोई संजीवनी नहीं रक्खी हुई है जो तुरंत चमत्कार दिखाएगी। जब वहां भी केवल प्रारब्ध ही की परीक्षा करनी है तो सावधानी से कर लेंगे। पूर्व पुरुषों की संचित जायदाद और रक्खे हुए रुपये मैं अनिश्चित हित की आशा पर बलिदान नहीं कर सकता।

तपेश्वरी ने डरते-डरते कहा—आखिर, आधा हिस्सा तो प्रभुदास का भी है ?

बाबू साहब तिरस्कार करते हुए बोले—आधा नहीं, उसका मैं अपना सर्वस्व दे देता, जब उससे कुछ आशा होती, वह खानदान की मर्यादा और ऐश्वर्य बढ़ाता और इस लगाए हुए धन के फलस्वरूप कुछ कर दिखाता। मैं केवल भावुकता के फेर में पड़कर धन का ह्रास नहीं कर सकता।

तपेश्वरी अवाक् रह गई। जीतकर भी उसकी हार हुई।

इस प्रस्ताव के छः महीने बाद शिवदास बी. ए. पास हो गया। बाबू चैतन्यदास ने अपनी जमींदारी के दो आने बंधक रखकर कानून पढ़ने के निमित्त उसे इंग्लैंड भेजा। उसे बम्बई तक खुद पहुंचाने गए। वहां से लौटे तो उनका अंतःकरण सदिच्छाओं से परिपूर्ण था। उन्होंने एक ऐसे चलते हुए काम में रुपये लगाए थे जिससे अपरिमित लाभ होने की आशा थी। उनके लौटने के एक सप्ताह पीछे अभागा प्रभुदास अपनी उच्च-अभिलाषाओं को लिए हुए परलोक सिधारा।

5

चैतन्यदास मणिकर्णिका घाट पर अपने संबंधियों के साथ बैठे चिता-ज्वाला की ओर देख

रहे थे। उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। पुत्र-प्रेम एक क्षण के लिए अर्थ-सिद्धांत पर गालिब आ गया था। उस विरक्तावस्था में उनके मन में यह कल्पना उठ रही थी—संभव है, इटली जाकर प्रभुदास स्वस्थ हो जाता। हाय ! मैंने तीन हजार का मुंह देखा और पुत्र-रत्न को हाथ से खो दिया। यह कल्पना प्रतिक्षण सजग होती जाती थी और उनको ग्लानि, शोक और पश्चात्ताप के बाणों से बेध रही थी। रह-रहकर उनके हृदय में वेदना की शूल-सी उठती थी। उनके अंतर की ज्वाला उस चिता-ज्वाला से कम दग्धकारिणी न थी। अकस्मात् उनके कानों में शहनाइयों की आवाज आई। उन्होंने आंख ऊपर उठाई तो मनुष्यों का एक समूह एक अर्थी के साथ आता हुआ दिखाई दिया। वे सबके सब ढोल बजाते, गाते, पुष्प आदि की वर्षा करते चले आते थे। घाट पर पहुंचकर उन्होंने अर्थी उतारी और चिता बनाने लगे। उनमें से एक युवक आकर चैतन्यदास के पास खड़ा हो गया। बाबू साहब ने पूछा—किस मुहल्ले में रहते हो ?

युवक ने जवाब दिया—हमारा घर देहात में है। कल शाम को चले थे। ये हमारे बाप थे। हम लोग यहां कम आते हैं, पर दादा की अंतिम इच्छा थी कि हमें मणिकर्णिका घाट पर ले जाना।

चैतन्यदास—ये सब आदमी तुम्हारे साथ हैं ?

युवक—हां, और लोग पीछे आते हैं। कई सौ आदमी साथ आते हैं। यहां तक आने में सैकड़ों उठ गए पर सोचता हूं कि बूढ़े पिता की मुक्ति तो बन गई। धन और है ही किसलिए।

चैतन्यदास—उन्हें क्या बीमारी थी ?

युवक ने बड़ी सरलता से कहा, मानो वह अपने किसी निज संबंधी से बात कर रहा हो—बीमारी का किसी को कुछ पता नहीं चला। हरदम ज्वर चढ़ा रहता था। सूखकर कांटा हो गए थे। तीन वर्ष तक खाट पर पड़े रहे। जिसने जहां बताया वहां लेकर गए। चित्रकूट, हरिद्वार, प्रयाग सभी स्थानों में ले-लेकर घूमे। वैद्यों ने जो कुछ कहा उसमें कोई कसर नहीं की।

इतने में युवक का एक और साथी आ गया और बोला—साहब, मुंह देखी बात नहीं, नारायण लड़का दे तो ऐसा दे। इसने रुपयों को ठीकरे समझा। घर की सारी पूंजी पिता की दवा-दारू में स्वाहा कर दी। थोड़ी-सी जमीन तक बेच दी, पर काल बली के सामने आदमी का क्या बस है।

युवक ने गद्‌गद् स्वर से कहा—भैया, रुपया-पैसा हाथ का मैल है। कहां आता है, कहां जाता है, मनुष्य नहीं मिलता। जिंदगानी है तो कमा खाऊंगा। पर मन में यह लालसा तो नहीं रह गई कि हाय ! यह नहीं किया, उस वैद्य के पास नहीं गया, नहीं तो शायद बच जाते। हम तो कहते हैं कि कोई हमारा सारा घर-द्वार लिखा ले, केवल दादा को एक बोल बुला दे। इसी माया-मोह का नाम जिंदगानी है, नहीं तो इसमें क्या रक्खा है ? धन से प्यारी जान, जान से प्यारा ईमान। बाबू साहब, आपसे सच कहता हूं, अगर दादा के लिए अपने बस की कोई बात उठा रखता तो आज रोते न बनता। अपना ही चित्त अपने को धिक्कारता। नहीं तो मुझे इस घड़ी ऐसा जान पड़ता है कि मेरा उद्धार एक भारी ऋण से हो गया। उनकी आत्मा सुख और शांति से रहेगी तो मेरा सब तरह कल्याण ही होगा।

बाबू चैतन्यदास सिर झुकाए ये बातें सुन रहे थे। एक-एक शब्द उनके हृदय में शर के समान चुभता जाता था। इस उदारता के प्रकाश में उन्हें अपनी हृदयहीनता, अपनी आत्मशून्यता, अपनी भौतिकता अत्यंत भयंकर दिखाई देती थी। उनके चित्त पर इस घटना का कितना प्रभाव पड़ा, यह इसी से अनुमान किया जा सकता है कि प्रभुदास के अंत्येष्टि संस्कार में उन्होंने हजारों रुपये खर्च कर डाले। उनके संतप्त हृदय की शांति के लिए अब एकमात्र यही उपाय रह गया था।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'सरस्वती', जून, 1920 में प्रकाशित। 'गुप्तधन' भाग 2 में संकलित। उर्दू रूप 'महर-ए-पिदर' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', जुलाई, 1920 में प्रकाशित। उर्दू में असंकलित।]

बूढ़ी काकी

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का, रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे ! पृथ्वी पर पड़ी रहती और घर वाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और न मिलती तो ये रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़ कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालांतर हो चुका था। बेटे तरुण हो-हो कर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी। भतीजे ने सारी सम्पत्ति लिखाते समय खूब लम्बे-चौड़े वादे किये, किंतु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दलालों के दिखाये हुए सब्जबाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़-दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पंडित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जब कि उनके कोष पर कोई आँच न आये। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती, परंतु विशेष व्यय का भय उनकी सुचेष्टा को दबाये रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगती तो वह आग हो जाते और घर में आकर उन्हें जोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष

होता ही है और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो वे बूढ़ी काकी को और सताया करते। कोई चुटकी काट कर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता ! काकी चीख मार कर रोतीं, परंतु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिए रोती हैं, अतएव उनके संताप और आर्त्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी क्रोधातुर हो कर बच्चों को गालियाँ देने लगतीं तो रूपा घटनास्थल पर आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वाकृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शांति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई-चबैना बूढ़ी काकी के पास बैठ कर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

2

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुंड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों की "वाह, वाह" पर ऐसा खुश हो रहा था मानो इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो-एक अँग्रेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार मंडली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के मुखराम का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्ठियों पर कड़ाह चढ़ रहे थे। एक में पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ निकल रही थीं, दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हण्डे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्द्धक सुगंधि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचार की भाँति बैठी हुई थीं। यह स्वाद मिश्रित सुगंधि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन ही मन विचार कर रही थीं, सम्भवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गयी, कोई भोजन लेकर नहीं आया। मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके हैं। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोच कर उन्हें रोना आया; परन्तु अशकुन के भय से वह रो न सकीं।

"आहा ! कैसी सुगंधि है ? अब मुझे कौन पूछता है ? जब रोटियों ही के लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भरपेट पूड़ियाँ मिलें ?" यह विचार कर उन्हें रोना आया, कलेजे में हूक-सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन्होंने फिर मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रहीं ! घी और मसालों की सुगंधि रह-रह कर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने लगती थी। किसे पुकारूँ, आज लाडली बेटी भी नहीं आयी। दोनों छोकड़े सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता

नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-लाल, फूली-फूली, नरम-नरम होंगी। रूपा ने भली-भाँति भोजन किया होगा। कचौड़ियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूड़ी मिलती तो जरा हाथ में ले कर देखती। क्यों न चल कर कड़ाह के सामने ही बैठूँ। पूड़ियाँ छन-छन कर तैयार होंगी। कड़ाह से गरम-गरम निकालकर थाल में रखी जाती होंगी। फूल हम घर में भी सूँघ सकते हैं; परन्तु वाटिका में कुछ और बात होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढ़ी काकी उकड़ूँ बैठ कर हाथों के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई में चौखट से उतरी और धीरे-धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास आ बैठी। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खाने वाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समय कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में, कभी कड़ाह के पास आती, कभी भंडार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—"महाराज ठंडाई माँग रहे हैं।" ठंडाई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आ कर कहा—"भाट आया है, उसे कुछ दे दो।" भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आ कर पूछा "अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है ? जरा ढोल, मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते-दौड़ते व्याकुल हो रही थी, झुँझलाती थी, कुढ़ती थी, परन्तु क्रोध प्रकट करने का अवसर न पाती थी। भय होता, कहीं पड़ोसिनें यह न कहने लगें कि इतने में उबल पड़ीं। प्यास से स्वयं कंठ सूख रहा था। गर्मी के मारे फुँकी जाती थी, परन्तु इतना अवकाश भी नहीं था कि जरा पानी पी ले अथवा पंखा ले कर झले। वह भी खटका था कि जरा आँख हटी और चीज़ों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठी देखा तो जल गयी। क्रोध न रुक सका। इसका भी ध्यान न रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेंढ़क केंचुये पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झटककर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़ ? कोठरी में बैठते हुए क्या दम घुटता था ? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान् को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका ? आ कर छाती पर सवार हो गयी। जल जाय ऐसी जीभ। दिन भर खाती न होती तो न जाने किसकी हाँड़ी में मुँह डालती ? गाँव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भरपेट खाने को नहीं पाती तभी तो इस तरह मुँह बाये फिरती है। डायन न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवा कर दम लेगी। इतना ठूँसती है न जाने कहाँ भस्म हो जाता है। भला चाहती हो तो जा कर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह में पानी न जाय, परन्तु तुम्हारी पूजा पहले ही हो जाय।

बूढ़ी काकी ने सिर उठाया; न रोई न बोलीं। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गयीं। आवाज ऐसी कठोर थी कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, सम्पूर्ण विचार और सम्पूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गये थे। नदी में जब कगार का कोई वृहद खंड कट कर गिरता है तो आस-पास का जलसमूह चारों ओर उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है !

3

भोजन तैयार हो गया है। आँगन में पत्तलें पड़ गयीं, मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवकगण भी उसी मंडली के साथ किंतु कुछ हट कर भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सब के सब खा न चुके कोई उठ नहीं सकता था। दो-एक मेहमान जो कुछ पढ़े-लिखे थे, सेवकों के दीर्घाहार पर झुँझला रहे थे। वे इस बंधन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जा कर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ से कहाँ गयी। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाजी पर दुःख था। सच ही तो है जब तक मेहमान लोग भोजन कर न चुकेंगे, घर वाले कैसे खायेंगे। मुझसे इतनी देर भी न रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयेगा, न जाऊँगी।

मन ही मन इसी प्रकार का विचार कर वह बुलाने की प्रतीक्षा करने लगीं। परन्तु घी की रुचिकर सुवास बड़ी धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रही थी। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गयी होगी ! अब मेहमान आ गये होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गये। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचार कर वह मन को बहलाने के लिए लेट गयीं। धीरे-धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गयी। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे। किसी की आवाज नहीं सुनायी देती। अवश्य ही लोग खा-पी कर चले गये। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गयी है, क्या जाने न बुलाये। सोचती हो कि आप ही आवेंगी, वह कोई मेहमान तो नहीं जो उन्हें बुलाऊँ। बूढ़ी काकी चलने के लिए तैयार हुई। यह विश्वास कि एक मिनट में पूड़ियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने आयेंगी, उनकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मंसूबे बाँधे—पहले तरकारी से पूड़ियाँ खाऊँगी, फिर दही और शक्कर से, कचौरियाँ रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी। चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग-माँग कर खाऊँगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं ? कहा करें, इतने दिन के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ जाऊँगी।

वह उकड़ूँ बैठ कर हाथों के बल सरकती हुई आँगन में आयीं। परंतु हाय दुर्भाग्य ! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान मंडली अभी बैठी हुई थी। कोई खा कर उँगलियाँ चाटता था, कोई तिरछे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं। कोई इस चिंता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खा कर जीभ चटकारता था, परंतु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँची। कई आदमी चौंक कर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह बुढ़िया कौन है। यह कहाँ से आ गयी ? देखो किसी को छू न दे।

पंडित बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गये। पूड़ियों का थाल लिये खड़े थे। थाल को जमीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े कर्जदार को देखते ही झपटकर उसका टेंटुआ पकड़ लेता है उसी तरह लपक कर उन्होंने काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अँधेरी कोठरी में

धम से पटक दिया। आशा रूपी वाटिका लू के एक झोंके में नष्ट-विनष्ट हो गयी।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले, धोबी, चमार भी भोजन कर चुके, परंतु बूढ़ी काकी को किसी ने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उनकी निर्लज्जता के लिए दंड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हतज्ञान पर किसी को करुणा न आयी थी अकेली लाडली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यंत प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गंध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठ कर रह गया। वह झुंझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते। क्या मेहमान सब की सब खा जायेंगे ? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा ? वह काकी के पास जा कर उन्हें धैर्य देना चाहती थी, परंतु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खायी थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रक्खी थीं। उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बेठगी, पूड़ियाँ देख कर कैसी प्रसन्न होंगी ! मुझे खूब प्यार करेंगी ?

4

रात को ग्यारह बज गये थे। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाडली की आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्माँ सो रही हैं, तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूँ। चारों ओर अँधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गयी। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान जी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखलाई दे रही है। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं। इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाडली को ढाढस हुआ। कई सोये हुए मनुष्यों के बदले एक भागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिक धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठायी और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चली।

5

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़ कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाये लिये जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराये तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटका, वे मूर्छित हो गयीं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की ज़रा भी आहट न मिलती थी। समझी कि सब लोग खा-पी कर सो गये और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गयी। रात कैसे कटेगी ? राम ! क्या खाऊँ ? पेट में अग्नि धधक रही है ? हा ! किसी ने मेरी सुधि न ली! क्या मेरा पेट काटने से धन जुड़ जायगा ? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढ़िया

कब मर जाय ? उसका जी क्यों दुखावें ? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ ? इस पर यह हाल। मैं अंधी, अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूँ न बूझूँ। यदि आँगन में चली गयी तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी अभी लोग खा रहे हैं, फिर आना। मुझे घसीटा पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दीं। उन्हीं पूड़ियों के लिए इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दीं, तब अब क्या देंगे ?

यह विचार कर काकी निराशामय संतोष के साथ लेट गयीं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज़ आयी—"काकी उठो; मैं पूड़ियाँ लायी हूँ।" काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाडली ने पूड़ियाँ निकाल कर दीं।

काकी ने पूछा—क्या तुम्हारी अम्माँ ने दी हैं ?

लाडली ने कहा—नहीं, यह मेरे हिस्से की हैं।

काकी पूड़ियों पर टूट पड़ीं। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गयी।

लाडली ने पूछा—काकी पेट भर गया।

जैसी थोड़ी-सी वर्षा ठंडक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है उसी भाँति इन थोड़ी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को और उत्तेजित कर दिया था। बोलीं—नहीं बेटी, जा कर अम्माँ से और माँग लाओ।

लाडली ने कहा—अम्माँ सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकाल कर वे खा गयीं। बार-बार होंठ चाटती थीं, चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियाँ कैसे पाऊँ। संतोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालों को मद का स्मरण करना उन्हें मदांध बनाता है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोली—मेरा हाथ पकड़ कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठ कर भोजन किया है।

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जा कर जूठे पत्तलों के पास बैठा दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुन कर भक्षण करने लगी। ओह दही कितना स्वादिष्ट था, कचौड़ियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धिहीन होते हुए भी इतना जानती थीं कि मैं वह काम कर रही हूँ, जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा रोग का अंतिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएँ एक ही केंद्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठा कर खा रही है। रूपा का हृदय

सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देख कर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों की जूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। यह वह दृश्य था जिसे देखकर देखने वालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता मानों जमीन रुक गयी, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई आपत्ति आनेवाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आयीं ! इस अधर्म के पाप का भागी कौन है ? उसने सच्चे हृदय से गगन-मंडल की ओर हाथ उठाकर कहा—परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जायगा।

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़े थे। वह सोचने लगी—हाय ! कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति ! और मेरे कारण ! हे दयामय भगवान्! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो ! आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये, परंतु जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाये, उसे इस उत्सव में भी भरपेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो, वह वृद्धा असहाय है।

रूपा ने दीया जलाया, अपने भंडार का द्वार खोला और एक थाली में सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजा कर लिए हुए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परंतु उनमें किसी को वह परमानंद प्राप्त न हो सकता था, जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देख कर प्राप्त हुआ। रूपा ने कंठावरुद्ध स्वर में कहा—काकी उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसका बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दें।

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पा कर मार और तिरस्कार सब भूल जाता है, बूढ़ी काकी वैसे ही सब भुला कर बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक-एक रोयें से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनंद लेने में निमग्न थी।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'कहकशां', जुलाई, 1920 में प्रकाशित। उर्दू 'प्रेम बत्तीसी' में संकलित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'श्री शारदा', जनवरी, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

मुबारक बीमारी

रात के नौ बज गए थे। एक युवती अँगीठी के सामने बैठी हुई आग फूंकती और उसके गाल आग के कुंदनी रंग में दहक रहे थे। उसकी बड़ी-बड़ी नरगिसी आँखें दरवाजे की तरफ

लगी हुई थीं। कभी चौंककर आँगन की तरफ ताकती, कभी कमरे की तरफ। फिर आने वालों की इस देरी से त्योरियों पर बल पड़ जाते और आंखों में हल्का-सा गुस्सा नजर आता। कमल पानी में झकोले खाने लगता।

इसी बीच आने वालों की आहट मिली। कहार बाहर पड़ा खर्राटे ले रहा था। बूढ़े लाला हरनामदास ने आते ही उसे एक ठोकर लगाकर कहा—कम्बख्त, अभी शाम हुई है और अभी से लंबी तान दी !

नौजवान लाला हरिदास घर में दाखिल हुए—चेहरा बुझा हुआ, चिंतित। देवकी ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया और गुस्से व प्यार की मिली हुई आवाज से बोली- आज इतनी देर क्यों हुई ?

दोनों नये खिले हुए फूल थे—एक पर ओस की ताजगी थी, दूसरा धूप से मुर्झाया हुआ।

हरिदास—हाँ, आज देर हो गई, तुम यहाँ क्यों बैठी रहीं ?

देवकी—क्या करती, आग बुझी जाती थी, खाना न ठंडा हो जाता।

हरिदास—तुम जरा से काम के लिए इतनी देर आग के सामने न बैठा करो। बाज आया गरम खाने से।

देवकी—अच्छा कपड़े तो उतारो, आज इतनी देर क्यों की ?

हरिदास—क्या बताऊँ, पिताजी ने ऐसा नाक में दम कर दिया है कि कुछ कहते नहीं बनता। इस रोज-रोज की झंझट से तो यही अच्छा है कि मैं कहीं और नौकरी कर लूं।

लाला हरनामदास एक आटे की चक्की के मालिक थे। उनकी जवानी के दिनों में आस-पास दूसरी चक्की न थी। उन्होंने खूब धन कमाया। मगर अब वह हालत न थी। चक्कियाँ कीड़े-मकोड़ों की तरह पैदा हो गई थीं, नई मशीनों और ईजादों के साथ। उनके काम करने वाले भी जोशीले नौजवान थे, मुस्तैदी से काम करते थे। इसलिए हरनामदास का कारखाना रोज गिरता जाता। बूढ़े आदमियों को नई चीजों से जो चिढ़ हो जाती है वह लाला हरनामदास को भी थी। वह अपनी पुरानी मशीन ही को चलाते थे, किसी किस्म की तरक्की या सुधार को पाप समझते थे, मगर अपनी इस मंदी पर कुढ़ा करते थे। हरिदास ने उनकी मर्जी के खिलाफ कालेजियेट शिक्षा प्राप्त की थी और उसका इरादा था कि अपने पिता के कारखाने को नए उसूलों पर चलाकर आगे बढ़ाए। लेकिन जब वह उनसे किसी परिवर्तन या सुधार का जिक्र करता तो लाला साहब जामे से बाहर हो जाते और बड़े गर्व से कहते—कॉलेज में पढ़ने से तजुर्बा नहीं आता। तुम अभी बच्चे हो, इस काम में मेरे बाल सफेद हो गए हैं, तुम मुझे सलाह मत दो। जिस तरह मैं कहता हूँ, काम किए जाओ।

कई बार ऐसे मौके आ चुके थे कि बहुत ही छोटे मामलों में अपने पिता की मर्जी के खिलाफ काम करने के जुर्म से हरिदास को सख्त फटकारें सहनी पड़ी थीं। इसी वजह से अब वह इस काम में कुछ उदासीन हो गया था और किसी दूसरे कारखाने में किस्मत आजमाना चाहता था जहां उसे अपने विचारों को अमली सूरत देने की ज्यादा सहूलियतें हासिल हों।

देवकी ने सहानुभूतिपूर्वक कहा—तुम इस फिक्र में क्यों जान खपाते हो, जैसे वह कहें, वैसे ही करो, भला दूसरी जगह नौकरी कर लोगे तो वह क्या कहेंगे ? और चाहे वे

गुस्से के मारे कुछ न बोलें, लेकिन दुनिया तो तुम्हीं को बुरा कहेगी।

देवकी नई शिक्षा के आभूषण से वंचित थी। उसने स्वार्थ का पाठ न पढ़ा था, मगर उसका पति अपने 'अलमामेटर' का एक प्रतिष्ठित सदस्य था। उसे अपनी योग्यता पर पूरा भरोसा था। उस पर नाम कमाने का जोश। इसलिए वह अपने बूढ़े पिता के पुराने ढर्रों को देखकर धीरज खो बैठता था। अगर अपनी योग्यताओं के लाभप्रद उपयोग की कोशिश के लिए दुनिया उसे बुरा कहे, तो उसको परवाह न थी। झुंझलाकर बोला—कुछ मैं अमरित की घरिया पीकर तो आया नहीं हूं कि सारी उम्र उनके मरने का इंतजार किया करूं। मूर्खों की अनुचित टीका-टिप्पणियों के डर से क्या अपनी उम्र बरबाद कर दूं। मैं अपने कुछ हमउम्रों को जानता हूं जो हर्गिज मेरी-सी योग्यता नहीं रखते। लेकिन वह मोटर पर हवा खाने निकलते हैं, बंगले में रहते हैं और शान से जिंदगी बसर करते हैं तो मैं क्यों हाथ पर हाथ रखे जिंदगी को अमर समझे बैठा रहूं। संतोष और निस्पृहता का युग बीत गया। यह संघर्ष का युग है। यह मैं जानता हूं कि पिता का आदर करना मेरा धर्म है। मगर सिद्धांतों के मामले में मैं उनसे क्या, किसी से भी नहीं दब सकता।

इसी बीच कहार ने आकर कहा—लालाजी थाली मांगते हैं।

लाला हरनामदास हिंदू रस्म-रिवाज के बड़े पाबंद थे। मगर बुढ़ापे के कारण चौके के चक्कर से मुक्ति पा चुके थे। पहले कुछ दिनों तक जाड़ों में रात को पूरियां खाते रहे, अब कमजोरी के कारण पूरियां न हजम होती थीं इसलिए चपातियां ही अपनी बैठक में मंगा लिया करते थे। मजबूरी ने वह कराया था जो हुज्जत और दलील के काबू से बाहर था।

हरिदास के लिए भी देवकी ने खाना निकाला। पहले तो वह हजरत बहुत दुखी नजर आते थे, लेकिन बघार की खुशबू ने खाने के लिए चाव पैदा कर दिया था। अक्सर हम अपनी आँख और नाक से हाजमे का काम लिया करते हैं।

2

लाला हरनामदास रात को भले-चंगे सोए लेकिन अपने बेटे की गुस्ताखियां और कुछ अपने कारबार की सुस्ती और मंदी उनकी आत्मा के लिए भयानक कष्ट का कारण हो गई और चाहे इसी उद्विग्नता का असर हो, चाहे बुढ़ापे का, सुबह होने से पहले उन पर लकवे का हमला हो गया। जबान बंद हो गई और चेहरा ऐंठ गया। हरिदास डॉक्टर के पास दौड़ा। डॉक्टर आए, मरीज को देखा और बोले—डरने की कोई बात नहीं। सेहत होगी मगर तीन महीने से कम न लगेंगे। चिंताओं के कारण यह हमला हुआ है इसलिए कोशिश करनी चाहिए कि वह आराम से सोएं, परेशान न हों और जबान खुल जाने पर भी जहां तक मुमकिन हो, बोलने से बचें।

बेचारी देवकी बैठी रो रही थी। हरिदास ने आकर उसको सांत्वना दी और फिर डॉक्टर के यहां से दवा लाकर दी। थोड़ी देर में मरीज को होश आया, इधर-उधर कुछ खोजती हुई-सी निगाहों से देखा कि जैसे कुछ कहना चाहते हैं और फिर इशारे से लिखने के लिए कागज मांगा। हरिदास ने कागज और पेंसिल रख दी, तो बूढ़े लाला साहब ने हाथों

को खूब सम्हालकर लिखा—इंतजाम दीनानाथ के हाथ में रहे।

ये शब्द हरिदास के हृदय में तीर की तरह लगे। अफसोस ! अब भी मुझ पर भरोसा नहीं। यानी कि दीनानाथ मेरा मालिक होगा और मैं उसका गुलाम बनकर रहूँगा! यह नहीं होने का। कागज लिए हुए देवकी के पास आए और बोले—लालाजी ने दीनानाथ को मैनेजर बनाया है, उन्हें मुझ पर इतना एतबार भी नहीं है, लेकिन मैं इस मौके को हाथ से न जाने दूंगा। उनकी बीमारी का अफसोस तो जरूर है मगर शायद परमात्मा ने मुझे अपनी योग्यता दिखलाने का यह अवसर दिया है। और इससे में जरूर फायदा उठाऊंगा। कारखाने के कर्मचारियों ने इस दुर्घटना की खबर सुनी तो बहुत घबराए। उनमें कई निकम्मे, बेमसरफ आदमी भरे हुए थे, जो सिर्फ खुशामद और चिकनी-चुपड़ी बातों की रोटी खाते थे। मिस्त्री ने कई दूसरे कारखानों में मरम्मत का काम उठा लिया और रोज किसी-न-किसी बहाने से खिसक जाता था। फायरमैन और मशीनमैन दिन को तो झूठ-मूठ चक्की की सफाई में काटते थे और रात को काम करके ओवरटाइम की मजदूरी ले लिया करते थे। दीनानाथ जरूर होशियार और तजर्बेकार आदमी था, मगर उसे भी काम करने के मुकाबले में 'जी हां' रटते रहने में ज्यादा मजा आता था। लाला हरनामदास मजदूरी देने में बहुत हीले-हवाले किया करते थे और अक्सर काट-कपट के भी आदी थे। इसी को वह कारबार का अच्छा उसूल समझते थे।

हरिदास ने कारखाने में पहुंचते ही साफ शब्दों में कह दिया कि तुम लोगों को मेरे वक्त में जी लगाकर काम करना होगा। मैं इसी महीने में काम देखकर सबकी तरक्की करूँगा। मगर अब टाल-मटोल का गुजर नहीं, जिन्हें मंजूर न हो वह अपना बोरिया-बिस्तर सम्हालें और फिर दीनानाथ को बुलाकर कहा—भाई साहब, मुझे खूब मालूम है कि आप होशियार और सूझबूझ रखने वाले आदमी हैं। आपने अब तक यहां का जो रंग देखा, वही अख्तियार किया है। लेकिन अब मुझे आपके तजुर्बे और मेहनत की जरूरत है। पुराने हिसाबों की जांच-पड़ताल कीजिए। बाहर से काम लाना मेरा जिम्मा है लेकिन यहां का इंतजाम आपके सुपुर्द है। जो कुछ नफा होगा, उसमें आपका भी हिस्सा होगा। मैं चाहता हूं कि दादा की अनुपस्थिति में कुछ अच्छा काम करके दिखाऊं।

इस मुस्तैदी और चुस्ती का असर बहुत जल्द कारखाने में नजर आने लगा। हरिदास ने खूब इश्तहार बंटवाए। उसका असर यह हुआ कि काम आने लगा। दीनानाथ की मुस्तैदी की बदौलत ग्राहकों को नियत समय पर और किफायत से आटा मिलने लगा। पहला महीना भी खत्म न हुआ था कि हरिदास ने नई मशीन मंगवाई। थोड़े अनुभवी आदमी रख लिए, फिर क्या था सारे शहर में इस कारखाने की धूम मच गई। हरिदास ग्राहकों से इतनी अच्छी तरह पेश आता कि जो एक बार उससे मुआमला करता वह हमेशा के लिए उसका खरीददार बन जाता। कर्मचारियों के साथ उसका सिद्धांत था—काम सख्त और मजदूरी ठीक। उसके ऊँचे व्यक्तित्व का भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ा। करीब-करीब सभी कारखानों का रंग फीका पड़ गया। उसने बहुत ही कम नफे पर कई ठेके ले लिए। मशीन को दम मारने की मोहलत न थी, रात और दिन काम होता था। तीसरा महीना खत्म होते-होते उस कारखाने की शक्ल ही बदल गई। हाते में घुसते ही ठेले और गाड़ियों की भीड़ नजर आती थी। कारखाने मे बड़ी चहल-पहल थी—हर आदमी अपने-अपने काम में

लगा हुआ। इसके साथ ही प्रबंध-कौशल का यह वरदान था कि भद्दी हड़बड़ी और जल्दबाजी का कहीं निशान न था।

3

लाला हरनामदास धीरे-धीरे ठीक होने लगे। एक महीने के बाद वह रुक-रुककर कुछ बोलने लगे। डॉक्टर की सख्त ताकीद थी कि उन्हें पूरी शांति की स्थिति में रखा जाए मगर जब से उनकी जबान खुली उन्हें एकदम को भी चैन न था। देवकी से कहा करते—सारा कारोबार मिट्टी में मिला जाता है। यह लड़का नहीं मालूम क्या कर रहा है, सारा काम अपने हाथ में ले रखा है। मैंने ताकीद कर दी थी कि दीनानाथ को मैनेजर बनाना लेकिन उसने जरा भी परवाह न की। मेरी सारी उम्र की कमाई बरबाद हुई जाती है।

देवकी उनको सांत्वना देती कि आप इन बातों की आशंका न करें। कारबार बहुत खूबी से चल रहा है और खूब नफा हो रहा है। पर वह भी इस मामले को तूल देते हुए डरती थी कि कहीं लकवे का फिर हमला न हो जाए। हूं-हां कहकर टालना चाहती थी। हरिदास ज्यों ही घर में आता, लालाजी उस पर सवालों की बौछार कर देते और जब वह टालकर कोई दूसरा जिक्र छेड़ देता तो बिगड़ जाते और कहते—जालिम, तू जीते-जी मेरे गले पर छुरी फेर रहा है। मेरी पूंजी उड़ा रहा है। तुझे क्या मालूम कि मैंने एक-एक कौड़ी किस मशक्कत से जमा की है। तूने दिल में ठान ली है कि इस बुढ़ापे में मुझे गली-गली ठोकर खिलाए, मुझे कौड़ी-कौड़ी का मुहताज बनाए।

हरिदास फटकार का कोई जवाब न देता क्योंकि बात से बात बढ़ती है। उसकी चुप्पी से लाला साहब को यकीन हो जाता कि जरूर कारखाना तबाह हो गया।

एक रोज देवकी ने हरिदास से कहा—अभी कितने दिन और इन बातों को लालाजी से छिपाओगे?

हरिदास ने जवाब दिया—मैं चाहता हूँ कि नई मशीन का रुपया अदा हो जाए तो उन्हें ले जाकर सब कुछ दिखा दूं। तब तक डॉक्टर साहब की हिदायत के अनुसार तीन महीने भी पूरे हो जाएंगे।

देवकी—लेकिन इस छिपाने से क्या फायदा, जब वे आठों पहर इसी की रट लगाए रहते हैं। इससे तो चिंता और बढ़ती ही है, कम नहीं होती। इससे तो यही अच्छा है कि उनसे सब कुछ कह दिया जाए।

हरिदास—मेरे कहने का तो उन्हें यकीन आ चुका। हां, दीनानाथ कहें तो शायद यकीन हो।

देवकी—अच्छा तो कल दीनानाथ को यहां भेज दो। लालाजी उसे देखते ही खुद बुला लेंगे, तुम्हें इस रोज-रोज की डाँट-फटकार से तो छुट्टी मिल जाएगी।

हरिदास—अब मुझे इन फटकारों का जरा भी दुख नहीं होता। मेरी मेहनत और योग्यता का नतीजा आँखों के सामने मौजूद है। जब मैंने कारखाना अपने हाथ में लिया था, आमदनी और खर्च का मीजान मुश्किल से बैठता था। आज पाँच सौ नफा है। तीसरा महीना खत्म होने वाला है और मैं मशीन की आधी कीमत अदा कर चुका। शायद अगले दो महीनों में पूरी कीमत अदा हो जाएगी। उस वक्त से कारखाने का खर्च तिगुने से ज्यादा

है लेकिन आमदनी पाँचगुनी हो गई है। हजरत देखेंगे तो आंखें खुल जाएंगी। कहां हाते में उल्लू बोलते थे। एक मेज पर बैठे आप ऊँघा करते थे, एक पर दीनानाथ कान कुरेदा करता था। मिस्त्री और फायरमैन ताश खेलते थे। बस दिन में दो-चार घंटे चक्की चल जाती थी। अब दम मारने की फुर्सत नहीं है। सारी जिंदगी में जो कुछ न कर सके वह मैंने तीन महीने में करके दिखा दिया। इसी तजुर्बे और कार्रवाई पर आपको इतना घमण्ड था। जितना काम वह एक महीने में करते थे उतना मैं रोज कर डालता हूँ।

देवकी ने भर्त्सनापूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना कोई तुमसे सीख ले ! जिस तरह माँ अपने बेटे को हमेशा दुबला ही समझती है, उसी तरह बाप भी बेटे को हमेशा नादान समझा करता है। यह उनकी ममता है, बुरा मानने की बात नहीं है।

हरिदास ने लज्जित होकर सर झुका लिया।

4

दूसरे रोज दीनानाथ उनको देखने के बहाने से लाला हरनामदास की सेवा में उपस्थित हुआ। लालाजी उसे देखते ही तकिए के सहारे उठ बैठे और पागलों की तरह बेचैन होकर पूछा—क्यों, कारोबार सब तबाह हो गया कि अभी कुछ कसर बाकी है ! तुम लोगों ने तो मुझे मुर्दा समझ लिया है। कभी बात तक न पूछी। कम-से-कम तुमसे मुझे ऐसी उम्मीद न थी। बहू ने मेरी तीमारदारी न की होती तो मर ही गया होता।

दीनानाथ—आपका कुशल-मंगल रोज बाबू साहब से पूछ लिया करता था। आपने मेरे साथ जो नेकियाँ की हैं, उन्हें मैं भूल नहीं सकता। मेरा एक-एक रोआं आपका एहसान-मंद है। मगर इस बीच काम ही कुछ ऐसा था कि हाजिर होने की मोहलत न मिली।

हरनामदास—खैर, कारखाने का क्या हाल है ? दीवाला होने में क्या कसर बाकी है ?

दीनानाथ ने ताज्जुब के साथ कहा—यह आपसे किसने कह दिया कि दीवाला होने वाला है ? इस अरसे में कारोबार में जो तरक्की हुई है, वह आप खुद अपनी आँखों से देख लेंगे।

हरनामदास व्यंग्यपूर्वक बोले—शायद तुम्हारे बाबू साहब ने तुम्हारी मनचाही तरक्की कर दी ! अच्छा, अब स्वामिभक्ति छोड़ो और साफ बतलाओ। मैंने ताकीद कर दी थी कि कारखाने का इंतजाम तुम्हारे हाथ में रहेगा। मगर शायद हरिदास ने सब कुछ अपने ही हाथ में रखा।

दीनानाथ—जी हाँ, मगर मुझे इसका जरा भी दुख नहीं। वही इस काम के लिए ठीक भी थे। जो कुछ उन्होंने कर दिखाया, वह मुझसे हर्गिज न हो सकता।

हरनामदास—मुझे यह सुन-सुनकर हैरत होती है। बतलाओ, क्या तरक्की हुई ?

दीनानाथ—तफसील तो बहुत ज्यादा होगी, मगर थोड़े में यह समझ लीजिए कि पहले हम लोग जितना काम एक महीने में करते थे उतना अब रोज होता है। नई मशीन आई थी, उसकी आधी कीमत अदा हो चुकी है। वह अक्सर रात को भी चलती है। ठाकुर कंपनी का पाँच हजार मन आटे का ठेका लिया था, वह पूरा होने वाला है। जगतराम बनवारीलाल से कमसरियट का ठेका लिया है। उन्होंने हमको पांच सौ बोरे माहवार का

बयाना दिया है। इसी तरह और फुटकर काम कई गुना बढ़ गया है। आमदनी के साथ खर्च भी बढ़े हैं। कई आदमी नए रखे गए हैं, मुलाजिमों को मजदूरी के साथ कमीशन भी मिलता है मगर खालिस नफा पहले के मुकाबले में चौगुने के करीब है।

हरनामदास ने बड़े ध्यान से यह बातें सुनीं। वह गौर से दीनानाथ के चेहरे की तरफ देख रहे थे। शायद उसके दिल में पैठकर सच्चाई की तह तक पहुंचना चाहते थे। संदेहपूर्ण स्वर में बोले—दीनानाथ, तुम कभी मुझसे झूठ नहीं बोलते थे लेकिन तो भी मुझे इन बातों पर यकीन नहीं आता और जब तक अपनी आंखों से देख न लूंगा, यकीन न आएगा।

दीनानाथ कुछ निराश होकर विदा हुआ। उसे आशा थी कि लाला साहब तरक्की और कारगुजारी की बात सुनते ही फूले न समाएंगे और मेरी मेहनत की दाद देंगे। उस बेचारे को न मालूम था कि कुछ दिलों में संदेह की जड़ इतनी मजबूत होती है कि सबूत और दलील के हमले उस पर कुछ असर नहीं कर सकते। यहां तक कि वह अपनी आंख से देखने को भी धोखा या तिलिस्म समझता है।

दीनानाथ के चले जाने के बाद लाला हरनामदास कुछ देर तक गहरे विचार में डूबे रहे और फिर यकायक कहार से बग्घी मंगवाई, लाठी के सहारे बग्घी में आ बैठे और उसे अपने [illegible] चलने का हुक्म दिया।

दोपहर का वक्त था। कारखानों के मजदूर खाना खाने के लिए गोल के गोल भागे चले आते थे। मगर हरिदास के कारखाने में काम जारी था। बग्घी अहाते में दाखिल हुई। दोनों तरफ फूलों की कतारें नजर आईं, माली क्यारियों में पानी दे रहा था। ठेले और गाड़ियों के मारे बग्घी को निकलने की जगह न मिलती थी। जिधर निगाह जाती थी, सफाई और हरियाली नजर आती थी।

हरिदास अपने मुहर्रिर को कुछ खतों का मसौदा लिखा रहा था कि बूढ़े लालाजी लाठी टेकते हुए कारखाने में दाखिल हुए। हरिदास फौरन उठ खड़ा हुआ और उन्हें हाथों का सहारा देते हुए बोला—'आपने कहला क्यों न भेजा कि मैं आना चाहता हूं, पालकी मंगवा देता। आपको बहुत तकलीफ हुई।' यह कहकर उसने एक आरामकुर्सी बैठने के लिए खिसका दी। कारखाने के कर्मचारी दौड़े और उनके चारों तरफ बहुत अदब के साथ खड़े हो गए। हरनामदास कुर्सी पर बैठ गए और बोरों के छत चूमने वाले ढेर पर नजर दौड़ाकर बोले—मालूम होता है दीनानाथ सच कहता था। मुझे यहाँ कई नई सूरतें नजर आती हैं। भला कितना काम रोज होता है?

हरिदास—आजकल काम ज्यादा आ गया था इसलिए कोई पांच सौ मन रोजाना तैयार हो जाता था लेकिन औसत ढाई सौ मन का रहेगा। मुझे नई मशीन की कीमत अदा करनी थी इसलिए अक्सर रात को भी काम होता है।

हरनामदास—कुछ कर्ज लेना पड़ा?

हरिदास—एक कौड़ी नहीं। सिर्फ मशीन की आधी कीमत बाकी है।

हरनामदास के चेहरे पर इत्मीनान का रंग नजर आया। संदेह ने विश्वास को जगह दी। प्यार भरी आँखों से लड़के की तरफ देखा और करुण स्वर में बोले—बेटा, मैंने तुम्हारे ऊपर बड़ा जुल्म किया, मुझे माफ करो। मुझे आदमियों की पहचान का बड़ा घमंड था, लेकिन मुझे बहुत धोखा हुआ। मुझे अब से बहुत पहले इस काम से हाथ खींच लेना

चाहिए था। मैंने तुम्हें बहुत नुकसान पहुंचाया। यह बीमारी बड़ी मुबारक है जिसने मुझे तुम्हारी परख का मौका दिया और तुम्हें अपनी लियाकत दिखाने का। काश, यह हमला पाँच साल पहले ही हुआ होता। ईश्वर तुम्हें खुश रखे और हमेशा उन्नति दे, यही तुम्हारे बूढ़े बाप का आशीर्वाद है।

[‘मर्जे मुबारक’ शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। ‘प्रेम बत्तीसी’, उर्दू कहानी-संग्रह में अगस्त, 1920 में संकलित। हिन्दी रूप ‘गुप्तधन’ भाग-1 में ‘मुबारक बीमारी’ शीर्षक से संकलित।]

मृत्यु के पीछे

बाबू ईश्वरचंद्र को समाचारपत्रों में लेख लिखने की चाट उन्हीं दिनों पड़ी जब वे विद्याभ्यास कर रहे थे। नित्य नये विषयों की चिंता में लीन रहते। पत्रों में अपना नाम देख कर उन्हें उससे कहीं ज्यादा खुशी होती थी जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करने से हो सकती थी। वह अपने कालेज के "गरम-दल" के नेता थे। समाचारपत्रों में परीक्षापत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्हीं के सिर था। इससे उन्हें कालेज में प्रतिनिधित्व का काम मिल गया। प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्हीं के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी। उन्हें विश्वास हो गया कि मैं इस परिमित क्षेत्र से निकल कर संसार के विस्तृत क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूं। सार्वजनिक जीवन को वह अपना भाग्य समझ बैठे थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम.ए. परीक्षार्थियों में उनका नाम निकलने भी न पाया था कि 'गौरव' के सम्पादक महोदय ने वानप्रस्थ लेने की ठानी और पत्रिका का भार ईश्वरचंद्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया। बाबू जी को यह समाचार मिला तो उछल पड़े। धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मानित पद के योग्य समझा गया ! इसमें संदेह नहीं कि वह इस दायित्व के गुरुत्व से भली-भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्तिलाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया। वह इस व्यवसाय में स्वातंत्र्य, आत्मगौरव, अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे। भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर चलाने के इच्छुक थे। इन इरादों के पूरा करने का सुअवसर हाथ आया। वे प्रेमोल्लास से उत्तेजित हो कर नाली में कूद पड़े।

2

ईश्वरचंद्र की पत्नी एक ऊँचे और धनाढ्य कुल की लड़की थी और वह ऐसे कुलों की मर्यादप्रियता तथा मिथ्या गौरवप्रेम से सम्पन्न थी। यह समाचार पा कर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँस कर कानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके कानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचंद्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्र सम्पादन एक बहुत ही ईर्ष्यायुक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्यातिलाभ का एक यंत्र समझा था। उसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। उससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठ कर उन्हें अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं है जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन, लेखकगण से पत्र-व्यवहार और चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिंता में उन्हें कानून का अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह को किताबें खोल कर बैठते कि 100 पृष्ठ समाप्त किये बिना कदापि न उठूंगा, किन्तु ज्यों ही डाक का पुलिंदा आ जाता, वे अधीर हो कर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली की खुली रह जाती थी। बार-बार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तकावलोकन करूंगा और एक निर्दिष्ट समय से अधिक सम्पादनकार्य में न लगाऊंगा। लेकिन पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल काबू के बाहर हो जाता। पत्रों के नोक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्यचमत्कार, लेखकों का रचनाकौशल इत्यादि सभी बातें उन पर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनाइयां, ग्राहक संख्या बढ़ाने की चिंता और पत्रिका को सर्वांग-सुंदर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा; यहां तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गये और वे इसके लिए बिलकुल तैयार न थे। वे उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण यह सब बाधाएं उपस्थित होती हैं। अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा और तब मैं निश्चिंत हो कर परीक्षा में बैठूंगा! पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या मैं ही रह जाऊँगा ? मानकी ने उनकी यह बातें सुनीं तो खूब दिल के फफोले फोड़े--'मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हें मटियामेट कर देगी। इसलिए बार-बार रोकती थी; लेकिन तुमने मेरी एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे।' उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—'अभी इस काम को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दो, कानून में उत्तीर्ण हो कर निर्द्वंद्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना।' लेकिन ईश्वरचंद्र एक बार मैदान में आ कर भागना निंद्य समझते थे। हाँ, उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिए तन-मन से तैयारी करूँगा। अतएव नये वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने कानून की पुस्तकें संग्रह कीं, पाठ्यक्रम निश्चित किया, रोजनामचा लिखने लगे और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारों ओर से जकड़ा, मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन कब रुचिकर होता है ! कानून में वे घातें कहाँ, वह उन्माद कहाँ, वे चोटें कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ ! बाबू साहब अब नित्य एक खोयी हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घंटों में घंटे दो घंटे कानून भी देख लिया करते थे। इस नशे ने मानसिक शक्तियों को शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गये। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अब मैं कानून के लायक नहीं रहा और इस ज्ञान ने कानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन में संतोषवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

प्रारब्ध और पूर्वसंस्कार के सिद्धांतों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—यह क्या बात है ? क्या कानून से फिर जी उचाट हुआ ?

ईश्वरचंद्र ने दुस्साहसपूर्ण भाव से उत्तर दिया—हाँ भई, मेरा जी उससे भागता है।

मानकी ने व्यंग्य से कहा—बहुत कठिन है ?

ईश्वरचंद्र—कठिन नहीं है, और कठिन भी होता तो मैं उससे डरने वाला न था, लेकिन मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों वकीलों की आंतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं, लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूलतत्त्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आंदोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थसिद्धि करने के लिए, अपना ढोल पीटने के लिए। हम लोगों का समग्र जीवन वासना-भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित समुदाय इसी दरगाह का मुजावर होता जाता है और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं की श्रीवृद्धि नहीं होती। जिस काम में हमारा दिल न हो; हम केवल ख्याति और स्वार्थ-लाभ के लिए उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी नहीं हो सकता। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धिबल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बन कर, चींटी बनना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।

मानकी चिढ़ कर बोली—पहले तुम वकीलों की इतनी निंदा न करते थे !

ईश्वरचंद्र ने उत्तर दिया—तब अनुभव न था। बाहरी टीमटाम ने वशीकरण कर दिया था।

मानकी—क्या जाने तुम्हें पत्रों से क्यों इतना प्रेम है, मैं जिसे देखती हूं, अपनी कठिनाइयों का रोना रोते हुए पाती हूं। कोई अपने ग्राहकों से नये ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चंदा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षा प्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझती, जिसके पास न कोई सनद हो, न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही संतोष करता है। लोग विलायत जाते हैं, वहाँ कोई डाक्टरी पढ़ता है, कोई इंजीनियरी, कोई सिविल सर्विस, लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया। क्यों सीखे ? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं को खाक में मिला कर त्याग और विराग में उम्र काटे ? हाँ, जिनको सनक सवार हो गयी हो, उनकी बात निराली है।

ईश्वरचंद्र—जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।

मानकी—अभी तुमने वकीलों की निंदा करते हुए कहा, यह लोग दूसरों की कमाई खा कर मोटे होते हैं। पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।

ईश्वरचंद्र ने बगलें झांकते हुए कहा—हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों

पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नहीं।

मानकी–यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिए जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही है, जितनी पत्रवालों की। अंतर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी स्रोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जलप्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी दो घड़ी के लिए पानी आ गया।

ईश्वरचद्र–पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और यह मान भी लूँ तो यह किसी तरह नहीं मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं जो झूठी गवाहियाँ दे कर पेट पालते हैं। इस देश में समाचारपत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्रसंचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। यूरोप और अमरीका में पत्र चला कर लोग करोड़पति हो गये हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचारपत्रों के सम्पादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं, जिन्होंने अपनी सम्पत्ति की नींव पत्रों पर ही खडी की थी...

ईश्वरचद्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का पत्र-संचालन से उत्तम और कोई साधन नहीं है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं; परंतु मानकी पर इस वक्तृता का जरा भी असर न हुआ। स्थूल दृष्टि को दूर की चीजें साफ नहीं दीखतीं। मानकी के सामने सफल सम्पादक का कोई उदाहरण न था।

3

सोलह वर्ष गुजर गये। ईश्वरचंद्र ने सम्पादकीय जगत् में खूब नाम पैदा किया, जातीय आन्दोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं. एक दैनिक पत्र निकाला, अधिकारियों के भी सम्मानपात्र हुए। बड़ा लडका बी. ए. में जा पहुंचा, छोटे लड़के नीचे के दरजों में थे। एक लड़की का विवाह भी एक धन सम्पन्न कुल में किया है। विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ा ही सुखमय है; मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी संतोषजनक न थी। खर्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हजार की जायदाद हाथ से निकल गयी, इस पर बैंक का कुछ न कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाजार में भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन्हें बाजार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अक्सर अपनी युवावस्था की अदूरदर्शिता पर अफसोस करते थे। जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृदय में तरंगें मारता था; लेकिन वह देखते थे कि काम तो मैं तय करता हूँ और यश वकीलों और सेठों के हिस्सों में आ जाता था। उनकी गिनती अभी तक छुट-भैयों में थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, पर यह भाव कभी व्यक्त न होता था। इन्हीं कारणों से ईश्वरचंद्र को सम्पादन कार्य से अरुचि होती थी। दिनोंदिन उत्साह क्षीण होता जाता था; लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना में सजीवता न थी, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका

दोनों ही से उदासीनता का भाव झलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, खुद बहुत कम काम करते थे। हाँ, दोनों पत्रों की जड़ जम चुकी थी, इसलिए ग्राहक-संख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल में उदासीनता का निर्वाह कहाँ। "गौरव" के प्रतियोगी खड़े कर दिये, जिनके नवीन उत्साह ने "गौरव" से बाजी मार ली। उसका बाजार ठंडा होने लगा। नये प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धांत भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे; लेकिन आगंतुकों ने उन्हीं पुरानी बातों में नयी जान डाल दी। उनका उत्साह देख ईश्वरचंद्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी में जोर लगायें, लेकिन न अपने में सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बँटानेवाला नजर आता था। इधर-उधर निराश नेत्रों से देख कर हतोत्साह हो जाते थे। हा ! मैंने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत किया, खेत को बोया, सींचा, दिन को दिन और रात को रात न समझा, धूप में जला, पानी में भीगा और इतने परिश्रम के बाद जब फसल काटने के दिन आये तो मुझमें हँसिया पकड़ने का भी बूता नहीं। दूसरे लोग जिनका उस समय कहीं पता न था, अनाज काट-काट कर खलिहान भरे लेते हैं और मैं खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हें पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साहशील युवक मेरा शरीक हो जाता तो "गौरव" अब भी अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर सकता। सभ्य-समाज में उनकी धाक जमी हुई थी, परिस्थिति उनके अनुकूल थी। जरूरत केवल ताजे खून की थी। उन्हें अपने बड़े लड़के से ज्यादा उपयुक्त इस काम के लिए और कोई न दीखता था। उसकी रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को जबान पर न ला सके थे। इसी चिंता में दो साल गुजर गये और यहा तक नौबत पहुँची कि या तो "गौरव" का टाट उलट दिया जाय या इसे पुनः अपने स्थान पर पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हुआ जाय। ईश्वरचंद्र ने इसके पुनरुद्धार के लिए अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके सिवा और कोई उपाय न था। यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी। इससे उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध था। उसको बंद करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राणरक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हें अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्योछावर करने को उद्यत कर दिया। फिर दिन के दिन लिखने-पढ़ने में रत रहने लगे। एक क्षण के लिए भी सिर न उठाते। "गौरव" के लेखों में फिर सजीवता का उद्भव हुआ, विद्वज्जनों में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियों ने फिर उसके लेखों को उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं में फिर उसकी प्रशंसासूचक आलोचनाएँ निकलने लगीं। पुराने उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े में गूँजने लगी।

लेकिन पत्रिका के पुनः संस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा। हृदयरोग के लक्षण दिखाई देने लगे। रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया। ऐसी दशा में वह सुबह से शाम तक अपने काम में तल्लीन रहते। देह, धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचंद्र की सदय प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपक्षी बना दिया था। धनवादियों का खंडन और प्रतिवाद करते हुए उनके खून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं; यद्यपि यह चिनगारियाँ केंद्रस्थ गरमी को छिन्न किये देती थीं।

एक दिन रात के दस बज गये थे। सरदी खूब पड़ रही थी। मानकी दबे पैर उनके कमरे में आयी। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में कलम लिये किसी विचार में मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें भी आहट न मिली। मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदना-युक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली, 'अब तो यह पोथा बंद करो। आधी रात होने को आयी। खाना पानी हुआ जाता है।'

ईश्वरचंद्र ने चौंक कर सिर उठाया और बोले–क्यों, क्या आधी रात हो गयी ? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी जरा भी भूख नहीं है।

मानकी–कुछ थोड़ा-सा खा लो न।

ईश्वरचंद्र–एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।

मानकी–मैं देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है। दवा क्यों नहीं करते ? जान खपा कर थोड़े ही काम किया जाता है ?

ईश्वरचंद्र–अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को देखूँ जिसने समस्त देश में हलचल मचा रखी है। हजारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे तो क्या चिंता ?

मानकी–कोई सुयोग्य सहायक क्यों नहीं रख लेते ?

ईश्वरचंद्र ने ठंडी साँस ले कर कहा–बहुत खोजता हूँ, पर कोई नहीं मिलता। एक विचार कई दिनों से मेरे मन में उठ रहा है; अगर तुम धैर्य से सुनना चाहो, तो, कहूँ।

मानकी–कहो, सुनूँगी। मानने लायक होगी, तो मानूँगी क्यों नहीं !

ईश्वरचंद्र–मैं चाहता हूँ कि कृष्णचंद्र को अपने काम में शरीक कर लूँ। अब तो वह एम.ए. भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है, मालूम होता है कि ईश्वर ने उसे इसी काम के लिए बनाया है।

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा–क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने का इरादा है? घर की सेवा करनेवाला भी कोई चाहिए कि सब देश की ही सेवा करेंगे ?

ईश्वरचंद्र–कृष्णचंद्र यहाँ किसी से बुरा न रहेगा।

मानकी–क्षमा कीजिए। बाज आयी। वह कोई दूसरा काम करेगा जहाँ चार पैसे मिलें। यह घर-फूंक काम आप ही को मुबारक रहे।

ईश्वरचंद्र–वकालत में भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्णचंद्र उस पेशे के लिए सर्वथा अयोग्य है।

मानकी–वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम में न डालूँगी।

ईश्वरचंद्र–तुमने मुझे देख कर समझ लिया कि इस काम में घाटा ही घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान लोग मौजूद हैं जो पत्रों की बदौलत धन और कीर्ति से मालामाल हो रहे हैं।

मानकी–इस काम में तो अगर कंचन भी बरसे तो मैं उसे न आने दूँ। सारा जीवन वैराग्य में कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।

यह जाति का सच्चा सेवक अंत को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्तालाप के बाद मुश्किल से नौ महीने गुजरे थे कि ईश्वरचंद्र ने संसार से

प्रस्थान किया। उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और प्रजा-कष्टों के विरोध में कटा था। अपने सिद्धांतों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी, पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी हनन नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोक समाचार के फैलते ही सारे शहर में कुहराम मच गया। बाजार बंद हो गये, शोक के जलसे होने लगे, सहयोगी पत्रों ने प्रतिद्वंद्विता के भाव को त्याग दिया, चारों ओर से एक ध्वनि आती थी कि देश से एक स्वतंत्र, सत्यवादी और विचारशील सम्पादक तथा एक निर्भीक त्यागी, देशभक्त उठ गया और उसका स्थान चिरकाल तक खाली रहेगा। ईश्वरचंद्र इतने बहुजनप्रिय हैं, इसका उनके घरवालों को ध्यान भी न था। उनका शव निकला तो सारा शहर, गण्य-अगण्य, अर्थी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्रवृत्तियाँ दी गयीं, कहीं उनके चित्र बनवाये गये, पर सबसे अधिक महत्त्वशील वह मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोकसम्मान देख कर सुखमय कुतूहल होता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च विचारों की कद्र न की। सारा नगर उनके लिए शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किये हैं जिन्हें ये भूल नहीं सकते; और मैं अंत तक उनका मार्ग-कंटक बनी रही, सदैव तृष्णा के वश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे सोने में मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई जायदाद पैदा कर ली होती, तो मैं खुश होती, अपना धन्य भाग्य समझती। लेकिन तब देश में कौन उनके लिए आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता ? यहीं एक से एक धनिक पुरुष पड़े हुए हैं। वे दुनिया से चले जाते हैं और किसी को खबर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव के नाम से छात्रों को वृत्ति दी जायगी। जो लड़के वृत्ति पा कर विद्या-लाभ करेंगे वे मरते दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक ! मैंने उनके आत्मत्याग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर पर्दा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों-ज्यों ये भावनाएँ जागृत होती थीं, उसे पति में श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरवशीला स्त्री थी। इस कीर्तिगान और जनसम्मान से उसका मस्तिष्क ऊँचा हो जाता था। इसके उपरांत अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिंताजनक न थी। कृष्णचंद्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धिबल ने उनकी वकालत को चमका दिया था। वह जातीय कामों में अवश्य भाग लेते थे, पत्रों में यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हें विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी हमेशा इन कामों से दूर रखने की चेष्टा करती थी। कृष्णचंद्र अपने ऊपर जब्र करते थे। माँ का दिल दुखाना उन्हें मंजूर न था।

ईश्वरचंद्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक गरीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गयी। यह उसकी चिरसंचित अभिलाषा थी जो अब पुत्र की मातृभक्ति ने पूरी कर दी थी। यह उधर से लौट रही थी कि उसके कानों में बैंड की आवाज आयी और एक क्षण के बाद एक जुलूस

सामने आता हुआ दिखायी दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उसके बाद अश्वारोही स्वयंसेवकों की सेना। उसके पीछे सैकड़ों सवारीगाड़ियाँ थीं। सबसे पीछे एक सजे हुये रथ पर किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी—'यह किस देवता का विमान है ? न तो रामलीला के ही दिन हैं, न रथयात्रा के !' सहसा उसका दिल जोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचंद्र की मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से बनवायी गयी थी और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने के लिए लिये जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वह मुखाकृति। मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था। मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कंठा हुई कि परदे से निकल कर इस जुलूस के सम्मुख पति के चरणों पर गिर पड़ूँ। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किंतु कौन मुँह ले कर मूर्ति के सामने जाऊँ ? उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धनलिप्सा उनके पैरों की बेड़ी न बनती तो वह न जाने किस सम्मान पद पर पहुँचते। मेरे कारण उन्हें कितना क्षोभ हुआ ! घरवालों की सहानुभूति बाहरवालों के सम्मान से कहीं उत्साहजनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामी जी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ, मैंने तुम्हारे पवित्र भावों की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुःखी किया है। मैंने बाज को पिंजड़े में बन्द करके रखा था। शोक !

सारे दिन मानकी को वही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रहा गया। वह अपनी कहारिन को ले कर पैदल उस देवता के दर्शन को चली जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था !

संध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छायी थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आये थे। सूर्यदेव कभी मेघपट में छिप जाते थे, कभी बाहर निकल आते थे। इस धूप-छाँह में ईश्वरचंद्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भाँति प्रसन्नमुख और कभी संध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी। मानकी उसके निकट गयी, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों में करुण-वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कारपूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे। वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी और मुँह ढाँप कर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गये।

वह घर आयी तो नौ बज गये थे। कृष्ण उसे देख कर बोले—अम्माँ, आज आप इस वक्त कहाँ गयी थीं।

मानकी ने हर्ष से कहा—गयी थी तुम्हारे बाबू जी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वही साक्षात् खड़े हैं।

कृष्ण—जयपुर से बन कर आयी है।

मानकी—पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे ?

कृष्ण—उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत में गुजरा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।

मानकी—लेकिन उन्होंने वकालत कब की ?

कृष्ण—हाँ, यह वकालत नहीं की जो मैं और मेरे हजारों भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का खून हो रहा है। उनकी वकालत उच्चकोटि की थी।

मानकी—अगर ऐसा है, तो तुम भी वही वकालत क्यों नहीं करते ?

कृष्ण—बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिये, दूसरों के लिए रोइये, दीनों की रक्षा के लिए लट्ठ लिये फिरिए, और इस कष्ट, अपमान और यंत्रणा का पुरस्कार क्या है ? अपनी जीवनाभिलाषाओं की हत्या।

मानकी—लेकिन यश तो होता है।

कृष्ण—हाँ, यश होता है। लोग आशीर्वाद देते हैं।

मानकी—जब इतना यश मिलता है तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा की और कुछ सेवा नहीं कर सकते तो उसी वाटिका को चलाते जायँ जो उन्होंने अपने जीवन में इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगायी। इससे उनकी आत्मा को शांति होगी।

कृष्णचन्द्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देख कर कहा—करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम-टाम न निभ सके। शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।

मानकी—कोई हरज नहीं। संसार में यश तो होगा ? आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आये, तो मैं आँखें न नीची करूँ।

['बाद अजमर्ग' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक पत्रिका 'सुबहे-उम्मीद', अगस्त-सितम्बर, 1920 में प्रकाशित। उर्दू में असंकलित। हिन्दी रूप 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित। 'प्रेम प्रसून' (हिन्दी कहानी-संग्रह), जुलाई, 1924 में संकलित।]

शांति-1

स्वर्गीय देवनाथ मेरे अभिन्न मित्रों में थे। आज भी जब उनकी याद आ जाती है, तो वह रंगरेलियाँ आँखों में फिर जाती हैं, और कहीं एकान्त में जाकर जरा देर रो लेता हूं। हमारे और उनके बीच में दो-ढाई सौ मील का अन्तर था। मैं लखनऊ में था, वह दिल्ली में; लेकिन ऐसा शायद ही कोई महीना जाता हो कि हम आपस में न मिल जाते हों। वह स्वच्छन्द प्रकृति के, विनोदप्रिय, सहृदय, उदार और मित्रों पर प्राण देने वाले आदमी थे; जिन्होंने अपने और पराये में भी भेद नहीं किया। संसार क्या है और यहाँ लौकिक व्यवहार का कैसे निर्वाह होता है, यह उस व्यक्ति ने कभी न जाना और न जानने की चेष्टा की। उनके जीवन में ऐसे कई अवसर आये, जब उन्हें आगे के लिए होशियार हो जाना चाहिये था, मित्रों ने उनकी निष्कपटता से अनुचित लाभ उठाया, और कई बार उन्हें लज्जित भी होना पड़ा, लेकिन उस आदमी ने जीवन से कोई सबक न लेने की कसम खा ली थी। उनके व्यवहार ज्यों के त्यों रहे—जैसे भोलानाथ जिये, वैसे ही भोलानाथ मरे। जिस दुनिया में वह रहते थे वह निराली दुनिया थी, जिसमें सन्देह, चालाकी और कपट के लिए स्थान न था—सब अपने थे, कोई गैर न था। मैंने बार-बार उन्हें सचेत करना चाहा पर इसका परिणाम आशा के विरुद्ध हुआ। जीवन के स्वप्नों को भंग करता उन्हें हार्दिक वेदना होती थी। मुझे कभी-कभी चिन्ता होती थी कि उन्होंने हाथ बन्द न किया तो नतीजा क्या होगा ? लेकिन विडम्बना यह थी कि उनकी स्त्री गोपा भी कुछ उसी साँचे में ढली हुई थी।

हमारी देवियों में जो एक चातुरी होती है, जो सदैव ऐसे उड़ाऊ पुरुषों की असावधानियों पर 'ब्रेक' का काम करती है, उससे वह वंचित थी। यहाँ तक कि वस्त्राभूषण में भी उसे विशेष रुचि न थी। अतएव जब मुझे देवनाथ के स्वर्गारोहण का समाचार मिला, और मैं भागा हुआ दिल्ली गया, तो घर में बरतन-भाँड़े और मकान के सिवा और कोई संपत्ति न थी। और अभी उनकी उम्र ही क्या थी, जो संचय चिन्ता करते। चालीस भी तो पूरे न हुए थे। यों तो लड़कपन उनके स्वभाव में ही था; लेकिन इस उम्र में प्रायः सभी लोग कुछ बेफिक्र रहते हैं। पहले एक लड़की हुई थी। इसके बाद दो लड़के हुए। दोनों लड़के तो बचपन में ही दगा दे गये थे। लड़की बच रही थी, और यही इस नाटक का सबसे करुण दृश्य था। जिस तरह का इनका जीवन था, उसके देखते इस छोटे-से परिवार के लिए दो सौ रुपये महीने की जरूरत थी। दो-तीन साल में लड़की का विवाह भी करना होगा। कैसे क्या होगा, मेरी बुद्धि कुछ काम न करती थी।

इस अवसर पर मुझे यह बहुमूल्य अनुभव हुआ कि जो लोग सेवा-भाव रखते हैं और जो स्वार्थ-सिद्धि को जीवन का लक्ष्य नहीं बनाते, उनके परिवार को आड़ देने वालों की कमी नहीं रहती। यह कोई नियम नहीं है; क्योंकि मैंने ऐसे लोगों को भी देखा है, जिन्होंने जीवन में बहुतों के साथ सलूक किये; पर उनके पीछे उनके बाल-बच्चों को किसी ने बात तक न पूछी; लेकिन चाहे कुछ हो, देवनाथ के मित्रों ने प्रशंसनीय औदार्य से काम लिया और गोपा के निर्वाह के लिए स्थायी धन जमा करने का प्रस्ताव किया। दो-एक सज्जन जो रँडुवे थे, उससे विवाह करने को तैयार थे; किन्तु गोपा ने भी उसी स्वाभिमान का परिचय दिया; जो हमारी देवियों का जौहर है और इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। मकान बहुत बड़ा था। उसका एक भाग किराये पर उठा दिया। इस तरह उसको पचास रुपये माहवार मिलने लगे। वह इतने में ही अपना निर्वाह कर लेगी। जो कुछ खर्च था, वह सुन्नी की जात से था। गोपा के लिए तो जीवन में अब कोई अनुराग ही न था।

2

इसके एक ही महीने बाद मुझे कारोबार के सिलसिले में विदेश जाना पड़ा और वहाँ अनुमान से कहीं अधिक—दो साल लग गये। गोपा के पत्र बराबर जाते रहते थे, जिससे मालूम होता था—वे आराम से हैं, कोई चिन्ता की बात नहीं है। मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि गोपा ने मुझे भी गैर समझा और वास्तविक स्थिति छिपाती रही।

विदेश से लौटकर मैं सीधा दिल्ली पहुँचा। द्वार पर पहुँचते ही मुझे रोना आ गया। मृत्यु की प्रतिध्वनि-सी छाई हुई थी। जिस कमरे में मित्रों के जमघट रहते थे, उसके द्वार बन्द थे, मकड़ियों ने चारों ओर जाले तान रखे थे। देवनाथ के साथ वह श्री भी लुप्त हो गयी थी। पहली नजर में तो मुझे ऐसा भ्रम हुआ कि देवनाथ द्वार पर खड़े मेरी ओर देखकर मुस्करा रहे हैं। मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ और आत्मा की दैहिकता में मुझे संदेह है; लेकिन उस वक्त एक बार मैं चौंक जरूर पड़ा। हृदय में एक कम्पन-सा उठा; लेकिन दूसरी नजर में प्रतिमा मिट चुकी थी। द्वार खुला। गोपा के सिवा खोलने वाला ही कौन था ? मैंने उसे देखकर दिल थाम लिया। उसे मेरे आने की सूचना थी और मेरे स्वागत की प्रतीक्षा में उसने

नयी साड़ी ली थी और शायद बाल भी गुँथा लिये थे; पर इन दो वर्षों ने उस पर जो आघात किये थे, उन्हें क्या कहती ? नारियों के जीवन में यह वह अवस्था है; जब रूप-लावण्य अपने पूरे विकास पर होता है, जब उसमें अल्हड़पन, चंचलता और अभिमान की जगह आकर्षण, माधुर्य और रसिकता आ जाती है; लेकिन गोपा का यौवन बीत चुका था। उसके मुख पर झुर्रियाँ और विषाद की रेखाएँ अंकित थीं, जिन्हें उसकी प्रयत्नशील प्रसन्नता भी न मिटा सकती थी। केशों पर सफेदी दौड़ चली थी और एक-एक अंग बूढ़ा हो रहा था !

मैंने करुण स्वर में पूछा—क्या तुम बीमार थीं, गोपा ?

गोपा ने आँसू पीकर कहा—नहीं तो, मुझे तो कभी सिर दर्द भी नहीं हुआ।

'तो तुम्हारी यह क्या दशा है ? बिलकुल बूढ़ी हो गई हो।'

'तो अब जवानी लेकर करना ही क्या है ? मेरी उम्र भी तो पैंतीस के ऊपर हो गयी?'

'पैंतीस की उम्र तो बहुत नहीं होती।'

'हाँ' उनके लिए, जो बहुत दिन जीना चाहते हैं। मैं तो चाहती हूँ, जितनी जल्दी हो सके, जीवन का अन्त हो जाय। बस, सुन्नी के ब्याह की चिन्ता है। इससे छुट्टी पा जाऊँ; फिर मुझे जिन्दगी की परवाह न रहेगी।'

अब मालूम हुआ कि जो सज्जन इस मकान में किरायेदार हुए थे, वह थोड़े दिन के बाद तबदील होकर चले गये और तब से कोई दूसरा किरायेदार न आया। मेरे हृदय में बरछी-सी चुभ गयी। इतने दिन इन बेचारों का निर्वाह कैसे हुआ, यह कल्पना ही दुःखद थी।

मैंने विरक्त मन से कहा—लेकिन तुमने सूचना क्यों न दी ? क्या मैं बिलकुल गैर हूँ ?

गोपा ने लज्जित होकर कहा—नहीं-नहीं, यह बात नहीं है। तुम्हें गैर समझूँगी तो अपना किसे समझूँगी ? मैंने समझा, परदेश में तुम खुद अपने झमेले में पड़े होंगे, तुम्हें क्यों सताऊँ ? किसी-न-किसी तरह दिन कट ही गये। घर में और कुछ न था, तो थोड़े-से गहने तो थे ही। अब सुनीता के विवाह की चिन्ता है। पहले, मैंने सोचा था, इस मकान को निकाल दूँगी, बीस-बाईस हजार मिल जायेंगे। विवाह भी हो जायगा और कुछ मेरे लिए भी बच रहेगा; लेकिन बाद को मालूम हुआ कि मकान पहले ही रेहन हो चुका है और सूद मिलाकर उस पर बीस हजार हो गये हैं। महाजन ने इतनी दया ही क्या कम की कि मुझे घर से निकाल न दिया। इधर से तो अब कोई आशा नहीं है। बहुत हाथ-पाँव जोड़ने पर, संभव है, महाजन से दो-ढाई हजार मिल जाय। इतने में क्या होगा ? इसी फिक्र में घुली जा रही हूँ। लेकिन, मैं भी कितनी मतलबी हूँ, न तुम्हें हाथ-मुँह धोने को पानी दिया, न कुछ जलपान लायी और अपना दुखड़ा ले बैठी। अब आप कपड़े उतारिये और आराम से बैठिये। कुछ खाने को लाऊँ, खा लीजिए, तब बातें हों। घर पर तो सब कुशल है।

मैंने कहा—मैं तो सीधा बम्बई से यहाँ आ रहा हूँ। घर कहाँ गया ?

गोपा ने मुझे तिरस्कार-भरी आँखों से देखा; पर उस तिरस्कार की आड़ में घनिष्ठ आत्मीयता बैठी झाँक रही थी। मुझे ऐसा जान पड़ा, उसके मुख की झुर्रियाँ मिट गयी हैं। पीछे मुख पर हल्की-सी लाली दौड़ गयी। उसने कहा—इसका फल यह होगा कि तुम्हारी

देवी जी तुम्हें कभी यहाँ न आने देंगी।

'मैं किसी का गुलाम नहीं हूँ।'

'किसी को अपना गुलाम बनाने के लिये पहले खुद ही उसका गुलाम बनना पड़ता है।

शीतकाल की सन्ध्या देखते-देखते दीपक जलाने लगी। सुन्नी लालटेन लेकर कमरे में आयी। दो साल पहले की अबोध और कृशतनु बालिका रूपवती युवती हो गयी थी, जिसकी हर एक चितवन, हर एक बात, उसकी गौरवशाली प्रकृति का पता दे रही थी। जिसे मैं गोद में उठाकर प्यार करता था, उसकी तरफ आँखें न उठा सका, और वह जो मेरे गले से लिपटकर प्रसन्न होती थी, आज मेरे सामने खड़ी भी न हो सकी। जैसे मुझसे कोई वस्तु छिपाना चाहती है; और जैसे मैं उसे उस वस्तु के छिपाने का अवसर दे रहा हूँ।

मैंने पूछा—अब तुम किस दरजे में पहुँची सुन्नी ?

उसने सिर झुकाये हुए जवाब दिया—दसवें में हूँ।

'घर का भी कुछ काम-काज करती हो ?'

'अम्माँ जब करने भी दें।'

गोपा बोली—मैं नहीं करने देती या तू खुद किसी काम के नगीच नहीं जाती।

सुन्नी मुँह फेरकर हँसती हुई चली गयी। माँ की दुलारी लड़की थी। जिस दिन वह गृहस्थी का काम करती, उस दिन शायद गोपा रो-रोककर आँखें फोड़ लेती। वह खुद लड़की को कोई काम न करने देती थी; मगर सबसे शिकायत करती थी कि वह कोई काम नहीं करती। यह शिकायत भी उसके प्यार का ही एक करिश्मा था। हमारी 'मर्यादा' हमारे बाद भी जीवित रहती है।

मैं भोजन करके लेटा, तो गोपा ने फिर सुन्नी के विवाह की तैयारियों की चर्चा छेड़ दी। इसके सिवा उसके पास बात ही क्या थी। लड़के तो बहुत मिलते हैं; लेकिन कुछ हैसियत भी तो हो। लड़की को यह सोचने का अवसर क्यों मिले कि दादा होते, तो शायद मेरे लिए इससे अच्छा घर-वर ढूँढते। फिर गोपा ने डरते-डरते लाला मदारीलाल के लड़के का ज़िक्र किया।

मैंने चकित होकर उसकी ओर देखा। लाल मदारीलाल पहले इंजीनियर थे। अब पेंशन पाते थे, लाखों रुपये जमा कर लिये थे; पर अब तक उनके लोभ की प्यास न बुझी थी। गोपा ने घर भी वह छाँटा, जहाँ उसकी रसाई कठिन थी।

मैंने आपत्ति की—मदारीलाल तो बड़ा ही दुर्जन मनुष्य है।

गोपा ने दाँतों-तले जीभ दबाकर कहा—अरे नहीं भैया, तुमने उन्हें पहचाना न होगा, मेरे ऊपर बड़े दयालु हैं। कभी-कभी आकर कुशल-समाचार पूछ जाते हैं। लड़का ऐसा होनहार है मैं तुमसे क्या कहूँ। फिर उनके यहाँ कमी किस बात की है ? यह ठीक है कि वह खूब रिश्वत लेते थे; लेकिन यहाँ धर्मात्मा कौन है ? कौन अवसर पाकर जाने देता है? मदारीलाल ने तो यहाँ तक कह दिया कि वह मुझसे दहेज नहीं चाहते, केवल कन्या चाहते हैं। सुन्नी उनके मन में बैठ गयी है।

मुझे गोपा की सरलता पर दया आयी; लेकिन मैंने सोचा; क्यों इसके मन में किसी

के प्रति अविश्वास उत्पन्न करूँ। संभव है, मदारीलाल वह न रहे हों। चित्त की भावनाएँ बदलती भी रहती हैं।

मैंने अर्द्ध सहमत होकर कहा—मगर यह तो सोचो; उनमें और तुममे कितना अन्तर है। तुम शायद अपना सर्वस्व अर्पण करके भी उनका मुँह सीधा न कर सको।

लेकिन गोपा के मन में बात जम गई थी। सुन्नी को वह ऐसे घर में ब्याहना चाहती थी, जहाँ वह रानी बनकर रहे !

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं मदारीलाल के पास गया और उनसे मेरी जो बातचीत हुई, उसने मुझे मुग्ध कर लिया। किसी समय वह लोभी रहे होंगे। इस समय तो मैंने उन्हें बहुत ही सहृदय, उदार और विनयशील पाया। बोले—भाई साहब, मैं देवनाथ जी से परिचित हूँ। आदमियों में रत्न थे। उनकी लड़की मेरे घर में आये, यह मेरा सौभाग्य है। आप उनकी माँ से कह दें; मदारीलाल उनसे किसी चीज की इच्छा नहीं रखता। ईश्वर का दिया हुआ मेरे घर में सब कुछ है, मैं उन्हें जेरबार नहीं करना चाहता।

मेरे दिल का बोझ उतर गया। हम सुनी-सुनायी बातों से दूसरों के संबंध में कैसी मिथ्या धारणा कर लिया करते हैं, इसका बड़ा शुभ अनुभव हुआ। मैंने आकर गोपा को बधाई दी। यह निश्चय हुआ कि गर्मियों में विवाह कर दिया जाय।

3

वे चार महीने गोपा ने विवाह की तैयारियों में काटे। मैं महीने में एक बार अवश्य उससे मिल आता था, पर हर बार खिन्न होकर लौटता। गोपा ने अपनी कुल-मर्यादा का न जाने कितना महान् आदर्श अपने सामने रख लिया था। पगली इस भ्रम में पड़ी हुई थी कि उसका यह उत्साह नगर में अपनी यादगार छोड़ जायेगा। यह न जानती थी कि यहाँ ऐसे तमाशे रोज होते हैं और आये दिन भुला दिये जाते हैं। शायद वह संसार से यह श्रेय लेना चाहती थी कि इस गयी-बीती दशा में भी, लेटा हुआ हाथी नौ लाख का है। पग-पग पर उसे देवनाथ की याद आती। वह होते तो यह काम यों न होता, यों होता और तब रोती। मदारीलाल सज्जन हैं, यह सत्य है; लेकिन गोपा का अपनी कन्या के प्रति भी तो कुछ धर्म है। कौन उसके दस-पाँच लड़कियाँ बैठी हुई हैं। वह तो दिल खोलकर अरमान निकालेगी। सुन्नी के लिए उसने जितने गहने और जोड़े बनवाये थे, उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य होता था। जब देखो कुछ-न-कुछ सी रही है, कभी सुनारों की दुकान पर बैठी हुई है, कभी मेहमानों के आदर-सत्कार का आयोजन कर रही है, मुहल्ले में ऐसा बिरला ही कोई सम्पन्न मनुष्य होगा, जिससे उसने कुछ कर्ज न लिया हो। वह इसे कर्ज समझती थी, देने वाले दान समझकर देते थे। सारा मुहल्ला उसका सहायक था। सुन्नी अब मुहल्ले की लड़की थी। गोपा की इज्जत सबकी इज्जत है और गोपा के लिए तो नींद और आराम हराम था। दर्द से सिर फटा जा रहा है; आधी रात हो गई; मगर वह बैठी कुछ-न-कुछ सी रही है, या 'इस कोठी का धान उस कोठी' कर रही है। कितनी वात्सल्य से भरी आकांक्षा थी कि जो देखने वालों में श्रद्धा उत्पन्न कर देती थी।

अकेली औरत और वह भी आधी जान की। क्या-क्या करे ? जो काम दूसरों पर छोड़

देती है, उसी में कुछ-न-कुछ कसर रह जाती है; पर उसकी हिम्मत है कि किसी तरह हार नहीं मानती।

पिछली बार उसकी दशा देखकर मुझसे न रहा गया। बोला—गोपा देवी, अगर मरना ही चाहती हो, तो विवाह हो जाने के बाद मरो; मुझे भय है कि तुम उसके पहले ही न चल दो।

गोपा का मुरझाया हुआ मुख प्रमुदित हो उठा। बोली—इसकी चिन्ता न करो भैया, विधवा की आयु बहुत लम्बी होती है। तुमने सुना नहीं, 'राँड मरे न खँडहर ढहे।' लेकिन मेरी यही कामना है कि सुन्नी का ठिकाना लगा कर मैं भी चल दूँ। अब और जीकर क्या करूँगी, सोचो ! क्या करूँ, अगर किसी तरह का विघ्न पड़ गया तो किसकी बदनामी होगी! इन चार महीनों में मुश्किल से घण्टा-भर सोती हूँगी। नींद नही आती, पर मेरा चित्त प्रसन्न है। मैं मरूँ या जीऊँ, मुझे यह सन्तोष तो होगा कि सुन्नी के लिए उसका बाप जो कर सकता था, वह मैंने कर दिया। मदारीलाल ने अपनी सज्जनता दिखाई, तो मुझे भी अपनी नाक रखनी है।

एक देवी ने आकर कहा—बहन, जरा चलकर देख लो, चाशनी ठीक हो गयी है या नहीं। गोपा उसके साथ चाशनी की परीक्षा करने गई और एक क्षण के बाद आकर बोली—जी चाहता है सिर पीट लूँ। तुमसे जरा बात करने लगी, उधर चाशनी इतनी कड़ी हो गयी कि लड्डू दाँतों से लड़ेंगे। किससे क्या कहूँ !

मैंने चिढ़कर कहा—तुम व्यर्थ का झंझट कर रही हो। क्यों नहीं किसी हलवाई को बुलाकर मिठाइयों का ठीका दे देतीं ? फिर तुम्हारे यहाँ मेहमान ही कितने आवेंगे, जिनके लिए यह तूमार बाँध रही हो। दस-पाँच की मिठाई उनके लिए बहुत होगी।

गोपा ने व्यथित नेत्रों से मेरी ओर देखा। मेरी यह आलोचना उसे बुरी लगी। इन दिनों उसे बात-बात पर क्रोध आ जाता था। बोली—भैया, तुम यह बातें न समझोगे। तुम्हें न माँ बनने का अवसर मिला, न पत्नी बनने का ! सुन्नी के पिता का कितना नाम था, कितने आदमी उनके दम से जीते थे, क्या यह तुम नहीं जानते ? वह पगड़ी मेरे ही सिर तो बँधी है ! तुम्हें विश्वास न आयेगा, नास्तिक जो ठहरे; पर मैं तो उन्हें सदैव अपने अन्दर बैठा हुआ पाती हूँ, जो कुछ कर रहे हैं, वह कर रहे हैं, मैं मन्द-बुद्धि स्त्री भला अकेली क्या कर लेती ? वही मेरे सहायक हैं, वही मेरे प्रकाश हैं ! यह समझ लो कि यह देह मेरी है, पर इसके अन्दर जो आत्मा है, वह उनकी है। जो कुछ हो रहा है, उनके पुण्य आदेश से हो रहा है। तुम उनके मित्र हो। तुमने अपने सैकड़ों रुपये खर्च किये और इतना हैरान हो रहे हो। मैं तो उनकी सहगामिनी हूँ, लोक में परलोक में भी।

मैं अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

4

जून में विवाह हो गया। गोपा ने बहुत कुछ दिया और अपनी हैसियत से बहुत ज्यादा दिया; लेकिन फिर भी, उसे संतोष न था। आज सुन्नी के पिता होते, तो जाने क्या करते ! बराबर रोती रही।

जाड़ों में फिर दिल्ली गया ? मैंने समझा था, अब गोपा सुखी होगी। लड़की का घर और वर दोनों आदर्श हैं। गोपा को इसके सिवा और क्या चाहिए, लेकिन सुख उसके भाग्य में ही न था।

मैं अभी कपड़े भी न उतारने पाया था कि उसने अपना दुखड़ा शुरू कर दिया—भैया, घर-द्वार सब अच्छा है, सास-ससुर भी अच्छे हैं; लेकिन जमाई निकम्मा निकला। सुन्नी बेचारी रो-रोकर दिन काट रही है। तुम उसे देखो, तो पहचान न सको। उसकी परछाईं मात्र रह गई है। अभी कई दिन हुए, आई हुई थी, उसकी दशा देखकर छाती फटती थी ! जैसे जीवन में अपने पथ खो बैठी हो। न तन-बदन की सुध है, न कपड़े-लत्ते की। मेरी सुन्नी की दुर्गति होगी, यह तो स्वप्न में भी न सोचा था। बिल्कुल गुम-सुम हो गयी है। कितना पूछा—बेटी, तुमसे वह क्यों नहीं बोलता, किस बात पर नाराज है, लेकिन कुछ जवाब नहीं देती। बस, आँखों से आँसू बहते रहते हैं। मेरी सुन्नी कुएँ में गिर गई।

मैंने कहा—तुमने उनके घरवालों से पता नहीं लगाया ?

'लगाया क्यों नहीं भैया, सब हाल मालूम हो गया। लौंडा चाहता है, मैं चाहे जिस राह जाऊँ, सुन्नी मेरी पूजा करती रहे। सुन्नी भला इसे क्यों सहने लगी ! उसे तो तुम जानते हो, कितनी अभिमानिनी है ? वह उन स्त्रियों में नहीं है जो पति को देवता समझती हैं और उसका दुर्व्यवहार सहती रहती हैं। उसने सदैव दुलार और प्यार पाया है। बाप भी उस पर जान देता था। मैं भी आँख की पुतली समझती थी। पति मिला छैला, जो आधी-आधी रात तक मारा-मारा फिरता है। दोनों में क्या बात हुई, यह कौन जान सकता है; लेकिन दोनों में कोई गाँठ पड़ गई है। न वह सुन्नी की परवाह करता है, न सुन्नी उसकी परवाह करती है; मगर वह तो अपने रंग में मस्त है, सुन्नी प्राण दिये देती है। उसके लिए सुन्नी की जगह मुन्नी है, सुन्नी के लिए उसकी उपेक्षा है और रुदन है।'

मैंने कहा—लेकिन तुमने सुन्नी को समझाया नहीं ? उस लौंडे का क्या बिगड़ेगा। इसकी तो जिन्दगी खराब हो जायगी।

गोपा की आँखों में आँसू भर आये। बोली—भैया, किस दिल से समझाऊँ ? सुन्नी को देखकर तो मेरी छाती फटने लगती है। बस, यही जी चाहता है कि इसे अपने कलेजे में रख लूँ, कि इसे कोई कड़ी आँख से देख भी न सके। सुन्नी फूहड़ होती, कटु-भाषिणी होती, आरामतलब होती तो समझाती भी। क्या यह समझाऊँ कि तेरा पति गली-गली मुँह काला करता फिरे, फिर भी तू उसकी पूजा किया कर ? मैं तो खुद यह अपमान न सह सकती। स्त्री-पुरुष में विवाह की पहली शर्त यह है कि दोनों सोलहों आने एक दूसरे के हो जायँ। ऐसे पुरुष तो कम हैं; जो स्त्री को जौ-भर विचलित होते देखकर शांत रह सकें; पर ऐसी स्त्रियाँ बहुत हैं, जो पति को स्वच्छन्द समझती है। सुन्नी उन स्त्रियों में नहीं है, वह अगर आत्म-समर्पण करती है, तो आत्म-समर्पण चाहती भी है, और यदि पति में यह बात न हुई, तो वह उससे कोई सम्पर्क न रखेगी, चाहे उसका सारा जीवन रोते कट जाय।

यह कहकर गोपा भीतर गयी और एक सिंगारदान लाकर उसके अन्दर के आभूषण दिखाती हुई बोली—सुन्नी इसे अबकी यहीं छोड़ गई। इसीलिए आयी ही थी। ये वे गहने हैं, जो मैंने न जाने कितने कष्ट सहकर बनवाये थे। उनके पीछे महीनों मारी-मारी फिरी

थी। यों कहो कि भीख माँग कर जमा किये थे। सुन्नी अब इनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती। पहने तो किसके लिए ? सिंगार करे तो किस पर ? पाँच सन्दूक कपड़ों के दिये थे। कपड़े सीते-सीते मेरी आँखें फूट गयीं। यह सब कपड़े उठाती लायी। इन चीजों से जैसे उसे घृणा हो गयी है। बस, कलाई में दो काँच की चूड़ियाँ और एक उजली साड़ी, यही उसका सिंगार है।

मैंने गोपा को सांत्वना दी—मैं जाकर जरा केदारनाथ से मिलूँगा। देखूँ तो, वह किस रंग-ढंग का आदमी है।

गोपा ने हाथ जोड़कर कहा—नहीं, भूलकर भी न जाना; सुन्नी सुनेगी तो प्राण ही दे देगी। अभिमान की पुतली ही समझो उसे रस्सी समझ लो, जिसके जल जाने पर भी बल नहीं जाते। जिन पैरों ने उसे ठुकरा दिया है, उन्हें वह कभी न सहलायेगी। उसे अपना बनाकर कोई चाहे यों लौंडी बना ले; लेकिन शासन तो उसने मेरा न सहा, दूसरों का क्या सहेगी !

मैंने गोपा से उस वक्त कुछ न कहा; लेकिन अवसर पाते ही लाला मदारीलाल से मिला। मैं रहस्य का पता लगाना चाहता था। संयोग से पिता और पुत्र, दोनों एक ही जगह मिल गये। मुझे देखते ही केदार ने इस तरह झुककर मेरे चरण छुए कि मैं उसकी शालीनता पर मुग्ध हो गया। तुरन्त भीतर गया और चाय, मुरब्बा और मिठाइयाँ लाया। इतना सौम्य, इतना सुशील, इतना विनम्र युवक मैंने न देखा था। वह भावना ही न हो सकती थी कि इसके भीतर और बाहर में कोई अन्तर हो सकता है। जब तक रहा, सिर झुकाये बैठा रहा। उच्छृंखलता तो उसे छू भी नहीं गयी थी।

जब केदार टेनिस खेलने चला गया, तो मैंने मदारीलाल से कहा—केदार बाबू तो बहुत सच्चरित्र जान पड़ते हैं, फिर स्त्री-पुरुष में इतना मनोमालिन्य क्यों हो गया है?

मदारीलाल ने एक क्षण विचार करके कहा—इसका कारण इसके सिवा और क्या बताऊँ कि दोनों अपने माँ-बाप के लाडले हैं, और प्यार लड़कों को अपने मन का बना देता है। मेरा सारा जीवन संघर्ष में कटा। अब जाकर जरा शान्ति मिली है। भोग-विलास का कभी अवसर ही न मिला। दिन-भर परिश्रम करता था, संध्या को पड़कर सो रहता था। स्वास्थ्य भी अच्छा न था; इसलिए बार-बार यह चिन्ता सवार रहती थी कि कुछ संचय कर लूँ। ऐसा न हो कि मेरे पीछे बाल-बच्चे भीख माँगते फिरें। नतीजा यह हुआ कि इन महाशय को मुफ्त का धन मिला। सनक सवार हो गयी। शराब उड़ने लगी। फिर ड्रामा खेलने का शौक हुआ। धन की कमी थी ही नहीं, उस पर माँ-बाप के अकेले बेटे। इसकी प्रसन्नता ही हमारे जीवन का स्वर्ग थी। पढ़ना-लिखना तो दूर रहा, विलास की इच्छा बढ़ती गयी। रंग और गहरा हुआ, अपने जीवन का ड्रामा खेलने लगे। मैंने यह रंग देखा तो मुझे चिन्ता हुई। सोचा ब्याह कर दूँ, ठीक हो जायगा। गोपा देवी का पैगाम आया, तो मैंने तुरन्त स्वीकार कर लिया। मैं सुन्नी को देख चुका था। सोचा, ऐसी रूपवती स्त्री पाकर इसका मन स्थिर हो जायगा, पर वह भी लाडली लड़की थी—हठीली, अबोध, आदर्शवादिनी। सहिष्णुता तो उसने सीखी ही न थी। समझौते का जीवन में क्या मूल्य है, इसकी उसे खबर ही नहीं। लोहा-लोहे से लड़ गया। वह अभिमान से इसे पराजित करना चाहती है, यह उपेक्षा से। यही रहस्य है। और साहब, मैं तो बहू को ही अधिक दोषी

समझता हूँ। लड़के तो प्रायः मनचले होते ही हैं। लड़कियाँ स्वभाव से ही सुशीला होती हैं और अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। इनकी सेवा, त्याग और प्रेम ही उनका अस्त्र है, जिससे वे पुरुष पर विजय पाती हैं। उसमें ये पूर्ण ही नहीं। डोंगा कैसे पार होगा, ईश्वर ही जाने।

सहसा सुन्नी अन्दर से आ गयी। बिलकुल अपने चित्र की रेखा-सी, मानो मनोहर संगीत की प्रतिध्वनि हो। कुन्दन तपकर भस्म हो गया था। मिटी हुई आशाओं का इससे अच्छा चित्र नहीं हो सकता। उलाहना देती हुई बोली—आप न जाने कब से बैठे हुए हैं, मुझे खबर तक नहीं और शायद आप बाहर-ही-बाहर चले भी जाते।

मैंने आँसुओं के वेग को रोकते हुए कहा—नहीं सुन्नी, यह कैसे हो सकता था। तुम्हारे पास आ ही रहा था कि तुम स्वयं आ गयीं।

मदारीलाल कमरे से बाहर अपनी 'कार' की सफाई कराने लगे। शायद मुझे सुन्नी से बातचीत करने का अवसर देना चाहते थे।

सुन्नी ने पूछा—अम्माँ तो अच्छी तरह से हैं ?

'हाँ, अच्छी हैं। तुमने अपनी यह क्या गत बना रखी है ?'

'मैं तो बहुत अच्छी तरह से हूँ।'

'यह बात क्या है ? तुम लोगों में यह क्या अनबन है ? गोपा देवी प्राण दिये डालती हैं ! तुम खुद मरने की तैयारी कर रही हो। कुछ तो विचार से काम लो।'

सुन्नी के माथे पर बल पड़े गये—आपने नाहक यह विषय छेड़ दिया चाचा जी ! मैंने तो यह सोचकर अपने मन को समझा लिया कि मैं अभागिन हूँ। बस, इसका निवारण मेरे बूते से बाहर है। मैं उस जीवन से मृत्यु को कहीं अच्छा समझती हूँ, जहाँ अपनी कदर न हो। मैं व्रत के बदले में व्रत चाहती हूँ। जीवन का कोई दूसरा रूप मेरी समझ में नहीं आता। इस विषय में किसी तरह का समझौता करना मेरे लिए असम्भव है। नतीजे की मैं परवाह नहीं करती।

'लेकिन...'

'नहीं चाचा जी, इस विषय में अब कुछ न कहिए, नहीं तो मैं चली जाऊँगी।'

'आखिर सोचो तो...'

'मैं सब सोच चुकी और तय कर चुकी। पशु को मनुष्य बनाना मेरी शक्ति के बाहर है।'

इसके बाद मेरे लिए अपना मुँह बन्द कर लेने के सिवा और क्या रह गया था।

5

मई का महीना था। मैं मंसूरी गया हुआ था कि गोपा का तार पहुँचा—'तुरन्त आओ, जरूरी काम है।' मैं घबरा तो गया; लेकिन इतना निश्चित था कि कोई दुर्घटना नहीं हुई। दूसरे ही दिन दिल्ली जा पहुँचा। गोपा मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी, निःस्पन्द, मूक, निष्प्राण, जैसे तपेदिक का रोगी हो।

मैंने पूछा—कुशल तो है, मैं तो घबरा उठा।

उसने बुझी हुई आँखों से देखा और बोली—सच !

'सुन्नी तो कुशल है ?'

'हाँ, अच्छी तरह है।'

'और केदारनाथ ?'

'वह भी अच्छी तरह है।'

'तो फिर माजरा क्या है ?'

'तुमने तार दिया और कहती हो—कुछ तो नहीं ?'

'दिल घबरा रहा था, इससे तुम्हें बुला लिया। सुन्नी को किसी तरह समझा कर यहाँ लाना है। मैं तो सब कुछ करके हार गयी।'

'क्या इधर कोई नयी बात हो गयी ?'

'नयी तो नहीं है; लेकिन एक तरह से नयी ही समझो। केदार एक ऐक्ट्रेस के साथ कही भाग गया। एक सप्ताह से उसका कहीं पता नहीं है। सुन्नी से कह गया है—जब तक तुम रहोगी, घर नहीं आऊँगा। सारा घर सुन्नी का शत्रु हो रहा है; लेकिन वह वहाँ से टलने का नाम नहीं लेती। सुना है, केदार अपने बाप के दस्तख़त बनाकर कई हजार रुपये बैंक से ले गया है।'

'तुम सुन्नी से मिली थीं ?'

'हाँ, तीन दिन से बराबर जा रही हूँ।'

'वह नहीं आना चाहती, तो रहने क्यों नहीं देतीं ?

'वहाँ वह घुट-घुटकर मर जायगी।'

मैं उन्हीं पैरों लाला मदारीलाल के घर चला। हालाँकि मैं जानता था कि सुन्नी किसी तरह न आयेगी; मगर वहाँ पहुँचा, तो देखा—कुहराम मचा हुआ है। मेरा कलेजा धक से रह गया। वहाँ तो अर्थी सज रही थी। मुहल्ले के सैंकड़ों आदमी जमा थे। घर में 'हाय ! हाय!' की क्रन्दन-ध्वनि आ रही थी। यह सुन्नी का शव था।

मदारीलाल मुझे देखे ही मुझसे उन्मत्त की भाँति लिपट गये और बोले—भाई साहब मैं तो लुट गया। लड़का भी गया, बहू भी गयी, जिन्दगी ही गारत हो गयी।

मालूम हुआ कि जब से केदार गायब हो गया था, सुन्नी और ज्यादा उदास रहने लगी थी। उसने उसी दिन अपनी चूड़ियाँ तोड़ डाली थीं और माँग का सिंदूर पोंछ डाला था। सास ने जब आपत्ति की, तो उनको अपशब्द कहे। मदारीलाल ने समझाना चाहा; तो उन्हें भी जली-कटी सुनायी। ऐसा अनुमान होता था—उन्माद हो गया है। लोगों ने उससे बोलना छोड़ दिया था। आज प्रातःकाल यमुना-स्नान करने गयी। अँधेरा था, सारा घर सो रहा था। किसी को नहीं जगाया। जब दिन चढ़ गया और बहू घर में न मिली तो उसकी तलाश होने लगी। दोपहर को पता लगा कि यमुना गयी है। लोग उधर भागे वहाँ उसकी लाश मिली ! पुलिस आयी शव की परीक्षा हुई। अब जाकर शव मिला है। मैं कलेजा थाम कर बैठ गया। हाय, अभी थोड़े दिन पहले जो सुन्दरी पालकी पर सवार होकर आयी थी, आज वह चार के कन्धे पर जा रही है।

मैं अर्थी के साथ हो लिया और वहाँ से लौटा तो रात के दस बज गये थे। मेरे पाँव काँप रहे थे। मालूम नहीं, यह खबर पाकर गोपा की क्या दशा होगी। प्राणान्त न हो जाय, मुझे यही भय हो रहा था। सुन्नी उसकी प्राण थी। उसके जीवन का केन्द्र थी। उस दुखिया

के उद्यान में यही एक पौधा बच रहा था। उसे वह हृदय-रक्त से सींचकर पाल रही थी उसके बसन्त का सुनहरा स्वप्न ही उसका जीवन था–उसमें कोपलें निकलेंगी, फूल खिलेंगे, फल लगेंगे, चिड़ियाँ उसकी डालियों पर बैठकर अपने सुहाने राग गावेंगी; किन्तु आज निष्ठुर नियति ने उस जीवन-सूत्र को उखाड़कर फेंक दिया। और अब उसके जीवन का कोई आधार न था ! वह बिन्दु ही मिट गया था, जिस पर जीवन की सारी रेखाएँ आकर एकत्र हो जाती थीं।

दिल को दोनों हाथों से थामे, मैंने जंजीर खटखटाई। गोपा एक लालटेन लिये निकली। मैंने गोपा के मुख पर एक नये आनन्द की झलक देखी।

मेरी शोक-मुद्रा देखकर उसने मातृवत् प्रेम से मेरा हाथ पकड़ लिया और बोली–आज तो तुम्हें सारे दिन रोते ही कटा। अर्थी के साथ बहुत से आदमी रहे होंगे ? मेरे जी में भी आया कि चलकर सुन्नी का अन्तिम दर्शन कर लूँ। लेकिन, मैंने सोचा–आज सुन्नी ही न रही, तो उसकी लाश में क्या रखा है ! न गयी।

मैं विस्मय से गोपा का मुँह देखने लगा तो इसे यह शोक-समाचार मिल चुका है। फिर भी यह शान्ति ! और यह अविचल धैर्य ? बोला–अच्छा किया न गयीं, रोना ही तो था।

'हाँ और क्या ! रोती यहाँ भी, लेकिन तुमसे सच कहती हूँ, दिल से नहीं रोयी। न जाने कैसे आँसू निकल आये। मुझे तो सुन्नी की मौत से प्रसन्नता हुई। दुखिया अपनी मान-मर्यादा लिये संसार से विदा हो गयी, नहीं तो न जाने क्या-क्या देखना पड़ता। इसलिए और भी प्रसन्न हूँ कि उसने अपनी आन निभा दी। स्त्री को जीवन में प्यार न मिले, तो उसका अंत हो जाना ही अच्छा। तुमने सुन्नी की मुद्रा देखी थी, लोग कहते हैं, ऐसा जान पड़ता था–मुस्करा रही है। मेरी सुन्नी सचमुच देवी थी। भैया, आदमी इसलिए थोड़े ही जीना चाहता है कि रोता रहे। जब मालूम हुआ कि जीवन में दुःख के सिवा और कुछ नहीं है, तो आदमी जीकर क्या करे। किसलिए जिये ? खाने और सोने और मर जाने के लिए ? यह मैं नहीं कहती कि मुझे सुन्नी की याद न आयेगी और मैं उसे याद करके रोऊँगी नहीं लेकिन वह शोक के आँसू न होंगे, हर्ष के आँसू होंगे। बहादुर बेटे की माँ उसकी वीरगति पर प्रसन्न होती है। सुन्नी की मौत में क्या कुछ कम गौरव है, और चाहे सारा संसार उसकी निंदा करे, उसकी माता उसकी सराहना ही करेगी। उसकी आत्मा से यह आनन्द भी छीन लूँ ? लेकिन अब रात ज्यादा हो गयी है। ऊपर जाकर सो रहो ! मैंने तुम्हारी चारपाई बिछा दी है; मगर देखो, अकेले पड़े-पड़े रोना नहीं। सुन्नी ने वही किया, जो उसे करना चाहिए था। उसके पिता होते तो आज सुन्नी की प्रतिमा बना कर पूजते।'

मैं ऊपर जाकर लेटा तो मेरे दिल का बोझा बहुत हल्का हो गया था; किन्तु रह-रहकर यह सन्देह हो जाता था कि गोपा की यह शान्ति उसकी अपार व्यथा का ही रूप तो नहीं है।

['बाजयाफ्त' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू 'प्रेम बत्तीसी' (अगस्त, 1920) में संकलित। हिन्दी रूप 'शान्ति' शीर्षक से 'मानसरोवर' भाग-1 में संकलित। 'नारी जीवन की कहानियां' में 'अंतिम शांति' शीर्षक से संकलित।]

रूहे-स्याह (कलुषित आत्मा)

आलमगीर कहत (अकाल) का सामना था। साल भर से पानी की एक बूंद न गिरी थी। खेतों में खाक उड़ती थी। घास तक जल गयी थी, न कहीं दाना था, न पानी। लोग दरख्तों की छालें कूट-कूटकर खाते थे। आधी रात को लू चलती थी और दोपहर को तो ज़मीन से आग के शोले निकलते थे। मालूम होता था कोहे-आतशी है। लोगों के दिल तक खुश्क हो गये थे। कोई किसी की बात न पूछता था। सब अपनी-अपनी मुसीबतों में गिरफ़्तार थे। रोज़ाना मंदिरों और मस्जिदों में खलकत जमा होती थी। लोग रोते, हाय-हाय करते, मगर इस नालाँ-शेवन (विलाप) का कुछ असर न होता था, शायद अर्बाबे-कजा (यमराज) के दिलों में भी रतूबत (दया) बाक़ी न रही थी। ज्योतिषियों और नुजूमियों के दरवाज़े पर शबो-रोज नियाजमन्दों का हुजूम रहता था। बाज़ारों में लड़के बरहना-तन (नंगे बदन) लौटते-फिरते थे और गाते थे–

काल-कलूटी उजली धोती
मेघा दादा पानी दो।

एक आलिमे-तिब्बियात ने शगूफ़ा छोड़ा कि मैं कीमियाबी तरक़ीब से पानी बरसा सकता हूँ। रिआया ने लाखों रुपये चन्दे दिये, डॉक्टर साहब ने बादलों पर मकनातीसी असर डालने की खूब कोशिशें कीं, लेकिन कुछ नतीज़ा न निकला। न इन्दर पसीजे, न पानी बरसा और रैयत की हालत रोज़-ब-रोज़ जबून (बदतर) होती गई।

लाचार एक दिन लोगों ने फ़ैसला किया कि इस मुसीबत में औलिया और महात्माओं के दरबार में फ़रियाद करनी चाहिए। आख़िर वे किस दिन काम आयेंगे ! लाखों हिन्दू जमा होकर बाबा दुर्लभदास की खिदमत में हाज़िर हुए और उनकी कुटी के सामने धरना देकर बैठे। मुस्लिम रिआया ख्वाजा रशीद जलाली के रिफत निशान आस्ताने पर रगड़ने लगी। दोनों बुजुर्गो को रिआया के हाले-जार (दुर्दशा) पर तरस आया। बाबाजी ने सारे मुल्क के साधु-सन्तों को मद्ऊ (आमंत्रित) किया। ख्वाजा साहब ने अतराफ ब अक्नाफ (चारों दिशाओं) के बरगुजीदगाने-खुदा (चुने हुए ईश्वर भक्तों) से इमदाद तलब की। एक हफ्ते में चारों तरफ़ से साधुओं और फ़कीरों के गोल-के-गोल और जत्थे-के-जत्थे आने लगे। दारुलख़िलाफ़े (राजधानी) में कभी अहले-तकद्दुस (पुनीत व्यक्तियों) का ऐसा नूरानी मजमा नज़र न आया। ये हजरात मोजिजात आ-ख़वारिक (आश्चर्यजनक आचार-व्यवहार) के लिए मशहूर थे। लोगों को कामिल एतमाद था कि अगर ये लोग अबरूओं (भौहों) का इशारा भी कर देंगे तो इन्दर की मजाल नहीं कि वह नाफ़रमानी कर सके। बिला आख़िर एक रोज़ दुर्लभदास इन तमाम कमालों के साथ शहर से बाहर निकले। जुलूस शानदार था। आगे-आगे ऊँटों पर नक्कारे थे। इसके बाद मुख़तलिफ़ क़िस्म के अलम और निशान, पीछे शंख और घंटे बज रहे थे। सब साधुओं के दल थे, कोई सुनहरी झूल से आरास्ता हाथी पर सवार था, कोई सजे हुए घोड़े पर, कोई मुगरक पालकियों पर। चेले छतर लगाये चंवर हिलाते जाते थे। इस जुलूस से कई कदम पर औलिया की क़तार थी। यहाँ वह शहाना-करोफर (शहरी तड़क-भड़क) तो न था। हाँ, उनकी बजा व कता (सजधज) से एक फ़कीराना जलाल (तेज) टपक रहा था। सारे शहर

का चक्कर लगाने के बाद यह जुलूस ऊँचे टीले पर जा पहुँचा। यहाँ लोग अपने-अपने आसन जमाकर बैठे और खुदा से इल्तिजा करने लगे। किसी ने समाधि ली कोई जोग के आसन दिखाने लगा, किसी ने रामायण पढ़ना शुरू किया। कृष्ण के भक्तों ने कीर्तन करना ही काफी समझा। करा (साधु) तस्बीह ख्वानी (ईश्वर की आराधना) करने लगे, कोई दर्द न मन हुआ, कोई हाल में—और यह कैफो-नईम का दौर तीन घंटे तक जारी रहा। लाखों आदमी पीछे खड़े यह नजारा देख रहे थे और वो रह-रहकर आसमान की तरफ़ ताकते थे कि बादल उठा या नहीं। जब दो पहर हुआ, आफ़ताब सिर पर जा पहुँचा। तमाज़त (सूर्य की गर्मी) से चेहरा सुर्ख होने लगा और अब्र (बादल) का एक टुकड़ा भी नज़र न आया तो लोग मायूस होकर नीचे उतर आये। ख्वाजा रशीद जलाली ने बाआवाज़ बुलन्द कहा—मुल्क की यह हालत तुम्हारे राजा की बेईसाफी का नतीजा है। जब तक राजा साहिब खुदा के दरबार में आह ओ-जारी ने करेंगे, यह खुदा का कहर दूर न होगा। तुम लोग जाकर उन्हीं के क़दमों पर गिरो। उन्हीं की शफ़ाअत (शुभकामना) से तुम्हारी नजात हो सकती है।

राजा पृथ्वीपतिसिंह एक नफ्सपरस्त आदमी थे। अपने ऐश व निशात के सिवा उन्हें और कोई काम न था। महीनों महलों से बाहर न आते थे। हमेशा रागो व रंग का चर्चा रहता था। तमाम शहर के भाँड़-भड़वे, लुच्चे और शोहदे उनके मुकरबीन (घनिष्ठ मित्रों) में थे। रोज़ाना नयी-नयी शराबें खिंचती थीं। अनवा-ओ-इकसाम (तरह-तरह के, विभिन्न किस्मों के) के लजीज खाने तैयार होते थे। उन्हें सिर्फ शायरी से उन्स था और वह भी उसी शायरी से ज़िससे आतशे-इश्क तेज़ होती है। वह खुद ठुमरियाँ और दादरे बनाते थे और अक्सर नशे में मस्त होकर हसीनों के साथ नाचते थे। उन्हें अब तक इस आलमगीर कहत की ख़ब़र न थी। उनके वजरा भी खुदगर्ज थे। मुल्क की असली हालत का इखफा (छिपाना) उनके मुफीद मतलब था। मुल्क पर ख्वाह कैसी ही मुसीबत क्यों ना नाजिल हो, शाही दरबार के ख़र्च के लिए रुपये कहीं-न-कहीं से निकल ही आते थे। रिआया की यह मजाल कहाँ थी कि वह मामलात-ए-शाही में दखल-दर-माकलात (उचित हस्तक्षेप) कर सके। वह राजा से मायूस हो रही थी। जो मुसीबत आ पड़ती थी उसे बर्दाश्त करती थी, पर राजा के ऐश व इशरत में मुखिल होने की जुर्रत न कर सकती थी।

मगर जब ख्वाजा रशीद जलाली ने साफ़-साफ़ कर दिया कि इस आफते-समावी (दैवी प्रकोप) का इलाज बगैर राजा साहब के और किसी से न होगा, तब लोग मजबूरन शाही-महल के सामने आकर मैदान में जमा हो गये और जान पर खेलकर बआवाज़ बुलन्द आहो-जारी करनी शुरू की। दरबानों और सिपाहियों ने उन्हें वहाँ से बजोर हटाना चाहा, डराया-डाँटा, मारने की धमकी दी, पर लोग उस वक्त जान देने पर आमदा थे। किसी तरह वहाँ से न टले। उनकी सदायें-बेदाद हो गयीं। यहाँ तक कि राजा के ऐश में खलल पड़ गया। उन्होंने गुस्से में आकर दरबान से पूछा, "यह कौन लोग शोर मचा रहे हैं ?" एक दरबान ने मखूफ होकर अर्ज की, "गरीबपरवर, अहल-ए-शहर का एक कसीर मजमा शाही महल के सामने खड़ा है और किसी तरह नहीं टलता।"

राजा—"वे लोग क्या चाहते हैं ?"

एक वज़ीर ने जवाब दिया—"हुजूर, कुछ मालूम नहीं कि उनकी क्या ख़्वाहिशें हैं। वह कह रहे हैं कि हम हुजूर की जियारत (दर्शन) के मुश्ताक हैं।"

राजा—"आज उन्हें मेरी ज़ियारत का शौक क्यों हुआ है ?"

वजीर—"हुजूर, मैंने उन्हें बहुत समझाया मगर वे कहते हैं कि हम बगैर शरफ़याबी (सफलता) हासिल किये हरगिज़ न वापस होंगे।"

राजा—"तो उन्हें गोली मारकर भगा दो। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि मैं उनका राजा हूँ, वे मेरे राजा नहीं। वह मेरे महकूम प्रजा हैं, मैं उनका महकूम नहीं।"

वजीर—"आलीजाह ! मैं सब कुछ करके मजबूर हो गया। मुझे ऐसा मालूम होता है कि अगर गोली भी चलाई गई तो सब के सब जान दे देंगे, मगर अपने इरादे से बाज़ न आएँगे।"

राजा ने कुछ सोचकर कहा, "तो ज़रूर उनको कोई तकलीफ़ है। लाओ, सवारी हाजिर करो।"

एक लमहे में तामजां (रथ) हाजिर हुआ। राजा साहब बग़ैर सवारी के एक कदम भी न चल सकते थे, शायद उनके पैरों का मकसूद सिर्फ आज़ा (शरीर के अंग व जोड़) की तकमील था। सवारी पर बैठकर वह रिआया के सामने मौजूद हुए। उन्हें देखते ही जै-जै का नारा बुलन्द हुआ, गो तमाम रिआया राजा की शाकी (शिकायत करने वाली) थी, पर उनकी इस निगाह-ए-तरहुकम (दया-दृष्टि) से उनके दिल शाद हो गये। अलावा बरी वह साहबे-ग़र्ज थे, उस वक्त तुर्शी बेमौका थी, लेकिन दरअसल उनके जोश का सबब यह था कि राजा को देखते ही उनके दिलों में इरादत (संकल्प) की एक लहर-सी दौड़ गई जिसने बेदिली और शिकवापरवरी, खसो-खाशाक (कूड़ा-करकट) को बहा दिया।

जै-जै की आवाज बुलन्द हुई। लोगों ने अर्ज की, "महाराज, हम सख्त मुसीबत में गिरफ्तार हैं। आप हमारे बादशाह हैं। अगर हमें आप न बचायेंगे तो हम सब दाना-पानी बग़ैर तड़प-तड़पकर मर जायेंगे।"

राजा ने मुताज्जब (आश्चर्यचकित) होकर पूछा, "तुम पर कौन-सी मुसीबत है ?"

रिआया—"ग़रीबपरवर ! साल भर से एक बूँद पानी नहीं बरसा। तमाम मुल्क में कोहराम मचा हुआ है। तालाबों में पानी नहीं, कुएँ सूख गये, दरिया का पानी भी जवाब दे चुका। आप हमारे मालिक हैं। आप ही की नज़रे-रहम से अब हमारी मुसीबत दूर होगी।"

राजा—"मुझे तो आज यह कैफियत मालूम हुई। क्या दरअसल पानी नहीं बरसा ?"

रिआया—"गरीबपरवर, आप ख़ुद चलकर हमारी हालत मुलाहिजा फरमा लें। दाना-पानी बगैर हमारी हालत बहुत नाजुक हो रही है।"

राजा—"क्या तुम लोगों ने देवताओं की परस्तिश नहीं की और जग नहीं किये ?"

रिआया—"हुजूर ! हम सब कुछ करके थक गये।"

राजा—"तुमने महात्माओं और फकीरा (भिक्षुओं, साधुओं) के आस्तीनों पर ज़िबह साई (बलि) की होती। महात्मा दुर्लभदास को घेरा होता, ख्वाजा रशीद साहब जलाली से क्यों नहीं कहा। वह खुदा रसीदा बुजुर्ग हैं, चाहे तो अभी चश्मजदन (आंख झपकने में) में जल-थल एक कर दें।"

रिआया—"हुजूर ! बुजुर्गान-खुदा ने बड़ी कोशिश की, हज़ारों बाखुदाओं को लेकर आहो-जारी में मसरूफ़ हुए, पर किसी से कुछ न हो सका।"

राजा—"सच ?"

रिआया—"हुजूर, बिल्कुल सच।"

राजा—"मैंने तो उनके मोजिजात (चमत्कारिक कार्यों) की अजीब-अजीब दास्तानों सुनी हैं।"

रिआया—"ग़रीबपरवर ! इन लोगों ने तो यह कहकर टाल दिया कि तुम लोग अपने राजा की पनाह में जाओ। वही तुम्हारी इस मुसीबत को रफा करेंगे। यह आबता-इलाही (प्रकोप) बग़ैर राजा की आहो-जारी के दूर न होगा।"

राजा ने हँसकर कहा—"जब ऐसे-ऐसे अहल-ए-कमाल कुछ न कर सके तो मेरी क्या हस्ती।"

रिआया—"हुजूर ! आप इस मुल्क के मालिक हैं, बादशाह हैं। आप हमारी अर्जदाश्त को अगर दरबार-ए-इजदी (ईश्वर की न्यायालय) तक पहुँचा दें तो हमें यक़ीन है कि हमारी तक़लीफ़ दूर हो जायेगी।"

राजा ने लरज कर कहा, "मुझे उम्मीद नहीं। आप मुसीबत में गिरफ्तार हैं, मुझे सख्त रंज है। मगर जो राजा हविसरानियों में इस क़दर महव (अनुरक्त) हो कि उसे अपनी रिआया की हालत की ज़र्रा बराबर भी ख़बर न हो, जो हमेशा शराब के नशे में चूर पड़ा रहता हो, जो हमेशा ख़्वाहिश-ए-अफ़सानी (कामेच्छा) का शिकार रहा हो, उसकी जात से तुम्हारी क्या भलाई हो सकती है ? मगर मैं तुम लोगों को मायूस नहीं करना चाहता। तुम्हारी मुसीबत को अपनी बेनयाजी (लापरवाही) से बढ़ाना नहीं चाहता। मैं ईश्वर से कोई इल्तिज़ा करने के नाकाबिल हूँ। मुझे उनसे इल्तिज़ा करते हुए शर्म आती है। पर मैं तुम्हारे नफे के लिए बेहया बनकर उनके सामने जाऊँगा, इत्मीनान रखो।"

दोपहर का वक्त था। आफताब की तेज शोआयें (किरणें) तीरे आतिशी (अग्निबाण) बनकर ज़मीन पर गिर रही थीं और जमीन खौफ़ से लरजा थी। झुलसती हुई रेत से भाप निकलती थी, गोया बेकस ज़मीन की आह का धुआँ था। उसी वक्त राजा पृथ्वीसिंह महल से बरामद हुए। उनके जिस्म पर एक पतली-सी लँगोटी के अलावा और कोई लिबास या जेवर नहीं था। खूबसूरत बाल मुंड़े हुए थे और मुँह में कालिख लगी हुई थी। इस सियाही में उनकी सुर्ख़ आँखें ऐसी मालूम होती थीं, गोया सियाहबानात (काले वृक्ष) पर सुर्ख रेशम के फूल बने हैं। उनका चेहरा उदास और अफसुर्दा (मुरझाया हुआ, खिन्न) था, आँखों से आँसू जारी थे। इस तरह वह नंगे सिर, नंगे पैर दर्द मायूसी ग़ैरत की तस्वीर बने हुए आकर महल के सामने जलती हुई ज़मीन पर खड़े हो गये। वज़ीरों और मुसाहिबों ने राजा को रोकने की बहुतेरी फ़िक्रें कीं, मगर उन्होंने कोई मज़बूत अहद किया था। उससे न डिगे।

अहले शहर ने जब यह कैफ़ियत सुनी तो दौड़े हुए इस मुकाम पर जमा हो गये। ऐसा कोई दिल न था जो राजा की उस सूरते-दर्द व यास। से तड़प न गया हो। उन्होंने निहायत आजजी से कहा, "खुदाविन्द, आप इस स्याही को धो डालिये। इससे हमारे दिलों पर चोट लगती है।"

राजा ने निहायत इस्तकलाल (दृढ़ता) से जवाब दिया, "भाईयो! यह सियाही अब ईश्वर के बारान-ए-रहमत (दया-दृष्टि) से धुलेगी, यूँ नहीं।"

एक घंटा गुज़र गया। राजा का चेहरा तो सियाह तवे की तरह तप रहा था। आँखों से आग के शोले निकलने लगे, चोटी का पसीना एड़ी तक पहुँच गया, पैरों के नीचे की ज़मीन तर हो गई, दिमाग गर्म पानी की तरह खौलने लगा। लोगों को हर लम्हा अन्देशा होता था कि कहीं ग़श खाकर गिर न पड़े। लोग आजिजाना तरीक (विनम्र विधि) से अर्ज करते थे—"गरीबपरवर, आप अपने जिस्मे-नाजुक को इस तरह तकलीफ़ न दें। हमें दाना-पानी बग़ैर मर जाना कबूल, पर आपकी यह तकलीफ़ देखना क़बूल नहीं।" पर राजा का चेहरा इल्तिजा सादिक (सत्यनिष्ठ) और इस्तक़लाल (दृढ़ निश्चय) के नूर से मामूर था। हवासे-जाहिरा (बाह्य इन्द्रियां) तो साकिन थे, मगर मुएबदन हमातन ज़बान (अशरीर वाणी) बनकर कह रहा था कि ऐ माबूद (ईश्वर), मेरी रिआया मर्दआलम (निष्प्राण) है, उसे पनाह दे। मैं गुनाहगार हूँ, नाफ़र्मादार हूँ, सियाहकार हूँ। मुझे आपसे इल्तिज़ा करते हुए शर्म आती है, मेरी खताओं की सजा मुझे मिलनी चाहिए। मेरी रिआया बेक़सूर है, उस पर रहम कर। मैं सख्त से सख्त अजाब के लिए तेरे दरबार में सरे तस्लीम-ए-ख़म किये हूँ। अगर मेरी दुआ मुस्तजाब (कष्ट) न होगी तो मैं यहीं खड़े-खड़े जान दे दूँगा, पर रिआया को अपना मुँह न दिखाऊँगा। मैं तेरा बन्दा हूँ, तुझसे अपनी मुसीबत कहने में कोई बेइज्ज़ती नहीं, लेकिन जो रिआया मुझे अपना मालिक तसव्वुर करती है, उसके सामने मैं कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ ?

दो घंटे गुज़र गये। आफताब की शोआयें और भी तेज़ हो गईं। जमीन पहले से कहीं ज्यादा जलने लगी। तमाम रिआया आसमान की तरफ टिकटिकी लगाये ताक रही थी, मगर बादल का नाम न था।

माम शहर यह अजीबोग़रीब नज़ारा देखने के लिए उमड़ा चला आता था। हर एक सीने में हक़ीक़त और वफ़ा की मौजें उठ रही थीं। हज़ारों आँखों से आँसू जारी थे। औरतें बेचैन होकर नाला व फरियाद करती थीं। राजमहल से दर्द-अंगेज सदायें बुलन्द होकर दिलों को और पाश-पाश करती थीं।

तीन बज गये थे, मगर सूरज की तपिश में जरा भर भी कमी न थी। राजा पृथ्वीसिंह की आँखें फैल गई थीं, माथा सिकुड़ गया था, जिस्म को सँभालने और हवास को और काबू में रखने को मुस्तकिल कोशिश के बाइस लव-हाये (कोमल होंठ) नाजुक फूल की कलियों की मानिन्द बन्द हो गये थे। मालूम होता था कि उनके बदन में खून की हरकत नहीं है, जान नहीं है, सिर्फ़ एक मायूसाना इस्तक़लाल है जो उनको पैरों तक खड़ा किये हुए है। लोगों को हर वक्त यही गुमान था कि राजा अब गिरे, अब गिरे। कितने ही आदमियों को यक़ीन था कि गो राजा खड़े हैं, मगर यह सिर्फ उनकी लाश-ए-बेजान है। जिस तपिश और गर्मी को घर में बैठकर बर्दाश्त करना मुश्किल था, जिस धूप में चील अण्डे छोड़ती थी और

इशरात (कीड़े-मकोड़े) जमीन से निकल-निकलकर मर जाते थे, जिस कुर्रए-नार (भूखंड) में किसी जीरूह का एक लम्हा खड़ा रहना ना-मुमकिन था, उस दहकती हुई आग में राजा जैसा नाजुक बदन और नाजपरवर (सुकुमार) शख़्स इतनी देर तक कैसे खड़ा रह सकता है।

यकायक जै-जै का नारा बुलन्द हुआ। जमीन थर्राई, आसमान हिला गोया कोई जल्जल-ए-अजीम (महाभूकम्प) आ गया हो, दो पहाड़ों ने टक्कर खाया हो। लाखों आदमी खुशी से दीवाने होकर उछलने-कूदने लगे। सारी खल्कत में हलचल-सी मच गई, बेशुमार अँगुलियाँ पूरब की जानिब उठ गईं। एक छोटा-सा बादल का टुकड़ा उफक (क्षितिज) पर इस तरह नज़र आ रहा था जैसे फिज़ा-ए-तारीम (अन्धकारपूर्ण) में कोई चिराग़ टिमटिमा रहा हो। किले से तोपें छूटने लगीं, औरतों ने मंगल गाना शुरू किया। दरवाजे-शाही पर गुरबा व मसाकीन (दरिद्रों) को रानियों की तरफ से खैरात दी जाने लगी, मगर रिआया उस वक्त एक सुकून की हालत में थी। मसर्रत ओ-शादमानी (आनन्द) की पहली लहर ने उन्हें बेख़बर बना दिया था। अब वह अपने जज़्बात को रोके हुए उम्मीद व बीम (आशा और भय) की निगाह से बादल के टुकड़े को देखने लगी। देखते-ही-देखते उस टुकड़े ने फ़ैलना शुरू किया और बारूद के धुएँ की तरह आने-वाहिद (एक क्षण) में तमाम आसमान पर छा गया। बिजली चमकने लगीं, हवाएँ चलने लगीं, गरजने की करख्त-आवाज सुनाई दी, मगर यह करख्त आवाज़ लोगों को बहिश्ती नगमें से भी कहीं ज्यादा प्यारी मालूम हुई। इस आवाज के सुनने के लिए आदमी बहुत दिनों से बेचैन थे। आफताब निहायत तेजी से मगरिब की जानिब भाग रहा था, गोया वह बादल की फौज से खायफ होकर अपनी जान छुपाना चाहता था, मगर उसका भागना बेकार हो गया। चश्मे-जदुन में वह बादलों के दिल में छुप गया। दुनिया में अँधेरा छा गया। यह अँधेरा मखलूके-खुदा की उम्मीदों का आफताब था।

बादल फिर गरजने लगा और बूँदें पड़नी शुरू हुईं। लोग एतकाद और मुहब्बत के साथ राजा की तरफ दौड़े और उनके क़दमों पर गिर पड़े। राजा अभी तक हमातन तस्वीर खड़े थे। उनके मुंह की सियाही धुल-धुलकर छूटती जाती थी और उनका रोशन-चेहरा इस तारीकी में बादल के चाँद की मानिन्द रोशन होता जाता था। उनके चेहरे पर एक रूहानी जलाल-जलवा अफ़रोज था और आँखों से नूरानी शोआयें निकल रही थीं। उन्होंने अहद किया था कि मुंह की यह सियाही बाराने-रहमद (ईश्वरीय वर्षा) ही से धुलेगी और वह वैसा ही हुआ, क्योंकि इस्तकबाल था, रूहानी ताकत थी और ईश्वर की दस्तगीरी (सहायक) का यक़ीन था। मुल्क को इससे पहले कभी इतनी खुशी, इतना इत्मीनान और इतनी फ़रागत (चैन) नसीब न हुई थी।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'सुबहे-उम्मीद', नवम्बर, 1920 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'सोलह अप्राप्य कहानियां' और 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

रूहे-हयात (जीवन की प्राण-शक्ति)

मेरे गाँव में गुजराती यतीम लड़की थीं। माँ-बाप की सूरत तक इसे याद न थी। गाँव के लड़कों के साथ खेलती। कोई मारता तो रोती और फिर खेलने लगती। कोई तरस खाकर कुछ दे देता तो दौड़कर ले लेती। जहाँ नींद आ जाती, वहाँ सो रहती। जहाँ खाने को पाती, वहीं खा लेती। जो कुछ फटे-पुराने चीथड़े मिल जाते, वही पहन लेती। अगर कोई रहम से गोद में उठा लेता तो फूली न समाती थी। मगर वह अपने हमसिन (समवयस्क) बच्चों से ज़्यादा दबी, उदास या रोती न थी। उसके गदराए हुए बदन पर दूसरी माएँ रश्क करती थीं। इसकी खन्दारूई (मुस्कुराहट) दिलों को पिघला देती थी। लोग इसे देखकर ख़ामख़्वाह गोद में उठा लेते थे।

जब इसने होश सँभाला तो खेतों में मज़दूरी करने लगी। टोकरी सर पर उठाए हुए गाती। खेत नराते हुए हमजोलियों से चहल करती। सारे गाँव की लौंडी थी, सारे गाँव की दुलारी। किसी के लिए बाज़ार से सौदा लाती, किसी के धान कूटती, कोई इसे उतारे कपड़े दे देता, कोई फटी-पुरानी साड़ी—वह इसी में मग्न थी। न बैठी हुई बसोरती, न अपने हाल पर आँसू बहाती। किसी के घर गाना उठे, कहीं ढोल की सदा (आवाज़) कानों में आए, सबसे पहले वहाँ जा पहुँचती। इसका दिल मुसर्रत का भूखा था। ज़िन्दगी इसके लिए अजीरन, जंजाल, सोहाने-रूह (कष्टपूर्ण) न थी। यह एक नेमत थी जिसका वह फ़ितरतन तब्अन (दिल से) लुत्फ़ उठाती थी। यहाँ तक कि शबाब आ पहुँचा। निगाहों में शोखी नुमूदार हुई। जवानी गरदन उठाकर चलने लगी। गाँव वालों को इसकी शादी की फ़िकर हुई। सयानी लड़की गाँव में कँवारी कैसे रहे ? इसे उनकी ग़ैरत गव्वारा (सहन) नहीं कर सकती थी। आपस में सलाह हुई। किसी ने अनाज दिया, किसी ने रुपये। वर की तलाश होने लगी।

2

ससुराल में गुजराती की हालत अपने गाँव से भी बदतर थी। इसका शौहर रामरतन करीब के रेलवे स्टेशन पर पानी पाण्डे था। मिज़ाज का बड़ा सख्त, निहायत गुस्सावर और हमेशा त्यौरियाँ चढ़ी रहती थीं। बावजूद येके गुजराती स्टेशन के मुलाज़मीन के गेहूँ पीसती थी और अपनी रोटियों के लिए शौहर की मोहताज न थी, लेकिन इससे रामरतन की सख्ती और हुकूमत में कोई कमी न वाका होती थी। बाहर वह एक ज़िन्दादिल, खुशबाश आदमी था। मगर घर में क़दम रखते ही उसके सर पर भूत सवार हो जाता था। शायद इसका बाइस इसकी बदगुमानी थी। वह न चाहता था कि गुजराती किसी के घर जाए या किसी से राह-ओ-रसम पैदा करे और वह गुजराती के लिए ग़ैर-मुमकिन था। इसने अब तक आज़ादाना ज़िन्दगी बसर की थी। यह क़ैद अब इससे न सही जाती थी। इस आज़ादी ने इस खानादारी (घरेलू जीवन) की फ़िकरों में बेनयाज़ (बेपर्वा) बना रखा था। रामरतन तनख्वाह के अलावा रोज़ाना कुछ-न-कुछ ऊपर से कमा लिया करता था और तुर्रा यह कि पानी को दूध के दामों बेचकर वह ठण्डे पानी की मरगूब सदा (मनपसन्द आवाज़)

लगाता हुआ हर एक गाड़ी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक तेज़ी से निकल जाता था। ग़ालेबन वह ऐसी खुश-आइन्द सदा को मुसाफ़िरों की तस्कीन के लिए काफ़ी समझता था। चारों तरफ से 'पानी-पानी' की आवाज़ें आती थीं, लेकिन रामरतन उस वक़्त तक मुख़ातब न होता था, जब तक इसकी त्याफ़ाशनासी या मुसाफ़िर की बेनक़ाब नवाज़िश (कृपा) इसे मुतहर्रिक (क्रियाशील) करती थी। इतनी एहतात पर भी जब मुसर्रत से इसका गला न छूटता था तो उसे कुदरतन गुजराती पर गुस्सा आता था, मगर गुजराती इन आए दिन की कशमकशों को ज़िन्दगी की एक मामूली कैफ़ियत ख्याल करती थी। इसकी शिगुफ़्ता तबई (खुशदिली) और आज़ादारबी (मनमौजीपन) पर इनका बहुत ही खफ़ीफ़ (कम) असर पड़ता था।

3

गुजराती की शादी के पाँच साल बाद मैं फिर अपने मौज़ा पर गई। शहर में प्लेग फैला हुआ था, वरना हम शहरियों को देहात की ज़िन्दगी में क्या लुत्फ़ ? सावन का महीना था। गाँवों की कई लड़कियाँ ससुराल से आई हुई थीं। मेरा आना सुनकर सबकी सब (मुझसे मिलने आईं। इनमें गुजराती भी थी। उसका चेहरा शगुफ़्ता (खिला हुआ) तो न था, पर इसकी हुस्ने मुतऐयिन के परदा में शबाब की हरारत और सुरखी झलक रही थी। सुबह खिज़ा न थी, शबेमाह (चाँदनी रात) थी, ज़ब्त और शौक पिनहा (गुप्त) की तफ़सीर (भाष्य) इसकी गोद में एक चाँद-सा बच्चा था। मैंने इससे गले मिलने के बाद बच्चे को गोद में लिया तो मेरा कलेजा सन्न से हो गया। यह दोनों आँखों का अन्धा था। गुजराती से पूछा, "इसे कोई बीमारी हुई थी या जन्म से ऐसा ही है ?"

गुजराती ने आँखों में आँसू भर कर कहा, "नहीं बहन जी, इसे सीतला जी निकल आई थीं। इसी में दोनों आँखें जाती रहीं। बहुत मान-मनौती की, मगर देवी जी ने आँखें ले ही लीं। जान छोड़ दी, यही बहुत किया।"

"बेचारे की ज़िन्दगी ही ख़राब हो गयी।"

"भगवान की यही मरजी थी तो किसी का क्या बस चलता।"

"इसका बाप अभी इसी स्टेशन पर है ?"

गुजराती की डबडबाई आँखों से आँसू की बूँदें गिर पड़ीं। बोली, "उन्हें तो भगवान ने बुला लिया। साल भर हो गए। एक मुसाफ़िर को पानी पिलाने लगे कि इतने में गाड़ी खुल गयी। मुसाफ़िर जेब में से पैसे निकालने लगा। ये उससे पैसे लेने को लपके। गाड़ी तेज़ हो गयी। न जाने कैसे गिर पड़े। पटरी के नीचे दब गए। भाग में मुँह देखना भी न बदा था। तब से फिर यहीं चली आई हूँ। मेहनत-मज़दूरी करके दिन काटती हूँ। आप लोगों की दया-धरम से लड़का जी जाए, बस मुझे और कुछ न चाहिए। यहाँ की रोटियाँ खाकर पली हूँ, यहीं मरूँगी।"

दूसरे दिन नागपंचमी थी, गाँवों की बड़ी-छोटी लड़कियाँ बनाव-शृंगार करके अपनी-अपनी गुड़िया लेकर मेले चलीं। एक तालाब के किनारे मेला लगता है। वहाँ नाग की पूजा होती है। इन्हें दूध-चावल खिलाया जाता है। गुजराती भी खुश-खुश इस मेले में थी। इसके गाने

की सुरीली आवाज़ दिल को खेंच लेती थी। इसका दिन रंजो-ग़म के बारेगिरा (बोझ) के नीचे इसी तरह खुशफ़हमिया कर रहा था, जैसे कोई जानदार घोड़ा सवार की रान के नीचे जोश से चलता है।

मैं सावन भर अपने मौजा में रही। आए-दिन औरतों का गाना होता था। कभी-कभी स्वाँग भरे जाते थे, और नक्लें भी होती थीं। गुजराती इन तफ़रियों की रूहे-रवाँ (प्राणवायु) थी। मैंने इसे नसीबों को कोसते या तक़दीर को रोते नहीं देखा। हयात (जीवन) एक नेमत है। इसकी ज़िन्दगी इस हक़ीक़त की पहली मिसाल थी।

4

मुझे एक मुद्दतदराज़ तक फिर अपने मौज़े में जाने का इत्तिफ़ाक़ न हुआ। प्लेग का दौर तो हर साल ही होता था, पर अब हम इसके खूगर (आदी) हो गये थे।

दस साल गुज़र गये। एक रोज़ गुजराती ने मेरे पास एक नाई के हाथों नवेद (निमन्त्रण-पत्र) भिजवाया। मैंने न वेद पढ़ा तो बेअख्तियार उसे क़बूल कर लिया। गुजराती ने अपना नया मकान बनवाया था। उसका गृह-प्रवेश (नये मकान में सुकूनत अख्तियार करते वक्त यह मजबी रस्म अदा की जाती है) धूम से होने वाला था। गुजराती ने मुझसे बहुत मिन्नत की थी कि बहन तुम ज़रूरी आओ, नहीं तो मुझे रंज होगा। और मैं फिर तुम्हें कभी अपना मुँह न दिखाऊँगी। मुझे ताज्जुब हुआ कि गुजराती को नया मकान बनवाने की तौफ़ीक़ (सामर्थ्य) क्यों कर हुई ? रोटियाँ ही बड़ी मुश्किल से चलती थीं। घर क्यों कर बनवा लिया ? तक़रीब (उत्सव) की मुकर्रर तारीख़ को मैं अपने मौज़ा में जा पहुँची। गुजराती ऐसी खुश हुई, गोया अन्धा आँखें पा जाए। मेरे पैरों पर गिर पड़ी और रोकर बोली, "मैं जानती थी कि तुम ज़रूर से ज़रूर आओगी। मेरा मन कहता था कि तुम मुझे भूली नहीं हो।" यह कहकर वह मुझे अपने नये घर में ले गई। कच्चा मकान था, मगर पटा हुआ। दरवाज़ा पर वसीअ (विस्तृत) सहन। एक तरफ़ पक्का कुआँ और इससे लगा हुआ शिवजी का मन्दिर था। अन्दर का आँगन भी चौड़ा, चारों तरफ बरामदे, कमरे हवादार। सोंधी-सोंधी मिट्टी की खुशबू आ रही थी, और अगरचे धूप तेज़ थी, मगर अन्दर एक खास तरावट मालूम होती थी।

मैंने कहा, "ऐसा मकान तो सारे गाँव में न होगा। देखकर जी खुश हो गया।"

गुजराती ने अन्दाज़े-तफ़ाखुर (गर्व के भाव से) से कहा, "बहन जी, यह सब तुम्हारी दया है। मेरे दिल में यही अरमान था, वह पूरा हो गया। आठ साल हो गए। मैंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। चार-चार पंसेरी गेहूँ रोज़ रात को पीसती थी। दिन भर मजूरी करती थी। गाँव भर के कपड़े सीती थी और सच्ची बात तो यह है कि गाँव वालों की कृपा नहीं होती तो मेरा क्या होता, किसी ने लकड़ी दी, किसी ने बाँस दिए, घर तैयार हो गया। इस लड़के को जन्म दिया, इसकी नाव तो किसी तरह पार लगानी ही थी। आँखें होतीं तो कौन चिन्ता थी। कमा खाता, लेकिन जब भगवान ने आँखें ले लीं तो इसके बैठने का ठिकाना करना मेरा धरम हो गया। नहीं तो बेचारे को कौन पूछता ? बाप रहता तो यह बोझ उसके सर पड़ता। अब तो उनका बोझ भी मुझी को उठाना पड़ेगा। उनके नाम को

रोने और नसीबे को कोसने से थोड़े ही कुछ होता है !"

इसी अस्ना (दौरान) में गुजराती का लड़का भी अन्दर आ गया। उसके ज़िस्म पर एक जोफरानी रंग का कुरता था। धोती जर्द (पीली रंग की) थी। खड़ाऊँ पहने हुए था। चेहरे से मासूमियत बरस रही थी। गुजराती ने कहा, "बेटा, तुम्हारी मौसी आई हैं। इन्हें कुछ सुनाओ।"

लड़के ने फौरन अदब से मेरे पैरों पर सर झुका दिया, और एक संस्कृत का श्लोक पढ़ने लगा। लब-ओ-लहजा ऐसा साफ़ था और तर्ज़े-अदा ऐसी दिलकश कि मुझे बेअख़्तियार इसकी हालत पर रोना आ गया। काश ! बीना (सनेत्र) होता तो न जाने क्या करता। शायद फ़ितरत ने इसकी ज़हानत (प्रतिभा) और फ़रासत (चतुरता) के तवाज़ुन (सन्तुलन) के एतबार से इसे बीनाई (आँखों की रोशनी) से मरहूम कर दिया था।

गुजराती ने लड़के को मादराना ग़रूर की नज़रों से देखकर कहा, "बहन जी, इन्हें मैंने शास्त्री जी के यहाँ पढ़ने को बैठा दिया है। सुबह को पहुँचा देती हूँ। साँझ को लिवा लाती हूँ। दोपहर को यह शास्त्री जी के घर खा लिया करते हैं। बेचारे भले आदमी हैं। इन पर बड़ी दया रखते हैं। कहते थे कि दो साल में यह पंडिताई के काम में पूरे हो जायेंगे। भागवत का अरथ (मानी) तो यह अभी लगा लेते हैं। किसी दिन इनसे कोई कथा सुनवाऊँगी। मैंने समझा, इनसे और कोई काम तो होगा नहीं, यह काम सीख लेंगे तो भले-बुरे किसी तरह निबाह हो ही जायगा।" गाँव की औरतें जमा थीं। मैं वहीं जा बैठी। मेरा ही इन्तज़ार था। गाना शुरू हो गया। गुजराती भण्डारे की तरफ़ चली गयी। आँगन में कई कड़ाव चढ़े हुए थे। पूरियाँ निकल रही थीं। दरवाजे पर मेहमान आते-जाते थे। कुर्बोजुवार (आसपास) के कई गाँव के लोग मदूऊ (निमन्त्रित) हुए थे। दिन ढल गया था। गुजराती चाहती थी कि चिराग़ जलते-जलते अहलेदावत की कतारें उठनी शुरू हो जायें। इसका हुस्ने-इंतिज़ाम (सुप्रबन्ध) और चतुराई देखकर बेअख़्तियार बलाएँ लेने को जी चाहता था। एक-एक अज़ (अंग) से तेज़ी और चुस्ती टपक रही थी। जोफ़ (कमज़ोरी) और कोताहजरफ़ी (अयोग्यता) का शाइबा (बहुत थोड़ा मिश्रण) भी न था। वह नाअहलियत (अपात्रता) जो ऐसे मौकों पर अक्सर हमारी गुलूगीर हो जाती है, यहाँ नाम को भी न थी। तीसरे दिन बड़े इसरार के बाद गुजराती ने मुझे रुखसत किया।

5

मगर यह नया मकान गुजराती को रास न आया। मौज़ा में एक बूढ़ा साधु आकर ठहरा। गुजराती ने उसकी बड़ी आवभगत की। उसका लड़का सत्यदेव अक्सर बाबा जी के पास जाकर बैठा करता। एक रोज़ बाबाजी उसके साथ गायब हो गये। चारों तरफ तलाश हुई। पुलिस में हुलिया लिखाया गया। मैंने कई अख़बारों में ऐलान कराया, पर लड़के का सुराग़ न मिला। यह लड़का गुजराती की ज़िन्दगी का सहारा था। मुझे यकीन हो गया कि वह इस सदमे से जान बर न हो सकेगी। इसके थोड़े ही दिनों बाद मुझे जब ख़बर मिली कि वह तीरथ करने चली गयी है तो मेरे ख़्याल की तसदीक हो गयी। बहुत रंज हुआ। नैरंगिए-रोज़गार (भाग्य-चक्र) ने हरा-भरा बाग़ वीरान कर दिया। एक नादार

(निर्धन) बेकस बेवा के इरादे और हिम्मत को कितनी बेदरदी से पामाल (पददलित) कर दिया।

गुजराती को तीरथ करने में साल भर लगा। उसने ख़्याल किया था कि तीरथ के मुकामों में शायद सत्यदेव का कुछ पता मिले, लेकिन साल भर की तगोदौ (प्रयत्न) के बाद वो नामुराद लौट आयी। मैंने इसकी वापसी की ख़बर सुनी तो इज़हारे-हमदर्दी के लिए उसके पास जाने का इरादा किया। मगर एक न एक रुखना पड़ता गया और छः महीने तक मुझे फुरसत न मिली। बाला आख़िर सातवें महीने में खानगी तरद्दुदात (घरेलू चिन्ताओं) से मुँह मोड़कर अपने मौज़ा में जा पहुँची।

मैंने समझा था, गुजराती के दरवाज़े पर खाक उड़ रही होगी। सन्नाटा छाया होगा और वो खुद सोगवारों की-सी ग़मगीन सूरत बनाए उदास बैठी होगी, लेकिन जब उसके दरवाज़े पर पहुँची तो उम्मीद के बरअक्स (प्रतिकूल) चारों तरफ़ रौनक और चहल-पहल नज़र आयी। बाहर सहन में क्यारियाँ बनी हुई थीं। उन पर गुलाब और बेले खिले हुए थे। मन्दिर के महराबों पर लटाएँ चढ़ी हुई थीं। कुएँ दो-तीन साधु बैठे हुए गाँजे के दम लगा रहे थे। अन्दर गई तो आँगन में कई गायें और भैंसें बँधी हुई थीं। बछरे कुलेलें कर रहे थे। नौ बज गये थे। एक तरफ़ दही बिलोया जा रहा था। दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी हाँडियों में दूध गरम हो रहा था, चारों तरफ़ बरामदों में खूँटियों पर पिंजरे लटके हुए थे। उनमें तरह-तरह की चिड़ियाँ पली हुई थीं। एक किनारे एक हिरन का बच्चा कटोरी में दूध पी रहा था। गुजराती मुझे देखते ही टूटकर गले मिली। उसके जिस्म पर एक जेवर भी न था। गले में कंठी थी और कलाइयों में चाँदी की चूड़ियाँ। मगर चेहरा फूल की तरह शगुफ़्ता था। बड़ी-बड़ी आँखों से रूहानियत टपक रही थी। ताज़ियत के (शोक के) अल्फ़ाज़ होंठों पर आकर रुक गये थे। उसने मेरे दुविधे का सही अन्दाज़ा करके खुद ही पहल की और बोली, "आओ बहन जी। तुमसे मिलने को बहुत जी चाहता था। बड़ी राह दिखायी। घर पर तो सब कुशल है ? बच्चे अच्छी तरह हैं ?"

मैंने कहा, "तुम्हारे यहाँ तो एक पूरा गौशाला खुल गया है।"

गुजराती, "हाँ, यह गाँवों के बच्चों का गौशाला है। ज़िन्दगी में आदमी को कुछ न कुछ काम तो करना ही चाहिए। यह सब दूध गाँव भर के लड़कों को पिलाती हूँ। कभी-कभी साधु-सन्त लोग आ जाते हैं। इन्हें कुछ दे देती हूँ। चिड़ियाँ दिल बहलाने के लिए पाल रखी हैं। इन्हीं जानवरों के रखरखाव में दिन कट जाता है। बहनजी, तुमसे परदा नहीं करती। मुझसे तो निराश होकर रोया नहीं जाता और क्यों रोऊँ ? पहले अकेले सत्यदेव के लिए सब-कुछ करती थी, अब गाँव भर के बच्चों के लिए करती हूँ। जब सब बच्चे आ-आकर अपना-अपना हिस्सा दूध पीने लगते हैं तो मुझे जितना आनन्द मिलता है, वह तुमसे कह नहीं सकती। सत्यदेव यहाँ रहता तो यह सुख मुझे कहाँ मयस्सर होता ? कभी-कभी बुराई में भी भलाई हो जाती है। गाँव के लोग चारा-भूसा दे देते हैं। मुझे बैठे-बिठाए सनेत में जस मिलता है। बस एक यही लालसा और है कि गाँव में एक छोटी-सी धरमशाला बन जाय। मुझे आठों पहर इसकी चिन्ता रहती है। देखें भगवान कब तक यह मुराद पूरी करते हैं। मरने से पहले इतना काम और हो जाता तो मेरा जीवन सफल

हो जाता। तुम्हें भी मेरी कुछ-न-कुछ मदद करनी पड़ेगी।''

कितनी हिम्मत आला थी, कितना पाकीज़ा जोशे-ख़ैर (उपकार का उत्साह)। मैं इसकी जगह पर होती तो या तो रो-रोकर मर ही जाती या ज़िन्दा भी रहती तो मुरदा से बदतर। बोली, ''हाँ, हाँ, तुम काम शुरू करो। मुझसे जो कुछ हो सकेगा, मैं इसमें दरेज़ न करूँगी। तुम्हारी हिम्मत को धन्य है कि अकेली जान पर इतनी बलाएँ उठा रखी हैं। इतने सबाब (पुण्य) का बोझ लेकर कैसे स्वर्ग में जाओगी ?''

6

थोड़े ही दिनों में गुजराती ने धर्मशाला की तामीर शुरू करा दी, कुर्बोजुवार के ज़मींदारों और महाजनों ने मदद की। काम चल निकला और चन्द माह में एक पुख़्ता दो-मंजला इमारत खड़ी हो गई, जिसमें पचास आदमी बआसाइश (आराम से) ठहर सकते थे। मगर इधर तो धर्मशाला बन रही थी, उधर गुजराती पर फालिज का हमला हुआ। शबाना-रोज़ (रात-दिन) की मसरूफ़ियत बलाए-जान हो गयी। साल भर तक इलाज होता रहा। बचने की कोई उम्मीद न थी। सारा ज़िस्म माऊफ़ (विकृत) हो गया था, लेकिन हयात बाक़ी थी। जान बच गयी। हाँ, दोनों हाथ बेकार हो गये, और आँखों की बीनाई भी जाती रही। गोशाला तबाह हो गयी। चश्माए-फ़ैज़ (दया-स्रोत) खुश्क हो गया। चिड़ियाँ बन्द क़ैद से आज़ाद हो गयीं। कुत्ते और बिल्लियाँ, हिरन और नेवले आवारागर्द हो गये। एक बार फिर लहलहाता हुआ बाग वीरान हो गया। मैं भी पर्सशे हाल (हाल-चाल-पूछने) के लिए गुजराती के पास पहुँची। उसकी बिलकुल काया ही पलट गयी थी। बदन तार-तार, चेहरा ज़र्द, सर के बाल खाल-खाल रह गए थे, जैसे किसी ने पौधे की टहनियाँ और पत्ते तोड़ लिए हों, सिर्फ ठूँठ ही बाक़ी रह गया हो। दोनों आँखें बैठ गई थीं। मैं इसकी हालत देखकर रो पड़ी। गुजराती ने कहा, ''बहनजी, तुम खूब आयीं। भेंट हो गई। कौन जाने, अब मिलना बदा है या नहीं। अब थोड़े ही दिनों की मेहमान हूँ। इतना करना कि धरमसाला बना रहे और हर साल इसकी मरम्मत होती जाय।''

मैंने तशफ़्फ़ी (सान्त्वना) देते हुए कहा, ''इसकी तरफ़ से तुम बेफ़िक्र रहो। मैं इसके लिए इसी मौजाँ का एक हिस्सा वक़्फ़ (दान) कर दूँगी। अब तो यहाँ अकेले पड़े-पड़े तुम्हारी तबियत घबराती होगी। कोई तिमारदारी करने वाला भी नहीं। क्यों न मेरे साथ चलो। वहाँ बाल-बच्चों में जी बहलता रहेगा। मैं खुद तुम्हारी खिदमत में हाज़िर रहूँगी। कोई तकलीफ़ न होगी।''

गुजराती ने रूखी हँसी हँसकर कहा, ''जो काम ज़िन्दगी भर न किया, वह अब करूँ, तन पालूँ ?''

मैंने कुछ आजुर्दा-ख़ातिर (दुःखित) होकर कहा, ''इसमें तन पालने की कौन बात है। तुम्हारा इस हालत में पड़ा रहना मुझसे नहीं देखा जाता।''

गुजराती कुछ जवाब न देने पाई थी कि चार पाँच औरतें घूँघट निकाले हुए आ गयीं और बोलीं, ''बुआजी, आज तो बाल-काण्ड (रामायण का एक बाब 'अध्याय') होगा न। थोड़ा ही तो रह गया है। इसे आज समाप्त (खत्म) कर दीजिए।''

गुजराती ने ताक़ की तरफ़ इशारा करके कहा, "हाँ, आज हो जायगा। रामायण उतार लो।"

एक औरत ने रामायण उतार ली और एक-एक चौपाई पढ़ने लगी। गुजराती उसके मतलब समझाती जाती थी। मुझे अब तक न मालूम था कि गुजराती ने इतनी इस्तेदाद (योग्यता) बहम पहुँचा ली है। ग़ौर से सुनने लगी।

डेढ़-दो घण्टे तक रामायण की कथा होती रही। अभी ये औरतें बैठी ही थीं कि गाँव की कई लड़कियाँ आ गयीं। गुजराती इन्हें पढ़ाने में मसरूफ़ हो गयी और दोपहर तक यह शुग़ल जारी रहा। इसी दौरान में कई औरतें अपने बच्चों को दिखाने भी आयीं। गुजराती इन्हें देख-देखकर दवाएँ देती जाती थीं। साधु-सन्तों के फ़ैज़े-सोहबत (सत्संग) से इसे इस फ़न में मलका (महारत) हो गया था।

जब तख़्लिया (एकान्त) हो गया तो गुजराती ने मुझसे कहा, "तुम्हारे साथ चलूँ तो यह सब काम कौन करेगा ? पड़े-पड़े आराम से खाने में यह सुख कहाँ मिल सकता है ?"

मैंने इसकी तरफ़ माज़िरत (विवशता) की निगाहों से देखकर कहा, "मैं न जानती थी कि इस हालत में भी तुमने इतने पाँव फैला रखे हैं।"

गुजराती बोली, "क्या करूँ बहन जी, मुझसे अपाहजों की तरह नहीं रहा जाता। मुझे इन कामों में जितना सुख मिलता है, वह सोने और खाने में कभी नहीं मिल सकता। मेरा तो जी उक्ता जाय। न जाने कैसे लोग इस तरह रहते हैं।"

मेरी आँखें खुल गयीं। ज़िन्दगी का कैसा आला मेयार है। बेशक यही ज़िन्दादिली रूहे-हयात है जो सानिहाल (मुसीबतों) की परवा नहीं करती। जो नेरंगिए-ज़माना (काल-चक्र) से बेअसर, हरएक हालात में, रवाँ हो, कितनी ही ख़राब क्यों न हो, ख़िदमत और ऐशार (बलिदान) के रास्ते निकाल लेती है। नहीं, बल्कि हरएक पहलू से बड़ी मुसीबत में इसके जौहर खिलते जाते हैं। ज़माना इसे जितना ही पामाल करने (रौंदने) की कोशिश करता है, उतनी ही उसकी हिम्मत मज़बूत होती जाती है, उतनी ही उसकी निगाहें बशीतर और इरादे ज़्यादा बुलन्द होते जाते हैं, जैसे कोई असील (उत्तम) घोड़ा मेहमज़ (जूते की एड़ में लगी कील) की चोट खाकर और भी तरारे भरने लगता है।

गुजराती अभी ज़िन्दा है और मेरा मौज़ा इसी तरह उसकी जात से फ़ैज (उपकार) पा रहा है।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना' में जनवरी, 1921 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1 में संकलित।]

विषम समस्या

मेरे दफ्तर में चार चपरासी थे, उनमें एक का नाम गरीब था। बहुत ही सीधा, बड़ा आज्ञाकारी, अपने काम में चौकस रहनेवाला, घुड़कियाँ खाकर चुप रह जानेवाला यथा नाम तथा गुण, गरीब मनुष्य था। मुझे इस दफ्तर में आये साल भर हो गया था, मगर मैंने उसे

एक दिन के लिए भी गैरहाजिर नहीं पाया था। मैं उसे नौ बजे दफ्तर में अपनी दरी पर बैठे हुए देखने का ऐसा आदी हो गया था, मानो वह भी इस इमारत का कोई अंग है। इतना सरल है कि किसी की बात टालना जानता ही न था। एक चपरासी मुसलमान था। उससे सारा दफ्तर डरता था, मालूम नहीं क्यों ? मुझे तो इसका कारण सिवाय उसकी बड़ी-बड़ी बातों के और कुछ नहीं मालूम होता था। उसके कथनानुसार उसके चचेरे भाई रामपुर रियासत में कोतवाल थे। उसे सर्वसम्मति ने 'काजी-साहेब' की उपाधि दे रखी थी, शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण थे। उनके आशीर्वाद का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक था। ये तीनों कामचोर, गुस्ताख और आलसी थे। कोई छोटा-सा भी काम करने को कहिए तो बिना नाक-भौं सिकोड़े न करते थे। क्लर्कों को तो कुछ समझते ही न थे ! केवल बड़े बाबू से कुछ डरते; यद्यपि कभी-कभी उनसे भी बेअदबी कर बैठते थे। मगर इन सब दुर्गुणों के होते हुए भी दफ्तर में किसी की मिट्टी इतनी खराब नहीं थी, जितनी बेचारे गरीब की। तरक्की का अवसर आता तो ये तीनों नम्बर मार ले जाते, गरीब को कोई पूछता भी न था। और सब दस-दस रुपये पाते थे, पर बेचारा गरीब सात पर ही पड़ा हुआ था। सुबह से शाम तक उसके पैर एक क्षण के लिए भी नहीं टिकते थे। यहाँ तक कि तीनों चपरासी भी उस पर क्रोध जताते और ऊपर की आमदनी में उसे कोई भाग न देते थे। तिस पर भी दफ्तर के सब कर्मचारी से लेकर बड़े बाबू तक उससे चिढ़ते थे। उसको कितनी ही बार जुर्माना हो चुका था और डाँट-फटकार तो नित्य का व्यवहार था। इसका रहस्य मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। मुझे उस पर दया आती थी और अपने बर्ताव से मैं यह दिखाना चाहता था कि उसका आदर मेरी दृष्टि में अन्य तीनों चपरासियों से कम नहीं है। यहाँ तक कि कई बार मैं उसके पीछे कर्मचारियों से लड़ भी चुका था।

2

एक दिन बड़े बाबू ने गरीब से अपनी मेज साफ करने को कहा, वह तुरंत मेज साफ करने लगा। दैवयोग से झाड़न का झटका लगा तो दावात उलट गयी और रोशनाई मेज पर फैल गयी। बड़े बाबू यह देखते ही जामे से बाहर हो गये। उसके दोनों कान पकड़कर खूब ऐंठे और भारतवर्ष की सभी प्रचलित भाषाओं से दुर्वचन चुन-चुनकर उसे सुनाने लगे। बेचारा गरीब आँखों में आँसू भरे चुपचाप मूर्तिवत सुनता था, मानो उसने कोई हत्या कर डाली हो। मुझे बड़े बाबू का जरा-सी बात पर इतना भयंकर रौद्ररूप धारण करना बुरा मालूम हुआ। यदि किसी दूसरे चपरासी ने उससे भी बड़ा अपराध किया होता तो भी उस पर इतना कठोर वज्र प्रहार न होता। मैंने अँग्रेजी में कहा—बाबू साहब, यह अन्याय कर रहे हैं, उसने जान-बूझ कर तो रोशनाई गिरायी नहीं। इसका इतना कड़ा दंड देना अनौचित्य की पराकाष्ठा है।

बाबू जी ने नम्रता से कहा—"आप इसे जानते नहीं, यह बड़ा दुष्ट है।"

"मैं तो इसकी कोई दुष्टता नहीं देखता।"

"आप अभी इसे जाने नहीं। यह बड़ा पाजी है। इसके घर में दो हलों की खेती होती है, हजारों का लेन-देन करता है, कई भैंसें लगती हैं, इन बातों का इसे घमंड है।"

"घर की दशा ऐसी ही होती तो आपके यहाँ चपरासीगिरी क्यों करता ?"

बड़े बाबू ने गम्भीर भाव से कहा—विश्वास मानिए, बड़ा पोढ़ा आदमी है, और बला का मक्खीचूस है।

"यदि ऐसा ही हो तो भी कोई अपराध नहीं है।"

"अभी आप यहाँ कुछ दिन और रहिए तो आपको मालूम हो जायगा कि यह कितना कमीना आदमी है।"

एक दूसरे महाशय बोल उठे—भाई साहब, इसके घर मनों दूध होता है, मनों जुआर, चना, मटर होती है, लेकिन इसकी कभी इतनी हिम्मत नहीं होती कि थोड़ा-सा दफ्तरवालों को भी दे दे। यहाँ इन चीजों के लिए तरस-तरस कर रह जाते हैं। तो फिर क्यों न जी जले और यह सब कुछ इसी नौकरी के बदौलत हुआ है नहीं तो पहले इसके घर में भूनी भाँग तक न थी।

बड़े बाबू सकुचा कर बोले—यह कोई बात नहीं। उसकी चीज है चाहे किसी को दे या न दे।

मैं इसका मर्म कुछ-कुछ समझ गया। बोला—यदि ऐसे तुच्छ हृदय का आदमी है तो वास्तव में पशु ही है। मैं यह न जानता था।

अब बड़े बाबू भी खुले, संकोच दूर हुआ। बोले—इन बातों से उबार तो होता नहीं, केवल देनेवाले की सहृदयता प्रकट होती है और आशा भी उसी से की जाती है जो इस योग्य है। जिसमें कुछ सामर्थ्य ही नहीं उससे कोई आशा भी नहीं करता। नंगे से कोई क्या लेगा?

रहस्य खुल गया। बड़े बाबू ने सरल भाव से सारी अवस्था दर्शा दी। समृद्धि के शत्रु सब होते हैं, छोटे ही नहीं, बड़े भी। हमारी ससुराल या ननिहाल दरिद्र हो तो हम उससे कोई आशा नहीं रखते। कदाचित् हम उसे भूल जाते हैं, किंतु वे सामर्थवान हो कर हमें न पूछें, हमारे यहाँ तीज और चौथ न भेजें तो हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगता है।

हम अपने किसी निर्धन मित्र के पास जायें तो उसके एक बीड़े पान ही पर संतुष्ट हो जाते हैं, पर ऐसा कौन मनुष्य है जो किसी धनी मित्र के घर से बिना जलपान किये हुए लौटे और सदा के लिए उसका तिरस्कार न करने लगे। सुदामा कृष्ण के घर से यदि निराश लौटते तो कदाचित् वे उनके शिशुपाल और जरासंध से भी बड़े शत्रु होते।

3

कई दिन पीछे मैंने गरीब से पूछा—क्यों जी, तुम्हारे घर कुछ खेती-बारी होती है ?

गरीब ने दीनभाव से कहा—हाँ सरकार, होती है, आप के दो गुलाम हैं। वही करते हैं।

मैंने पूछा—गायें-भैंसे लगती हैं ?

"हाँ हुजूर, दो भैंसे लगती हैं ? गाय अभी गाभिन है। आप लोगों की दया से पेट की रोटियाँ चल जाती हैं।"

"दफ्तर के बाबू लोगों की भी कभी कुछ खातिर करते हो ?"

गरीब ने दीनतापूर्ण आश्चर्य से कहा—हुजूर, मैं सरकार लोगों की क्या खातिर कर सकता हूँ। खेती में जौ, चना, मक्का, जुवार, घासपात की सिवाय और क्या होता है ! आप लोग राजा हैं, यह मोटी-झोटी चीजें किस मुँह से आपको भेंट करूँ। जी डरता है कि कहीं कोई डाँट न बैठे, कि टके से आदमी की इतनी मजाल ! इसी मारे बाबू जी कभी हियाव

नहीं पड़ता। नहीं तो दूध-दही की कौन बिसात थी। मुँह के लायक बीड़ा तो होना चाहिए।

"भला एक दिन कुछ लाके दो तो; देखो लोग क्या कहते हैं। शहर में ये चीजें कहाँ मुयस्सर होती हैं। इन लोगों का जी भी तो कभी-कभी मोटी-झोटी चीजों पर चला करता है।"

"जो सरकार कोई कुछ कहे तो ? कहीं साहब से शिकायत कर दें तो मैं कहीं का न रहूँ।"

इसका मेरा जिम्मा है, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा, कोई कुछ कहेगा भी; तो मैं समझा दूँगा।'

हुजूर आजकल तो मटर की फसिल है और कोल्हू भी खड़े हो गये हैं। इसके सिवाय तो और कुछ भी नहीं है।"

"बस तो यही चीजें लाओ।"

"कुछ उल्टी-सीधी पड़ी तो आप ही को सँभालना पड़ेगा।"

दूसरे दिन गरीब आया तो उसके साथ तीन हृष्ट-पुष्ट युवक भी थे। दो के सिरों पर दो टोकरियाँ थीं। उनमें मटर की फलियाँ भरी हुई थीं। एक के सिर पर मटका था जिसमें ऊख का रस था। तीनों युवक ऊख का एक-एक गट्ठा काँख में दबाये हुए थे। गरीब आ कर चुपके से बरामदे के सामने पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। दफ्तर में उसे आने का साहस नहीं होता था मानो कोई अपराधी है। वृक्ष के नीचे खड़ा ही था कि इतने में दफ्तर के चपरासियों और अन्य कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। कोई ऊख ले कर चूसने लगा। कई आदमी टोकरों पर टूट पड़े। इतने में बड़े बाबू भी दफ्तर में आ पहुँचे। यह कौतुक देख कर उच्च स्वर से बोले—यह क्या भीड़ लगा रखी है ! चलो अपना-अपना काम देखो।

मैंने जा कर उनके कान में कहा—गरीब अपने घर से यह सौगात लाया है, कुछ आप लीजिए, कुछ हम लोगों को बाँट दीजिए।

बड़े बाबू ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा—क्यों गरीब, तुम यह चीजें यहाँ क्यों लाये ? अभी लौटा ले जाओ, नहीं तो मैं अभी साहब से कह दूँगा। क्या हम लोगों को मरभुख समझ लिया ?

गरीब का रंग उड़ गया। थर-थर काँपने लगा। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। मेरी ओर अपराधी नेत्रों से ताकने लगा।

मैंने उसकी ओर से क्षमा-प्रार्थना की। बहुत कहने-सुनने पर बाबू साहब राजी हुए। अब चीजों में से आधी अपने घर भिजवायीं, आधी में अन्य लोगों के हिस्से लगाये। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त हुआ।

4

अब दफ्तर में गरीब का मान होने लगा। उसे नित्य घुड़कियाँ न मिलतीं। दिन भर दौड़ना न पड़ता। कर्मचारियों के व्यंग्य और अपने सहवर्गियों के कटु वाक्य न सुनने पड़ते। चपरासी लोग स्वयं उसका काम कर देते। उसके नाम में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। वह गरीब से गरीबदास बना। स्वभाव में भी कुछ तबदीली पैदा हुई। दीनता की जगह आत्म-गौरव का उद्भव हुआ। तत्परता की जगह आलस्य ने ली। वह अब कभी-कभी देर में दफ्तर आता। कभी-कभी बीमारी का बहाना करके घर बैठ रहता। उसके सभी अपराध

अब क्षम्य थे। उसे अपनी प्रतिष्ठा का गुर हाथ लग गया। वह अब दसवें-पाँचवें दिन दूध, दही आदि ला कर बड़े बाबू को भेंट किया करता। वह देवता को संतुष्ट करना सीख गया। सरलता के बदले अब उसमें काइयाँपन आ गया। एक रोज बड़े बाबू ने उसे सरकारी फार्मों का पार्सल छुड़ाने के लिए स्टेशन भेजा। कई बड़े-बड़े पुलिंदे थे, ठेले पर आये। गरीब ने ठेलेवालों से बारह आना मजदूरी तय की थी। जब कागज दफ्तर में पहुँच गये तो उसने बाबू से बारह आने पैसे ठेलेवालों को देने के लिए वसूल किये। लेकिन दफ्तर से कुछ दूर जा कर उसकी नीयत बदली, अपनी दस्तूरी माँगने लगा, ठेलेवाले राजी न हुए। इस पर गरीब ने बिगड़ कर सब पैसे जेब में रख लिये और धमका कर बोला—अब एक फूटी कौड़ी न दूँगा, जाओ जहाँ चाहो फरियाद करो। देखें हमारा क्या बना लेते हो।

ठेलेवालों ने जब देखा कि भेंट न देने से जमा ही गायब हुई जाती है तो रो-धोकर चार आने पैसे देने को राजी हुए। गरीब ने अठन्नी उनके हवाले की और बारह आने की रसीद लिखवा कर उनके अँगूठों के निशान लगवाये और रसीद दफ्तर में दाखिल हो गयी।

वह कौतूहल देखकर मैं दंग रह गया। यह वही गरीब है जो कई महीने पहले सत्यता और दीनता की मूर्ति था। जिसे कभी अन्य चपरासियों से भी अपने हिस्से की रकम माँगने का साहस न होता ! दूसरों को खिलाना भी न जानता था, खाने की जिक्र ही क्या। मुझे यह स्वभावांतर देख कर अत्यन्त खेद हुआ। इसका उत्तरदायित्व किसके सिर था—मेरे सिर। मैंने उसे धूर्तता का पहला पाठ पढ़ाया था। मेरे चित्त में प्रश्न उठा, इस काइयाँपन से, जो दूसरों का गला दबाता है, वह भोलापन क्या बुरा था, जो दूसरों का अन्याय सह लेता था। वह अशुभ मुहूर्त था जब उसे मैंने प्रतिष्ठा-प्राप्ति का मार्ग दिखाया, क्योंकि वास्तव में वह उसके पतन का भयंकर मार्ग था। मैंने बाह्य प्रतिष्ठा पर उसकी आत्म-प्रतिष्ठा का बलिदान कर दिया।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। हिन्दी मासिक पत्रिका 'प्रभा', जनवरी, 1921 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'मानसरोवर' भाग-8 में 'विषम समस्या' शीर्षक से संकलित। इसी कहानी को 'समस्या' शीर्षक से मानसरोवर भाग-4 में संकलित किया गया है। उर्दू रूप 'मुअम्मा' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', मार्च, 1921 में प्रकाशित।]

विचित्र होली

होली का दिन था; मिस्टर ए.बी. क्रास शिकार खेलने गये हुए थे। साईस, अर्दली, मेहतर, भिश्ती, ग्वाला, धोबी सब होली मना रहे थे। सबों ने साहब के जाते ही खूब गहरी भंग चढ़ायी थी और इस समय बगीचे में बैठे हुए होली, फाग गा रहे थे। पर रह-रह कर बँगले के फाटक की तरफ झाँक लेते थे कि साहब आ तो नहीं रहे हैं। इतने में शेख नूरअली आ कर सामने खड़े हो गये।

साईस ने पूछा—कहो खानसामाजी, साहब कब आयेंगे ?

नूरअली बोला—उसका जब जी चाहे आये, मेरा आज इस्तीफा है। अब इसकी नौकरी न करूँगा।

अर्दली ने कहा—ऐसी नौकरी फिर न पाओगे। चार पैसे ऊपर की आमदनी है। नाहक छोड़ते हो।

नूरअली—अजी, लानत भेजो ! अब मुझसे गुलामी न होगी। यह हमें जूतों से ठुकरायें और हम इनकी गुलामी करें ! आज यहाँ से डेरा कूच है। आओ, तुम लोगों की दावत करूँ। चले आओ कमरे में आराम से मेज पर डट जाओ, वह बोतलें पिलाऊँ कि जिगर ठंडा हो जाय।

साईस—और जो कहीं साहब आ जायँ ?

नूरअली—वह अभी नहीं आने का। चले आओ।

साहबों के नौकर प्रायः शराबी होते हैं। जिस दिन से साहब के यहाँ गुलामी लिखायी, उसी दिन से यह बला उनके सिर पड़ जाती है। जब मालिक स्वयं बोतल-की-बोतल उँड़ेल जाता हो, तो भला नौकर क्यों चूकने लगे। यह निमंत्रण पा कर सब-के-सब खिल उठे। भंग का नशा चढ़ा ही हुआ था। ढोल-मंजीरे छोड़-छाड़ कर नूरअली के साथ चले और साहब के खाने के कमरे में कुर्सियों पर आ बैठे। नूरअली ने ह्स्किी की बोतल खोलकर ग्लास भरे और चारों ने चढ़ाना शुरू कर दिया। ठर्रा पीनेवाले ने जब यह मजेदार चीजें पायीं तो ग्लास लुढ़काने लगे। खानसामा भी उत्तेजित करता जाता था। जरा देर में सबों के सिर फिर गये। भय जाता रहा। एक ने होली छेड़ी, दूसरे ने सुर मिलाया। गाना होने लगा। नूरअली ने ढोल-मजीरा ला कर रख दिया। वहीं मजलिस जम गयी। गाते-गाते एक उठ कर नाचने लगा। दूसरा उठा। यहाँ तक कि सब-के-सब कमरे में चौकड़ियाँ भरने लगे। हू-हक मचने लगा। कबीर, फाग, चौताल, गाली-गलौज, मार-पीट बारी-बारी सबका नम्बर आया। सब ऐसे निडर हो गये थे, मानो अपने घर में हैं। कुर्सियाँ उलट गयीं। दीवारों पर की तसवीरें टूट गयीं। एक ने मेज उलट दी। दूसरे ने रिकाबियों को गेंद बना कर उछालना शुरू किया।

यहाँ यही हंगामा मचा हुआ था कि शहर के रईस लाला उजागरमल का आगमन हुआ। उन्होंने यह कौतुक देखा तो चकराये। खानसामा से पूछा—यह क्या गोलमाल है शेखजी, साहब देखेंगे तो क्या कहेंगे ?

नूरअली—साहब का हुक्म ही ऐसा है तो क्या करें। आज उन्होंने अपने नौकरों की दावत की है, उनसे होली खेलने को भी कहा है। सुनते हैं, लाट साहब के यहाँ से हुक्म आया है कि रिआया के साथ खूब रब्त-जब्त रखो, उनके त्योहारों में शरीक हो। तभी तो यह हुक्म दिया है, नहीं तो इनके मिज़ाज ही न मिलते थे। आइए, तशरीफ रखिए। निकालूँ कोई मजेदार चीज ! अभी हाल में विलायत से पारसल आया है।

राय उजागरमल बड़े उदार विचारों के मनुष्य थे। अँग्रेजी दावतों में बेधड़क शरीक होते थे, रहन-सहन भी अंग्रेजी ही था और यूनियन क्लब के तो वह एकमात्र कर्त्ता ही थे, अँग्रेजों से उनकी खूब छनती है और मिस्टर क्रास तो उनके परम मित्र ही थे। जिलाधीश से, चाहे वह कोई हो, सदैव उनकी घनिष्ठता रहती थी। नूरअली की बातें सुनते ही एक कुर्सी पर बैठ गये और बोले—अच्छा ! यह बात है ? हाँ, तो फिर निकालो कोई मजेदार चीज़ ! कुछ ग़जल भी हो।

नूरअली—हजूर, आपके लिए सब-कुछ हाजिर है।

लाला साहब कुछ तो घर ही से पीकर चले थे, यहाँ कई ग्लास चढ़ाये तो ज़बान लड़खड़ाते हुए बोले—क्यों नूरअली, आज साहब होली खेलेंगे ?

नूरअली—जी हाँ।

उजागर.—लेकिन मैं रंग-वंग तो लाया नहीं। भेजो चटपट किसी को मेरी कोठी से रंग-पिचकारी वगैरह लाये। (साईस से) क्यों घसीटे, आज तो बड़ी बहार है।

घसीटे—बड़ी बहार है, बहार है, होली है !

उजागर.—(गाते हुए) आज साहब के साथ मेरी होली मचेगी, आज साहब के साथ मेरी होली मचेगी, खूब पिचकारी चलाऊँगा।

घसीटे—खूब अबीर लगाऊँ।

ग्वाला—खूब गुलाल उड़ाऊँगा।

धोबी—बोतल-पर-बोतल चढ़ाऊँगा।

अरदली—खूब कबीरे सुनाऊँगा।

उजागर.—आज साहब के साथ मेरी होली मचेगी।

नूरअली—अच्छा, सब लोग सँभल जाओ। साहब का मोटर आ रहा है। सेठजी, यह लीजिए मैं दौड़ कर रंग-पिचकारी लाया, बस एक चौताल छेड़ दीजिए और जैसे ही साहब कमरे में आयें, उन पर पिचकारी छोड़िए और (दूसरे से) तुम लोग भी उनके मुँह में गुलाल मलो साहब मारे खुशी के फूल जायेंगे। वह लो, मोटर हाते में आ गया। होशियार !

2

मिस्टर क्रास अपनी बंदूक हाथ में लिये मोटर से उतरे और लगे आदमियों को बुलाने; पर वहाँ तो ज़ोरों से चौताल हो रहा था, सुनता कौन है। चकराये, यह मामला क्या है। क्या सब मेरे बँगले में गा रहे हैं ? क्रोध से भरे हुए बँगले में दाखिल हुए तो डाइनिंगरूम (भोजन करने के कमरे में) से गाने की आवाज आ रही थी। अब क्या था? जामे से बाहर हो गये। चेहरा विकृत हो गया। हंटर उतार लिया और डाइनिंगरूम की ओर चले; लेकिन अभी तक एक कदम दरवाजे के बाहर ही था कि सेठ उजागरमल ने पिचकारी छोड़ी। सारे कपड़े तर हो गये। आँखों में भी रंग घुस गया। आँखें पोंछ ही रहे थे कि साईस, ग्वाला सब-के-सब दौड़े और साहब को पकड़ कर उनके मुँह में रंग मलने लगे। धोबी ने तेल और कालिख का पाउडर लगा दिया ! साहब के क्रोध की सीमा न रही, हंटर लेकर सबों को अंधाधुंध पीटने लगा। बेचारे सोचे हुए थे कि साहब खुश हो कर इनाम देंगे। हंटर पड़े तो नशा हिरन हो गया। कोई इधर भागा, कोई उधर। सेठ उजागरमल ने यह रंग देखा तो ताड़ गये कि नूरअली ने झाँसा दिया। एक कोने में दबक रहे। जब कमरा नौकरों से खाली हो गया, तो साहब उनकी ओर बढ़े। लाला साहब के होश उड़ गये। तेज़ी से कमरे के बाहर निकले और सिर पर पैर रख कर बेतहाशा भागे। साहब उनके पीछे दौड़े। सेठजी की फिटन फाटक पर खड़ी थी। घोड़े ने धम-धम खटपट सुनी तो चौंका। कनौतियाँ खड़ी कीं और फिटन को लेकर भागा। विचित्र दृश्य था। आगे-आगे फिटन, उसके पीछे सेठ उजागरमल, उनके पीछे हंटरधारी मिस्टर क्रास। तीनों बगटुट दौड़े चले जाते थे। सेठजी एक बार ठोकर खा कर गिरे, पर साहब के पहुँचते-पहुँचते सँभलकर उठे। हाते के बाहर सड़क तक घुड़दौड़ रही।

अंत में साहब रुक गये। मुँह में कालिख लगाये अब और आगे जाना हास्यजनक मालूम हुआ। यह विचार भी हुआ कि सेठजी को काफ़ी सजा मिल चुकी। अपने नौकरों की खबर लेना भी जरूरी था। लौट गये। सेठ उजागरमल के जान में जान आयी। बैठ कर हाँफ़ने लगे। घोड़ा भी ठिठक गया। कोचवान ने उतर कर उन्हें सँभाला और गोद में उठा कर गाड़ी पर बैठा दिया।

3

लाला उजागरमल शहर सहयोगी समाज के नेता थे। उन्हें अँग्रेजों की भावी शुभकामनाओं पर पूर्णविश्वास था। अँग्रेजी राज्य की तामीली, माली और मुल्की तरक्की के राग गाते रहते थे। अपनी वक्तृताओं में सहयोगियों को खूब फटकारा करते थे। अँग्रेजों में इधर उनका आदर-सम्मान विशेष रूप से होने लगा था। कई बड़े-बड़े ठेके, जो पहले अंग्रेज ठेकेदारों ही को मिला करते थे उन्हें दिये गये थे। सहयोग ने उनके मान और धन को खूब बढ़ाया था, अतएव मुँह से चाहे वह असहयोग की कितनी ही निन्दा करें, पर मन में उसकी उन्नति चाहते थे। उन्हें यक़ीन था कि असहयोग एक हवा है, जब तक चलती रहे उसमें अपने गीले कपड़े सुखा लें। वह असहयोगियों के कृत्यों का खूब बढ़ा-बढ़ा कर बयान किया करते थे, और अधिकारियों के कृत्यों को इन गढ़ी हुई बातों पर विश्वास करते देख कर दिल में उन पर खूब हँसते थे। ज्यों-ज्यों सम्मान बढ़ता था, उनका आत्माभिमान भी बढ़ता था। वह अब पहले की भाँति भीरु न थे। गाड़ी पर बैठे और ज़रा साँस फूलना बंद हुआ, तो इस घटना की विवेचना करने लगे। अवश्य नूरअली ने मुझे धोखा दिया, उसकी असहयोगियों से भी मिली भगत है। यह लोग होली नहीं खेलते तो इनका इतना क्रोधोन्मत्त होना इसके सिवाय और क्या बतलाता है कि हमें यह लोग कुत्तों से बेहतर नहीं समझते। इनको अपने प्रभुत्व का कितना घमंड है ! यह मेरे पीछे हंटर लेकर दौड़े ! अब विदित हुआ कि यह जो मेरा थोड़ा-बहुत सम्मान करते थे, वह केवल धोखा था। मन में यह हमें अब नीच और कमीना समझते हैं, लाल रंग कोई बाण नहीं था। हम बड़े दिनों में गिरजे जाते हैं, इन्हें डालियाँ देते हैं। वह हमारा त्योहार नहीं है। पर, यह जरा-सा रंग छोड़ देने पर इतना बिगड़ उठा ! हा ! इतना अपमान ! मुझे उसके सामने ताल ठोक कर खड़ा हो जाना चाहिए था। भागना कायरता थी। इसी से यह सब शेर हो जाते हैं। कोई संदेह नहीं कि यह सब हमें मिला कर असहयोगियों को दबाना चाहते हैं। इनकी यह विनयशीलता और सज्जनता केवल अपना मतलब गाँठने के लिए है। इनकी निरंकुशता, इतना गर्व वही है, जरा भी अंतर नहीं।

सेठ जी के हृद्गत भावों ने उग्र रूप धारण किया। मेरी यह अधोगति ! अपने अपमान की याद रह-रह कर उनके चित्त को विह्वल कर रही थी। यह मेरे सहयोग का फल है। मैं इसी योग्य हूँ। मैं उनकी सौहार्दपूर्ण बातें सुन-सुन फूला न समाता था। मेरी मंदबुद्धि को इतना भी न सूझता था कि स्वाधीन और पराधीन में कोई मेल नहीं हो सकता। मैं असहयोगियों की उदासीनता पर हँसता था। अब मालूम हुआ कि वे हास्यास्पद नहीं हैं, मैं स्वयं निंदनीय हूँ।

वह अपने घर न जाकर सीधे कांग्रेस कमेटी के कार्यालय की ओर लपके। वहाँ पहुँचे

तो एक विराट सभा देखी। कमेटी ने शहर में छूत-अछूत, छोटे-बड़े, सबको होली का आनंद मनाने के लिए निमंत्रित किया। हिंदू-मुसलमान साथ-साथ बैठे हुए प्रेम से होली खेल रहे थे। फल-भोज का भी प्रबंध किया गया था। इस समय व्याख्यान हो रहा था। सेठ जी गाड़ी से तो उतरे, पर सभा स्थल में जाते संकोच होता था। ठिठकते हुए धीरे से जा कर एक ओर खड़े हो गये। उन्हें देख कर लोग चौंक पड़े। सब-के-सब विस्मित हो कर उनकी ओर ताकने लगे। यह खुशामदियों के आचार्य आज यहाँ कैसे भूल पड़े ? इन्हें तो किसी सहयोगी सभा में राज-भक्ति का प्रस्ताव पास करना चाहिए था। शायद भेद लेने आये हैं कि ये लोग क्या कर रहे हैं। उन्हें चिढ़ाने के लिए लोगों ने कहा—कांग्रेस की जय !

उजागरमल ने उच्च स्वर से कहा—असहयोग की जय !

फिर ध्वनि हुई—खुशामदियों की क्षय !

सेठ जी ने उच्च स्वर से कहा—जी हुजूरों की क्षय !

यह कह कर वह समस्त उपस्थित जनों को विस्मय में डालते हुए मंच पर जा पहुँचे और गम्भीर भाव से बोले—सज्जनो, मित्रो ! मैंने अब तक आपसे असहयोग किया था उसे क्षमा कीजिए। सच्चे दिल से आपसे क्षमा माँगता हूँ। मुझे घर का भेदी, जासूस या विभीषण न समझिए। आज मेरी आँखों के सामने से परदा हट गया। आज इस पवित्र प्रेममयी होली के दिन मैं आपसे प्रेमालिंगन करने आया हूँ। अपनी विशाल उदारता का आचरण कीजिए। आपसे द्रोह करने का आज मुझे दंड मिल गया। जिलाधीश ने आज मेरा घोर अपमान किया। मैं वहाँ से हंटरों की मार खा कर आपकी शरण आया हूँ। मैं देश का द्रोही था, जाति का शत्रु था। मैंने अपने स्वार्थ के वश, अपने अविश्वास के वश देश का बड़ा अहित किया, खूब काँटे बोये। उनका स्मरण करके ऐसा जी चाहता है कि हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर दूँ। ख एक आवाज—हाँ, अवश्य कर दीजिये, आपसे न बने तो मैं तैयार हूँ (प्रधान की आवाज)—यह कटु वाक्यों का अवसर नहीं है।, नहीं, आपको यह कष्ट उठाने की जरूरत नहीं, मैं स्वयं यह काम भली-भाँति कर सकता हूँ; पर अभी मुझे बहुत कुछ प्रायश्चित करना है, जाने कितने पापों की पूर्ति करनी है। आशा करता हूँ कि जीवन के बचे हुए दिन इसी प्रायश्चित करने में, यही मुँह की कालिमा धोने में काटूँ। आपसे केवल इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे आत्मसुधार का अवसर दीजिए। मुझ पर विश्वास कीजिए और मुझे अपना दीन सेवक समझिए। मैं आज से अपना तन, मन, धन सब आप पर अर्पण करता हूं।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी। 'स्वदेश', मार्च, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'अजीब होली' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित।]

प्रारब्ध

लाला जीवनदास को मृत्युशय्या पर पड़े छह मास हो गये हैं। अवस्था दिनोंदिन शोचनीय होती जाती है। चिकित्सा पर उन्हें अब जरा भी विश्वास नहीं रहा। केवल प्रारब्ध का ही भरोसा है। कोई हितैषी वैद्य या डॉक्टर का नाम लेता है तो मुँह फेर लेते हैं। उन्हें जीवन

की अब कोई आशा नहीं है। यहाँ तक कि अब उन्हें अपनी बीमारी के ज़िक्र से भी घृणा होती है। एक क्षण के लिए भूल जाना चाहते हैं कि मैं काल के मुख में हूँ। एक क्षण के लिए इस दुस्साध्य चिंता-भार को सिर से फेंक कर स्वाधीनता से साँस लेने के लिए उनका चित्त लालायित हो जाता है। उन्हें राजनीति से कभी रुचि नहीं रही। अपनी व्यक्तिगत चिंताओं ही में लीन रहते। लेकिन अब उन्हें राजनीतिक विषयों से विशेष प्रेम हो गया है। अपनी बीमारी की चर्चा के अतिरिक्त वह प्रत्येक विषय को शौक से सुनते हैं, किन्तु ज्योंही किसी ने सहानुभूति से किसी औषधि का नाम लिया कि उनकी त्योरी बदल जाती है। अंधकार में विलापध्वनि इतनी आशाजनक नहीं होती जितनी प्रकाश की एक झलक।

यह यथार्थवादी पुरुष थे। धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक की व्यवस्थाएँ उनकी विचार-परिधि से बाहर थीं। यहाँ तक कि अज्ञात भय से भी वे शंकित न होते थे। लेकिन उसका कारण उनकी मानसिक शिथिलता न थी, बल्कि लोकचिंता ने परलोक-चिंता का स्थान ही शेष न रखा था। उनका परिवार बहुत छोटा था, पत्नी थी और एक बालक। लेकिन स्वभाव उदार था, ऋण से बढ़ा रहता था। उस पर यह असाध्य और चिरकालीन रोग ने ऋण पर कई दर्जे की वृद्धि कर दी थी। मेरे पीछे निस्सहायों का क्या हाल होगा ? ये किसके सामने हाथ फैलायेंगे ? कौन इनकी खबर लेगा ? हाय ! मैंने विवाह क्यों किया? पारिवारिक बंधन में क्यों फँसा ? क्या इसलिए कि ये संसार के हिमतुल्य दया के पात्र बनें ? क्या अपने कुल की प्रतिष्ठा और सम्मान को यों विनष्ट होने दूँ ? जिस जीवनदास ने सारे नगर को अपनी अनुग्रह-दृष्टि से प्लावित कर दिया था उसी के पोते और बहू द्वार-द्वार ठोकरें खाते फिरें ? हाय, क्या होगा ? कोई अपना नहीं, चारों ओर भयावह वन है ! कहीं मार्ग का पता नहीं। यह सरल रमणी, यह अबोध बालक ! इन्हें किस पर छोड़ूँ ?

हम अपनी आन पर जान देते थे। हमने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया। किसी के ऋणी नहीं हुए। सदैव गर्दन उठा कर चले; और अब यह नौबत है कि कफ़न का भी ठिकाना नहीं !

2

आधी रात गुज़र चुकी। जीवनदास की हालत आज बहुत नाजुक थी। बार-बार मूर्च्छा आ जाती। बार-बार हृदय की गति रुक जाती। उन्हें ज्ञात होता था कि अब अन्त निकट है। कमरे में एक लैम्प जल रहा था। उनकी चारपाई के समीप ही प्रभावती और उसका बालक साथ सोए हुए थे। जीवनदास ने कमरे की दीवारों को निराशापूर्ण नेत्रों से देखा जैसे कोई भटका हुआ पथिक निवास-स्थान की खोज में हो ! चारों ओर से घूम कर उनकी आँखें प्रभावती के चेहरे पर जम गयीं। हा ! यह सुन्दरी एक क्षण में विधवा हो जायेगी ! यह बालक पितृहीन हो जायेगा। यही दोनों व्यक्ति मेरी जीवन-आशाओं के केन्द्र थे। मैंने जो कुछ किया, इन्हीं के लिए किया। मैंने अपना जीवन इन्हीं पर समर्पण कर दिया था और अब इन्हें मँझधार में छोड़े जाता हूँ। इसलिए कि वे विपत्ति भँवर के कौर बन जायँ। इन विचारों ने उनके हृदय को मसोस दिया। आँखों से आँसू बहने लगे।

अचानक उनके विचार-प्रवाह में एक विचित्र परिवर्तन हुआ। निराशा की जगह मुख पर एक दृढ़ संकल्प की आभा दिखायी दी, जैसे किसी गृहस्वामिनी की झिड़कियाँ सुन कर एक दीन भिक्षुक के तेवर बदल जाते हैं। नहीं, कदापि नहीं ! मैं अपने प्रिय पुत्र और अपनी प्राण-प्रिया पत्नी पर प्रारब्ध का अत्याचार न होने दूँगा। अपने कुल की मर्यादा को भ्रष्ट न होने दूँगा। अबला को जीवन की कठिन परीक्षा में न डालूँगा। मैं मर रहा हूँ, लेकिन प्रारब्ध के सामने सिर न झुकाऊँगा। उसका दास नहीं, स्वामी बनूँगा। अपनी नौका को निर्दय तरंगों के आश्रित न बनने दूँगा।

"निःसन्देह संसार मुँह बनायेगा। मुझे दुरात्मा, घातक नराधम कहेगा। इसलिए कि उसके पाशविक आमोद में, उसकी पैशाचिक क्रीड़ाओं में एक व्यवस्था कम हो जायगी। कोई चिन्ता नहीं, मुझे सन्तोष तो रहेगा कि उसका अत्याचार मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। उसकी अनर्थ लीला से मैं सुरक्षित हूँ।"

जीवनदास के मुख पर वर्णहीन संकल्प अंकित था। वह संकल्प जो आत्म-हत्या का सूचक है। वह बिछौने से उठे, मगर हाथ-पाँव थर-थर काँप रहे थे। कमरे की प्रत्येक वस्तु उन्हें आँखें फाड़-फाड़ कर देखती हुई जान पड़ती थी। आलमारी के शीशे में अपनी परछाईं दिखायी दी। चौंक पड़े, वह कौन ? खयाल आ गया, यह तो अपनी छाया है। उन्होंने आलमारी से एक चमचा और एक प्याला निकाला। प्याले में वह जहरीली दवा थी जो डॉक्टर ने उनकी छाती पर मलने के लिए दी थी ! प्याले को हाथ में लिये चारों ओर सहमी हुई दृष्टि से ताकते हुए वह प्रभावती के सिरहाने आ कर खड़े हो गये। हृदय पर करुणा का आवेग हुआ। "आह ! इन प्यारों को क्या मेरे ही हाथों मरना लिखा था ? मैं ही इनका यमदूत बनूँगा। यह अपने ही कर्मों का फल है। मैं आँखें बन्द करके वैवाहिक बन्धन में फँसा। इन भावी आपदाओं की ओर क्यों मेरा ध्यान न गया ? मैं उस समय ऐसा हर्षित और प्रफुल्लित था, मानों जीवन एक अनादि सुख-स्वर है, एक-एक सुधामय आनन्द सरोवर। यह इसी अदूरदर्शिता का परिणाम है कि आज मैं यह दुर्दिन देख रहा हूँ।"

हठात् उनके पैरों में कम्पन हुआ, आँखों में अँधेरा छा गया, नाड़ी की गति बन्द होने लगी। वे करुणामयी भावनाएँ मिट गयीं। शंका हुई, कौन जाने यही दौरा जीवन का अन्त न हो। वह सँभल कर उठे और प्याले से दवा का एक चम्मच निकाल कर प्रभावती के मुँह में डाल दिया। उसने नींद में दो-एक बार मुँह डुला कर करवट बदल ली। तब उन्होंने लखनदास का मुँह खोल कर उसमें भी एक चम्मच भर दवा डाल दी और प्याले को जमीन पर पटक दिया। पर हा ! मानव-परवशता ! हा प्रबल भावी ! भाग्य की विषम क्रीड़ा अब भी उनसे चाल चल रही थी। प्याले में विष न था। वह टानिक था जो डाक्टर ने उनका बल बढ़ाने के लिए दिया था।

प्याले को रखते ही उनके काँपते हुए पैर स्थिर हो गये, मूर्च्छा के सब लक्षण जाते रहे। चित्त पर भय का प्रकोप हुआ। वह कमरे में एक क्षण भी न ठहर सके। हत्या-प्रकाश का भय हत्या-कर्म से भी कहीं दारुण था। उन्हें दंड की चिंता न थी; पर निंदा और तिरस्कार से बचना चाहते थे। वह घर से इस तरह बाहर निकले, जैसे किसी ने उन्हें ढकेल दिया हो, उनके अंगों में कभी इतनी स्फूर्ति न थी। घर सड़क पर था, द्वार पर एक ताँगा मिला ! उस पर जा बैठे। नाड़ियों में विद्युत-शक्ति दौड़ रही थी।

तॉंगेवाले ने पूछा—कहाँ चलूँ ?

जीवनदास—जहाँ चाहो ?

तॉंगेवाला—स्टेशन चलूँ ?

जीवनदास—वहीं सही।

तॉंगेवाला—छोटी लैन चलूँ या बड़ी लैन ?

जीवनदास—जहाँ गाड़ी जल्दी मिल जाय।

तॉंगेवाले ने उन्हें कौतूहल से देखा। परिचित था, बोला—आपकी तबीयत अच्छी नहीं है, क्या और कोई साथ न जायगा ?

जीवनदास ने जवाब दिया—नहीं, मैं अकेला ही जाऊँगा।

तॉंगेवाला—आप कहाँ जाना चाहते हैं ?

जीवनदास—बहुत बातें न करो। यहाँ से जल्दी चलो।

तॉंगेवाले ने घोड़े को चाबुक लगाया और स्टेशन की ओर चला। जीवनदास वहाँ पहुँचते ही तॉंगे से कूद पड़े और स्टेशन के अंदर चले। तॉंगेवाले ने कहा—पैसे ?

जीवनदास को अब ज्ञात हुआ कि मैं घर से कुछ नहीं ले कर चला, यहाँ तक कि शरीर पर वस्त्र भी न थे। बोले—पैसे फिर मिलेंगे।

तॉंगेवाला—आप न जाने कब लौटेंगे।

जीवनदास—मेरा जूता नया है, ले लो।

तॉंगेवाले का आश्चर्य और भी बढ़ा, समझा इन्होंने शराब पी है, अपने आपे में नहीं हैं। चुपके से जूते लिये और चलता हुआ।

गाड़ी के आने में अभी घंटों की देर थी। जीवनदास प्लेटफार्म पर जा कर टहलने लगे। धीरे-धीरे उनकी गति तीव्र होने लगी, मानों कोई उनका पीछा कर रहा है। उन्हें इसकी बिलकुल चिंता न थी कि मैं खाली हाथ हूँ। जाड़े के दिन थे। लोग सरदी के मारे अकड़े जाते थे, किंतु उन्हें ओढ़ने-बिछौने की भी सुधि न थी। उनकी चैतन्यशक्ति नष्ट हो गयी थी; केवल अपने दुष्कर्म का ज्ञान जीवित था। ऐसी शंका होती थी कि प्रभावती मेरे पीछे दौड़ी चली आती है, कभी भ्रम होता कि लखनदास भागता हुआ आ रहा है, कभी पड़ोसियों के धर-पकड़ की आवाज कानों में आती थी, उनकी कल्पना प्रतिक्षण उत्तेजित होती जाती थी। यहाँ तक कि वह प्राणभय से माल के बोरों के बीच में जा छिपे। एक-एक मिनट पर चौंक पड़ते थे और सशंक नेत्रों से इधर-उधर देखकर फिर छिप जाते थे। उन्हें अब यह भी स्मरण न रहा कि मैं यहाँ क्या करने आया हूँ, केवल अपनी प्राणरक्षा का ज्ञान शेष था। घंटियाँ बजीं, मुसाफिरों के झुंड के झुंड आने लगे, कुलियों की बक-झक, मुसाफिरों की चीख और पुकार, आने-जानेवाले इंजिनों की धक-धक से हाहाकार मचा हुआ था; किंतु जीवनदास उन बोरों के बीच में इस तरह पैंतरे बदल रहे थे मानो वे चैतन्य होकर उन्हें घेरना चाहते हैं।

निदान गाड़ी स्टेशन पर आकर खड़ी हो गयी। जीवनदास सँभल गये। स्मृति जागृत हो गयी। लपक कर बोरों में से निकले और एक कमरे में जा बैठे।

इतने में गाड़ी के द्वार पर 'खट-खट' की ध्वनि सुनायी दी। जीवनदास ने चौंककर देखा, टिकट का निरीक्षक खड़ा था। उनकी अचेतावस्था भंग हो गयी। वह कौन-सा नशा

है, जो मार के आगे भाग न जाय। व्याधि की शंका संज्ञा को जागृत कर देती है। उन्होंने शीघ्रता से जल-गृह खोला और उसमें घुस गये। निरीक्षक ने पूछा—"और कोई नहीं ?" मुसाफिरों ने एक स्वर से कहा—"अब कोई नहीं है।" जनता को अधिकारी वर्ग से एक नैसर्गिक द्वेष होता है। गाड़ी चली तो जीवनदास बाहर निकले। यात्रियों ने एक प्रचंड हास्यध्वनि से उनका स्वागत किया। यह देहरादून मेल था।

3

रास्ते-भर जीवनदास कल्पनाओं में मग्न रहे। हरिद्वार पहुँचे तो उनकी मानसिक अशांति बहुत कुछ कम हो गयी थी। एक क्षेत्र से कम्बल लाये, भोजन किया और वहीं पड़ रहे। अनुग्रह के कच्चे धागे को वह लोहे की बेड़ी समझते थे; पर दुरावस्था ने आत्म-गौरव का नाश कर दिया था।

इस भाँति कई दिन बीत गये, किन्तु मौत का तो कहना ही क्या, वह व्याधि भी शांत होने लगी, जिसने जीवन से निराश कर दिया था। उनकी शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। मुख की कांति प्रदीप्त होने लगी, वायु का प्रकोप शांत हो गया, मानों दो प्रिय प्राणियों के बलिदान ने मृत्यु को तृप्त कर दिया था।

जीवनदास को यह रोग-निवृत्ति उस दारुण रोग से भी अधिक दुखदायी प्रतीत होती थी। वे अब मृत्यु-आह्वान करते, ईश्वर से प्रार्थना करते कि फिर उसी जीर्णावस्था का दुरागम हो, नाना प्रकार के कुपथ्य करते, किन्तु कोई प्रयत्न सफल न होता था। उन बलिदानों ने वास्तव में यमराज को संतुष्ट कर दिया था।

अब उन्हें चिंता होने लगी; क्या मैं वास्तव में जिंदा रहूँगा। लक्षण ऐसे ही दीख पड़ते थे। नित्यप्रति यह शंका प्रबल होती जाती थी। उन्होंने प्रारब्ध को अपने पैरों पर झुकाना चाहा था, पर अब स्वयं उसके पैरों की रज चाट रहे थे। उन्हें बार-बार अपने ऊपर क्रोध आता, कभी व्यग्र होकर उठते कि जीवन का अंत कर दूँ, तकदीर को दिखा दूँ कि मैं अब भी उसे कुचल सकता हूँ; किन्तु उसके हाथों विकट यंत्रणा भोगने के बाद उन्हें भय होता था कि कहीं इससे भी जटिल समस्या न उपस्थित हो जाय, क्योंकि उन्हें उसकी शक्ति का कुछ-कुछ अनुमान हो गया था। इन विचारों ने उनके मन में नास्तिकता के भाव उत्पन्न किये। वर्तमान भौतिक शिक्षा ने उन्हें पहले ही अनात्मवादी बना दिया था। अब उन्हें समस्त प्रकृति अनर्थ और अधर्म के रंग में डूबी हुई मालूम होने लगी। यहाँ न्याय नहीं, दया नहीं, सत्य नहीं। असम्भव है कि यह सृष्टि किसी कृपालु शक्ति के अधीन हो और उसके ज्ञान में नित्य ऐसे वीभत्स, ऐसे भीषण अभिनय होते रहें। वह न दयालु है, न वत्सल है। वह सर्वज्ञानी और अंतर्यामी भी नहीं, निस्संदेह वह एक विनाशिनी, वक्र और विकारमयी शक्ति है। सांसारिक प्राणियों ने उसकी अनिष्ट क्रीड़ा से भयभीत होकर उसे सत्य का सागर, दया और धर्म का भंडार, प्रकाश और ज्ञान का स्रोत बना दिया है। यह हमारा दीन-विलाप है। अपनी दुर्बलता का अश्रुपात। इसी शक्तिहीनता को, इसी निःसहायता को हम उपासना और आराधना कहते हैं और उस पर गर्व करते हैं। दार्शनिकों का कथन है कि यह प्रकृति अटल नियमों के अधीन है, यह भी उनकी श्रद्धालुता है। नियम जड़, अचैतन्य होते हैं उनमें

कपट के भाव कहाँ ? इन नियमों का संचालक, इस इंद्रजाल का मदारी अवश्य है; यह स्पष्ट है, किन्तु वह प्राणी देवता नहीं, पिशाच है।

इन भावों ने शनैः-शनैः क्रियात्मक रूप धारण किया। सद्भक्ति हमें ऊपर ले जाती है, असद्भक्ति हमें नीचे गिराती है। जीवनदास की नौका का लंगर उखड़ गया। अब उसका न कोई लक्ष्य था और न कोई आधार, तरंगों में डाँवाडोल होती रहती थी।

4

पंद्रह वर्ष बीत गये। जीवनदास का जीवन आनंद और विलास में कटता था। रमणीक निवास-स्थान था, सवारियाँ थीं, नौकर-चाकर थे। नित्य राग-रंग होता रहता था। अब इंद्रियलिप्सा उनका धर्म था, वासना-तृप्ति उनका जीवनतत्त्व। वे विचार और विवेक के बन्धनों से मुक्त हो गये थे। नीति और अनीति का ज्ञान लुप्त हो गया था। साधनों की भी कमी नहीं थी। बँधे बैल और खुले साँड़ में बड़ा अंतर है। एक रातिब पाकर भी दुर्बल है, दूसरा घास-पात ही खाकर मस्त हो रहा है। स्वाधीनता बड़ी पोषक वस्तु है।

जीवनदास को अब अपनी स्त्री और बालक की याद न सताती थी। भूत और भविष्य का उनके हृदय पर कोई चिह्न न था। उनकी निगाह केवल वर्तमान पर रहती थी। वह धर्म को अधर्म समझते थे और अधर्म को धर्म। उन्हें सृष्टि का यह मूलतत्त्व प्रतीत होता था। उनका जीवन स्वयं इसी दुर्नीति का उज्ज्वल प्रमाण था। आत्मबंधन को तोड़ कर वे जितने उत्सित हुए, वहाँ तक उन बन्धनों में पड़े हुए उनकी दृष्टि भी न पहुँच सकती थी। जिधर आँख उठती, अधर्म का साम्राज्य दीख पड़ता था। यही सफल जीवन का मंत्र था। स्वेच्छाचारी हवा में उड़ते हैं, धर्म के सेवक एड़ियाँ रगड़ते हैं। व्यापार और राजनीति के भवन, ज्ञान और भक्ति के मंदिर, साहित्य और काव्य की रंगशाला, प्रेम और अनुराग मंडलियाँ सब इसी दीपक से आलोकित हो रही हैं। ऐसी विराट् ज्योति की आराधना क्यों न की जाय ?

गरमी के दिन थे, संध्या का समय। हरिद्वार के रेलवे-स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। जीवनदास एक गेरुए रंग की रेशमी चादर गले में डाले, सुनहरा चश्मा लगाये, दिव्य ज्ञान की मूर्ति बने हुए अपने सहचरों के साथ प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। उनकी भेदक दृष्टि यात्रियों पर लगी हुई थी। अचानक उन्हें दूसरे दर्जे के कमरे में एक शिकार दिखायी दिया। यह एक रूपवान युवक था। चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। उसकी घड़ी की जंजीर सुनहरी थी, तनजेब की अचकन के बटन भी सोने के थे। जिस प्रकार बधिक की दृष्टि पशु के मांस और चर्म पर रहती है, उसी प्रकार जीवनदास की दृष्टि में मनुष्य एक भोग्य पदार्थ था। उनके अनुमान ने आश्चर्यजनक कुशलता प्राप्त कर ली थी और उससे कभी भूल न होती थी। वह युवक अवश्य कोई रईस है। सरल और गौरवशील भी है अतएव सुगमता से जाल में फँस जायगा। उस पर अपनी सिद्धता का सिक्का बिठाना चाहिए। उसकी सरल-हृदयता पर निशाना मारना चाहिए। मैं गुरु बनूं यह दोनों मेरे शिष्य बन जायँ, छल की घातें चलें, मेरी अपार विद्वत्ता, अलौकिक कीर्ति और अगाध वैराग्य का मधुर गान हो, शब्दाडम्बरों के दाने बिखेर दिये जायँ और मृग पर फंदा डाल दिया जाय।

यह निश्चय करके जीवनदास कमरे में दाखिल हुए। युवक ने उनकी ओर गौर से देखा, जैसे अपने भूले हुए मित्र को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। अब अधीर हो कर बोला—महात्मा जी, आपका स्थान कहाँ है ?

जीवनदास प्रसन्न हो कर बोला—बच्चा, संतों का स्थान कहाँ ? समस्त संसार हमारा स्थान है।

युवक ने पूछा—आपका शुभ नाम लाला जीवनदास तो नहीं है ?

जीवनदास चौंक पड़े। छाती बल्लियों उछलने लगी। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कहीं यह खुफिया पुलिस का कर्मचारी तो नहीं है ? कुछ निश्चय न कर सके, क्या उत्तर दूँ। गुम-सुम हो गये।

युवक ने असमंजस में पड़े देख कर कहा—मेरी यह धृष्टता क्षमा कीजिएगा। मैंने यह बात इसलिए पूछी कि आपका श्रीमुख मेरे पिता जी से बहुत मिलता है। वे बहुत दिनों से गायब हैं। लोग कहते हैं, संन्यासी हो गये। बरसों से उन्हीं की तलाश में मारा फिर रहा हूँ ।

जिस प्रकार क्षितिज पर मेघराशि चढ़ती है और क्षणमात्र में संपूर्ण वायु-मंडल को घेर लेती है उसी प्रकार जीवनदास को अपने हृदय में पूर्व-स्मृतियों की एक लहर-सी उठती हुई मालूम हुई। गला फँस गया और आँखों के सामने प्रत्येक वस्तु तैरती हुई जान पड़ने लगी। युवक की ओर सचेष्ट नेत्रों से देखा, स्मृति सजग हो गयी। उसके गले से लिपट कर बोले—लक्खू ?

लखनदास उनके पैरों पर गिर पड़ा।

'मैंने बिलकुल नहीं पहचाना।'

'एक युग हो गया।'

5

आधी रात गुजर चुकी थी। लखनदास सो रहा था और जीवनदास खिड़की से सिर निकाले विचारों में मग्न थे। प्रारब्ध का एक नया अभिनय उनके नेत्रों के सामने था। वह धारणा जो अतीत काल से उनकी पथ-प्रदर्शक बनी हुई थी, हिल गयी। मुझे अहंकार ने कितना विवेकहीन बना दिया था ! समझता था, मैं ही सृष्टि का संचालक हूँ, मेरे मरने पर परिवार का अधःपतन हो जायगा पर मेरी यह दुश्िंचता कितनी मिथ्या निकली। जिन्हें मैंने विष दिया, वे आज जीवित हैं, सुखी हैं और सम्पत्तिशाली है। असम्भव था कि लक्खू को ऐसी उच्च शिक्षा दे सकता। माता के पुत्र-प्रेम और अध्यवसाय ने कठिन मार्ग कितना सुगम कर दिया। मैं उसे इतना सच्चरित्र, इतना दृढ़ संकल्प, इतना कर्तव्यशील कभी न बना सकता। यह स्वावलम्बन का फल है। मेरा विष उसके लिए अमृत हो गया। कितना विनयशील, हँसमुख, निःस्पृह और चतुर युवक है। मुझे तो अब उसके साथ बैठते भी संकोच होता है। मेरा सौभाग्य कैसे उदय हुआ है। मैं विराट जगत् को किसी पैशाचिक शक्ति के अधीन समझता था, जो दीन प्राणियों के साथ बिल्ली और चूहे का खेल खेलाती है। हा मूर्खता ! हा अज्ञान ! आज मुझ जैसा पापी मनुष्य इतना सुखी है ! इसमें संदेह नहीं कि इस जगत् का स्वामी दया और कृपा का महासागर है। प्रातःकाल मुझे उस देवी से साक्षात् होगा,

जिसके साथ जीवन के क्या-क्या सुख नहीं भोगे ! मेरे पोते और पोतियाँ मेरी गोद में खेलेंगी। मित्रगण मेरा स्वागत करेंगे। ऐसे दयामय भगवान् को मैं अमंगल का मूल समझता था ?

इस विचार में पड़े हुए जीवनदास को नींद आ गयी। जब आँखें खुलीं तो लखनऊ की प्रिय और अपरिचित ध्वनि कानों में आयी। वे चौंक कर उठ बैठे। लखनदास असबाब उतरवा रहे थे। स्टेशन के बाहर उनकी फिटन खड़ी थी। दोनों आदमी उस पर बैठे। जीवनदास का हृदय आह्लान से भर रहा था। मौन-रूप बैठे हुए थे, मानों समाधि में हों।

फिटन चली। जीवनदास को प्रायः सभी चीजें नयी मालूम होती थीं। न वे बाजार, न वे गली-कूचे, न वे प्राणी थे। युगांतर-सा हो गया था। निदान उन्हें एक रमणीक बंगला-सा दिखायी पड़ा, जिसके द्वार पर मोटे अक्षरों में अंकित था—

'जीवनदास-पाठशाला'

जीवनदास ने विस्मित हो कर पूछा—क्या है ?

लखनदास ने कहा—माता जी ने आपके स्मृति-रूप यह पाठशाला खोली है। कई लड़के छात्रवृत्ति पाते हैं !

जीवनदास का दिल और भी बैठ गया। मुँह से एक ठंडी साँस निकल आयी।

थोड़ी देर के बाद फिटन रुकी, लखनदास उतर पड़े। नौकरों ने असबाब उतारना शुरू किया। जीवनदास ने देखा, एक पक्का दो-मंजिला मकान था। उनके पुराने खपरैलवाले घर का कोई चिह्न न था। केवल एक नीम का वृक्ष बाकी था। दो कोमल बालक 'बाबू जी' कहते हुए दौड़े और लखनदास के पैरों से लिपट गये। घर में एक हलचल-सी मच गयी। दीवानखाने के पीछे एक सुन्दर पुष्पवाटिका थी। जीवनदास ऐसे चकित हो रहे थे मानों कोई तिलिस्म देख रहे हों।

6

रात्रि का समय था। बारह बज चुके थे। जीवनदास को किसी करवट नींद न आती थी। अपने जीवन का चित्र उनके सामने था। इन पंद्रह वर्षों में उन्होंने जो काँटे बोये थे वे इस समय उनके हृदय में चुभ रहे थे। जो गढ़े खोदे थे वे उन्हें निगलने के लिए मुँह खोले हुए थे। उनकी दशा में एक ही दिन में घोर परिवर्तन हो गया था। अभक्ति और अविश्वास की जगह विश्वास का अभ्युदय हो गया था, और यह विश्वास केवल मानसिक न था, वरन् प्रत्यक्ष था। ईश्वरीय न्याय का भय एक भयंकर मूर्ति के सदृश उनके सामने खड़ा था। उससे बचने की अब उन्हें कोई युक्ति नजर न आती थी। अब तक उनकी स्थिति उस आग की चिनगारी के समान थी, जो किसी मरुभूमि पर पड़ी हुई हो। उससे हानि की कोई शंका न थी; लेकिन आज वह चिनगारी एक खलिहान के पास पड़ी हुई थी। मालूम नहीं, कब वह प्रज्वलित होकर खलिहान को भस्मीभूत कर दे।

ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, यह भय ग्लानि का रूप धारण करता जाता था। "हा शोक ! मैं इस योग्य भी नहीं कि इस साक्षात् क्षमा-दया को अपना कलुषित मुँह दिखाऊँ। उसने मुझ पर सदैव करुणा और वात्सल्य की दृष्टि रखी और यह शुभ दिन दिखाया । मेरी कालिमा उसकी उज्ज्वल कीर्ति पर एक काला दाग है। मेरी कलुषता क्या इस मंगल चित्र

को कलुषित न कर देगी। मेरी पापाग्नि के स्पर्श से क्या हरा-भरा उद्यान मटियामेट न हो जायगा ? मेरी अपकीर्ति कभी न कभी प्रकट हो कर इस कुल की मर्यादा और सम्मान को नष्ट न कर देगी ? मेरे जीवन से अब किसको सुख है? कदाचित् भगवान् ने मुझे लज्जित करने के लिए, मुझे अपनी तुच्छता से अवगत कराने के लिए, मेरे गले में अनुताप की फाँसी डालने के लिए यह अद्भुत लीला दिखायी है। हा ! इसी कुल की मर्यादा-रक्षा के लिए भीषण हत्याएँ की थीं। क्या अब जीवित रह कर इसकी वह दुर्दशा कर दूँ जो मर कर भी न कर सका ? मेरे हाथ खून से लाल हो रहे हैं। परमात्मन् ! वह खून रंग न लाये। यह हृदय पापों के कीटाणुओं से जर्जर हो रहा है। भगवान्, यह कुल उनके छूत से बचा रहे।"

इन विचारों ने जीवनदास में ग्लानि और भय के भावों को इतना उत्तेजित किया कि वह विकल हो गये। जैसे परती भूमि में बीज का असाधारण विकास और प्रचार होता है, उसी प्रकार विश्वासहीन हृदय में जब विश्वास का बीज पड़ता है तो उसमें सजीवता और विकास का प्रादुर्भाव होता है। उसमें विचार के बदले व्यवहार का प्राधान्य होता है। आत्म-समर्पण उसका विशेष लक्ष्य होता है। जीवनदास को अपने चारों तरफ एक सर्वव्यापी शक्ति, एक विराट आत्मा का अनुभव हो रहा था। प्रतिक्षण उनकी कल्पला सजग और प्रदीप्त होती जाती थी। अपने जीवन की घटनाएँ ज्वाला-शिखा बन-बन कर उस घर की ओर, उसे मंगल और आनंद के निवास-भवन की ओर दौड़ती हुई जान पड़ती थीं, मानों उसे निगल जायँगी।

पूर्व की ओर आकाश अरुण वर्ण हो रहा था। जीवनदास की आँखें भी अरुण थीं। वे घर से निकले। हाथ में केवल धोती थी। उन्होंने अपने अनिष्टमय अस्तित्व को मिटा देने का निश्चय कर लिया था। अपनी पापाग्नि की आँच से अपने परिवार को बचाने का संकल्प कर चुके थे। प्राणपण से अपने आत्मशोक और हृदयदाह को शांत करने पर उद्यत हो गये थे।

सूर्योदय हो रहा था। उसी समय जीवनदास गोमती की लहरों में समा गये।

['दस्ते-ग़ैब' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। 'जमाना' उर्दू मासिक पत्रिका में अप्रैल 1921 में प्रकाशित। 'ख्वाबोखयाल' में संकलित। हिन्दी रूप 'प्रारब्ध' शीर्षक से 'विशाल भारत', अक्टूबर, 1921 में प्रकाशित। मानसरोवर भाग-7 में संकलित।]

दुस्साहस

लखनऊ के नौबस्ते मोहल्ले में एक मुंशी मैकूलाल मुख्तार रहते थे। बड़े उदार, दयालु और सज्जन पुरुष थे। अपने पेशे में इतने कुशल थे कि ऐसा बिरला ही कोई मुकदमा होता था जिसमें वह किसी न किसी पक्ष की ओर से न रखे जाते हों। साधु-संतों से भी उन्हें प्रेम था। उनके सत्संग से उन्होंने कुछ तत्त्वज्ञान और कुछ गाँजे-चरस का अभ्यास प्राप्त कर लिया था। रही शराब, यह उनकी कुल-प्रथा थी। शराब के नशे में वह कानूनी मसौदे खूब लिखते थे, उनकी बुद्धि प्रज्वलित हो जाती थी। गाँजे और चरस का प्रभाव उनके ज्ञान पर पड़ता

था। दम लगा कर वह वैराग्य और ध्यान में तल्लीन हो जाते थे। मोहल्लेवालों पर उनका बड़ा रोब था। लेकिन यह उनकी कानूनी प्रतिभा का नहीं; उनकी उदार सज्जनता का फल था। मोहल्ले के एक्केवान, ग्वाले और कहार उनके आज्ञाकारी थे, सौ काम छोड़ कर उनकी खिदमत करते थे। उनकी मद्यजनित उदारता ने सबों को वशीभूत कर लिया था। वह नित्य कचहरी से आते ही अलगू कहार के सामने दो रुपये फेंक देते थे। कुछ कहने-सुनने की जरूरत न थी, अलगू इसका आशय समझता था। शाम को शराब की एक बोतल और कुछ गाँजा तथा चरस मुंशी जी के सामने आ जाता था। बस, महफिल जम जाती। यार लोग आ पहुँचते। एक ओर मुवक्किलों की कतार बैठती, दूसरी ओर सहवासियों की। वैराग्य की और ज्ञान की चर्चा होने लगती। बीच-बीच में मुवक्किलों से भी मुकदमे की दो-एक बातें कर लेते! दस बजे रात को वह सभा विसर्जित होती थी। मुंशी जी अपने पेशे और ज्ञान चर्चा के सिवा और कोई दर्द सिर मोल न लेते थे। देश के किसी आन्दोलन, किसी सभा, किसी सामाजिक सुधार से उनका सम्बन्ध न था। इस विषय में वह सच्चे विरक्त थे। बंग-भंग हुआ, नरम-गरम दल बने, राजनैतिक सुधारों का आविर्भाव हुआ, स्वराज्य की आकांक्षा ने जन्म लिया, आत्म-रक्षा की आवाज़ें देश में गूँजने लगीं, किंतु मुंशी जी की अविरल शांति में जरा भी विघ्न न पड़ा। अदालत और शराब के सिवाय वह संसार की सभी चीजों को माया समझते थे, सभी से उदासीन रहते थे।

2

चिराग जल चुके थे। मुंशी मैकूलाल की सभा जम गयी थी, उपासकगण जमा हो गये थे, अभी तक मदिरा देवी प्रकट न हुई थी। अलगू बाजार से न लौटा था। सब लोग बार-बार उत्सुक नेत्रों से ताक रहे थे। एक आदमी बरामदे में प्रतीक्षास्वरूप खड़ा था, दो-तीन सज्जन टोह लेने के लिए सड़क पर खड़े थे, लेकिन अलगू आता नजर न आता था। आज जीवन में पहला अवसर था कि मुंशी जी को इतनी इंतजार खींचनी पड़ी। उनकी प्रतीक्षाजनक उद्विग्नता ने गहरी समाधि का रूप धारण कर लिया था, न कुछ बोलते थे, न किसी ओर देखते थे। समस्त शक्तियाँ प्रतीक्षाबिंदु पर केंद्रीभूत हो गयीं।

अकस्मात् सूचना मिली कि अलगू आ रहा है। मुंशी जी जाग पड़े, सहवासीगण खिल गये, आसन बदल कर सँभल बैठे, उनकी आँखें अनुरक्त हो गयीं। आशामय विलम्ब आनन्द को और बढ़ा देता है।

एक क्षण में अलगू आ कर सामने खड़ा हो गया। मुंशी जी ने उसे डाँटा नहीं, यह पहला अपराध था, इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा, दबे हुए पर उत्कंठायुक्त नेत्रों से अलगू के हाथ की ओर देखा। बोतल न थी। विस्मय हुआ, विश्वास न आया, फिर गौर से देखा बोतल न थी। यह अप्राकृतिक घटना थी, पर इस पर उन्हें क्रोध न आया, नम्रता के साथ पूछा—बोतल कहाँ है।

अलगू—आज नहीं मिली।

मैकूलाल—यह क्यों ?

अलगू—दूकान के दोनों नाके रोके हुए सुराजवाले खड़े हैं, किसी को उधर जाने ही नहीं देते।

अब मुंशी जी को क्रोध आया, अलगू पर नहीं, स्वराज्यवालों पर। उन्हें मेरी शराब बन्द करने का क्या अधिकार है ? तर्क भाव से बोले—तुमने मेरा नाम नहीं लिया ?

अलगू—बहुत कहा, लेकिन वहाँ कौन किसी की सुनता था ? सभी लोग लौटे आते थे, मैं भी लौट आया।

मुंशी—चरस लाये ?

अलगू—वहाँ भी यही हाल था।

मुंशी—तुम मेरे नौकर हो या स्वराज्य वालों के ?

अलगू—मुँह में कालिख लगवाने के लिए थोड़े ही नौकर हूँ ?

मुंशी—तो क्या वहाँ बदमाश लोग मुँह में कालिख भी लगा रहे हैं ?

अलगू—देखा तो नहीं, लेकिन सब यही कहते थे।

मुंशी—अच्छी बात है, मैं खुद जाता हूँ, देखूँ किसकी मजाल है जो रोके। एक-एक को लाल घर दिखा दूँगा, यह सरकार का राज है, कोई बदमिली नहीं है। वहाँ कोई पुलिस का सिपाही नहीं था ?

अलगू—थानेदार साहब आप ही खड़े सबसे कहते थे जिसका जी चाहे जाय शराब ले या पीये लेकिन लौट आते थे, उनकी कोई न सुनता था।

मुंशी—थानेदार मेरे दोस्त हैं, चलो जी ईदू चलते हो। रामबली, बेचन, झिनकू सब चलो। एक-एक बोतल ले लो, देखूँ कौन रोकता है। कल ही तो मजा चखा दूँगा।

3

मुंशी जी अपने चारों साथियों के साथ शराबखाने की गली के सामने पहुँचे तो वहाँ बहुत भीड़ थी। बीच में दो सौम्य मूर्तियाँ खड़ी थीं। एक मौलाना जामिन थे जो शहर के मशहूर मुजतहिद थे, दूसरे स्वामी घनानन्द थे जो वहाँ की सेवासमिति के संस्थापक और प्रजा के बड़े हितचिंतक थे। उनके सम्मुख ही थानेदार साहब कई कानस्टेबलों के साथ खड़े थे। मुंशी जी और उनके साथियों को देखते ही थानेदार साहब प्रसन्न होकर बोले—आइए मुख्तार साहब, क्या आज आप ही को तकलीफ करनी पड़ी ? यह चारों आप ही के हमराह हैं न ?

मुंशी जी बोले—जी हाँ, पहले आदमी भेजा, वह नाकाम वापस गया। सुना आज यहाँ हड़बोंग मची हुई है, स्वराज्यवाले किसी को अंदर जाने ही नहीं देते।

थानेदार—जी नहीं, यहाँ किसकी मजाल है जो किसी के काम में हाजिर हो सके। आप शौक से जाइए। कोई चूँ तक नहीं कर सकता। आखिर मैं यहाँ किस लिए हूँ।

मुंशी जी ने गौरवोन्मत्त दृष्टि से अपने साथियों को देखा और गली में घुसे कि इतने में मौलाना जामिन ने ईदू से बड़ी नम्रता से कहा—दोस्त, यह तो तुम्हारी नमाज का वक्त है, यहाँ कैसे आये ? क्या इसी दीनदारी के बल पर खिलाफत का मसला हल करेंगे ?

ईदू के पैरों में जैसे लोहे की बेड़ी पड़ गयी। लज्जित भाव से खड़ा भूमि की ओर ताकने लगा। आगे कदम रखने का साहस न हुआ।

स्वामी घनानन्द ने मुंशी जी और उनके बाकी तीनों साथियों से कहा—बच्चा, यह पंचामृत लेते जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। झिनकू, रामबली और बेचन ने अनिवार्य भाव

से हाथ फैला दिये और स्वामी जी से पंचामृत ले कर पी गये। मुंशी जी ने कहा—इसे आप खुद पी जाइए। मुझे जरूरत नहीं।

स्वामी जी उनके सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और विनोद भाव से बोले—इस भिक्षुक पर आज दया कीजिए, उधर न जाइए।

लेकिन मुंशी जी ने उनका हाथ पकड़ कर सामने से हटा दिया और गली में दाखिल हो गये। उनके तीनों साथी स्वामी जी के पीछे सिर झुकाये खड़े रहे।

मुंशी—रामबली, झिनकू आते क्यों नहीं ? किसकी ताकत है कि हमें रोक सके।

झिनकू—तुम ही काहे नाहीं लौट आवत हो। साधु-संतन की बात माने का होत है।

मुंशी—तो इसी हौसले पर घर से निकले थे ?

रामबली—निकले थे कि कोई जबर्दस्ती रोकेगा तो उससे समझेंगे। साधु-संतों से लड़ाई करने थोड़े ही चले थे।

मुंशी—सच कहा है, गँवार भेड़ होते हैं।

बेचन—आप शेर हो जायँ, हम भेड़ ही बने रहेंगे।

मुंशी जी अकड़ते हुए शराबखाने में दाखिल हुए। दूकान पर उदासी छायी हुई थी, कलवार अपनी गद्दी पर बैठा ऊँघ रहा था। मुंशी जी की आहट पा कर चौंक पड़ा, उन्हें तीव्र दृष्टि से देखा मानों यह कोई विचित्र जीव है, बोतल भर दी और ऊँघने लगा।

मुंशी जी गली के द्वार पर आये तो अपने साथियों को न पाया। बहुत से आदमियों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और निंदासूचक बोलियाँ बोलने लगे।

एक ने कहा—दिलावर हो तो ऐसा हो।

दूसरा बोला—शर्मचे कुत्तीस्त कि पेशे मरदाँ विवाअद (मरदों के सामने लज्जा नहीं आ सकती।)

तीसरा बोला—है कोई पुराना पियक्कड़ पक्का लतियल।

इतने में थानेदार साहब ने आ कर भीड़ हटा दी। मुंशी जी ने उन्हें धन्यवाद दिया और घर चले। एक कानस्टेबल भी रक्षार्थ उनके साथ चला।

4

मुंशी जी के चारों मित्रों ने बोतल फेंक दीं और आपस में बातें करते हुए चले।

झिनकू—एक बेर हमारा एक्का बेगार में पकड़ जात रहे तो यही स्वामी जी चपरासी से कह-सुन के छुड़ाय दिहेन रहा।

रामबली—पिछले साल जब हमारे घर में आग लगी थी तब भी तो यही सेवा-समिति वालों को ले कर पहुँच गये थे, नहीं तो घर में एक सूत न बचता।

बेचन—मुख्तार अपने सामने किसी को गिनते ही नहीं। आदमी कोई बुरा काम करता है तो छिप के करता है, यह नहीं कि बेहाई पर कमर बाँध ले।

झिनकू—भाई, पीठ पीछे कोऊ की बुराई न करै चाहीं। और जौन कुछ होय पर आदमी बड़ा अकबाली हौ। उतने आदमियन के बीच माँ कैसा घुसत चला गवा।

रामबली—यह कोई अकबाल नहीं है। थानेदार न होता तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाता।

बेचन—मुझे तो कोई पचास रुपये देता तो भी गली में पैर न रख सकता। शर्म से सिर ही नहीं उठता था !

ईदू—इनके साथ आ कर आज बड़ी मुसीबत में फँस गया। मौलाना जहाँ देखेंगे वहाँ आड़े हाथों लेंगे। दीन के खिलाफ ऐसा काम क्यों करें कि शर्मिंदा होना पड़े। मैं तो आज मारे शर्म के गड़ गया। आज तोबा करता हूँ। अब इसकी तरफ आँख उठा कर भी न देखूँगा।

रामबली—शराबियों की तोबा कच्चे धागे से मजबूत नहीं होती।

ईदू—अगर फिर कभी मुझे पीते देखना तो मुँह में कालिख लगा देना।

बेचन—अच्छा तो इसी बात पर आज से मैं इसे छोड़ता हूँ। अब पीऊँ तो गऊ-रक्त बराबर।

झिनकू—तो का हम ही सबसे पापी हन। फिर कभू जो हमका पियत देख्यो, बैठाय के पचास जूता लगायो।

रामबली—अरे जा अभी मुंशी जी बुलायेंगे, तो कुत्ते की तरह दौड़ते हुए जाओगे।

झिनकू—मुंशी जी के साथ बैठे देख्यो तो सौ जूता लगायो, जिनके बात में फरक है उनके बाप में फरक है।

रामबली—तो भाई मैं भी कसम खाता हूँ कि आज से गाँठ के पैसे निकाल कर न पीऊँगा। हाँ, मुफ्त की पीने में इन्कार नहीं।

बेचन—गाँठ के पैसे तुमने कभी खर्च किये हैं ?

इतने में मुंशी मैकूलाल लपके हुए आते दिखायी दिये। यद्यपि वह बाजी मार कर आये थे, मुख पर विजय गर्व की जगह खिसियानापन छाया हुआ था। किसी अव्यक्त कारणवश वह इस विजय का हार्दिक आनंद न उठा सकते थे। हृदय के किसी कोने में छिपी हुई लज्जा उन्हें चुटकियाँ ले रही थी। वह स्वयं अज्ञात थे, पर उस दुस्साहस का खेद उन्हें व्यथित कर रहा था।

रामबली ने कहा—आइए मुख्तार साहब, बड़ी देर लगायी।

मुंशी—तुम सब के सब गावदी ही निकले, एक साधु के चकमे में आ गये।

रामबली—इन लोगों ने तो आज से शराब न पीने की क़सम खा ली है।

मुंशी—ऐसा तो मैंने मर्द ही नहीं देखा जो एक बार इसके चंगुल में फँस कर निकल जाय। मुँह से बकना दूसरी बात है।

ईदू—जिन्दगी रही तो देख लीजियेगा।

झिनकू—दाना-पानी तो कोऊ से नाहीं छूट सकत है और बातन का जब मनमा आवे छोड़ देव। बस चोट लग जाय का चाही, नशा खाये बिना कोऊ मर नाहीं जात है।

मुंशी—देखूँगा तुम्हारी बहादुरी भी।

बेचन—देखना क्या है, छोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। यही न होगा कि दो-चार दिन जी सुस्त रहेगा। लड़ाई में अँगरेजों ने छोड़ दिया था जो इसे पानी की तरह पीते हैं तो हमारे लिए कोई मुश्किल काम नहीं।

यही बातें करते हुए लोग मुख्तार साहब के मकान पर आ पहुँचे।

5

दीवानखाने में सन्नाटा था। मुवक्किल चले गये थे। अलगू पड़ा सो रहा था। मुंशी जी मसनद पर जा बैठे और आलमारी से ग्लास निकालने लगे। उन्हें अभी तक अपने साथियों की प्रतिज्ञा पर विश्वास न आता था। उन्हें पूरा यकीन था कि शराब की सुगन्ध और लालिमा देखते ही सभों की तोबा टूट जायगी। जहाँ मैंने जरा बढ़ावा दिया वहीं सब के सब आकर डट जायँगे और महफिल जम जायगी। जब ईदू सलाम करके चलने लगा और झिनकू ने अपना डंडा सँभाला तो मुंशी जी ने दोनों हाथ पकड़ लिये और बड़े मुदुल शब्दों में बोले—यारो, यों साथ छोड़ना अच्छा नहीं। आओ जरा आज इसका मजा तो चखो, ख़ास तौर पर अच्छी है।

मुंशी—अजी आओ तो, इन बातों में क्या धरा है ?

ईदू—आप ही को मुबारक रहे, मुझे जाने दीजिए।

झिनकू—हम तो भगवान् चाही तो एके नियर न जाब; जूता कौन खाय ?

यह कह कर दोनों अपने-अपने हाथ छोड़ा कर चले गये तब मुख़्तार साहब ने बेचन का हाथ पकड़ा जो बरामदे से नीचे उतर रहा था, बोले—बेचन क्या तुम भी बेवफाई करोगे ?

बेचन—मैंने तो बड़ी कसम खायी है। जब एक बार इसे गऊ-रक्त कह चुका तो फिर इसकी ओर ताक भी नहीं सकता। कितना ही गया बीता हूँ तो क्या गऊ-रक्त की लाज भी न रखूँगा। अब आप भी छोड़िए, कुछ दिन राम-राम कीजिए। बहुत दिन तो पीते हो गये।

यह कह कर वह भी सलाम करके चलता हुआ। अब अकेले रामबली रह गया। मुंशी जी ने उससे शोकातुर हो कर कहा—देखो रामबली, इन सभों की बेवफाई ? यह लोग ऐसे ढुलमुल होंगे, मैं न जानता था। आओ आज हमीं तुम सही। दो सच्चे दोस्त ऐसे दरजनों कचलोहियों से अच्छे हैं। आओ बैठ जाओ।

रामबली—मैं तो हाजिर ही हूँ, लेकिन मैंने भी कसम खायी है कि कभी गाँठ के पैसे खर्च करके न पीऊँगा।

मुंशी—अजी जब तक मेरे दम में दम है, तुम जितना चाहो पीयो, गम क्या है।

रामबली—लेकिन आप न रहे तब ? ऐसा सज्जन फिर कहाँ पाऊँगा।

मुंशी—अजी तब देखी जायगी, मैं आज मरा थोड़े ही जाता हूँ।

रामबली—जिन्दगी का कोई एतबार नहीं, आप मुझसे पहले जरूर ही मरेंगे, तो उस वक्त मुझे कौन रोज पिलायेगा। तब तो छोड़ भी न सकूँगा। इससे बेहतर यही है कि अभी से फिक्र करूँ।

मुंशी—यार ऐसी बातें करके दिल न छोटा करो। आओ बैठ जाओ, एक ही गिलास ले लेना।

रामबली—मुख़्तार साहब, अब ज्यादा मजबूर न कीजिए। जब ईदू और झिनकू जैसे लतियों ने कसम खा ली जो औरतों के गहने बेच-बेच पी गये और निरे मूर्ख हैं, तो मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ कि इसका गुलाम बना रहूँ। स्वामी जी ने मेरा सर्वनाश होने से बचाया है। उनकी आज्ञा मैं किसी तरह नहीं टाल सकता। यह कह कर रामबली भी विदा हो गया।

6

मुंशी जी ने प्याला मुँह से लगाया, लेकिन दूसरा प्याला भरने के पहले उनकी मद्यातुरता गायब हो गयी थी। जीवन में यह पहला अवसर था कि उन्हें एकांत में बैठ कर दवा की भाँति शराब पीनी पड़ी। पहले तो सहवासियों पर झुँझलाये। दगाबाजों को मैंने सैकड़ों रुपये खिला दिये होंगे, लेकिन आज जरा-सी बात पर सब के सब फिरंट हो गये। अब मैं भूत की भाँति अकेला पड़ा हुआ हूँ, कोई हँसने-बोलने वाला नहीं। यह तो सोहबत की चीज है, जब सोहबत का आनन्द ही न रहा तो पी कर खाट पर पड़ रहने से क्या फायदा ?

मेरा आज कितना अपमान हुआ! जब मैं गली में घुसा हूँ तो सैकड़ों ही आदमी मेरी ओर आग्नेय दृष्टि से ताक रहे थे। शराब लेकर लौटा हूँ तब तो लोगों का वश चलता तो मेरी बोटियाँ नोच खाते। थानेदार न होता तो घर तक आना मुश्किल था। यह अपमान और लोकनिन्दा किस लिए। इसलिए कि घड़ी भर बैठ कर मुँह कड़वा करूँ और कलेजा जलाऊँ। कोई हँसी चुहल करने वाला तक नहीं।

लोग इसे कितनी त्याज्य-वस्तु समझते हैं; इसका अनुभव मुझे आज ही हुआ, नहीं जो एक संन्यासी के जरा-से इशारे पर बरसों के लती पियक्कड़ यों मेरी अवहेलना न करते। बात यही है कि अंतःकरण से सभी इसे निषिद्ध समझते हैं। जब मेरे साथ के ग्वाले, एक्केवान और कहार तक इसे त्याग सकते हैं तो क्या मैं उनसे भी गया गुजरा हूँ? इतना अपमान सह कर, जनता की निगाह में पतित हो कर, सारे शहर में बदनाम हो कर, नक्कू बन कर एक क्षण के लिए सिर में सरूर पैदा कर लिया तो क्या काम किया ? कुवासना के लिए आत्मा को इतना नीचे गिराना क्या अच्छी बात है ! यह चारों इस घड़ी मेरी निन्दा कर रहे होंगे, मुझे दुष्ट बना रहे होंगे, मुझे नीच समझ रहे होंगे। इन नीचों की दृष्टि से मैं नीचा हो गया। यह दुरवस्था नहीं सही जाती। आज इस वासना का अंत कर दूँगा, अपमान का अंत कर दूँगा।

एक क्षण में धड़ाके की आवाज हुई। अलगू चौंक कर उठा तो देखा कि मुंशी जी बरामदे में खड़े हैं और बोतल जमीन पर टूटी पड़ी है !

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी। 'आज', 18 जून, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। उर्दू रूप 'बज्में परेशां' शीर्षक से 'जमाना' अप्रैल, 1922 में प्रकाशित। उर्दू में असंकलित।]

लाग-डांट

जोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चली आती थी। कुछ डाँड़-मेंड़ का झगड़ा था। उनके परदादों में कई बार खून-खच्चर हुआ। बापों के समय से मुकदमेबाजी शुरू हुई। दोनों कई बार हाईकोर्ट तक गये। लड़कों के समय में संग्राम की भीषणता और भी बढ़ी, यहाँ तक कि दोनों ही अशक्त हो गये। पहले दोनों इसी गाँव में आधे-आधे के हिस्सेदार थे। अब उनके पास उस झगड़नेवाले खेत को छोड़ कर एक अंगुल जमीन न थी।

भूमि गयी, धन गया, मान-मर्यादा गया लेकिन वह विवाद ज्यों का त्यों बना रहा। हाईकोर्ट के धुरंधर नीतिज्ञ एक मामूली-सा झगड़ा तय न कर सके।

इन दोनों सज्जनों ने गाँव को दो विरोधी दलों में विभक्त कर दिया था। एक दल की भंग-बूटी चौधरी के द्वार पर छनती; तो दूसरे दल के चरस-गाँजे के दम भगत के द्वार पर लगते थे। स्त्रियों और बालकों के भी दो दल हो गये थे। यहाँ तक कि दोनों सज्जनों के सामाजिक और धार्मिक विचारों में भी विभाजक रेखा खिंची हुई थी। चौधरी कपड़े पहने सत्तू खा लेते और भगत को ढोंगी कहते। भगत बिना कपड़े उतारे पानी भी न पीते और चौधरी को भ्रष्ट बतलाते। भगत सनातनधर्मी बने तो चौधरी ने आर्यसमाज का आश्रय लिया। जिस बजाज, पन्सारी या कुंजड़े से चौधरी सौदे लेते उसकी ओर भगतजी ताकना भी पाप समझते थे। और भगतजी की हलवाई की मिठाइयाँ, उनके ग्वाले का दूध और तेली का तेल चौधरी के लिए त्याज्य थे। यहाँ तक कि उनके आरोग्यता के सिद्धांतों में भी भिन्नता थी। भगत जी वैद्यक के कायल थे, चौधरी यूनानी प्रथा के माननेवाले। दोनों चाहे रोग से मर जाते, पर अपने सिद्धांतों को न तोड़ते।

2

जब देश में राजनैतिक आंदोलन शुरू हुआ तो उसकी भनक उस गाँव में आ पहुँची। चौधरी ने आंदोलन का पक्ष लिया, भगत उनके विपक्षी हो गये। एक सज्जन ने आ कर गाँव में किसान-सभा खोली। चौधरी उसमें शरीक हुए, भगत अलग रहे। जागृति और बढ़ी, स्वराज्य की चर्चा होने लगी। चौधरी स्वराज्यवादी हो गये, भगत ने राजभक्ति का पक्ष लिया। चौधरी का घर स्वराज्यवादियों का अड्डा हो गया, भगत का घर राजभक्तों का क्लब बन गया।

चौधरी जनता में स्वराज्यवाद का प्रचार करने लगे :

"मित्रो, स्वराज्य का अर्थ है अपना राज। अपने देश में अपना राज हो वह अच्छा है कि किसी दूसरे का राज हो वह ?"

जनता ने कहा—अपना राज हो, वह अच्छा है।

चौधरी—तो यह स्वराज्य कैसे मिलेगा ? आत्मबल से, पुरुषार्थ से, मेल से, एक दूसरे से द्वेष करना छोड़ दो। अपने झगड़े आप मिल कर निपटा लो।

एक शंका—आप तो नित्य अदालत में खड़े रहते हैं।

चौधरी—हाँ, पर आज से अदालत जाऊँ तो मुझे गऊहत्या का पाप लगे। तुम्हें चाहिए कि तुम अपनी गाढ़ी कमाई अपने बाल-बच्चों को खिलाओ, और बचे तो परोपकार में लगाओ, वकील-मुखतारों की जेब क्यों भरते हो, थानेदार को घूस क्यों देते हो, अमलों की चिरौरी क्यों करते हो ? पहले हमारे लड़के अपने धर्म की शिक्षा पाते थे; वह सदाचारी, त्यागी, पुरुषार्थी बनते थे। अब वह विदेशी मदरसों में पढ़ कर चाकरी करते हैं, घूस खाते हैं, शौक करते हैं, अपने देवताओं और पितरों की निंदा करते हैं, सिगरेट पीते हैं, साल बनाते हैं और हाकिमों की गोड़धरिया करते हैं। क्या यह हमारा कर्तव्य नहीं है कि हम अपने बालकों को धर्मानुसार शिक्षा दें ?

जनता—चंदा करके पाठशाला खोलनी चाहिए।

चौधरी—हम पहले मदिरा का छूना पाप समझते थे। अब गाँव-गाँव और गली-गली में मदिरा की दूकानें हैं। हम अपनी गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपये गाँजे-शराब में उड़ा देते हैं।

जनता—जो दारू-भाँग पिये उसे डाँड लगाना चाहिए !

चौधरी—हमारे दादा-बाबा, छोटे-बड़े सब गाढ़ा-गजी पहनते थे। हमारी दादियाँ-नानियाँ चरखा काता करती थीं। सब धन देश में रहता था, हमारे जुलाहे भाई चैन की वंशी बजाते थे। अब हम विदेश के बने हुए महीन रंगीन कपड़ों पर जान देते हैं। इस तरह दूसरे देश वाले हमारा धन ढो ले जाते हैं; बेचारे जुलाहे कंगाल हो गये। क्या हमारा यही धर्म है कि अपने भाइयों की थाली छीन कर दूसरों के सामने रख दें ?

जनता—गाढ़ा कहीं मिलता ही नहीं।

चौधरी—अपने घर का बना हुआ गाढ़ा पहनो, अदालतों को त्यागो, नशेबाजी छोड़ो, अपने लड़कों को धर्म-कर्म सिखाओ, मेल से रहो—बस, यही स्वराज्य है। जो लोग कहते हैं कि स्वराज्य के लिए खून की नदी बहेगी, वे पागल हैं—उनकी बातों पर ध्यान मत दो।

जनता यह बातें चाव से सुनती थी। दिनोंदिन श्रोताओं की संख्या बढ़ती जाती थी। चौधरी के सब श्रद्धाभाजन बन गये।

3

भगत जी भी राजभक्ति का उपदेश करने लगे—

"भाइयो, राजा का काम राज करना और प्रजा का काम उसकी आज्ञा का पालन करना है। इसी को राजभक्ति कहते हैं। और हमारे धार्मिक ग्रंथों में हमें इसी राजभक्ति की शिक्षा दी गई है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलना महान पातक है। राजविमुख प्राणी नरक का भागी होता है।

एक शंका—राजा को भी तो अपने धर्म का पालन करना चाहिए ?

दूसरी शंका—हमारे राजा तो नाम के हैं, असली राजा तो विलायत के बनिये-महाजन हैं।

तीसरी शंका—बनिये धन कमाना जानते हैं, राज करना क्या जानें।

भगत—लोग तुम्हें शिक्षा देते हैं कि अदालतों में मत जाओ, पंचायतों में मुकदमे ले जाओ; लेकिन ऐसे पंच कहाँ हैं, जो सच्चा न्याय करें, दूध का दूध और पानी का पानी कर दें ! यहाँ मुँह-देखी बातें होंगी। जिनका कुछ दबाव है, उनकी जीत होगी, जिनका कुछ दबाव नहीं है, वह बेचारे मारे जायँगे। अदालतों में सब कारवाई कानून पर होती है, वहाँ छोटे-बड़े सब बराबर हैं, शेर-बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं।

दूसरी शंका—अदालतों का न्याय कहने ही को है, जिसके पास बने हुए गवाह और दाँव-पेंच खेले हुए वकील होते हैं, उसी की जीत होती है, झूठे-सच्चे की परख कौन करता है ? हाँ, हैरानी अलबत्ता होती है।

भगत—कहा जाता है कि विदेशी चीजों का व्यवहार मत करो। यह गरीबों के साथ घोर अन्याय है। हमको बाजार में जो चीज सस्ती और अच्छी मिले, वह लेनी चाहिए। चाहे स्वदेशी हो या विदेशी। हमारा पैसा सेंत में नहीं आता है कि उसे रद्दी-भद्दी स्वदेशी चीजों पर फेंकें।

एक शंका—अपने देश में तो रहता है, दूसरों के हाथ में तो नहीं जाता।

दूसरी शंका—अपने घर में अच्छा खाना न मिले तो क्या विजातियों के घर का अच्छा भोजन खाने लगेंगे ?

भगत—लोग कहते हैं, लड़कों को सरकारी मदरसों में मत भेजो। सरकारी मदरसे में न पढ़ते तो आज हमारे भाई बड़ी-बड़ी नौकरियाँ कैसे पाते, बड़े-बड़े कारखाने कैसे बना लेते? बिना नयी विद्या पढ़े अब संसार में निबाह नहीं हो सकता, पुरानी विद्या पढ़ कर पत्रा देखने और कथा बाँचने के सिवाय और क्या आता है ? राज-काज क्या पट्टी-पोथी बाँचने वाले लोग करेंगे ?

एक शंका—हमें राज-काज न चाहिए। हम अपनी खेती-बारी ही में मगन हैं, किसी के गुलाम तो नहीं।

दूसरी शंका—जो विद्या घमंडी बना दे, उससे मूरख ही अच्छा, यही नयी विद्या पढ़कर तो लोग सूट-बूट, घड़ी-छड़ी, हैट-कैट लगाने लगते हैं और अपने शौक के पीछे देश का धन विदेशियों की जेब में भरते हैं। ये देश के द्रोही हैं।

भगत—गाँजा-शराब की ओर आजकल लोगों की कड़ी निगाह है। नशा बुरी लत है, इसे सब जानते हैं। सरकार को नशे की दूकानों से करोड़ों रुपये साल की आमदनी होती है। अगर दूकानों में न जाने से लोगों की नशे की लत छूट जाय तो बड़ी अच्छी बात है। वह दूकान पर न जायगा तो चोरी-छिपे किसी न किसी तरह दूने-चौगुने दाम दे कर, सजा काटने पर तैयार हो कर, अपनी लत पूरी करेगा। तो ऐसा काम क्यों करो कि सरकार का नुकसान अलग हो, और गरीब रैयत का नुकसान अलग हो। और फिर किसी-किसी को नशा खाने से फायदा होता है। मैं ही एक दिन अफीम न खाऊँ तो गाँठों में दर्द होने लगे, दम उखड़ जाय और सरदी पकड़ ले।

एक आवाज—शराब पीने से बदन में फुर्ती आ जाती है।

एक शंका—सरकार अधर्म से रुपया कमाती है। उसे यह उचित नहीं। अधर्मी के राज में रह कर प्रजा का कल्याण कैसे हो सकता है ?

दूसरी शंका—पहले दारू पिला कर पागल बना दिया। लत पड़ी तो पैसे की चाट हुई। इतनी मजूरी किसको मिलती है कि रोटी-कपड़ा भी चले और दारू-शराब भी उड़े ? या तो बाल-बच्चों को भूखों मारो या चोरी करो, जुआ खेलो और बेईमानी करो। शराब की दूकान क्या है ? हमारी गुलामी का अड्डा है।

4

चौधरी के उपदेश सुनने के लिए जनता टूटती थी। लोगों को खड़े होने को जगह न मिलती। दिनोंदिन चौधरी का मान बढ़ने लगा। उनके यहाँ नित्य पंचायतों की राष्ट्रोन्नति की चर्चा रहती, जनता को इन बातों में बड़ा आनंद और उत्साह होता। उनके राजनैतिक ज्ञान की वृद्धि होती। वह अपना गौरव और महत्त्व समझने लगे, उन्हें अपनी सत्ता का अनुभव होने लगा। निरंकुशता और अन्याय पर जब उनकी तिउरियाँ चढ़ने लगीं। उन्हें स्वतंत्रता का स्वाद मिला। घर की रुई, घर का सूत, घर का कपड़ा, घर का भोजन, घर की अदालत, न पुलिस का भय, न अमला की खुशामद, सुख और शांति से जीवन व्यतीत

करने लगे। कितनों ही ने नशेबाजी छोड़ दी और सद्भावों की एक लहर-सी दौड़ने लगी।

लेकिन भगत जी इतने भाग्यशाली न थे। जनता को दिनोंदिन उनके उपदेशों से अरुचि होती जाती थी। यहाँ तक कि बहुधा उनके श्रोताओं में पटवारी, चौकीदार, मुदर्रिस और इन्हीं कर्मचारियों के मित्रों के अतिरिक्त और कोई न होता था। कभी-कभी बड़े हाकिम भी आ निकलते और भगत जी का बड़ा आदर-सत्कार करते। जरा देर के लिए भगत जी के आँसू पुँछ जाते, लेकिन क्षण-भर का सम्मान आठों पहर के अपमान की बराबरी कैसे करता ! जिधर निकल जाते उधर ही उँगलियाँ उठने लगतीं। कोई कहता, खुशामदी टट्टू है, कोई कहता, खुफिया पुलिस का भेदी है। भगत जी अपने प्रतिद्वंद्वी की बड़ाई और अपनी लोकनिंदा पर दाँत पीस-पीस कर रह जाते थे। जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्हें सबके सामने नीचा देखना पड़ा। चिरकाल से जिस कुल-मर्यादा की रक्षा करते आये थे और जिस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे, वह धूल में मिल गयी। यह दाहमय चिंता उन्हें एक क्षण के लिए चैन न लेने देती। नित्य समस्या सामने रहती कि अपना खोया हुआ सम्मान क्योंकर पाऊँ, अपने प्रतिपक्षी को क्योंकर पददलित करूँ, कैसे उसका गरूर तोड़ूँ?

अंत में उन्होंने सिंह को उसी की माँद में पछाड़ने का निश्चय किया।

5

संध्या का समय था। चौधरी के द्वार पर एक बड़ी सभा हो रही थी। आस-पास के गाँवों के किसान भी आ गये, हजारों आदमियों की भीड़ थी। चौधरी उन्हें स्वराज्य-विषयक उपदेश दे रहे थे। बार-बार भारतमाता की जय-जयकर की ध्वनि उठती थी। एक ओर स्त्रियों का जमाव था। चौधरी ने अपना उपदेश समाप्त किया और अपनी जगह पर बैठे। स्वयं सेवकों ने स्वराज्य फंड के लिए चंदा जमा करना शुरू किया कि इतने में भगत जी न जाने किधर से लपके हुए आये और श्रोताओं के सामने खड़े हो कर उच्च स्वर से बोले :

'भाइयो, मुझे यहाँ देखकर अचरज मत करो, मैं स्वराज्य का विरोधी नहीं हूँ। ऐसा पतित कौन प्राणी होगा जो स्वराज्य का निंदक हो; लेकिन इसके प्राप्त करने का वह उपाय नहीं है जो चौधरी ने बताया है और जिस पर तुम लोग लट्टू हो रहे हो। जब आपस में फूट और रार है, पंचायतों से क्या होगा ? जब विलासिता का भूत सिर पर सवार है तो नशा कैसे छूटेगा, मदिरा की दूकानों का बहिष्कार कैसे होगा ? सिगरेट, साबुन, मोजे, बनियान, अद्धी, तंजेब से कैसे पिंड छूटेगा ? जब रोब और हुकूमत की लालसा बनी हुई है तो सरकारी मदरसे कैसे छोड़ोगे, विधर्मी शिक्षा की बेड़ी से कैसे मुक्त हो सकोगे ? स्वराज्य लेने का केवल एक ही उपाय है और वह आत्म-संयम है। यही महौषधि तुम्हारे समस्त रोगों को समूल नष्ट करेगी। आत्मा को बलवान् बनाओ, इंद्रियों को साधो, मन को वश में करो, तुममें भातृभाव पैदा होगा, तभी वैमनस्य मिटेगा तभी ईर्ष्या और द्वेष का नाश होगा, तभी भोग-विलास से मन हटेगा, तभी नशेबाजी का दमन होगा। आत्मबल के बिना स्वराज्य कभी उपलब्ध न होगा। स्वयंसेवा सब पापों का मूल है, यही तुम्हें अदालतों में ले जाता है, यह तुम्हें विधर्मी शिक्षा का दास बनाये हुए है। इस पिशाच को आत्मबल से मारो और तुम्हारी कामना पूरी हो जायगी। सब जानते हैं, मैं 40 साल से अफीम का सेवन करता हूँ। आज से मैं अफीम को गऊ का रक्त समझता हूँ। चौधरी से मेरी तीन पीढ़ियों की अदावत

है। आज से चौधरी मेरे भाई हैं। आज से मुझे या मेरे घर के किसी प्राणी को घर के कते सूत से बुने हुए कपड़े के सिवाय कुछ और पहनते देखो तो मुझे जो दंड चाहो, दो। बस मुझे यही कहना है, परमात्मा हम सब की इच्छा पूरी करे।

यह कह कर भगत जी घर की ओर चले कि चौधरी दौड़कर उनके गले से लिपट गये। तीन पुश्तों की अदावत एक क्षण में शांत हो गयी।

उस दिन से चौधरी और भगत साथ-साथ स्वराज्य का उपदेश करने लगे। उनमें गाढ़ी मित्रता हो गयी और यह निश्चय करना कठिन था कि दोनों में जनता किसका अधिक सम्मान करती है।

प्रतिद्वंद्विता वह चिनगारी थी जिसने दोनों पुरुषों के हृदय-दीपक को प्रकाशित कर दिया था।

[हिन्दी कहानी। 'प्रभा', जुलाई, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित।]

लाला फीता या मजिस्ट्रेट का इस्तीफा

विद्या पर जाति-विशेष या कुल का एकाधिपत्य नहीं होता। बाबू हरिबिलास जाति के कुरमी थे। घर खेती-बारी होती थी, पर उन्हें बचपन से ही विद्याभ्यास का व्यसन था। यह विद्या-प्रेम देखकर उनके पिता रामबिलास महतो ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। उन्हें हल में न जोता। आप मोटा खाते थे, मोटा पहनते थे और मोटा काम करते थे, लेकिन हरिबिलास को कोई कष्ट न देते थे। वह पुत्र को रामायण पढ़ते देखकर खुशी से फूले न समाते थे। जब गाँव के लोग उनके पास अपने सम्मन या चिट्ठियाँ पढ़वाने आते, तो गर्व से महतो का सिर ऊँचा हो जाता था। बेटे के पास होने की खुशी और फेल होने का रंज उन्हें बेटे से भी अधिक होता था और उसके इनामों को देखकर तो वह मानो स्वर्ग में पहुँच जाते थे। हरिबिलास का उत्साह इन प्रेरणाओं से और भी बढ़ता था, यहाँ तक कि शनैः शनैः मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में पास हो गये। रामबिलास ने समझा था अब फ़स्ल काटने के दिन आये। लेकिन जब मालूम हुआ कि यह विद्या का अन्त नहीं, बल्कि वास्तव में आरम्भ है तो उनका जोश ठंडा पड़ गया। किन्तु हरिबिलास का अनुराग अब कठिनाइयों को ध्यान में न लाता था। उस दृढ़ संकल्प के साथ जो बहुधा दरिद्र, पर चतुर युवकों में पाया जाता है, वह कालेज में दाखिल हो गया। रामबिलास हारकर चुप हो गये। वे दिनोंदिन अशक्त होते जाते थे और खेती परिश्रम का दूसरा नाम है। कभी समय पर सिंचाई न कर सकते, कभी समय पर जुताई न हो सकती। उपज कम होती जाती थी, पर इस दुरवस्था में भी वह हरिबिलास की पढ़ाई के खर्च का प्रबन्ध करते रहते थे। धीरे-धीरे उनकी सारी जमीन रेहन हो गयी। यहाँ तक कि जब हरिबिलास एम. ए. पास हुए, तो एक अंगुल भूमि भी न बची थी। सौभाग्य से उनका नम्बर विद्यालय में सबसे ऊँचा था। अतएव उन्हें डिप्टी मैजिस्ट्रेट का पद मिल गया। रामबिलास ने यह समाचार सुना, तो पागलों की भाँति दौड़ा हुआ ठाकुरद्वारे में गया और

ठाकुरजी के पैरों पर गिर पड़ा। उसे स्वप्न में भी ऐसी आशा न थी।

2

बाबू हरिबिलास विद्वान् ही न थे, सच्चरित्र भी थे। बड़े निर्भीक, स्पष्टवादी, दयालु और गम्भीर। न्याय पर उनकी अटल भक्ति थी। न्याय-पथ से पग-भर भी न टलते थे। प्रजा उनसे दबती थी, पर उन्हें प्यार करती थी। अधिकारी लोग उनका सम्मान करते थे, पर मन में उनसे शंकित रहते थे।

उन्होंने नीति-शास्त्र का खूब अध्ययन किया था। उन्हें इस शास्त्र से बहुत प्रेम था। वे कानून को ही अपना अफसर समझते थे। वे अफसरों को खुश रखना चाहते थे, लेकिन जब उनका हुक्म कानून के विरुद्ध होता तो वे उसे न मानते थे।

उन्हें नौकरी करते पाँच साल हो चुके थे। अलीगढ़ में तैनात थे। ठाकुर दलजीतसिंह के घर डाका पड़ा। पुलिस को असामियों पर सन्देह हुआ। कई गाँव के असामी पकड़े गये, गवाहियाँ बनायी गयीं और असामियों पर मुकदमा चलने लगा। बेचारे किसान निरपराध थे। चारों ओर कुहराम मच गया। कितने ही किसान जिलाधीश के पास जाकर रोये। जिलाधीश ठाकुर साहब के मित्र थे, साल में दो-चार दावतें खाते, उनके हल्के में शिकार खेलते, उनकी मोटर और फिटन पर सवार होते थे। असामियों की गुस्ताखी पर बिगड़ गये। उन्हें डाँट-डपटकर दुत्कार दिया। ज्वाला और भी दहकी। साहब ने बाबू हरिबिलास को बंगले पर बुलाकर ताकीद की कि मुलजिमों को सजा अवश्य करना, नहीं जेल में बलवा हो जायगा; किंतु हरिबिलास को जब मालूम हुआ कि गवाह बनाये हुए हैं और ज्यादती ठाकुर साहब की है, तो उन्होंने मुल्जिमों को बरी कर दिया। हाकिम जिला ने यह फैसला सुना तो जामे बाहर हो गये। हरिबिलास की रिपोर्ट की, बदली हो गयी।

दूसरी बार फिर नीच जातिवालों के साथ न्याय करने का उन्हें ऐसा ही फल मिला। लखनऊ में थे, वहाँ देहाती मदरसों में नीच जातियों के लड़के दाखिल न होने पाते थे। कुछ तो अध्यापकों का विरोध था, उनसे ज्यादा गाँव के लोगों का। हरिबिलास दौरे पर गये और यह शिकायत सुनी, तो कई अध्यापकों की तम्बीह की, कई आदमियों पर जुर्माना किया। जमींदारों ने यह देखा तो उनसे द्वेष करने लगे। गुमनाम चिट्ठियाँ, झूठी शिकायतों से भरी हुई हाकिमों के पास पहुँचने लगीं। तहसीलदारों ने जमींदारों को और भी उकसाया। एक कुरमी का इतने ऊँचे पद पर पहुँचना सभी को खटकता था। नतीजा यह हुआ कि लोगों ने अपने लड़के मदरसे से उठा लिये, कई मदरसे बन्द हो गये। हरिविलास की खासी बदनामी हो गयी। हाकिम जिला न उन्हें वहाँ रखना उचित न समझा। उनकी बदली कर दी। एक दरजा भी घट गया।

इन अन्यायों के होते हुए भी बाबू हरिबिलास का-सा कर्त्तव्यशील अफसर सारे प्रान्त में न था। उन्हें विश्वास था कि मेरे स्थानीय अफसर कितने ही पक्षपाती हों, उनकी नीति कितनी ही संकुचित हो, पर देश का शासन सत्य और न्याय पर ही स्थित है। अँग्रेजी राज्य की वह सदैव स्तुति किया करते थे। यह उसी शासन-काल की उदारता थी कि उन्हें ऐसा ऊँचा पद मिला था, नहीं तो उनके लिए यह अवसर कहाँ थे ? दीनों और असहायों की इतनी रक्षा किसने की ? शिक्षा की उन्नति कब हुई ? व्यापार का इतना प्रसार कब हुआ ?

राष्ट्रीय भावों की ऐसी जागृति कहाँ थी ? वह जानते थे कि इस राज्य में भी कुछ-न-कुछ बुराइयाँ अवश्य हैं। मानवीय संस्थाएँ कभी दोष-रहित नहीं हो सकतीं, लेकिन बुराइयों से भलाइयों का पल्ला कहीं भारी है। यही विचार थे, जिनसे प्रेरित होकर यूरोपीय महासमर में हरिबिलास ने सरकारी खैर-ख्वाही में कोई बात उठा नहीं रखी, हजारों रंगरूट भरती कराये, लाखों रुपये कर्ज दिलवाये और महीनों घूम-घूमकर लोगों को उत्तेजित करते रहे। उसके उपलक्ष्य में उन्हें राय बहादुर की पदवी मिल गयी।

3

जाड़े के दिन थे। डिप्टी हरिबिलास बाल-बच्चों के साथ दौरे पर थे। बड़े दिन की तातील हो गयी थी, इसलिए तीनों लड़के भी आये हुए थे। बड़ा शिवबिलास लाहौर के मेडिकल कालेज में पढ़ता था। मँझला संतबिलास इलाहाबाद में कानून पढ़ता था और छोटा श्रीबिलास लखनऊ के ही एक स्कूल का विद्यार्थी था। शाम हो रही थी, डिप्टी साहब अपने तम्बू के सामने एक पेड़ के नीचे कुरसी पर बैठे हुए थे। इलाके के कई जमींदार भी मौजूद थे।

एक मुसलमान महाशय ने कहा, हुजूर, आजकल ताल में चिड़ियाँ खूब हैं। शिकार खेलने का अच्छा मौका है।

दूसरे महाशय बोले, हुजूर जिस दिन चलने को कहें, बेगार ठीक कर लिए जायँ। दो-तीन डोंगियाँ भी जमा कर ली जायँ।

शिवबिलास—क्या अभी तक आप लोग बेगार लेते ही जाते हैं ?

'जी हाँ, इसके बगैर काम कैसे चलेगा ? मगर हाँ, अब मार-पीट बहुत करनी पड़ती है।'

एक ठाकुर साहब बोले, जब से गाँव के मनई बसरा में मजूर होके गये तब से कोऊ का मिजाजै नहीं मिलत। बात तक तो सुनत नहीं है। ई लड़ाई हमका मटियामेट कै दिहेस।

शिवबिलास—आप लोग मजूरी भी तो बहुत कम देते हैं।

ठाकुर—हुजूर, पहले दिन-भर में दुई पैसा देत रहेन, अब तो चार देइत हैं, तौनों पर कोऊ बिना मार-गारी खाये बात नहीं सुनत है।

शिवबिलास—खूब ! चार पैसे तो आप मजदूरी देते हैं और चाहते हैं कि आदमियों को गुलाम बना लें। शहर में कोई मजदूर आठ आने से कम में नहीं मिल सकता।

मुसलमान महाशय ने कहा, हुजूर बजा फरमाते हैं। चार पैसे में तो एक वक्त की रोटियाँ भी नहीं चल सकतीं। मगर यहाँ की रिआया सख्ती की ऐसी आदी हो गयी है कि हम चाहे आठ आने ही क्यों न दें, पर बिला सख्ती किये मुखातिब ही नहीं होती। हाँ, यह तो बतलाइए हुजूर, यह आजकल क्या हवा फिर गयी है कि जहाँ देखिए वहीं मदरसे बन्द होते जाते हैं। सुनता हूँ बड़े-बड़े कालेज भी टूट रहे हैं। इससे तालीम का बड़ा नुकसान होगा।

बाबू हरिबिलास को मालूम था कि शिवबिलास इसका क्या जवाब देगा। उसके राजनैतिक विचारों से परिचित थे। दोनों आदमियों में प्रायः इस विषय पर वाद-विवाद होता रहता था। लेकिन वे न चाहते थे कि इन जमींदारों के सामने वे अपने स्वाधीन विचार प्रकट

करें। शिवबिलास को बोलने का अवसर न देकर आप ही बोले, मैं तो इसे पागलपन समझता हूँ, निरा पागलपन। यह लोग समझते हैं कि इन कार्रवाइयों से वे हमारी सरकार को परास्त कर देंगे। कुछ लोग देहातों में पंचायतें भी बनाते फिरते हैं। इसका मतलब भी यही है कि सरकारी अदालतों की जड़ खोदी जाय; लेकिन कोई इन भलेमानुसों से पूछे कि क्या कानूनी गुत्थियाँ इन देहातियों के सुलझाये सुलझ जायँगी। जिस कानून के पढ़ने और समझने में उमरें गुजर जाती हैं, उसका व्यवहार यह हल जुत्ते क्या खाकर करेंगे। शासन की बुनियादी परम्परा सत्य और न्याय पर स्थित रही है और जब तक शासक लोग इस मूल तत्त्व को भूल न जायँ, राज्य की अवनति नहीं हो सकती। हमारी सरकार ने सदैव इस आदर्श को अपने सामने रखा है। प्रत्येक जाति को, प्रत्येक व्यक्ति को उस रेखा तक कर्म और वचन की पूर्ण स्वाधीनता दे दी है कि जहाँ तक उससे दूसरों को कोई हानि न हो। यही न्यायप्रियता हमारी सरकार को अमर बनाये हुए है। जोर दिया जा रहा है कि लोग सरकारी नौकरियाँ छोड़ दें। इस उद्देश्य का पूरा होना और भी कठिन है। मैं यह मानता हूँ कि कर्मचारी लोग बड़ी संख्या में इस नीति पर चलें तो सरकार के काम में बाधा पड़ सकती है लेकिन ऐसा होना असम्भव-सा जान पड़ता है। कर्मचारियों में अच्छे और बुरे दोनों ही हैं। जो बुरे हैं वे नौकरी कभी न छोड़ेंगे, इसलिए कि बेईमानी और रिश्वत के ऐसे अवसर कहीं नहीं मिल सकते; जो अच्छे हैं उनके लिए भी यहाँ जाति-सेवा और उपकार का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। उन्हें किसी पर अन्याय करने के लिए मजबूर नहीं किया जाता। सरकार किसी गुप्त और प्रजाघातक नीति का व्यवहार नहीं करती। ऐसी दशा में वे लोग पृथक नहीं हो सकते। नौकरी को गुलामी कहकर उसकी निन्दा की जाती है। लेकिन मैं उस वक्त तक इसे गुलामी नहीं समझ सकता, जब तक हमें अपने धर्म और आत्मा के विरुद्ध चलने पर विवश न किया जाय। जमींदारों ने ये बातें ध्यान से सुनीं। ऐसा जान पड़ता था कि इस विषय में सब-के-सब बाबू हरिबिलास से सहमत हैं। हाँ, शिवबिलास इन युक्तियों का प्रतिवाद करने के लिए अधीर हो रहे थे, पर इतने आदमियों के सामने मुँह खोलने का साहस न होता था।

इतने में बेगार ने चिट्ठियों का थैला लाकर डिप्टी साहब के आगे रख दिया। यद्यपि शहर यहाँ से 15 मील के लगभग था, पर एक बेगार प्रतिदिन डाक लाने के लिए भेजा जाता था। डिप्टी साहब ने उत्सुकता के साथ थैला खोला तो उसमें से लाल फीते से बँधा हुआ एक सरकारी 'कम्युनिक' (प्रकाश पत्र) निकल पड़ा। उसे गौर से पढ़ने लगे।

4

आधी रात जा चुकी थी, किन्तु हरिबिलास अभी तक करवट बदल रहे थे। मेज पर लैम्प जल रहा था। वे उसी लाल फीते से बँधे हुए पत्र को बारबार देखते और विचारों में डूब जाते। वह लाल फीता उन्हें न्याय और सत्य के खून में रँगा हुआ जान पड़ता था। लगता किसी घातक की रक्तमय आँखें थीं जो उनकी ओर घूर रही थीं या एक ज्वाला-शिखा जो उनकी आत्मा और सत्य-ज्ञान को निगल जाने के लिए उनकी ओर लपकी चली जाती थी। वे सोच रहे थे, अब तक मैं समझता था कि मेरा कर्तव्य न्याय पर चलना है। अब मालूम हुआ कि यह मेरी भूल थी। मेरा कर्तव्य न्याय का गला घोंटना है, नहीं तो मुझे ऐसा आदेश

क्यों मिलते ? क्या समाचार-पत्रों का पढ़ना भी कोठ अपराध है ? क्या दीन किसानों की रक्षा करना भी कोई पाप है ? मैं ऐसा नहीं समझता। मुझे उन साधु संन्यासियों पर कड़ी दृष्टि रखने का हुक्म दिया गया है जो धर्मोपदेश करते हुए दिखाई दें। यही नहीं, मुझे यह भी देखना चाहिए कि कौन गजी-गाढ़े के कपड़े पहने हुए हैं, किसके सिर पर कैसी टोपी है, उस टोपी पर कैसी छाप लगी हुई है। चरखा चलाने वालों पर भी नजर रखनी चाहिए मुझे उन लोगों के नाम भी अपने रोजनामचे में दर्ज करने चाहिए, जो राष्ट्रीय पाठशालाएँ खोलें, जो देहातों में पंचायतें बनायें, जो जनता को नशे की चीजें त्याग करने का उपदेश करें। इस आज्ञा के अनुसार वे भी राजविद्रोही हैं, जो लोगों में स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार करें, ताउन और हैजे के प्रकोप से जनता की रक्षा करें, उन्हें मुफ्त दवाएँ दें, सारांश यह कि मुझे जाति के सेवकों का, हितैषियों का शत्रु बनना चाहिए। इसलिए कि मैं शासन का एक अंग हूँ।

उन्होंने एक बार फिर लाल फीते की ओर देखा। हाँ, तो इस दशा में मेरा कर्तव्य क्या है ? अपनी जाति का साथ दूँ या विजातीय सरकार का ? इस समस्या का कारण यही है कि हमारे शासक विजातीय हैं और उनका स्वार्थ प्रजा के हित से भिन्न है। वे अपनी जाति के स्वार्थ के लिए, गौरव के लिए, व्यापारिक उन्नति के लिए यहाँ के लोगों को अनंत काल तक इसी दशा में रखना चाहते हैं। इसीलिए प्रजा के राष्ट्रीय भावों को जागते देखकर वे उनको दबाने पर तुल जाते हैं। उन्हें वे सरल व्यवस्थायें आपत्तिजनक जँचने लगती हैं जिन्हे प्रजा अपने आत्म-सुधार के लिए करती है। नहीं तो क्या मद-त्याग के उपदेश भी सरकार की आँखों में खटकते ? शासन का मुख्य धर्म है प्रजा की रक्षा, न्याय और शान्ति का विधान। अब तक मैं समझता था कि सरकार इस कर्तव्य को सर्वोपरि समझती है, इसलिए मैं उसका भक्त था। जब सरकार अपने धर्म-पथ से हट जाती है तो मेरा धर्म भी यही है कि उसका साथ छोड़ दूँ। अपने स्वार्थ के लिए देश का द्रोही नहीं बन सकता। सरकार से मेरा थोड़े दिनों का नाता है, देश से जन्म-भर का। क्या इस अस्थायी अधिकार के गर्व में अपने स्थायी सम्बन्ध को भूल जाऊँ। इस अधिकार के लिए क्या अब मुझे देश का शत्रु बनना पड़ेगा ? क्या देश को अपने स्वार्थ पर न्यौछावर कर दूँ ? एक तो वे हैं जो देश-सेवा पर आत्म-समर्पण कर देते हैं, उसके लिए नाना प्रकार के कष्ट झेलते हैं। एक मैं अभागा हूँ, जिसका काम यह है कि उन देश-सेवकों की जान का गाहक बनूँ। लेकिन यह सम्बन्ध तोड़ दूँ तो निर्वाह कैसे हो ? जिन बच्चों को अब तक सभी सुख प्राप्त थे उन्हें अब दरिद्रता का शिकार बनना पड़ेगा। जिस परिवार का पालन-पोषण अब तक अमीरों के ढंग पर होता था, उसे अब रो-रोकर दिन काटने पड़ेंगे। घर की जायदाद मेरी शिक्षा की भेंट हो चुकी, नहीं तो कुछ खेती-बारी ही करके गुजर करता। वही तो मेरा मौरूसी पेशा था। कैसा सन्तोषमय जीवन था, अपने पसीने की कमाई खाते थे और सुख की नींद सोते थे। इस शिक्षा ने मुझे चौपट कर दिया, विलास का दास बना दिया, अनावश्यकताओं की बेड़ी पैरों में डाल दी। अब तो उस पुराने जीवन की कल्पना मात्र से प्राण सूख जाता है।

हा ! हृदय में कैसी-कैसी अभिलाषाएँ थीं, कैसे-कैसे मनमोदक खाता था। शिवबिलास विलायत जाकर डाक्टरी पढ़ने का स्वप्न देख रहा है। सन्तबिलास को वकालत की धुन सवार है, छोटा श्रीबिलास अभी से सिविल सरविस की तैयार कर रहा है। अब इन सबों के मन्सूबे कैसे पूरे होंगे। लड़कों को तो खैर छोड़ भी दूँ तो वे किसी-न-किसी तरह गुजर कर

ही लेंगे, लड़कियों का क्या करूँ। सोचा था, उनका विवाह उच्चकुल में करूँगा, जाति का भेद मिटा दूँगा। यह मनोकामना भी पूरी होती नहीं दीखती। कहीं दूसरी जगह नौकरी तलाश करूँ तो इतना वेतन कहाँ मिल सकता है ? रईसों के दरबार में पहुँचना कठिन है। सरकार की अवज्ञा करनेवाले को धरती-आकाश कहीं भी ठिकाना नहीं। परमात्मन्, तुम्हीं सुझाओ क्या करूँ ?

इन्हीं चिन्ताओं में पड़े-पड़े उन्हें नींद आ गयी।

एक सप्ताह बीत गया, पर बाबू हरिबिलास अभी तक दुविधा में ही पड़े थे। वह प्रायः उदास और खिन्न रहते थे। इजलास पर बहुत कम आते और आते भी तो मुकदमों की तारीख मुल्तवी करके फिर चले जाते। लड़के और लड़कियों से भी बहुत कम बातचीत करते, बात-बात पर झुँझला पड़ते, कुछ चिड़चिड़े हो गये थे। उन्होंन स्त्री से इस समस्या की चर्चा की, पर वह इस्तीफा देने पर उनसे सहमत न हुई। उसमें न्याय का वह ज्ञान न था जो हरिबिलास के हृदय को व्यथित कर रहा था। लड़कों से इस विषय में कुछ कहने का उन्हें साहस न होता था। डरते थे कि वे निराश, निरुत्साह हो जायँगे। आनन्दमय जीवन की कैसी-कैसी कल्पनाएँ कर रहे होंगे, वह सब नष्ट हो जायँगी। इस विषय में तो अब उन्हें कोई सन्देह न था कि सरकार ने सत्पथ को त्याग दिया और उसकी नौकरी से मेरा उद्धार नहीं हो सकता। ऐसा हुनर, कोई ऐसा उद्यम न जानते थे जिस पर उन्हें भरोसा होता। यहाँ तक कि साधारण क्रय-विक्रय भी उनके लिए कष्टसाध्य था। वे अपने को इस नौकरी के सिवा और किसी काम के योग्य न पाते थे। और न अब इतनी सामर्थ्य ही थी कि कोई नया उद्यम सीख सकें। स्वार्थ और कर्तव्य की उलझन में उनकी अत्यंत करुण दशा हो रही थी।

6

आठवें दिन उन्हें यह खबर मिली कि इस इलाके में मादक वस्तुओं का निषेध करने के लिए किसानों की एक पंचायत होनेवाली है, उपदेश होंगे, भजन गाये जायँगे और लोगों से मद-त्याग की प्रतिज्ञा ली जायगी। हरिबिलास मानते थे कि नशे के व्यसन से देश का सर्वनाश हुआ जाता है, यहाँ तक कि नीची श्रेणी के मनुष्यों को तो इसने अपना गुलाम ही बना लिया है, अतएव इसका बहिष्कार सर्वथा स्तुत्य है। पहले एक बार मादक-वस्तु-विभाग में रह चुके थे और उनके समय में इस विभाग की आमदनी खूब बढ़ गयी थी। उस वक्त इस प्रश्न को वे अधिकारियों की आँखों से देखते थे। टेम्परेन्स के उपदेशकों को सरकार का विरोधी समझते थे। लेकिन इस लाल फीतेवाले आज्ञापत्र ने उनकी काया ही पलट दी थी। सरकारी प्रजा-हित-नीति पर उन्हें लेशमात्र भी विश्वास न रहा था। इस आज्ञा के अनुसार उनका कर्त्तव्य था कि जाकर इस पंचायत की कार्रवाइयों को देखें और यदि इस त्याग के लिए किसी के साथ सख्ती या तिरस्कार करते पायें तो तुरन्त उसे बन्द कर दें। मनुष्योचित और पदोचित कर्त्तव्यों में घोर संग्राम हो रहा था। इसी बीच में हल्के का दारोगा कई सशस्त्र कान्सटेबलों और चौकीदारों के साथ आ पहुँचा और सलाम करने को हाजिर हुआ। हरिबिलास उसकी सूरत देखते ही लाल हो गये, जैसे फूस में आग लग जाय। कठोर स्वर से बोले, आप यहाँ कैसे आये?

दारोगा—हुजूर को इस पंचायत की इत्तिला तो मिली ही होगी। वहाँ फिसाद होने का खौफ है। इसलिए हुजूर की खिदमत में हाजिर हुआ हूँ।

हरिबिलास—मुझे इसका कोई भय नहीं है। हाँ, आपके जाने से फिसाद हो सकता है।

दारोगा ने विस्मित होकर कहा—मेरे जाने से !

हरिबिलास—हाँ, आपके जाने से। रिआया को आपस में लड़ाकर आप अपना उल्लू सीधा करते हैं। मैं आपको हथकंडों से खूब वाकिफ हूँ। आपको मेरे साथ चलने की जरूरत नहीं।

दारोगा—सुपरिंटेन्डेन्ट साहब बहादुर का सख्त हुक्म है कि इस मौके पर हुजूर की खिदमत में हाजिर रहूँ।

हरिबिलास—तो क्या आप मुझे नजरबन्द करने आये हैं ?

दारोगा ने भयभीत होकर कहा—हुजूर की शान में मुझसे ऐसी...

हरिबिलास—मैं तुम्हारे साहब का गुलाम नहीं हूँ।

दारोगा—तो मेरे लिए क्या आर्डर होता है ?

हरिबिलास—जाकर अपने साफे को जला डालिए और वरदी को फाड़कर फेंक दीजिए और इस गुलामी की जंजीर को, जो आपकी कमर मैं है और जिसे आप हुकूमत का निशान समझते हैं, तोड़कर आजाद हो जाइए। सरकारी हुक्मों की बहुत तामील कर चुके। डाके और चोरी की तफतीश खूब की और हराम का माल खूब जमा किया। अब जाकर कुछ दिनों घर बैठिए और अपने पापों का प्रायश्चित कीजिए। रिआया की जान व माल हिफाजत करने का स्वाँग भरकर उनको अजाब में न डालिए यह किसानों की पंचायत है, लुटेरों का जत्था नहीं है, सब एक जगह बैठ कर नशेबाजी बन्द करने की तदबीरें सोचेंगे। आपको मेरे साथ चलने की मुतलक जरूरत नहीं है।

बाबू हरिबिलास का मुखमंडल विमल क्रोध से उत्तेजित हो रहा था और आँखों से ज्योति निकल रही थी। दारोगा जी पर रोब छा गया और यह सोचते हुए कि या तो इन्होंने आज शराब पी है या इन पर कोई सख्त सदमा आ पड़ा है, थाने चले गये। ये शब्द बाबू हरिबिलास के अन्तःकरण से निकले थे। वह उनके अन्तिम निश्चय की घाषणा थी। दारोगा जी ने इधर पीठ फेरी उधर उन्होंने अपना इस्तीफा लिखना शुरू किया।

''महाशय ! मेरा विश्वास है कि शासन-संस्था ईश्वरी इच्छा का बाह्य स्वरूप है और उसके नियम भी ईश्वरीय नियमों की भाँति दया, सत्य और न्याय पर अवलम्बित हैं। मैंने इसी विश्वास के अधीन बीस वर्ष तक सरकार की सेवा की। जब कभी मेरे आत्मिक आदेश और सरकारी हुक्म में विरोध हुआ, मैंने यथासाध्य आत्मा का आदेश पालन किया। मैंने अपने को कभी प्रजा का स्वामी नहीं समझा, सदैव सेवक समझता रहा, इसलिए सरकारी पत्र नं....तारीख....में जो आज्ञा दी गयी है वह मेरी आत्मा और धर्म के इतनी विरुद्ध है, और उसमें न्याय की ऐसी हत्या की गयी है, कि मैं उसका पालन करना घोर पाप समझता हूँ। मेरे विचार में वर्त्तमान शासन सत्पथ से सम्पूर्णतः विचलित हो गया है। यह आज्ञा प्रजा के जन्मसिद्ध स्वत्व को छीनना और उनके राष्ट्रीय भावों का वध करना चाहती है। यह उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि शासकवृन्द प्रजा को अनन्त काल तक मूर्खता और अज्ञान में

व्यस्त रखना चाहते हैं और उसकी जागृति से सशंक हैं। वह अपने उत्थान और सुधार के लिए जो प्रयत्न करना चाहती है उसे भी ताड़नीय समझते हैं, ऐसे दुष्कर्म में योग देना अपनी आत्मा, विवेक और जातीयता का खून करना है। अतएव अब मुझे इस राज-संस्था से असहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। मैं अपना पद-त्याग करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि मुझे बिना विलम्ब इस बन्धन से मुक्त किया जाय।"

7

बाबू हरिबिलास ने समझा था कि इस्तीफा मंजूर होने में कुछ देर लगेगी; लेकिन दूसरे ही दिन तार द्वारा मंजूरी आ गयी। उनकी जगह पर एक महाशय नियुक्त हो गये। हरिबिलास ने बड़ी खुशी से चार्ज दिया, किन्तु शाम होते-होते उनकी यह खुशी गायब हो गयी और अनेक चिन्ताओं ने आ घेरा। बजाज के कई सौ रुपये बाकी थे, नौकरों का वेतन भी बाकी पड़ा हुआ था, बँगले का किराया छः महीने से न दिया गया था, हलवाई का हिसाब-किताब चुकाना था, ग्वाले के कुछ रुपये आते थे। इधर वे इजलास पर बैठे हुए चार्ज दे रहे थे, उधर उनकी कोठी के द्वार पर लेनदारों की भीड़ लगी हुई थी। वे चार्ज देकर लौटे तो यह समूह देखकर उनका दिल बैठ गया। यों वे कुछ हाल और कुछ बकाया के रुपये अपनी सुविधा के अनुसार दे दिया करते थे। लेकिन आज जब हाल और बकाया दोनों ही चुकाना पड़ा, तो यह रकम इस तरह बढ़ी जैसे साफ फर्श को हटा देने से नीचे गर्द का एक ढेर दिखाई देने पलगता है। उन्हें अब तक यह अनुमान ही न हुआ था कि मैं इतने रुपयों का देनदार हूँ। सेविंग बैंक की सारी बचत इसी फुटकर हिसाब के चुकाने में समाप्त हो गयी। अब घोड़े, टमटम आदि की भी जरूरत न थी। उन्हें नीलाम करके हाथ में कुछ रुपये कर लेना चाहते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल जब वे चीजें नीलाम होने लगीं तो वे इस हृदय-विदारक दृश्य को सहन न कर सके। हताश होकर घर में गये तो उनकी आँखें सजल थीं ! सुमित्रा ने उन्हें दुखी देखकर सहृदयतापूर्ण भाव से कहा—व्यर्थ दिल इतना छोटा करते हो। रंज करने की कोई बात नहीं, यह तो और खुशी की बात है कि जिस काम के करने में अधर्म था उससे गला छूट गया। अब तुम्हें किसी पर अन्याय करने के लिए कोई मजबूर तो न करेगा। भगवान किसी-न-किसी तरह बेड़ा पार लगावेंगे ही। अपने भाई-बन्दों पर अन्याय करते तो उसका दोष, पाप हमारे ही बाल-बच्चों पर न पड़ता ? भगवान को कुछ अच्छा करना था, तभी तो उसने तुम्हारे मन में यह बात डाली।

इन बातों से हरिबिलास को कुछ तस्कीन हुई। सुमित्रा पहले इस्तीफा देने पर राजी न होती थी, पर पति को मानसिक कष्ट से निवृत्त करने की इच्छा ने उसके धैर्य और संतोष को सजग कर दिया था।

हरिबिलास ने सुमित्रा की ओर श्रद्धाभाव से देखकर कहा, जानती हो कितनी तकलीफें उठानी पड़ेंगी ?

सुमित्रा—तकलीफों से क्या डरना। धर्म-रक्षा के लिए आदमी सब कुछ सह लेता है। हमें भी तो आखिर ईश्वर के दरबार में जाना है। उसको कौन-सा मुँह दिखाते।

हरिबिलास—क्या बताऊँ, मुझे तो इस वैज्ञानिक शिक्षा ने कहीं का न रखा। ईश्वर पर श्रद्धा ही नहीं रही। यद्यपि मैंने इन्हीं भावों से प्रेरित होकर इस्तीफा दिया है, पर मुझमें

यह सजीव और चैतन्य भक्ति नहीं है। मुझे चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है। लड़के अभी तक अपने को सँभालने के योग्य नहीं हुए। शिवबिलास को साल भर और भी पढ़ा सकता तो वह घर संभाल लेता ! सन्तविलास को अभी तीन साल तक सँभालने की जरूरत है, और बेचारे श्रीबिलास की तो अभी कोई गिनती ही नहीं। अब ये बेचारे अद्धड़ ही रह जायँगे। मालूम नहीं, मन में मुझे क्या समझते हों।

सुमित्रा—अगर उन्हें ईश्वर ने बुद्धि दी होगी तो अब वह तुम्हें अपना पिता समझने के बदले देवता समझने लगेंगी।

8

रात का समय था। शिवबिलास और उनके दोनों भाई बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे।

शिवबिलास ने कहा, आजकल दादा की दशा देखकर यही जी चाहता है कि गृहस्थी के जंजाल में न पड़ें। कल जब से इस्तीफा मंजूर हुआ है तब से उनका चेहरा ऐसा उदास हो गया है कि देखकर करुणा आती है। कई बार इच्छा हुई कि चलकर उन्हें तस्कीन दूँ, लेकिन उनके सामने जाते हुए स्वयं मेरी आँखें सजल हो जाती हैं। आखिर हमीं लोगों की चिन्ता उन्हें सता रही है, नहीं तो उन्हें अपनी क्या चिन्ता थी? चाहें तो किसी स्कूल या कालेज में अध्यापक हो सकते हैं। दर्शन और अर्थशास्त्र में बहुत कुशल हैं।

सन्तबिलास—आपने मेडिकल कालेज से अपना नाम नाहक कटवा लिया। यह विभाग तो बुरा न था। आप सरकारी नौकरी न करते, घर बैठकर तो काम कर सकते थे। दादा से भी न पूछा। वे सुनेंगे तो बहुत रंज होगा।

शिवबिलास—इसीलिए तो मैंने अब तक उनसे कहा नहीं। और फिर मौका भी नहीं मिला। डाक्टरी विभाग कितना ही अच्छा हो लेकिन मैंने जो संकल्प कर लिया है उस पर स्थिर हूँ। क्यों, तुम कुछ मदद कर सकोगे ?

श्रीबिलास—वह देखिये, मियाँ घोड़े अस्तबल से निकले। अब कल से किसी दूसरे कोचवान के पाले पड़ेंगे, मारते-मारते भुरकस निकाल देगा। टूटी टमटम भी सटर-पटर करती हुई चली।

सन्तबिलास—मैं तो परीक्षा के पहले शायद आपकी कुछ मदर न कर सकूँ। उसके बाद मुझसे जो काम चाहें, ले सकते हैं।

शिवबिलास—एम. ए. से क्यों तुम्हें इतना प्रेम है।

श्रीबिलास—एम. ए. का अर्थ है 'मास्टर आफ आर्ट्स'।

सन्तबिलास—यह मेरी बहुत पुरानी अभिलाषा है और अब लक्ष्य के इतना समीप आकर मुझसे नहीं हटा जाता।

शिवबिलास—अपने नाम के पीछे एम. ए., एल-एल. बी. का पुछल्ला लगाये बिना नहीं मानोगे।

सन्त—(चिढ़कर) कोई और भी मानता है या मैं ही मानूँ। सभी तो इन उपाधियों पर जान देते हैं और क्यों न दें, समाज में इनका सम्मान कितना है। अभी तक शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो जिसने अपनी डिग्रियाँ छोड़ दी हों। वे लोग भी जो असहयोग के नेता थे अपने नामों के साथ पुछल्ले लगाने में कोई आपत्ति नहीं समझते, नहीं बल्कि उस पर गर्व

करते हैं। आपके राष्ट्रीय कालेजों में भी इन्हीं डिग्रियों की पूछ होती है। चरित्र को कोई पूछता भी नहीं। जब हम इसी कसौटी पर परखे जाते हैं तो मेरे उपाधि प्रेम पर किसी को हँसने की जगह नहीं है।

शिवबिलास—तुम तो नाराज हो गये। मेरा आक्षेप तुम पर नहीं बल्कि सभी उपाधि-प्रेमियों पर था। यदि असहयोगी लोग अभी तक उपाधियों पर जान दे रहे हैं तो इससे इस प्रथा का दूषण कम नहीं होता है। यह उनके लिए और भी निन्द्य है। लेकिन हाँ, अब हवा बदल रही है, सम्भव है थोड़े दिनों में यह प्रथा मिट जाय। तुम एक वर्ष में मेरी सहायता करने का वचन देते हो। इतने दिन तक एक समाचार-पत्र का बोझ मैं अकेले कैसे सँभाल सकूँगा।

सन्त—पहले यह तो बतलाइए आपकी नीति क्या होगी ? अगर आपने भी वही नीति रखी जो दूसरे पत्रों की है तो अलग पत्र निकालने की क्या ज़रूरत है ?

श्रीबिलास—मुझसे तो आप लोग पूछते ही नहीं। मैं भी मदरसा छोड़ रहा हूँ।

शिव—तुम मेरे कार्यालय में लेखक बन जाना।

सन्त—तुम क्यों बीच में बोल उठते हो ? हाँ, भाई साहब, आपने कौन-सी नीति ग्रहण करने का निश्चय किया है ?

शिव—मेरी नीति होगी सरल, किन्तु विवेकशील जीवन का प्रचार। मैं विलासिता और दिखावे की जड़ खोदने की चेष्टा करूँगा। हम आँखें बन्द किये हुए पच्छिमी जीवन की नकल कर रहे हैं। धन को हमने सर्वोच्च स्थान दे रखा है। हमारी कुलीनता, सम्मान, गौरव, प्रतिभा सब कुछ धन के अधीन हो गयी है। हम अपने पुरुषाओं के सन्तोष और संयम, त्याग को बिल्कुल भूल गये हैं। जहाँ देखिए वहीं धनपतियों की, साहूकारों की, जमींदारों की पताका लहरा रही है। मैं दीन-रक्षा को अपना आदर्श बनाऊँगा। यद्यपि वे विचार नये नहीं है, कभी-कभी पत्रों में इन पर टिप्पणियाँ की जाती हैं, किन्तु अभी तक इनका महत्त्व दार्शनिक सिद्धान्तों से अधिक नहीं है, और वह भी यूरोप के बड़े-बड़े विद्वानों की नकल है। यह टिप्पणियाँ केवल मनोरंजन के लिए की जाती हैं, इसी कारण इनका किसी पर असर नहीं पड़ता। मेरा जीवन इस सिद्धान्त को चरितार्थ करेगा। ये विचार बरसों से मेरे मन में तरंगें मार रहे हैं। अब ये तरंगें बाहर निकलकर धन-लोलुपता और इन्द्रिय-लिप्सा की दीवारों से टकरायेंगी। मैं तुमसे सच कहता हूँ, धन का यह मान देखकर कभी-कभी मेरा रक्त खौलने लगता है। विद्वानों और गुणियों की इज्जत ही उठ गयी। एक समय यह था कि बड़े-बड़े सम्राट ज्ञानियों के सामने सिर झुकाते थे। आजकल तो धार्मिक संस्थाएँ भी धनियों का मुँह ताकती रहती हैं। हमारे साधु-महात्मा, उपदेशक देहातों में भूल कर भी नहीं जाते। वे ऊँचे-ऊँचे सुसज्जित पंडालों में व्याख्यान देते हैं, मोटरों पर हवा खाते और सुन्दर प्रासादों में निवास करते हैं। शोक तो यह है कि विद्वज्जन भी इसी धनदेव के उपासक हैं। जिन्हें संतोष और सरलता का नमूना होना चाहिए था वे भी अपनी विद्या और योग्यता को मोतियों के तौल बेचते हैं। धन-लालसा ने उन्हें भी ग्रस लिया, त्याग का तो लोप ही हो गया।

सन्त—आपके विचार तो साम्यवादियों से हैं। क्या आपको मालूम नहीं कि वे लोग विद्वानों को अपने समाज में क्या स्थान देते हैं ?

शिव—खूब मालूम है, ऐसे विद्वान् इसी बर्ताव के योग्य हैं। जिस प्रकार भूमिवाले अपनी भूमि को, व्यापार वाले अपने व्यापार को भोग-विलास का साधन बनाते हैं इसी प्रकार विद्वान् लोग भी अपनी विद्या और सिद्धि को इन्द्रियों के सुख पर बलिदान करते हैं। ऐसी दशा में उन्हें यदि धनियों और भूपतियों के साथ गिना जाता है तो कोई अन्याय नहीं है।

इतने में एक सुन्दरी बालिका कमरे में आयी। यह बाबू हरिबिलास की छोटी लड़की अंजनी-थी। कन्या पाठशाल में पढ़ती थी। श्रीबिलास ने कहा, आओ अंजनी आओ, ये दोनों महाशय तो बड़ी-बड़ी बातें कर रहे हैं, हम-तुम भी अपने जीवन के छोटे-छोटे मन्सूबे बाँधें। मैंने तो खेती करने का विचार किया है।

अंजनी—मैं तुम्हारी गाय दुहूँगी, दही जमाऊँगी, घी निकालूँगी।

श्री—और चर्खा ?

अंजनी—भैया, मुझसे चर्खा न चलाया जायगा, यह बुढ़िया का काम है।

श्री—वाह इस चर्खे पर तो सब कुछ निर्भर है। हमारे देश में 70 करोड़ का कपड़ा हर साल विलायत से आता हैं। शायद 10 करोड़ का कपड़ा इटली, जापान, फ्रान्स आदि देशों से आता होगा। हम, तुम और भाग्यवती आध पाव सूत रोज कातें और साल में 300 दिन काम करें तो तीन मन सूत कात लेंगे। 3 मन सूत में कम-सेन्कम 100 जोड़े धोतियाँ तैयार होंगी। अगर एक जोड़े का दाम 4 रु. ही रखें, तो हम साल भर में 400 रु. की धोतियाँ बना लेंगे। धुनाई मैं आप कर लूँगा। यह 3 प्राणियों के साधारण परिश्रम का फल है। यदि देश की आबादी के केवल 50 लाख मनुष्य यह काम करने लगें तो हमारे देश को 80 करोड़ वार्षिक बचत हो जायगी। अगर एक करोड़ मनुष्य इस धन्धे में लग जायँ तो हमें कपड़े के लिए अन्य देशों को एक पैसा भी न देना पड़े।

शिव—(हिसाब लगाकर) यार तुमने खूब हिसाब लगाया। इतने महत्त्वपूर्ण काम के लिए 50 लाख मनुष्यों की आवश्यकता है। मुझे अब तक यह अनुमान ही न था कि इतने कम आदमियों की मेहनत हमारी आवश्यकताओं को पूरी कर सकती है। चलो मैं भी तुम्हारी मदद करूँगा। अपने पत्र में घरेलू उद्योग-धन्धों का प्रचार करूँगा।

सन्त—आपके और मेरे आदर्शों में बड़ा अन्तर है। मेरा विचार है कि बुद्धि और मस्तिष्क से काम करनेवालों की श्रमजीवियों पर सदैव प्रधानता रहेगी। उनके काम का महत्त्व कहीं अधिक है। यदि आप उनके लिए अवस्थानुकूल जीवनवृत्ति की व्यवस्था नहीं करेंगे, तो वे एकाग्रचित्त होकर विद्या की उन्नति न कर सकेंगे और उसका परिणाम बुरा होगा। सन्तोष और त्याग राष्ट्रीय अवनति के लक्षण हैं। उन्नत जातियाँ अधिकार, राज्य विस्तार, सम्पत्ति और गौरव पर जान देती हैं, यहाँ तक कि बोलशेविष्ट भी दिनोंदिन अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाते चले जाते हैं।

शिव—इस विषय पर फिर बातें होंगी, चलो इस समय मौका है, दादा घर में अम्माँ के पास बैठे हुए हैं, जरा उन्हें तसकीन दे आयें।

9

तीनों युवक जाकर हरिबिलास के सामने खड़े हो गये। उन्होंने चिन्तित भाव से शिवबिलास

को देखकर पूछा, तुम्हारा कालेज कब खुलेगा ?

शिव—कालेज पन्द्रह जनवरी को खुलेगा, लेकिन मैं वहाँ जाना नहीं चाहता। नाम कटवा लिया।

हरिबिलास—यह तुमने क्या नादानी की। तुम्हारी समझ में क्या मैं चार महीने तक भी तुम्हारी सहायता न कर सकता। इसी एप्रिल में तो तुम्हारी परीक्षा होनेवाली थी, कम-से-कम मुझसे पूछ तो लेते, क्या मेरा इतना अधिकार भी नहीं है ?

शिव—इतनी भूल तो अवश्य हुई, लेकिन जब आपने न्याय के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, तो मेरे लिए यह लज्जा की बात थी कि आपके आदर्श के विरुद्ध व्यवहार करता। मैंने डाक्टरी पढ़ने का इरादा छोड़ दिया। कम-से-कम इसे जीविका का आधार नहीं बनाना चाहता। मेरा विचार एक समाचार-पत्र निकालने का है।

हरिबिलास—जेलखाने जाने के लिए तैयार हो ?

शिवबिलास—यदि न्याय और सत्य की रक्षा के लिए जेल जाना पड़े तो मैं इस अहोभाग्य समझूँगा।

हरिबिलास—मालूम होता है तुम्हें हवा अच्छी तरह लग गयी। रुपयों का क्या प्रबन्ध किया ?

शिवबिलास—इसकी आप चिन्ता न कीजिए। मेरे कई मित्रों ने सहायता करने का वचन दिया है।

हरिबिलास—अच्छी बात है, इसका भी मजा चख लो। अभी राजनीति के चक्कर में आये नहीं हो, समझते हो जाति-सेवा जितनी स्तुत्य है उतनी सुगम भी है, पर तुम्हें शीघ्र ही अनुभव हो जायगा कि यहाँ पग-पग पर काँटे हैं। मैं ऐसा स्वार्थान्ध और भाव-शून्य नहीं हूँ कि तुम्हारे देशानुराग को दबाना चाहूँ। किन्तु इतना जता देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि खूब सोच-समझकर इस क्षेत्र में आना। अगर कुछ दूर चलकर हिम्मत छोड़ दी तो फिर कहीं मुँह दिखाने लायक न रहोगे। मैं तुमसे मदद नहीं चाहता, बल्कि मेरे लिए तो यह परम गौरव की बात है कि मेरा पुत्र देश-सेवा में तल्लीन हो जाय, अपने को जाति पर न्योछावर कर दे, केवल तुम्हें कठिनाइयों से सचेत कर देना चाहता हूँ। तुम कब जाओगे सन्तू ?

सन्त—मैं पन्द्रह जनवरी को जाऊँगा।

हरिबिलास—तुम्हें कितने रुपयों की जरूरत होगी। इसी महीने में तो तुम्हारे इम्तिहान की फीस भी देनी होगी।

सन्त—जी हाँ, कोई ढाई सौ की जरूरत है।

हरिबिलास—(बगलें झाँकते हुए) इससे कम में काम न चलेगा ?

सन्त—असम्भव है, छः महीनों की पेशगी फीस देनी है, इम्तहान की फीस, बोर्डिंग की फीस, सभी तो चुकानी है। एक सूट भी बनवाना चाहता हूँ। मेरे पास कोई अच्छा सूट नहीं है।

हरिबिलास—इस समय सूट रहने दो, फिर बनवा लेना, हाँ फीस का प्रबन्ध मैं कर दूँगा। इससे कहाँ मुक्ति ? पढ़ो तो मुश्किल से 5 महीने और फीस दो पूरे साल की।

सन्त—तो फिर कुछ न कीजिए, मैं स्वयं कोई प्रबन्ध कर लूँगा। आपके ऊपर

खामख्वाह बोझ नहीं डालना चाहता।

हरिबिलास—यह तुम्हारी बुरी आदत है कि जरा-जरा-सी बात पर चिढ़ जाते हो। मेरी हालत देख रहे हो, फिर भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं।

सन्त—तो क्या आपकी इच्छा है कि मैं कालेज से नाम कटा लूँ।

हरिबिलास—यह तो मेरी इच्छा नहीं है, लेकिन अब तुम्हें अवस्थानुसार अपना खर्च घटाना पड़ेगा। मुझे यह देखकर खेद होता है कि वर्तमान दशाओं का तुम्हारे ऊपर बिल्कुल असर नहीं हुआ। आज-कल समस्त देश सरल जीवन की ओर झुका है। कोई मनुष्य अपने ठाटबाट, टीमटाम पर गर्व करने का साहस नहीं कर सकता। रेशमी वस्त्र और डासन के जूते और सुनहरे चश्मे अब तुच्छ दृष्टि से देखे जाते हैं। विशेषतः शिक्षित समुदाय के विलास-प्रेम को तो जनता सर्वथा अक्षम्य समझती है। शिक्षित लोगों से अब सेवा और उत्सर्ग की आशा की जाती है। वकीलों पर अब सम्मान की दृष्टि नहीं पड़ती, लोग उनसे विमुख होते जा रहे हैं। धनलोलुप अध्यापकों को तो जनता घृणा की निगाह से देखती है। मैंने स्वार्थवश तुम्हें वकालत की प्रेरणा की थी, किन्तु अब मुझे विश्वास होता जाता है कि हमारी जाति की अवनति का एक मुख्य कारण यही पेशा है। इसकी बदौलत हमारी अदालतों में न्याय सर्वसाधारण के लिए अलभ्य हो रहा है। जब एक-एक पेशी के लिए दो-दो, चार-चार सौ, यहाँ तक कि दो-दो, चार-चार हजार लिये जाते हैं तो स्पष्ट है कि यह समय या परिश्रम का मूल्य नहीं बल्कि लोगों की ईर्ष्या और दुर्जनता का ब्याज है। जिस पेशे का आधार मानव-दर्बलताओं पर हो, वह समाज के लिए कभी मंगलकारी नहीं हो सकता। मैं तुम्हारे इरादे में विघ्न नहीं डालना चाहता लेकिन यदि तुम वकालत को न्याय-रक्षा के लिए नहीं, विलास के लिए ग्रहण करना चाहते हो, तो बेहतर है कि तुम इसे तिलांजलि दे दो।

सन्तबिलास ने कुछ उत्तर न दिया। खिन्न होकर वहाँ से उठ गये। अब बाबू हरिबिलास ने श्रीबिलास से पूछा, तुम तो इम्तहान की तैयारी कर रहे हो।

श्रीबिलास—जब आप कह रहे हैं कि दौलतवालों की आजकल कोई कदर नहीं है तो फिर ऐसी शिक्षा से क्या फ़ायदा, जिसका उद्देश्य केवल धन कमाना है। मेरा भी नाम कटवा दीजिए। मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ। मेरा इरादा खेती करने का है। अंजनी भी मेरी मदद करेगी। अखिर आप देहात में चलकर कुछ-न-कुछ खेती जरूर ही करायेंगे। मुझको इस काम के लिए तैयार कर दीजिए।

हरिबिलास के मुखमंडल पर आत्माभिमान की लाली दिखाई दी। सुमित्रा से बोले, लो श्रीबिलास ने तुम्हारी चिन्ताओं का अन्त कर दिया। तुम सोच रही थीं कि कैसे क्या होगा। चलकर आराम से गाँव में रहो। यह खेती करेगा, तुम आराम की नींद सोओ और राम का नाम लो।

10

इसके तीसरे ही दिन बाबू हरिबिलास अपने गाँव में आ गये। मकान बे-मरम्मत पड़ा हुआ था, आगे-पीछे घास जम गयी थी: गाँव वालों ने द्वार पर खाद और कूड़े के ढेर लगा दिये थे। इधर वे कई साल से घर न आये थे। साफ बंगलों में रहने के आदी हो गये थे। उनके देखते

यह घर झोपड़े से भी बदतर था। शिवबिलास ने असबाब उतारा और झाड़ू लेकर सफाई करने लगा। अंजनी भी घर में झाड़ू देने लगी। श्रीबिलास कुछ देर तक तो खड़ा देखता रहा, फिर टोकरी ले कर कूड़ा फेंकने लगा। गाँव में यह खबर फैल गयी कि हरिबिलास ने गाँधी महात्मा के हुक्म से इस्तीफा दे दिया। लोग इधर-उधर से आने लगे। कोई उनको सत्यवादी कहता था, कोई कहता था रिश्वत ली है, बर्खास्त हो गये हैं तो यह बहाना कर रहे हैं। हरबिलास एक टूटी खाट पर उदास बैठे हुए थे, सुमित्रा भीतर खड़ी सोच रही थी कि यह कूड़े का पहाड़ क्यों कर हटेगा। पहले यह लोग जब घर आते थे तो गाँव के लोग संकोचवश इनके समीप न आते थे। इनके ठाटबाट की सामग्रियों को कौतूहल की दृष्टि से देखते थे, पर कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ती थी। किन्तु अबकी वे विस्मयकारी वस्तुएँ न थीं, न लड़कों में वह शेखी थी, न हरिबिलास और समित्रा में वह बड़प्पन की ऐंठ। अतएव सब-के-सब उनसे सहानुभूति करने लगे। स्त्रियाँ अंजनी के साथ घर की सफाई करने लगीं, कई आदमियों ने शिवबिलास के हाथ से झाड़ू छीन लिया और कूड़ा फेंकने लगे।

रामभरोसे पंडित ने कहा, भैया भला कियो, इस्तीफा दे दिहेव, देश-विदेश मारे-मारे फिरत रह्यो। घर माटी में मिला जात रहा।

शेख ईदू बोले, चाकरी चाहे छोटी हो या बड़ी, मुदा चाकरी ही है। अल्लाह ने घर में सब कुछ दिया है तो काहे कोऊ की बन्दगी उठाई जाय।

गोबर चौकीदार बोला, मुदा भैया हुद्दा बड़ा भारू रहै। कई जिला भरे माँ अस पबड़वार हुद्दे कोऊ नहीं पायेस।

भोजू कुरमी बोले, हुद्दा तो भारू रहै मुदा कितने गरीबन कै गला रेतै का परत रहा। सैकरन के जेहल पठै दिये होई हैं। ई लड़ाई मा गरीबन का मार-मार केतना करजा दियाबै के परा होई। दौड़ा करै जात रहे होई हैं तो कितना बेगार लेका परत रहा होई। हज्जारन किसान का बेदखली, कुड़की अखराज इनके हाथन भवा होई। अब घर मां रहि हैं तो ई पापन से गला छूट जाई।

गोबर—रुआब केतना रहै, हुकूमत केतनी रहै।

भोजू—रुआब हुद्दा से नहीं होत है, रुआब भलमनसी से होत है, विद्या से होत है। रामभरोसे पंडित का देख के काहे सब कोउ खटिया से उठके पैलगी करत है। थानेदार आवत हैं तो उनकी खातिर सेर भर आटा देत सब का केतना अखरत है, नाहीं तो सासतरी जी जे के घर अपने चार-छः चेलन सहित जाय परत हैं आपन भाग सराहत है। जिला में एक-से-एक हाकिम परे हैं। महात्मा जी के बरोबर है कोऊ का रुआब? आज हुकुम दें तो मनई आग माँ कूदै का तैयार हैं !

रामभरोसे—सन्तबिलास बाबू नाहीं देख परत हैं।

हरिबिलास—कालेज में वकालत पढ़ रहे हैं।

रामभरोसे—ई विद्या तो भैया उनका नाहक पढ़ावत हौ। बड़ा-बड़ा कुकरम करै का परत है। ओकिलन का मारा जिला तबाह होइगवा, सब मारेन लड़ाय-लड़ाय के देश का खोख कै दिहेन।

ईदू—बाबू, तुम अब आपन जमीन छोड़ाय लेव और मजे से खेती करो। चाकरी बहुत दिन किह्यो, अब कुछ दिन गृहस्थी का मजा लेव। उतना सुख तो न पैहो पर चोला आनन्द

रही। परदेसवाँ जौन मात रहे होइहो तौन सब कपड़ा लत्ता, कुरसी-मेज, मेवा-मिठाई माँ उड़ जाता रहा होई। पच्चीस-तीस रुपये का तो दूध पी जात रहा होई हौ, तीस-चालीस रुपये से कम घर का किराया न परत रहा होई। तुम्हार कुल खेत छूट जाय तो मजे से चार हर की खेती होय लागे।

हरिबिलास ने संकोच से मुस्कराकर कहा, रुपये कहाँ से लाऊँ ? सब आदमियों ने उनकी ओर संदिग्ध भाव से देखा, मानो वह कोई अनोखी बात कर रहे हैं। अन्त में भोजू बोला, का कहता हौ भैया, कौन बहुत रुपैया है ? तीन-चार हजार तो तुम्हारे सन्दूक के एक कोने में धरा होई। इतनी बड़ी तलब पावत रह्यो, नजर-नियाज लेते रहे होई हौ, इतना सब कहाँ उड़ायौ ?

हरि.—मैंने रिश्वत कभी नहीं ली। मासिक वेतन में खर्च ही कठिनता से चलता था, बचत कहाँ से होती ?

भोजू—बेटा, तब तो तुम्हारी चाकरी गुनाह बेलज्जत है। नाही अस खक्ख का होइ हौ, दस बीस हजार तो होबै करी।

हरि.—नहीं चचा, सच मानो, मैं बिलकुल खाली हाथ हूँ।

भोजू—तब गुजर बसर कसस होई ?

हरि.—ईश्वर मालिक है।

भोजू—दूनों लड़कन अब को बहुत सुशील देख परत हैं। पहले तो कोऊ से बातें न करत रहे।

यही बातें हो रही थीं कि गाँव के जमींदार ठाकुर करनसिंह अपने दो मुसाहिबों के साथ हाथी पर आते दिखाई दिये। लोग तुरन्त चारपाइयों से उठ बैठे। हरिबिलास के सामने ऐसे कितने ही जमींदार नित्य सलाम करने आया करते थे। पर करनसिंह को देखकर वह भी खड़े हो गये। हाथी रुका। करनसिंह उतर पड़े और हरिबिलास का हाथ पकड़ कर उन्हें चारपाई पर बैठाकर आप भी बैठ गये।

हरिबिलास ने कुशल समाचार पूछा। ठाकुर ने श्रद्धापूर्ण भाव से कहा, यह भूमि आपके चरणों से पवित्र हो गयी। अब यहाँ सब कुशल है। कल प्रातःकाल पत्र खोला तो आप ही के आनन्द समाचार पर नजर पड़ी। आपके साहस और पुरुषार्थ को धन्य है। मुझे महीनों से ज्वर आता था, पर सच मानिए यह शुभ समाचार देखते ही मैं चंगा हो गया। महीनों से दवाइयाँ खा रहा था। यह आपके पदार्पण का शुभ फल है। परमात्मा ने हम लोगों का उद्धार करने के लिए आपके हृदय में यह प्रेरणा की। हमने इधर कुछ दिनों से पंचायत स्थापित की है। उसका कोई ऐसा सरपंच नहीं मिलता था जिस पर जनता का विश्वास हो। आपको परमात्मा ने उसका बेड़ा पार करने के लिए भेजा है। उसके प्रधान का आसन ग्रहण करके हमें उपकृत कीजिए। जूही के राजा साहब बगटा के खाँ साहब और राय दुनीचन्द्र उसके सदस्य हैं। मैं उनकी ओर से यह निमन्त्रण लेकर आपकी सेवा में आया हूँ।

हरबिलास ने सकुचाते हुए कहा, आप मुझे इस योग्य समझते हैं यह आपकी कृपा है। पर मैं इस सम्मान का अधिकारी नहीं हूँ। जिस पंचायत के सदस्य ऐसे-ऐसे माननीय लोग हों उसका प्रधान बनने का साहस मैं नहीं कर सकता।

करनसिह—बाबू साहब, आप अपने मुँह से ऐसा न कहिए। आप पहले एक परगने

के हाकिम थे। आज सहस्रों हृदयों पर आपका अधिकार है। क्या छोटे क्या बड़े सब आपको पूज्य समझते हैं। आपको मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी।

हरिबिलास इस सम्मान-पद के भार से सिर न उठा सके। करनसिंह ने उठकर फलों का हार उनके गले में डाल दिया।

इसके बाद करनसिंह एक क्षण तक किसी विचार में डूबे रहे। जान पड़ता था कुछ कहना चाहते हैं, पर संकोच के मारे जबान नहीं खुलती। अन्त में लजाते हुए बोले, बाबू जी मेरी एक प्रार्थना तो आपने मान ली, अब मुझे एक दूसरी प्रार्थना करने का साहस हो रहा है। आज्ञा हो तो कहूँ।

हरिबिलास—शौक से कहिए, मैं सहर्ष आपकी सेवा करूँगा। करनसिंह ने जेब से एक बन्द लिफाफा निकाला और बोले, मैं इसे आपके चरणों पर समर्पण करने की आज्ञा चाहता हूँ। हरिबिलास ने दबी हुई आँखों से लिफाफे की तरफ देखा। लिखा था—

'रेहननामा रामबिलास महतो, मौजा बिदोखर।'

उनकी आँखों में एहसान के आँसू भर आये। कुछ कहना चाहते थे किन्तु करनसिंह ने उन्हें बोलने का अवसर न दिया। उसी दम लिफाफे को फाड़ कर फेंक दिया। और लोग चकित हो रहे थे कि क्या माजरा है ! हरिबिलास ने उनकी ओर देखकर कहा—आप लोगों को मालूम हुआ यह कैसा लिफाफा था ? यही दादा का लिखा हुआ रेहननामा था। यह कहते-कहते उनका कंठ रुक गया।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक 'जमाना' जुलाई, 1921 में प्रकाशित। 'ख्वाबोखयाल' में संकलित। हिन्दी रूप 'लाल फीता' शीर्षक से 'प्रेम चतुर्थी' में संकलित।]

आदर्श विरोध

महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव जमीन पर न पड़ते थे। उनकी वह आकांक्षा पूरी हो गयी थी जो उनके जीवन का मधुर स्वप्न था। उन्हें वह राज्याधिकार मिल गया था जो भारत-निवासियों के लिये जीवन-स्वर्ग है। वाइसराय ने उन्हें अपनी कार्यकारिणी सभा का मेम्बर नियुक्त कर दिया था।

मित्रगण उन्हें बधाइयाँ दे रहे थे। चारों ओर आनंदोत्सव मनाया जा रहा था, कहीं दावतें होती थीं, कहीं आश्वासन-पत्र दिये जाते थे। वह उनका व्यक्तिगत सम्मान नहीं, राष्ट्रीय सम्मान समझा जाता था। अँगरेज अधिकारी-वर्ग भी उन्हें हाथों-हाथ लिये फिरता था।

महाशय दयाकृष्ण लखनऊ के एक सुविख्यात बैरिस्टर थे। बड़े उदार हृदय, राजनीति में कुशल तथा प्रजाभक्त थे। सदैव सार्वजनिक कार्यों में तल्लीन रहते थे। समस्त देश में शासन का ऐसा निर्भय तत्त्वान्वेषी, ऐसा निस्पृह समालोचक न था और न प्रजा का ऐसा सूक्ष्मदर्शी, ऐसा विश्वसनीय और ऐसा सहृदय बन्धु।

समाचार-पत्रों में इस नियुक्ति पर खूब टीकाएँ हो रही थीं। एक ओर से आवाज आ रही थी—हम गवर्नमेंट को इस चुनाव पर बधाई नहीं दे सकते। दूसरी ओर के लोग कहते

थे—यह सरकारी उदारता और प्रजाहित-चिन्ता का सर्वोत्तम प्रमाण है। तीसरा दल भी था, जो दबी जबान से कहता था कि—राष्ट्र का एक और स्तम्भ गिर गया।

संध्या का समय था। कैसरपार्क से लिबरल लोगों की ओर से महाशय मेहता को पार्टी दी गयी ! प्रान्त भर के विशिष्ट पुरुष एकत्र थे। भोजन के पश्चात् सभापति ने अपनी वक्तृता में कहा—हमें पूरा विश्वास है कि आपका अधिकार-प्रवेश प्रजा के लिए हितकर होगा, और आपके प्रयत्नों से उन धाराओं में संशोधन हो जायगा, जो हमारे राष्ट्र के जीवन में बाधक हैं।

महाशय मेहता ने उत्तर देते हुए कहा—राष्ट्र के कानून वर्तमान परिस्थितियों के अधीन होते हैं। जब तक परिस्थितियों में परिवर्तन न हो, कानून में सुव्यवस्था की आशा करना भ्रम है।

सभा विसर्जित हो गयी। एक दल ने कहा—कितना न्याययुक्त और प्रशंसनीय राजनैतिक विधान है। दूसरा पक्ष बोला—आ गये जाल में। तीसरे दल ने नैराश्यपूर्ण भाव से सिर हिला दिया, पर मुँह से कुछ न कहा।

2

मि. दयाकृष्ण को दिल्ली आये हुए एक महीना हो गया। फागुन का महीना था। शाम हो रही थी। वे अपने उद्यान में हौज के किनारे एक मखमली आरामकुर्सी पर बैठे थे। मिसेज रामेश्वरी मेहता सामने बैठी हुई पियानो बजाना सीख रही थीं और मिस मनोरमा हौज की मछलियों को बिस्कुट के टुकड़े खिला रही थीं। सहसा उसने पिता से पूछा—यह अभी कौन साहब आये थे।

मेहता—कौंसिल के सैनिक मेम्बर हैं।

मनोरमा—वाइसरायं के नीचे यही होंगे ?

मेहता—वाइसराय के नीचे तो सभी हैं। वेतन भी सबका बराबर है, लेकिन इनकी योग्यता को कोई नहीं पहुँचता। क्यों राजेश्वरी, तुमने देखा, अँगरेज लोग कितने सज्जन और विनयशील होते हैं।

राजेश्वरी—मैं तो उन्हें विनय की मूर्ति कहती हूँ। इस गुण में भी ये हमसे बढ़े हुए हैं। उनकी पत्नी मुझसे कितने प्रेम से गले मिलीं।

मनोरमा—मेरा तो जी चाहता था, उनके पैरों पर गिर पड़ूँ।

मेहता—मैंने ऐसे उदार, शिष्ट, निष्कपट और गुणग्राही मनुष्य नहीं देखे। हमारा दया-धर्म कहने ही को है। मुझे इसका बहुत दुःख है कि अब तक क्यों इनसे बदगुमान रहा। सामान्यतः इनसे हम लोगों को जो शिकायतें हैं उनका कारण पारस्परिक सम्मिलन का न होना है। एक दूसरे के स्वभाव और प्रकृति से परिचित नहीं।

राजेश्वरी—एक यूनियन क्लब की बड़ी आवश्यकता है। जहाँ दोनों जातियों के लोग सहवास का आनन्द उठावें। मिथ्या-द्वेष-भाव के मिटाने का एकमात्र यही उपाय है !

मेहता—मेरा भी यही विचार है। (घड़ी देख कर) 7 बज रहे हैं, व्यवसाय मंडल के जलसे का समय आ गया। भारत-निवासियों की विचित्र दशा है। ये समझते हैं कि हिंदुस्तानी मेम्बर कौंसिल में आते ही हिंदुस्तान के स्वामी हो जाते हैं और जो चाहें

स्वच्छंदता से कर सकते हैं। आशा की जाती है कि वे शासन की प्रचलित नीति को पलट ;, नया आकाश और नया सूर्य बना दें। उन सीमाओं पर विचार नहीं किया जाता है जिनके अंदर मेम्बरों को काम करना पड़ता है।

राजेश्वरी—इनमें उनका दोष नहीं। संसार की यह रीति है कि लोग अपनों से सभी कार की आशा रखते हैं। अब तो कौंसिल के आधे मेम्बर हिंदुस्तानी हैं। क्या उनकी राय सरकार की नीति पर असर नहीं हो सकता ?

मेहता—अवश्य हो सकता है, और हो रहा है। किंतु उस नीति में परिवर्तन नहीं कि जा सकता। आधे नहीं, अगर सारे मेम्बर हिंदुस्तानी हों तो भी वे नयी नीति का उद्घ र नहीं कर सकते। वे कैसे भूल जावें कि कौंसिल में उनकी उपस्थिति केवल सरकार ी कृपा और विश्वास पर निर्भर है। उसके अतिरिक्त वहाँ आ कर उन्हें आंतरिक अवस्था क. नुभव होता है और जनता की अधिकांश शंकाएँ असंगत प्रतीत होने लगती हैं, पद के सा नरदायित्व का भारी बोझ भी सिर पर आ पड़ता है। किसी नयी नीति की सृष्टि करते हुए मन में यह चिंता उठनी स्वाभाविक है कि कहीं उसका फल आशा के विरुद्ध न हो। यह तः उनकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। उन लोगों से मिलते हुए भी झिझकते हैं जो पहले े सहकारी थे; पर अब अपने उच्छृंखल विचारों के कारण सरकार की आँखों में खटक रहे पनी वक्तृताओं में न्याय और सत्य की बातें करते हैं और सरकार की नीति को हानिकर स ए भी उसका समर्थन करते हैं। जब इसके प्रतिकूल वे कुछ कर ही नहीं सकते, तो इसक . के अपमानित क बनें ? इस अवस्था में यही सर्वोचित है कि शब्दाडम्बर से काम ले कर अपना रक्षा की जाय। और सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसे सज्जन, उदार, नीतिज्ञ शुभचिंतकों के विरुद्ध कुछ कहना या करना मनुष्यत्व और सद्व्यवहार का गला घोटना है। यह लो, मोटर आ गयी। चलो व्यवसाय-मंडल में लोग आ गये होंगे।

ये लोग वहाँ पहुँचे तो करतल ध्वनि होने लगी। सभापति महोदय ने एड्रेस पढ़ा जिसका निष्कर्ष यह था कि सरकार को उन शिल्प-कलाओं की रक्षा करनी चाहिए जो अन्य देशीय प्रतिद्वंद्विता के कारण मिटी जाती हैं। राष्ट्र की व्यावसायिक उन्नति के लिए नये-नये कारखाने खोलने चाहिए और जब वे सफल हो जावें तो उन्हें व्यावसायिक संस्थाओं के हवाले कर देना चाहिए। उन कलाओं की आर्थिक सहायता करना भी उनका कर्तव्य है, जो अभी शैशवावस्था में हैं, जिससे जनता का उत्साह बढ़े।

मेहता महोदय ने सभापति को धन्यवाद देने के पश्चात् सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए कहा—आपके सिद्धांत निर्दोष हैं, किंतु उनको व्यवहार में लाना नितांत दुस्तर है। गवर्नमेंट आपको सम्मति प्रदान कर सकती है, लेकिन व्यावसायिक कार्यों में अग्रसर बनना जनता का काम है। आपको स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। आप में आत्म-विश्वास, औद्योगिक उत्साह का बड़ा अभाव है। पग-पग पर सरकार के सामने हाथ फैलाना अपनी अयोग्यता और अकर्मण्यता की सूचना देना है।

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में इस वक्तृता पर टीकाएँ होने लगीं। एक दल ने कहा—मिस्टर मेहता की स्पीच ने सरकार की नीति को बड़ी स्पष्टता और कुशलता से

निर्धारित कर दिया है।

दूसरे दल ने लिखा—हम मिस्टर मेहता की स्पीच पढ़ कर स्तम्भित हो गये। व्यवसाय-मंडल ने वही पथ ग्रहण किया जिसके प्रदर्शक स्वयं मिस्टर मेहता थे। उन्होंने उस लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिया कि 'नमक की खान में जो कुछ जाता है, नमक हो जाता है।'

तीसरे दल ने लिखा—हम मेहता महोदय के इस सिद्धांत से पूर्ण सहमत हैं कि हमें पग-पग पर सरकार के सामने दीनभाव से हाथ न फैलाना चाहिए। यह वक्तृता उन लोगों की आँखें खोल देगी जो कहते हैं कि हमें योग्यतम पुरुषों को कौसिन्ल में भेजना चाहिए। व्यवसाय-मंडल के सदस्यों पर दया आती है जो आत्म-विश्वास का उपदेश ग्रहण करने के लिए कानपुर से दिल्ली गये थे।

3

चैत का महीना था। शिमला आबाद हो चुका था। मेहता महाशय अपने पुस्कालय में बैठे हुए पढ़ रहे थे कि राजेश्वरी ने आ कर पूछा—ये कैसे पत्र हैं ?

मेहता—यह आय-व्यय का मसविदा है। आगामी सप्ताह में कौंसिल में पेश होगा। उनकी कई मदें ऐसी हैं जिन पर मुझे पहले भी शंका थी और अब भी है। अब समझ में नहीं आता कि इस पर अनुमति कैसे दूँ। यह देखो, तीन करोड़ रुपये उच्च कर्मचारियों की वेतनवृद्धि के लिए रखे गये हैं। यहाँ कर्मचारियों का वेतन पहले से ही बढ़ा हुआ है। इस वृद्धि की जरूरत ही नहीं, पर बात जबान पर कैसे लाऊँ ? जिन्हें इससे लाभ होगा वे सभी नित्य के मिलने वाले हैं। सैनिक व्यय में बीस करोड़ बढ़ गये हैं। जब हमारी सेनाएँ अन्य देशों में भेजी जाती हैं तो विदित ही है कि हमारी आवश्यकता से अधिक हैं, लेकिन इस मद का विरोध करूँ तो कौंसिल मुझ पर उँगलियाँ उठाने लगे।

राजेश्वरी—इस भय से चुप रह जाना तो उचित नहीं, फिर तुम्हारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ।

मेहता—कहना तो आसान है, पर करना कठिन है। यहाँ जो कुछ आदर-सम्मान है, सब हाँ-हुजूर में है। वायसराय की निगाह जरा तिरछी हो जाय, तो कोई पास न फटके। नक्कू बन जाऊँ। यह लो, राजा भद्र बहादुर सिंह जी आ गये।

राजेश्वरी—शिवराजपुर कोई बड़ी रियासत है।

मेहता—हाँ, पंद्रह लाख वार्षिक से कम आय न होगी और फिर स्वाधीन राज्य है।

राजेश्वरी—राजा साहब मनोरमा की ओर बहुत आकर्षित हो रहे हैं। मनोरमा को भी उनसे प्रेम होता जान पड़ता है।

मेहता—यह सम्बन्ध हो जाय तो क्या पूछना ! यह मेरा अधिकार है जो राजा साहब को इधर खींच रहा है। लखनऊ में ऐसे सुअवसर कहाँ थे ? वह देखो अर्थसचिव मिस्टर काक आ गये।

काक—(मेहता से हाथ मिलाते हुए) मिसेज मेहता, मैं आपके पहनावे पर आसक्त हूँ। खेद है, हमारी लेडियाँ साड़ी नहीं पहनतीं।

राजेश्वरी—मैं तो अब गाउन पहनना चाहती हूँ।

काक—नहीं मिसेज मेहता, खुदा के वास्ते यह अनर्थ न करना। मिस्टर मेहता, मैं आपके वास्ते एक बड़ी खुशखबरी लाया हूँ। आपके सुयोग्य पुत्र अभी आ रहे हैं या नहीं ? महाराजा भिंद उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं। आप उन्हें आज ही सूचना दे दें।

मेहता—मैं आपका बहुत अनुगृहीत हूँ।

काक—तार दे दीजिए तो अच्छा हो। आपने काबुल की रिपोर्ट तो पढ़ी होगी। हिज मैजेस्टी अमीर हमसे संधि करने के लिए उत्सुक नहीं जान पड़ते। वे बोल्शेविकों की ओर झुके हुए हैं। अवस्था चिंताजनक है।

मेहता—मैं तो ऐसा नहीं समझता। गत शताब्दी में काबुल को भारत पर आक्रमण करने का साहस कभी न हुआ। भारत ही अग्रसर हुआ। हाँ, वे लोग अपनी रक्षा करने में कुशल हैं।

काक—लेकिन क्षमा कीजिएगा, आप भूल जाते हैं कि ईरान-अफगानिस्तान और बोल्शेविक में संधि हो गयी है। क्या हमारी सीमा पर इतने शत्रुओं का जमा हो जाना चिंता की बात नहीं ? उनसे सतर्क रहना हमारा कर्तव्य है।

इतने में लंच (जलपान) का समय आया। लोग मेज पर जा बैठे। उस समय घुड़दौड़ और नाट्यशाला की चर्चा ही रुचिकर प्रतीत हुई।

4

मेहता महोदय ने बजट पर जो विचार प्रकट किये, उनसे समस्त देश में हलचल मच गयी। एक दल उन विचारों को देववाणी समझता था, दूसरा दल भी कुछ अंशों को छोड़कर शेष विचारों से सहमत था, किंतु तीसरा दल वक्तृता के एक-एक शब्द पर निराशा से सिर धुनता और भारत की अधोगति पर रोता था। उसे विश्वास ही न आता था कि ये शब्द मेहता की जबान से निकले होंगे।

मुझे आश्चर्य है कि गैर-सरकारी सदस्यों ने एक स्वर से प्रस्तावित व्यय के उस भाग का विरोध किया है, जिस पर देश की रक्षा, शान्ति, सुदशा और उन्नति अवलम्बित है। आप शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों को, आरोग्य विधान को, नहरों की वृद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। आपको अल्प वेतन वाले कर्मचारियों का अधिक ध्यान है। मुझे आप लोगों के राजनैतिक ज्ञान पर इससे अधिक विश्वास था। शासन का प्रधान कर्तव्य भीतर और बाहर की अशांतिकारी शक्तियों से देश को बचाना है। शिक्षा और चिकित्सा, उद्योग और व्यवसाय गौण कर्तव्य हैं। हम अपनी समस्त प्रजा को अज्ञान-सागर में निमग्न देख सकते हैं, समस्त देश को प्लेग और मलेरिया में ग्रस्त रख सकते हैं, अल्प वेतन वाले कर्मचारियों को दारुण चिंता का आहार बना सकते हैं, कृषकों को प्रकृति की अनिश्चित दशा पर छोड़ सकते हैं, किन्तु अपनी सीमा पर किसी शत्रु को खड़े नहीं देख सकते। अगर हमारी आय सम्पूर्णतः देश-रक्षा पर समर्पित हो जाय, तो भी आपको आपत्ति न होनी चाहिए। आप कहेंगे इस समय किसी आक्रमण की सम्भावना नहीं है। मैं कहता हूँ संसार में असम्भव का राज्य है। हवा में रेल चल सकती है, पानी में आग लग सकती है, वृक्षों में वार्तालाप हो सकता है। जड़ चैतन्य हो सकता है। क्या ये रहस्य नित्य प्रति हमारी नजरों से नहीं गुजरते? आप कहेंगे राजनीतिज्ञों का काम सम्भावनाओं के पीछे दौड़ना नहीं, वर्तमान और

निकट भविष्य की समस्याओं को हल करना है। राजनीतिज्ञों के कर्तव्य क्या हैं, मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहता; लेकिन इतना तो सभी मानते हैं, कि पथ्य, औषधि सेवन से अच्छा होता है। आपका केवल यही धर्म नहीं कि सरकार के सैनिक व्यय का समर्थन करें, बल्कि यह मन्तव्य आपकी ओर से पेश होना चाहिए ! आप कहेंगे कि स्वयंसेवकों की सेना बढ़ायी जाय। सरकार को हाल के महा-संग्राम में इसका बहुत ही खेदजनक अनुभव हो चुका है। शिक्षितवर्ग विलासप्रिय, साहसहीन और स्वार्थ-सेवी है। देहात के लोग शांतिप्रिय, संकीर्ण-हृदय (मैं भीरु न कहूँगा) और गृहसेवी हैं। उनमें वह आत्म-त्याग कहाँ, वह वीरता कहाँ, अपने पुरखों की वह वीरता कहाँ ? और शायद मुझे यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि किसी शांतिप्रिय जनता को आप दो-चार वर्षों में रणकुशल और समर-प्रवीण नहीं बना सकते।

5

जेठ का महीना था, लेकिन शिमले में न लू की ज्वाला थी और न धूप का ताप। महाशय मेहता विलायती चिट्ठियाँ खोल रहे थे। बालकृष्ण का पत्र देखते ही फड़क उठे, लेकिन जब उसे पढ़ा तो मुखमंडल पर उदासी छा गयी। पत्र लिये हुए राजेश्वरी के पास आये। उसने उत्सुक होकर पूछा—बाला का पत्र आया।

मेहता—हाँ, यह है।

राजेश्वरी—कब आ रहे हैं।

मेहता—आने-जाने के विषय में कुछ नहीं लिखा। बस, सारे पत्र में मेरे जाति-द्रोह और दुर्गति का रोना है। उसकी दृष्टि में मैं जाति का शत्रु, धूर्त-स्वार्थांध, दुरात्मा, सब कुछ हूँ। मैं नहीं समझता कि उसके विचारों में इतना अंतर कैसे हो गया। मैं तो उसे बहुत ही शांत-प्रकृति, गम्भीर, सुशील, सच्चरित्र और सिद्धांतप्रिय नवयुवक समझता था और उस पर गर्व करता था। और फिर यह पत्र लिख कर ही उसे संतोष नहीं हुआ, उसने मेरी स्पीच का विस्तृत विवेचन एक प्रसिद्ध अँगरेजी पत्रिका में छपवाया है। इतनी कुशल हुई कि वह लेख अपने नाम से नहीं लिखा, नहीं तो मैं कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहता। मालूम नहीं यह किन लोगों की कुसंगति का फल है। महाराज भिंद की नौकरी उसके विचार में गुलामी है, राजा भद्रबहादुर सिंह के साथ मनोरमा का विवाह घृणित और अपमानजनक है। उसे इतना साहस कि मुझे धूर्त, मक्कार, ईमान बेचनेवाला, कुलद्रोही कहे। यह अपमान ! मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता...

राजेश्वरी—लाओ, जरा इस पत्र को मैं भी देखूँ ! वह तो इतना मुँहफट न था।

यह कह कर उसने पति के हाथ से पत्र लिया और एक मिनट में आद्यांत पढ़ कर बोली—यह सब कटु बातें कहाँ हैं ? मुझे तो इसमें एक भी अपशब्द नहीं मिलता।

मेहता—भाव देखो, शब्दों पर न जाओ।

राजेश्वरी—जब तुम्हारे और उसके आदर्शों में विरोध है तो उसे तुम पर श्रद्धा क्योंकर हो सकती ?

लेकिन मेहता महोदय जामे से बाहर हो रहे थे। राजेश्वरी की सहिष्णुतापूर्ण बातों से वे और जल उठे। दफ्तर में जा कर उसी क्रोध में पुत्र को पत्र लिखने लगे जिसका एक-एक

शब्द छुरी और कटार से भी ज्यादा तीखा था।

उपर्युक्त घटना के दो सप्ताह पीछे मिस्टर मेहता ने विलायती डाक खोली तो बालकृष्ण का कोई पत्र न था। समझे मेरी चोटें काम कर गयीं, आ गया सीधे रास्ते पर, तभी तो उत्तर देने का साहस नहीं हुआ। 'लंदन टाइम्स' की चिट फाड़ी (इस पत्र को बड़े चाव से पढ़ा करते थे) और तार की खबरें देखने लगे। सहसा उनके मुँह से एक आह निकली। पत्र हाथ से छूट कर गिर पड़ा। पहला समाचार था–

लंदन में भारतीय देशभक्तों का जमाव, ऑनरेबुल मिस्टर

मेहता की वक्तृता पर असंतोष, मिस्टर बालकृष्ण

मेहता का विरोध और आत्महत्या

गत शनिवार को वैक्सटन हॉल में भारतीय युवकों और नेताओं की एक बड़ी सभा हुई। सभापति मिस्टर तालिबजा ने कहा–हमको बहुत खोजने पर भी कौंसिल के किसी अँगरेज मेम्बर की वक्तृता में ऐसे मर्मभेदी, ऐसे कठोर शब्द नहीं मिलते। हमने अब तक किसी राजनीतिज्ञ के मुख से ऐसे भ्रांतिकारक, ऐसे निरंकुश विधार नहीं सुने। इस वक्तृता ने सिद्ध कर दिया कि भारत के उद्धार का कोई उपाय है तो वह स्वराज्य है जिसका आशय है–मन और वचन की पूर्ण स्वाधीनता। क्रमागत उन्नति (Evolution) पर से यदि हमारा एतबार अब तक नहीं उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य हो गया है। यह अब चूर्णों और अवलेहों से अच्छा नहीं हो सकता। उससे निवृत्त होने के लिए हमें कायाकल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्यपद हमें स्वाधीन नहीं बनाते; बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को और भी पुष्ट कर देते हैं। हमें निश्वास है कि ऑनरेबुल मिस्टर मेहता ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उन्हें वे अंतःकारण से मिथ्या समझते हैं; लेकिन सम्मान-लालसा, श्रेय-प्रेम और पदानुराग ने उन्हें अपनी आत्मा का गला घोंटने पर बाध्य कर दिया है....[किसी ने उच्च स्वर से कहा : यह मिथ्या दोषारोपण है।]

लोगों ने विस्मित हो कर देखा तो मिस्टर बालकृष्ण अपनी जगह पर खड़े थे। क्रोध से उनका शरीर काँप रहा था। वे बोलना चाहते थे, लेकिन लोगे ने उन्हें घेर लिया और उनकी निंदा और अपमान करने लगे। सभापति ने बड़ी कठिनाई से लोगों को शांत किया, किन्तु मिस्टर जालकृष्ण वहाँ से उठ कर चले गये।

दूसरे दिन जब मित्रगण बालकृष्ण से मिलने गये तो उनकी लाश फर्श पर पड़ी हुई थी। पिस्तौल की दो गोलियाँ छाती से पार हो गयी थीं। मेज पर उनकी डायरी खुली पड़ी थी, उस पर ये पंक्तियाँ लिखी हुई थीं–

आज सभा में मेरा गर्व दलित हो गया। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। मुझे अपने पूज्य पिता के प्रति ऐसे कितने ही निंदासूचक दृश्य देखने पड़ेंगे। इस आदर्श-विरोध का अंत ही कर देना अच्छा है। सम्भव है, मेरा जीवन उनके निर्दिष्ट मार्ग में बाधक हो। ईश्वर मुझे बल प्रदान करे !

[हिन्दी कहानी। 'श्री शारदा', 6 जुलाई, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भ -8 संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित।]

विध्वंस

जिला बनारस में बीरा नाम का एक गाँव है। वहाँ एक विधवा वृद्धा, संतानहीन, गोंड़िन रहती थी, जिसका भुनगी नाम था। उसके पास एक धुर भी जमीन न थी और न रहने का घर ही था। उसके जीवन का सहारा केवल एक भाड़ था। गाँव के लोग प्रायः एक बेला चबैना या सत्तू पर निर्वाह करते ही हैं, इसलिए भुनगी के भाड़ पर नित्य भीड़ लगी रहती थी। वह जो कुछ भुनाई पाती वही भून या पीस कर खा लेती और भाड़ ही की झोंपड़ी के एक कोने में पड़ रहती। वह प्रातःकाल उठती और चारों ओर से भाड़ झोंकने के लिए सूखी पत्तियाँ बटोर लाती। भाड़ के पास ही, पत्तियों का एक बड़ा ढेर लगा रहता था। दोपहर के बाद उसका भाड़ जलता था। लेकिन जब एकादशी या पूर्णमासी के दिन प्रथानुसार भाड़ न चलता, या गाँव के जमींदार पंडित उदयभान पाँड़े के दाने भूनने पड़ते, उस दिन उसे भूखे ही सो रहना पड़ता था। पंडित जी उससे बेगार में दाने ही न भुनवाते थे, उसे उनके घर का पानी भी भरना पड़ता था। और कभी-कभी इस हेतु से भी भाड़ बन्द रहता था। वह पंडित जी के गाँव में रहती थी, इसलिए उन्हें उससे सभी प्रकार की बेगार लेने का पूरा अधिकार था। उसे अन्याय नहीं कहा जा सकता। अन्याय केवल इतना था कि बेगार सूखी लेते थे। उनकी धारणा यह थी कि जब खाने ही को दिया गया तो बेगार कैसी। किसान को अधिकार है कि बैलों को दिन भर जोतने के बाद शाम को खूँटे से भूखा बाँध दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसकी दयालुता नहीं है, केवल अपनी हित चिन्ता है। पंडित जी को उसकी चिंता न थी क्योंकि एक तो भुनगी दो-एक दिन भूखी रहने से मर नहीं सकती थी और यदि दैवयोग से मर भी जाती तो उसकी जगह दूसरा गोंड़ बड़ी आसानी से बसाया जा सकता था। पंडित जी की यही क्या कम कृपा थी कि वह भुनगी को अपने गाँव में बसाये हुए थे।

2

चैत का महीना था और संक्रांति का पर्व। आज के दिन नये अन्न का सत्तू खाया और दान दिया जाता है। घरों में आग नहीं जलती। भुनगी का भाड़ आज बड़े जोरों पर था। उसके सामने एक मेला-सा लगा हुआ था। साँस लेने का भी अवकाश न था। गाहकों की जल्दबाजी पर कभी-कभी झुँझला पड़ती थी, कि इतने में जमींदार साहब के यहाँ से दो बड़े-बड़े टोकरे अनाज से भरे हुए आ पहुँचे और हुक्म हुआ कि अभी भून दे। भुनगी दोनों टोकरे देख कर सहम उठी। अभी दोपहर था पर सूर्यास्त के पहले इतना अनाज भुनना असंभव था। घड़ी दो घड़ी और मिल जाते तो एक अठवारे के खाने भर को अनाज हाथ आता। दैव से इतना भी न देखा गया, इन यमदूतों को भेज दिया। अब पहर रात तक सेंतमेंत में भाड़ में जलना पड़ेगा; एक नैराश्य भाव से दोनों टोकरे ले लिये।

चपरासी ने डाँट कर कहा—देर न लगे, नहीं तो तुम जानोगी।

भुनगी—यहीं बैठे रहो, जब भुन जाय तो ले कर जाना। किसी दूसरे के दाने छुऊँ तो हाथ काट लेना।

चपरासी—बैठने की हमें छुट्टी नहीं है, लेकिन तीसरे पहर तक दाना भुन जाय।

चपरासी तो यह ताकीद करके चलते बने और भुनगी अनाज भूनने लगी। लेकिन मन भर अनाज भूनना कोई हँसी तो थी नहीं, उस पर बीच-बीच में भुनाई बन्द करके भाड़ भी झोंकना पड़ता था। अतएव तीसरा पहर हो गया और आधा काम भी न हुआ। उसे भय हुआ कि जमींदार के आदमी आते होंगे। आते ही गालियाँ देंगे, मारेंगे। उसने और वेग से हाथ चलाना शुरू किया। रास्ते की ओर ताकती और बालू नाँद में छोड़ती जाती थी। यहाँ तक कि बालू ठंडी हो गयी, सेवड़े निकलने लगे। उसकी समझ में न आता था, क्या करे। न भूनते बनता था न छोड़ते बनता था। सोचने लगी कैसी विपत्ति है। पंडित जी कौन मेरी रोटियाँ चला देते हैं, कौन मेरे आँसू पोंछ देते हैं। अपना रक्त जलाती हूँ तब कहीं दाना मिलता है। लेकिन जब देखो खोपड़ी पर सवार रहते हैं, इसलिए न कि उनकी चार अंगुल धरती से मेरा निस्तार हो रहा है। क्या इतनी-सी जमीन का इतना मोल है ? ऐसे कितने ही टुकड़े गाँव में बेकाम पड़े हैं, कितनी बखरियाँ उजाड़ पड़ी हुई हैं। वहाँ तो केसर नहीं उपजती फिर मुझी पर क्यों यह आठों पहर धोंस रहती है। कोई बात हुई और यह धमकी मिली कि भाड़ खोद कर फेंक दूँगा, उजाड़ दूँगा, मेरे सिर पर भी कोई होता तो क्या बौछारें सहनी पड़तीं।

वह इन्हीं कुत्सित विचारों में पड़ी हुई थी कि दोनों चपरासियों ने आकर कर्कश स्वर में कहा—क्यों री, दाने भुन गये।

भुनगी ने निडर हो कर कहा—भून तो रही हूँ। देखते नहीं हो।

चपरासी—सारा दिन बीत गया और तुमसे इतना अनाज न भूना गया ? यह तू दाना भून रही है कि उसे चौपट कर रही है। यह तो बिलकुल सेवड़े हैं इनका सत्तू कैसे बनेगा। हमारा सत्यानाश कर दिया। देख तो आज महाराज तेरी क्या गति करते हैं।

परिणाम यह हुआ कि उसी रात को भाड़ खोद डाला गया और वह अभागिनी विधवा निरावलम्ब हो गयी।

3

भुनगी को अब रोटियों का कोई सहारा न रहा। गाँववालों को भी भाड़ के विध्वंस हो जाने से बहुत कष्ट होने लगा। कितने ही घरों में दोपहर को दाना ही न मयस्सर होता। लोगों ने जा कर पंडित जी से कहा कि बुढ़िया को भाड़ जलाने की आज्ञा दे दीजिए, लेकिन पंडित जी ने कुछ ध्यान न दिया। वह अपना रोब न घटा सकते थे। बुढ़िया से उसके कुछ शुभचिंतकों ने अनुरोध किया कि जा कर किसी दूसरे गाँव में क्यों नहीं बस जाती। लेकिन उसका हृदय इस प्रस्ताव को स्वीकार न करता। इस गाँव में उसने अपने अदिन के पचास वर्ष काटे थे। यहाँ के एक-एक पेड़-पत्ते से उसे प्रेम हो गया था ! जीवन के सुख-दुःख इसी गाँव में भोगे थे। अब अंतिम समय वह इसे कैसे त्याग दे ! यह कल्पना ही उसे संकटमय जान पड़ती थी। दूसरे गाँव के सुख से यहाँ का दुःख भी प्यारा था।

इस प्रकार एक पूरा महीना गुजर गया। प्रातःकाल था। पंडित उदयभान अपने दो-तीन चपरासियों को लिये लगान वसूल करने जा रहे थे। कारिंदों पर उन्हें विश्वास न था। नजराने में, डाँड-बाँध में, रसूम में वह किसी अन्य व्यक्ति को शरीक न करते थे। बुढ़िया के भाड़ की ओर ताका तो बदन में आग-सी लग गयी। उसका पुनरुद्धार हो रहा

था। बुढ़िया बड़े वेग से उस पर मिट्टी के लोंदे रख रही थी। कदाचित् उसने कुछ रात रहते ही काम में हाथ लगा दिया था और सूर्योदय से पहले ही उसे समाप्त कर देना चाहती थी। उसे लेशमात्र भी शंका न थी कि मैं जमींदार के विरुद्ध कोई काम कर रही हूँ। क्रोध इतना चिरजीवी हो सकता है इसका समाधान भी उसके मन में न था। एक प्रतिभाशाली पुरुष किसी दीन अबला से इतना कीना रख सकता है उसे उसका ध्यान भी न था। वह स्वभावतः मानव-चरित्र को इससे कहीं ऊँचा समझती थी। लेकिन हा ! हतभागिनी ! तूने धूप में ही बाल सफेद किये।

सहसा उदयभान ने गरज कर कहा—किसके हुक्म से ?

भुनगी ने हकबका कर देखा तो सामने जमींदार महोदय खड़े हैं।

उदयभान ने फिर पूछा—किसके हुक्म से बना रही है ?

भुनगी डरते हुए बोली—सब लोग कहने लगे बना लो, तो बना रही हूँ।

उदयभान—मैं अभी इसे फिर खुदवा डालूँगा। यह कह उन्होंने भाड़ में एक ठोकर मारी। गीली मिट्टी सब कुछ लिये दिये बैठ गयी। दूसरी ठोकर नाँद पर चलायी लेकिन बुढ़िया सामने आ गयी और ठोकर उसकी कमर पर पड़ी। अब उसे क्रोध आया। कमर सहलाते हुए बोली—महाराज, तुम्हें आदमी का डर नहीं है तो भगवान् का डर तो होना चाहिए। मुझे इस तरह उजाड़ कर क्या पाओगे ? क्या इस चार अंगुल धरती में सोना निकल आयेगा ? मैं तुम्हारे ही भले की कहती हूँ, दीन की हाय मत लो। मेरा रोआँ दुखी मत करो।

उदयभान—अब तो यहाँ फिर भाड़ न बनायेगी।

भुनगी—भाड़ न बनाऊँगी तो खाऊँगी क्या ?

उदयभान—तेरे पेट का हमने ठेका नहीं लिया है।

भुनगी—टहल तो तुम्हारी करती हूँ खाने कहाँ जाऊँ ?

उदयभान—गाँव में रहोगी तो टहल करनी पड़ेगी।

भुनगी—टहल तो तभी करूँगी जब भाड़ बनाऊँगी। गाँव में रहने के नाते टहल नहीं कर सकती।

उदयभान—तो छोड़ कर निकल जा।

भुनगी—क्यों छोड़ कर निकल जाऊँ ? बारह साल खेत जोतने से असामी काश्तकार हो जाता है। मैं तो इस झोंपड़े में बूढ़ी हो गयी। मेरे सास-ससुर और उनके बाप-दादे इसी झोंपड़े में रहे। अब इसे यमराज को छोड़ कर और कोई मुझसे नहीं ले सकता।

उदयभान—अच्छा तो अब कानून भी बघारने लगी। हाथ-पैर पड़ती तो चाहे मैं रहने भी देता, लेकिन अब तुझे निकाल कर तभी दम लूँगा। (चपरासियों से) अभी जा कर उसके पत्तियों के ढेर में आग लगा दो, देखें कैसे भाड़ बनता है।

4

एक क्षण में हाहाकार मच गया। ज्वाला-शिखर आकाश से बातें करने लगा। उसकी लपटें किसी उन्मत्त की भाँति इधर-उधर दौड़ने लगीं। सारे गाँव के लोग उस अग्नि-पर्वत के चारों ओर जमा हो गये। भुनगी अपने भाड़ के पास उदासीन भाव में खड़ी यह लंकादहन देखती

रही। अकस्मात् वह वेग से आ कर उसी अग्नि-कुंड में कूद पड़ी। लोग चारों तरफ से दौड़े, लेकिन किसी की हिम्मत न पड़ी कि आग के मुँह में जाय। क्षणमात्र में उसका सूखा हुआ शरीर अग्नि में समाविष्ट हो गया।

उसी दम पवन भी वेग से चलने लगा। ऊर्ध्वगामी लपटें पूर्व दिशा की ओर दौड़ने लगीं। भाड़ के समीप ही किसानों की कई झोंपड़ियाँ थीं, वह सब उन्मत्त ज्वालाओं का ग्रास बन गयीं। इस भाँति प्रोत्साहित होकर लपटें और आगे बढ़ीं। सामने पंडित उदयभान की बखार थी, उस पर झपटीं। अब गाँव में हलचल पड़ी। आग बुझाने की तैयारियाँ होने लगीं। लेकिन पानी के छींटों ने आग पर तेल का काम किया। ज्वालाएँ और भड़कीं और पंडित जी के विशाल भवन को दबोच बैठीं। देखते ही देखते वह भवन उस नौका की भाँति जो उन्मत्त तरंगों के बीच में झकोरे खा रही हो, अग्नि-सागर में विलीन हो गया और वह क्रंदन-ध्वनि जो उसके भस्मावशेष में प्रस्फुटित होने लगी, भुनगी के शोकमय विलाप से भी अधिक करुणाकारी थी।

[हिन्दी कहानी। 'आज', 25 जुलाई, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

त्यागी का प्रेम

लाला गोपीनाथ को युवावस्था में ही दर्शन से प्रेम हो गया था। अभी वह इंटरमीडियट क्लास में थे कि मिल और बर्कले के वैज्ञानिक विचार उनको कंठस्थ हो गये थे। उन्हें किसी प्रकार के विनोद-प्रमोद से रुचि न थी। यहाँ तक कि कालेज के क्रिकेट-मैचों में भी उनको उत्साह न होता था। हास-परिहास से कोसों भागते और उनसे प्रेम की चर्चा करना तो मानो बच्चे को जूजू से डराना था। प्रातःकाल घर से निकल जाते और शहर से बाहर किसी सघन वृक्ष की छाँह में बैठ कर दर्शन का अध्ययन करने में निरत हो जाते। काव्य, अलंकार, उपन्यास सभी को त्याज्य समझते थे। शायद ही अपने जीवन में उन्होंने कोई किस्से-कहानी की किताब पढ़ी हो। इसे केवल समय का दुरुपयोग ही नहीं, वरन् मन और बुद्धि-विकास के लिए घातक ख्याल करते थे। इसके साथ ही वह उत्साहहीन न थे। सेवा-समितियों में बड़े उत्साह से भाग लेते। स्वदेशवासियों की सेवा के किसी अवसर को हाथ से न जाने देते। बहुधा मुहल्ले के छोटे-छोटे दुकानदारों की दुकान पर जा बैठते और उनके घाटे-टोटे, मंदे-तेजे की रामकहानी सुनते।

शनैः-शनैः कालेज से उन्हें घृणा हो गयी। उन्हें अब अगर किसी विषय से प्रेम था, तो वह दर्शन था। कालेज की बहुविषयक शिक्षा उनके दर्शनानुराग में बाधक होती। अतएव उन्होंने कालेज छोड़ दिया और एकाग्रचित्त हो कर विज्ञानोपार्जन करने लगे। किंतु दर्शनानुराग के साथ ही साथ उनका देशानुराग भी बढ़ता गया और कालेज छोड़ने के थोड़े ही दिनों पश्चात् वह अनिवार्यतः जाति-सेवकों के दल में सम्मिलित हो गये। दर्शन में भ्रम था, अविश्वास था, अंधकार था, जाति-सेवा में सम्मान था, यश था और दोनों की सदिच्छाएँ

थीं। उनका वह सदनुराग जो बरसों से वैज्ञानिक वादों के नीचे दबा हुआ था; वायु के प्रचंड वेग के साथ निकल पड़ा। नगर के सार्वजनिक क्षेत्र में कूद पड़े। देखा तो मैदान खाली था। जिधर आँख उठाते, सन्नाटा दिखाई देता। ध्वजाधारियों की कमी न थी; पर सच्चे हृदय कहीं नजर न आते थे। चारों ओर से उनकी खींच होने लगी। किसी संस्था के मंत्री बने, किसी के प्रधान, किसी के कुछ, किसी के कुछ। इसके आवेश में दर्शनानुराग भी विदा हुआ। पिंजरे में गानेवाली चिड़िया विस्तृत पर्वतराशियों में आ कर अपना राग भूल गयी। अब भी वह समय निकाल कर दर्शनग्रंथों के पन्ने उलट-पलट लिया करते थे, पर विचार और अनुशीलन का अवकाश कहाँ ! नित्य मन में यह संग्राम होता रहता कि किधर जाऊँ ? उधर या इधर ? विज्ञान अपनी ओर खींचता, देश अपनी ओर खींचता।

एक दिन वह इसी उलझन में नदी के तट बैठे हुए थे। जलधारा तट के दृश्यों और वायु के प्रतिकूल झोंकों की परवा न करते हुए बड़े वेग के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ी चली जाती थी, पर लाला गोपीनाथ का ध्यान इस तरफ न था। वह अपने स्मृतिभंडार से किसी ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष को खोज निकालना चाहते थे, जिसने जाति-सेवा के साथ विज्ञान-सागर में गोते लगाये हों। सहसा उनके कालेज के एक अध्यापक पंडित अमरनाथ अग्निहोत्री आ कर समीप बैठ गये और बोले—कहिए लाला गोपीनाथ, क्या खबरें हैं ?

गोपीनाथ ने अन्यमनस्क हो कर उत्तर दिया—कोई नयी बातें तो नहीं हुईं। पृथ्वी अपनी गति से चली जा रही है।

अमरनाथ—म्युनिसिपल-वार्ड नम्बर 21 की जगह खाली है, उसके लिए किसे चुनना निश्चित किया है ?

गोपी—देखिए, कौन होता है। आप भी खड़े हुए हैं ?

अमर—अजी मुझे तो लोगों ने जबरदस्ती घसीट लिया। नहीं तो मुझे इतनी फुर्सत कहाँ।

गोपी—मेरा भी यही विचार है। अध्यापकों का क्रियात्मक राजनीति में फँसना बहुत अच्छी बात नहीं।

अमरनाथ इस व्यंग्य से बहुत लज्जित हुए। एक क्षण के बाद प्रतिकार के भाव से बोले—तुम आजकल दर्शन का अभ्यास करते हो या नहीं ?

गोपी—बहुत कम। इसी दुविधा में पड़ा हुआ हूँ कि राष्ट्रीय सेवा का मार्ग ग्रहण करूँ या सत्य की खोज में जीवन व्यतीत करूँ।

अमर—राष्ट्रीय संस्थानों में सम्मिलित होने का समय अभी तुम्हारे लिए नहीं आया। अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है ? जब तक विचारों में गाम्भीर्य और सिद्धांतों पर दृढ़ विश्वास न हो जाय, उस समय तक केवल क्षणिक आवेशों के वशवर्ती हो कर किसी काम में कूद पड़ना अच्छी बात नहीं। राष्ट्रीय सेवा बड़े उत्तरदायित्व का काम है।

2

गोपीनाथ ने निश्चय कर लिया कि मैं जाति-सेवा में जीवनक्षेप करूँगा। अमरनाथ ने भी यही फैसला किया कि मैं म्युनिसिपैलिटी में अवश्य जाऊँगा। दोनों का परस्पर विरोध उन्हें कर्म-क्षेत्र की ओर खींच ले गया। गोपीनाथ की साख पहले ही से जम गयी थी। घर के धनी

थे। शक्कर और सोने-चाँदी की दलाली होती थी। व्यापारियों में उनके पिता का बड़ा मान था। गोपीनाथ के दो बड़े भाई थे। वह भी दलाली करते थे। परस्पर मेल था, धन था, संतानें थीं। अगर न थी तो शिक्षा और शिक्षित समुदाय में गणना। वह बात गोपीनाथ की बदौलत प्राप्त हो गयी। इसलिए उनकी स्वच्छंदता पर किसी ने आपत्ति नहीं की, किसी ने उन्हें धनोपार्जन के लिए मजबूर नहीं किया। अतएव गोपीनाथ निश्चिंत और निर्द्वन्द्व होकर राष्ट्र-सेवा में कहीं किसी अनाथालय के लिए चंदे जमा करते, कहीं किसी कन्या-पाठशाला के लिए भिक्षा माँगते फिरते। नगर की काँग्रेस कमेटी ने उन्हें अपना मंत्री नियुक्त किया। उस समय तक काँग्रेस ने कर्मक्षेत्र में पदार्पण नहीं किया था। उनकी कार्यशीलता ने इस जीर्ण संस्था का मानो पुनरुद्धार कर दिया। वह प्रातः से संध्या और बहुधा पहर रात तक इन्हीं कामों में लिप्त रहते थे। चंदे का रजिस्टर हाथ में लिये उन्हें नित्यप्रति साँझ-सवेरे अमीरों और रईसों के द्वार पर खड़े देखना एक साधारण दृश्य था। धीरे-धीरे कितने ही युवक उनके भक्त हो गये। लोग कहते, कितना निःस्वार्थ, कितना आदर्शवादी, त्यागी, जाति-सेवक है। कौन सुबह से शाम तक निःस्वार्थ भाव से केवल जनता का उपकार करने के लिए यों दौड़-धूप करेगा ? उनका आत्मोत्सर्ग प्रायः द्वेषियों को भी अनुरक्त कर देता था। उन्हें बहुधा रईसों की अभद्रता, असज्जनता, यहाँ तक कि उनके कटु शब्द भी सहने पड़ते थे। उन्हें अब विदित हो गया था कि जाति-सेवा बड़े अंशों तक केवल चंदे माँगना है। इसके लिए धनिकों की दरबारदारी या दूसरे शब्दों में खुशामद भी करनी पड़ती थी, दर्शन के उस गौरवयुक्त अध्ययन और इस दानलोलुपता में कितना अंतर था ? कहाँ मिल और केंट; स्पेन्सर और किड़ के साथ एकांत में बैठे हुए जीव और प्रकृति के गहन गूढ़ विषय पर वार्तालाप और कहाँ इन अभिमानी, असभ्य, मूर्ख व्यापारियों के सामने सिर झुकाना ! वह अंतःकरण में उनसे घृणा करते थे। वह धनी थे और केवल धन कमाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई विशेष गुण न था। उनमें अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने कपट-व्यवहार से धनोपार्जन किया था। पर गोपीनाथ के लिए वह सभी पूज्य थे, क्योंकि उन्हीं की कृपादृष्टि पर उनकी राष्ट्र-सेवा अवलम्बित थी।

इस प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। गोपीनाथ नगर के मान्य पुरुषों में गिने जाने लगे। वह दीनजनों के आधार और दुखियारों के मददगार थे। अब वह बहुत कुछ निर्भीक हो गये थे और कभी-कभी रईसों को भी कुमार्ग पर चलते देख कर फटकार दिया करते थे। उनकी तीव्र आलोचना भी अब चंदे जमा करने में उनकी सहायक हो जाती थी।

अभी तक उनका विवाह न हुआ था। वह पहले ही से ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर चुके थे। विवाह करने से साफ इन्कार किया। मगर जब पिता और अन्य बंधुजनों ने बहुत आग्रह किया, और उन्होंने स्वयं कई विज्ञान-ग्रंथों में देखा कि इन्द्रिय-दमन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, तो असमंजस में पड़े। कई हफ्ते सोचते हो गये और वह मन में कोई बात पक्की न कर सके। स्वार्थ और परमार्थ में संघर्ष हा रहा था। विवाह का अर्थ था अपनी उदारता की हत्या करना, अपने विस्तृत हृदय को संकुचित करना, न कि राष्ट्र के लिए जीना। वह अब इतने ऊँचे आदर्श का त्याग करना निंद्य और उपहासजनक समझते थे। इसके अतिरिक्त अब वह अनेक कारणों से अपने को पारिवारिक जीवन के अयोग्य पाते थे। जीविका के लिए जिस उद्योगशीलता, जिस अनवरत परिश्रम और जिस मनोवृत्ति की

आवश्यकता है, वह उनमें न रही थी। जाति-सेवा में भी उद्योगशीलता और अध्यवसाय की कम जरूरत न थी; लेकिन उसमें आत्म-गौरव का हनन न होता था। परोपकार के लिए भिक्षा माँगना दान है, अपने लिए पान का एक बीड़ा भी भिक्षा है। स्वभाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता आ गयी थी। इन त्रुटियों पर परदा डालने के लिए जाति-सेवा का बहाना बहुत अच्छा था।

एक दिन वह सैर करने जा रहे थे, कि रास्ते में अध्यापक अमरनाथ से मुलाकात हो गयी। यह महाशय अब म्युनिसिपल बोर्ड के मंत्री हो गये थे और आजकल इस दुविधा में पड़े हुए थे कि शहर में मादक वस्तुओं के बेचने का ठीका लूँ या न लूँ। लाभ बहुत था, पर बदनामी भी कम न थी। अभी तक कुछ निश्चय न कर सके थे। इन्हें देख कर बोले—कहिए लाला जी, मिजाज अच्छा है न ! आपके विवाह के विषय में क्या हुआ ?

गोपीनाथ ने दृढ़ता से कहा—मेरा इरादा विवाह करने का नहीं है।

अमरनाथ—ऐसी भूल न करना। तुम अभी नवयुवक हो, तुम्हें संसार का कुछ अनुभव नहीं है। मैंने ऐसी कितनी मिसालें देखी हैं, जहाँ अविवाहित रहने से लाभ के बदले हानि ही हुई है। विवाह मनुष्य को सुमार्ग पर रखने का सबसे उत्तम साधन है, जिसे अब तक मनुष्य ने आविष्कृत किया है। उस व्रत से क्या फायदा जिसका परिणाम छिछोरापन हो।

गोपीनाथ ने प्रत्युत्तर दिया—आपने मादक वस्तुओं के ठीके के विषय में क्या निश्चय किया ?

अमर—अभी तक कुछ नहीं। जी हिचकता है। कुछ न कुछ बदनामी तो होगी ही।

गोपी—एक अध्यापक के लिए मैं इस पेशे को अपमान समझता हूँ।

अमर—कोई पेशा खराब नहीं है, अगर ईमानदारी से किया जाय।

गोपी—यहाँ मेरा आपसे मतभेद है। कितने ही ऐसे व्यवसाय हैं जिन्हें एक सुशिक्षित व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकता। मादक वस्तुओं का ठीका उनमें एक है।

गोपीनाथ ने आ कर अपने पिता से कहा—मैं कदापि विवाह न करूँगा। आप लोग मुझे विवश न करें, वरना पछताइएगा।

अमरनाथ ने उसी दिन ठीके के लिए प्रार्थनापत्र भेज दिया और वह स्वीकृत भी हो गया।

3

दो साल हो गये हैं। लाला गोपीनाथ ने एक कन्या-पाठशाला खोली है और उसके प्रबंधक हैं। शिक्षा की विभिन्न पद्धतियों का उन्होंने खूब अध्ययन किया है और इस पाठशाला में वह उनका व्यवहार कर रहे हैं। शहर में यह पाठशाला बहुत ही सर्वप्रिय है। उसने बहुत अंशों में उस उदासीनता का परिशोध कर दिया है जो माता-पिता को पुत्रियों की शिक्षा की ओर होती है। शहर के गण्यमान्य पुरुष अपनी लड़कियों को सहर्ष पढ़ने भेजते हैं। वहाँ की शिक्षा-शैली कुछ ऐसी मनोरंजक है कि बालिकाएँ एक बार जा कर मानो मंत्रमुग्ध हो जाती हैं। फिर उन्हें घर पर चैन नहीं मिलता। ऐसी व्यवस्था की गयी है कि तीन-चार वर्षों में ही कन्याओं का गृहस्थी के मुख्य कामों से परिचय हो जाय। सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ

धर्म-शिक्षा का भी समुचित प्रबंध किया गया है। अबकी साल से प्रबंधक महोदय ने अँग्रेजी की कक्षाएँ भी खोल दी हैं। एक सुशिक्षित गुजराती महिला को बम्बई से बुला कर पाठशाला उनके हाथ में दे दी है। इन महिला का नाम है आनंदी बाई। विधवा हैं। हिंदी भाषा से भली-भाँति परिचित हैं; किंतु गुजराती में कई पुस्तकें लिख चुकी हैं। कई कन्या-पाठशालाओं में काम कर चुकी हैं। शिक्षा-सम्बन्धी विषयों में अच्छी गति है। उनके आने से मदरसे में और भी रौनक आ गयी है। कई प्रतिष्ठित सज्जनों ने जो अपनी बालिकाओं को मंसूरी और नैनीताल भेजना चाहते थे, अब उन्हें यहीं भरती करा दिया है। आनंदी रईसों के घरों में जाती हैं और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करती हैं। उनके वस्त्राभूषणों से सुरुचि का बोध होता है। हैं भी उच्चकुल की, इसलिए शहर में उनका बड़ा सम्मान होता है। लड़कियाँ उन पर जान देती हैं, उन्हें माँ कह कर पुकारती हैं। गोपीनाथ पाठशाला की उन्नति देख-देख कर फूले नहीं समाते। जिससे मिलते हैं, आनंदी बाई का ही गुणगान करते हैं। बाहर से कोई सुविख्यात पुरुष आता है, तो उससे पाठशाला का निरीक्षण अवश्य कराते हैं। आनंदी की प्रशंसा से उन्हें वही आनंद प्राप्त होता है, जो स्वयं अपनी प्रशंसा से होता। बाई जी को भी दर्शन से प्रेम है, और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें गोपीनाथ पर असीम श्रद्धा है। वह हृदय से उनका सम्मान करती हैं। उनके त्याग और निष्काम जाति-भक्ति ने उन्हें वशीभूत कर लिया है। वह मुँह पर उनकी बड़ाई नहीं करतीं; पर रईसों के घरों में बड़े प्रेम से उनका यशोगान करती हैं। ऐसे सच्चे सेवक आजकल कहाँ? लोग कीर्ति पर जान देते हैं। जो थोड़ी-बहुत सेवा करते हैं, दिखावे के लिए। सच्ची लगन किसी में नहीं। मैं लाला जी को पुरुष नहीं देवता समझती हूँ। कितना सरल, संतोषमय जीवन है। न कोई व्यसन, न विलास। भोर से सायंकाल तक दौड़ते रहते हैं, न खाने का कोई समय, न सोने का समय। उस पर कोई ऐसा नहीं, जो उनके आराम का ध्यान रखे। बेचारे घर गये, जो कुछ किसी ने सामने रख दिया, चुपके से खा लिया, फिर छड़ी उठायी और किसी तरफ चल दिये। दूसरी औरत कदापि अपनी पत्नी की भाँति सेवा-सत्कार नहीं कर सकती।

दशहरे के दिन थे। कन्या-पाठशाला में उत्सव मनाने की तैयारियाँ हो रही थीं। एक नाटक खेलने का निश्चय किया गया था। भवन खूब सजाया गया था। शहर के रईसों को निमंत्रण दिये गये थे। यह कहना कठिन है कि किसका उत्साह बढ़ा हुआ था, बाई जी का या लाला गोपीनाथ का। गोपीनाथ सामग्रियाँ एकत्र कर रहे थे, उन्हें अच्छे ढंग से सजाने का भार आनंदी ने लिया था, नाटक भी इन्हीं ने रचा था। नित्य प्रति उसका अभ्यास कराती थीं और स्वयं एक पार्ट ले रखा था।

विजयादशमी आ गयी। दोपहर तक गोपीनाथ फर्श और कुर्सियों का इंतजाम करते रहे। जब एक बज गया और अब भी वह वहाँ से न टले तो आनंदी ने कहा—लाला जी, आपको भोजन करने को देर हो रही है। अब सब काम हो गया है। जो कुछ बच रहा है, मुझ पर छोड़ दीजिए।

गोपीनाथ ने कहा—खा लूँगा। मैं ठीक समय पर भोजन करने का पाबंद नहीं हूँ। फिर घर तक कौन जाय। घंटों लग जायेंगे। भोजन के उपरान्त आराम करने का जी चाहेगा। शाम हो जायगी।

आनंदी—भोजन तो मेरे यहाँ तैयार है, ब्राह्मणी ने बनाया है चल कर खा लीजिए और यहीं जरा देर आराम भी कर लीजिए।

गोपीनाथ—यहाँ क्या खा लूँ ! एक वक्त न खाऊँगा, तो ऐसी कौन-सी हानि हो जायगी ?

आनंदी—जब भोजन तैयार है, तो उपवास क्यों कीजिएगा।

गोपीनाथ—आप जायें, आपको अवश्य देर हो रही है। मैं काम में ऐसा भूला कि आपकी सुधि ही न रही।

आनंदी—मैं भी एक जून उपवास कर लूँगी तो क्या हानि होगी ?

गोपीनाथ—नहीं-नहीं, इसकी क्या जरूरत है ? मैं आपसे सच कहता हूँ, मैं बहुधा एक ही जून खाता हूँ।

आनंदी—अच्छा, मैं आपके इनकार का माने समझ गयी। इतनी मोटी बात अब तक मुझे न सूझी।

गोपीनाथ—क्या समझ गयीं ? मैं छूतछात नहीं मानता। यह तो आपको मालूम ही है।

आनंदी—इतना जानती हूँ, किंतु जिस कारण से आप मेरे यहाँ भोजन करने से इनकार कर रहे हैं, उसके विषय में केवल इतना निवेदन है कि मुझे आपसे केवल स्वामी और सेवक का सम्बन्ध नहीं है। मुझे आपसे आत्मीयता का सम्बन्ध है। आपका मेरे पान-फूल को अस्वीकार करना अपने एक सच्चे भक्त के मर्म को आघात पहुँचाना है। मैं आपको इसी दृष्टि से देखती हूँ।

गोपीनाथ को अब कोई आपत्ति न हो सकी। जा कर भोजन कर लिया। वह जब तक आसन पर बैठे रहे, आनंदी बैठी पंखा झलती रही।

इस घटना की लाला गोपीनाथ के मित्रों ने यों आलोचना की, "महाशय जी अब तो वहीं ("वहीं" पर खूब जोर दे कर) भोजन भी करते हैं।"

4

शनैः-शनैः परदा हटने लगा। लाला गोपीनाथ को अब परवशता ने साहित्य-सेवी बना दिया था। घर से उन्हें आवश्यक सहायता मिल जाती थी; किंतु पत्रों और पत्रिकाओं तथा अन्य अनेक कामों के लिए उन्हें घरवालों से कुछ माँगते हुए बहुत संकोच होता था। उनका आत्म-सम्मान जरा-जरा सी बातों के लिए भाइयों के सामने हाथ फैलाना अनुचित समझता था। वह अपनी जरूरतें आप पूरी करना चाहते थे। घर पर भाइयों के लड़के इतना कोलाहल मचाते कि उनका जी कुछ लिखने में न लगता। इसलिए जब उनकी कुछ लिखने की इच्छा होती तो बेखटके पाठशाला में चले जाते। आनंदी बाई वहीं रहती थीं। वहाँ न कोई शोर था, न गुल। एकांत में काम करने में जी लगता। भोजन का समय आ जाता तो वहीं भोजन भी कर लेते। कुछ दिनों के बाद उन्हें बैठ कर लिखने में कुछ असुविधा होने लगी (आँखें कमजोर हो गयी थीं) तो आनंदी ने लिखने का भार अपने सिर ले लिया। लाला साहब बोलते थे, आनंदी लिखती थीं। गोपीनाथ की प्रेरणा से उन्होंने हिंदी सीखी थी और थोड़े ही दिनों में इतनी अभ्यस्त हो गयी थीं कि लिखने में जरा भी हिचक न होती। लिखते समय कभी-कभी उन्हें ऐसे शब्द और मुहावरे सूझ जाते कि गोपीनाथ फड़क-फड़क उठते, उनके

लेख में जान-सी पड़ जाती। वह कहते, यदि तुम स्वयं कुछ लिखो तो मुझसे बहुत अच्छा लिखोगी। मैं तो बेगारी करता हूँ। तुम्हें परमात्मा की ओर से यह शक्ति प्रदान हुई है। नगर के लाल-बुझक्कड़ों में इस सहकारिता पर टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं पर विद्वज्जन अपनी आत्मा की शुचिता के सामने ईर्ष्या के व्यंग्य की कब परवाह करते हैं। आनंदी कहतीं—यह तो संसार है, जिसके मन में आये, कहे; पर मैं उस पुरुष का निरादर नहीं कर सकती जिस पर मेरी श्रद्धा है। पर गोपीनाथ इतने निर्भीक न थे। उनकी सुकीर्ति का आधार लोकमत था। वह उसकी भर्त्सना न कर सकते थे। इसलिए वह दिन के बदले रात को रचना करने लगे। पाठशाला में इस समय कोई देखनेवाला न होता था। रात की नीरवता में खूब जी लगता। आराम-कुरसी पर लेट जाते। आनंदी मेज के सामने कलम हाथ में लिये उनकी ओर देखा करतीं। जो कुछ उनके मुख से निकलता तुरंत लिख लेतीं। उनकी आँखों से विनय और शील, श्रद्धा और प्रेम की किरण-सी निकलती हुई जान पड़ती। गोपीनाथ जब किसी भाव को मन में व्यक्त करने के बाद आनंदी की ओर ताकते कि वह लिखने के लिए तैयार है या नहीं, तो दोनों व्यक्तियों की निगाहें मिलतीं और आप ही झुक जातीं। गोपीनाथ को इस तरह काम करने की ऐसी आदत पड़ती जाती थी कि जब किसी कार्यवश यहाँ आने का अवसर न मिलता तो वह विकल हो जाते थे।

आनंदी से मिलने के पहले गोपीनाथ को स्त्रियों का कुछ जो ज्ञान था, वह केवल पुस्तकों पर अवलम्बित था। स्त्रियों के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन, प्राच्य और पाश्चात्य, सभी विद्वानों का एक ही मत था—यह मायावी, आत्मिक उन्नति की बाधक, परमार्थ की विरोधिनी, वृत्तियों को कुमार्ग की ओर ले जानेवाली, हृदय को संकीर्ण बनानेवाली होती है। इन्हीं कारणों से उन्होंने इस मायावी जाति से अलग रहना ही श्रेयस्कर समझा था; किंतु अब अनुभव बतला रहा था कि स्त्रियाँ सन्मार्ग की ओर भी ले जा सकती हैं, उनमें सद्गुण भी हो सकते हैं। वह कर्त्तव्य और सेवा के भावों को जागृत भी कर सकती हैं। तब उनके मन में प्रश्न उठता कि यदि आनंदी से मेरा विवाह होता तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। उसके साथ तो मेरा जीवन बड़े आनंद से कट जाता। एक दिन वह आनंदी के यहाँ गये तो सिर में दर्द हो रहा था। कुछ लिखने की इच्छा न हुई। आनंदी को इसका कारण मालूम हुआ तो उसने उनके सिर में धीरे-धीरे तेल मलना शुरू किया। गोपीनाथ को उस समय अलौकिक सुख मिल रहा था। मन में प्रेम की तरंगें उठ रही थीं—नेत्र, मुख, वाणी—सभी प्रेम में पगे जाते थे। उसी दिन से उन्होंने आनंदी के यहाँ आना छोड़ दिया। एक सप्ताह बीत गया और न आये। आनंदी ने लिखा—आपसे पाठशाला सम्बन्धी कई विषयों में राय लेनी है। अवश्य आइए। तब भी न गये। उसने फिर लिखा—मालूम होता है आप मुझसे नाराज हैं ! मैंने जानबूझ कर तो कोई ऐसा काम नहीं किया, लेकिन यदि वास्तव में आप नाराज हैं तो मैं यहाँ रहना उचित नहीं समझती। अगर आप अब भी न आयेंगे तो मैं द्वितीय अध्यापिका को चार्ज दे कर चली जाऊँगी। गोपीनाथ पर इस धमकी का भी कुछ असर न हुआ। अब भी न गये। अंत में दो महीने तक खिंचे रहने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि आनंदी बीमार है और दो दिन से पाठशाला नहीं आ सकी। तब वह किसी तर्क या युक्ति से अपने को न रोक सके। पाठशाला में आये और कुछ झिझकते, सकुचाते, आनंदी के कमरे में कदम रखा। देखा तो चुपचाप पड़ी हुई थी। मुख पीला था, शरीर घुल

गया था। उसने उनकी ओर दयाप्रार्थी नेत्रों से देखा। उठना चाहा पर अशक्ति ने उठने न दिया। गोपीनाथ ने आर्द्र कंठ से कहा—लेटी रहो, लेटी रहो, उठने की जरूरत नहीं, मैं बैठ जाता हूँ। डाक्टर साहब आये थे ?

मिश्राइन ने कहा—जी हाँ, दो बार आये थे। दवा दे गये हैं।

गोपीनाथ ने नुसखा देखा। डाक्टरी का साधारण ज्ञान था। नुसखे से ज्ञात हुआ—हृदयरोग है। औषधियाँ सभी पुष्टिकर और बलवर्द्धक थीं। आनंदी की ओर फिर देखा। उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। उनका गला भी भर आया। हृदय मसोसने लगा। गद्‌गद् हो कर बोले—आनंदी, तुमने मुझे पहले इसकी सूचना न दी, नहीं तो रोग इतना न बढ़ने पाता।

आनंदी—कोई बात नहीं है, अच्छी हो जाऊँगी, जल्दी ही अच्छी हो जाऊँगी। मर भी जाऊँगी तो कौन रोनेवाला बैठा हुआ है। यह कहते-कहते वह फूट-फूट कर रोने लगी।

गोपीनाथ दार्शनिक थे, पर अभी तक उनके मन के कोमल भाव शिथिल न हुए थे। कम्पित स्वर से बोले—आनंदी, संसार में कम-से-कम एक ऐसा आदमी है जो तुम्हारे लिए अपने प्राण तक दे देगा। यह कहते-कहते वह रुक गये। उन्हें अपने शब्द और भाव कुछ भद्दे और उच्छृङ्खल से जान पड़े। अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए वह इन सारहीन शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक काव्यमय, रसपूर्ण, अनुरक्त शब्दों का व्यवहार करना चाहते थे; पर वह इस वक्त याद न पड़े ?

आनंदी ने पुलकित हो कर कहा—दो महीने तक किस पर छोड़ दिया था ?

गोपीनाथ—इन दो महीनों में मेरी जो दशा थी, वह मैं ही जानता हूँ। यही समझ लो कि मैंने आत्महत्या नहीं की, यही बड़ा आश्चर्य है। मैंने न समझा था कि अपने व्रत पर स्थिर रहना मेरे लिए इतना कठिन हो जायगा।

आनंदी ने गोपीनाथ का हाथ धीरे से अपने हाथ में लेकर कहा—अब तो कभी इतनी कठोरता न कीजियेगा ?

गोपीनाथ—(सचिंत होकर) अंत क्या है ?

आनंदी—कुछ भी हो !

गोपी.—कुछ भी हो ! अपमान, निंदा, उपहास, आत्मवेदना।

आनंदी—कुछ भी हो, मैं सब कुछ सह सकती हूँ, और आपको भी मेरे हेतु सहना पड़ेगा।

गोपी.—आनंदी, मैं अपने को प्रेम पर बलिदान कर सकता हूँ, लेकिन अपने नाम को नहीं। इस नाम को अकलंकित रखकर मैं समाज की बहुत कुछ सेवा कर सकता हूँ।

आनंदी—न कीजिए। आपने सब कुछ त्याग कर यह कीर्ति लाभ की है, मैं आपके यश को नहीं मिटाना चाहती (गोपीनाथ का हाथ हृदयस्थल पर रख कर), इसको चाहती हूँ। इससे अधिक त्याग की आकांक्षा नहीं रखती ?

गोपी.—दोनों बातें एक साथ संभव हैं ?

आनंदी—संभव है। मेरे लिए संभव है। मैं प्रेम पर अपनी आत्मा को भी न्योछावर कर सकती हूँ।

5

इसके पश्चात् लाला गोपीनाथ ने आनंदी की बुराई करनी शुरू की। मित्रों से कहते, उनका

जी अब काम में नहीं लगता। पहले की-सी तनदेही नहीं है। किसी से कहते, उनका जी अब यहाँ से उचाट हो गया है, अपने घर जाना चाहती है, उनकी इच्छा है कि मुझे प्रति वर्ष तरक्की मिला करे और उसकी यहाँ गुंजाइश नहीं। पाठशाला को कई बार देखा और अपनी आलोचना में काम को असंतोषजनक लिखा। शिक्षा, संगठन, उत्साह, सुप्रबंध सभी बातों में निराशाजनक क्षति पायी। वार्षिक अधिवेशन में जब कई सदस्यों ने आनंदी की वेतन-वृद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया तो लाला गोपीनाथ ने उसका विरोध किया। उधर आनंदी बाई भी गोपीनाथ के दुखड़े रोने लगी। यह मनुष्य नहीं है, पत्थर का देवता है। उन्हें प्रसन्न करना दुस्तर है, अच्छा ही हुआ कि उन्होंने विवाह नहीं किया, नहीं तो दुखिया इनके नखरे उठाते-उठाते सिधार जाती। कहाँ तक कोई सफाई और सुप्रबंध पर ध्यान दे ! दीवार पर एक धब्बा भी पड़ गया, किसी कोने-खुतरे में एक जाला भी लग गया, बरामदों में कागज का एक टुकड़ा भी पड़ा मिल गया तो आपके तीवर बदल जाते हैं। दो साल मैंने ज्यों-त्यों करके निबाहा; लेकिन देखती हूँ तो लाला साहब की निगाह दिनोंदिन कड़ी होती जाती है। ऐसी दशा में मैं यहाँ अधिक नहीं ठहर सकती। मेरे लिए नौकरी में कल्याण नहीं है, जब जी चाहेगा, उठ खड़ी हूँगी। यहाँ आप लोगों से मेल-मुहब्बत हो गयी है, कन्याओं से ऐसा प्यार हो गया है कि छोड़ कर जाने को जी नहीं चाहता! आश्चर्य था कि और किसी को पाठशाला की दशा में अवनति न दीखती थी, वरन् हालत पहले से अच्छी थी।

एक दिन पंडित अमरनाथ की लाला जी से भेंट हो गयी। उन्होंने पूछा—कहिए, पाठशाला खूब चल रही है न ?

गोपी—कुछ न पूछिए। दिनोंदिन दशा गिरती जाती है।

अमर—आनंदी बाई की ओर से ढील है क्या ?

गोपी—जी हाँ, सरासर। अब काम करने में उनका जी नहीं लगता। बैठी हुई योग और ज्ञान के ग्रन्थ पढ़ा करती हैं। कुछ कहता हूँ तो कहती हैं, मैं अब इससे और अधिक कुछ नहीं कर सकती। कुछ परलोक की भी चिन्ता करूँ कि चौबीसों घंटे पेट के धंधों में ही लगी रहूँ ? पेट के लिए पाँच घंटे बहुत हैं। पहले कुछ दिनो तक बारह घण्टे करती; पर वह दशा स्थायी नहीं रह सकती थी। यहाँ आ कर मैंने स्वास्थ्य खो दिया। एक बार कठिन रोगग्रस्त हो गयी। क्या कमेटी ने मेरा दवा-दर्पन का खर्च दे दिया ? कोई बात पूछने भी आया ? फिर अपनी जान क्यों दूँ ? सुना है, घरों में मेरी बदगोई भी किया करती है। अमरनाथ मार्मिक भाव से बोले—यह बातें मुझे पहले ही मालूम थीं।

दो साल और गुजर गये। रात का समय था। कन्या-पाठशाला के ऊपर वाले कमरे में लाला गोपीनाथ मेज के सामने कुरसी पर बैठे हुए थे, सामने आनंदी कोच पर लेटी हुई थी। मुख बहुत म्लान हो रहा था। कई मिनट तक दोनों विचार में मग्न थे। अंत में गोपीनाथ बोले—मैंने पहले ही महीने में तुमसे कहा था कि मथुरा चली जाओ।

आनंदी—वहाँ दस महीने क्योंकर रहती। मेरे पास इतने रुपये कहाँ थे और न तुम्हीं ने कोई प्रबन्ध करने का आश्वासन दिया। मैंने सोचा, तीन-चार महीने यहाँ और रहूँ। तब तक किफायत करके कुछ बचा लूँगी, तुम्हारी किताब से भी कुछ मिल जायेंगे। तब मथुरा चली जाऊँगी; मगर यह क्या मालूम था कि बीमारी भी इसी अवसर की ताक में बैठी हुई है। मेरी दशा दो-चार दिन के लिए भी सँभली और मैं चली। इस दशा में तो मेरे

लिए यात्रा करना असम्भव है।

गोपी—मुझे भय है कि कहीं बीमारी तूल न खींचे। संग्रहणी असाध्य रोग है। महीने दो महीने यहाँ और रहने पड़ गये तो बात खुल जायगी।

आनंदी—(चिढ़ कर) खुल जायगी, खुल जाय। अब इससे कहाँ तक डरूँ ?

गोपी—मैं भी न डरता अगर मेरे कारण नगर की कई संस्थाओं का जीवन संकट में न पड़ जाता। इसलिए मैं बदनामी से डरता हूँ। समाज के यह बन्धन निरे पाखंड हैं। मैं उन्हें सम्पूर्णतः अन्याय समझता हूँ। इस विषय में तुम मेरे विचारों को भली-भाँति जानती हो; पर करूँ क्या ? दुर्भाग्यवश मैंने जाति-सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया है और उसी का फल है कि आज मुझे अपने माने हुए सिद्धांतों को तोड़ना पड़ रहा है और जो वस्तु मुझे प्राणों से भी प्रिय है, उसे यों निर्वासित करना पड़ रहा है।

किन्तु आनंदी की दशा सँभलने की जगह दिनोंदिन गिरती ही गयी। कमजोरी से उठना-बैठना कठिन हो गया था। किसी वैद्य या डाक्टर को उसकी अवस्था न दिखायी जाती थी। गोपीनाथ दवाएँ लाते थे, आनंदी उनका सेवन करती थी और दिन-दिन निर्बल होती जाती थी। पाठशाला से उसने छुट्टी ले ली थी। किसी से मिलती-जुलती भी न थी। बार-बार चेष्टा करती कि मथुरा चली जाऊँ, किन्तु एक अनजान नगर में अकेले कैसे रहूँगी, न कोई आगे, न पीछे। कोई एक घूँट पानी देनेवाला भी नहीं। यह सब सोचकर उसकी हिम्मत टूट जाती थी। इसी सोच-विचार और हैस-बैस में दो महीने और गुजर गये और अन्त में विवश होकर आनंदी ने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ सिर पर बीते, यहाँ से चल ही दूँ। अगर सफर में मर भी जाऊँगी तो क्या चिन्ता है। उनकी बदनामी तो न होगी। उनके यश को कलंक तो न लगेगा। मेरे पीछे ताने तो न सुनने पड़ेंगे। सफर की तैयारियाँ करने लगी। रात को जाने का मुहूर्त था कि सहसा संध्याकाल से ही प्रसवपीड़ा होने लगी और ग्यारह बजते-बजते एक नन्हा-सा दुर्बल सतवाँसा बालक प्रसव हुआ। बच्चे के होने की आवाज सुनते ही लाला गोपीनाथ बेतहाशा ऊपर से उतरे और गिरते-पड़ते घर भागे। आनंदी ने इस भेद को अंत तक छिपाये रखा, अपनी दारुण प्रसवपीड़ा का हाल किसी से न कहा। दाई को भी सूचना न दी; मगर जब बच्चे के रोने की ध्वनि मदरसे में गूँजी तो क्षणमात्र में दाई सामने आ कर खड़ी हो गयी। नौकरानियों को पहले से शंकाएँ थीं। उन्हें कोई आश्चर्य न हुआ। जब दाई ने आनंदी को पुकारा तो वह सचेत हो गयी। देखा तो बालक रो रहा है।

6

दूसरे दिन दस बजते-बजते यह समाचार सारे शहर में फैल गया। घर-घर चर्चा होने लगी। कोई आश्चर्य करता था, कोई घृणा करता, कोई हँसी उड़ाता था। लाला गोपीनाथ के छिद्रान्वेषियों की संख्या कम न थी। पंडित अमरनाथ उनके मुखिया थे। उन लोगों ने लाला जी की निंदा करनी शुरू की। जहाँ देखिए वहीं दो-चार सज्जन बैठे गोपनीय भाव से इसी घटना की आलोचना करते नजर आते थे। कोई कहता था, इस स्त्री के लक्षण पहले ही से विदित हो रहे थे। अधिकांश आदमियों की राय में गोपीनाथ ने यह बुरा किया। यदि ऐसा ही प्रेम ने जोर मारा था तो उन्हें निडर हो कर विवाह कर लेना चाहिए था। यह काम

गोपीनाथ का है, इसमें किसी को भ्रम न था। केवल कुशल-समाचार पूछने के बहाने से लोग उनके घर जाते और दो-चार अन्योक्तियाँ सुना कर चले आते थे। इसके विरुद्ध आनंदी पर लोगों को दया आती थी। पर लाला जी के ऐसे भक्त भी थे, जो लाला जी के माथे यह कलंक मढ़ना पाप समझते थे। गोपीनाथ ने स्वयं मौन धारण कर लिया था। सबकी भली-बुरी बातें सुनते थे, पर मुँह न खोलते थे। इतनी हिम्मत न थी कि सबसे मिलना छोड़ दें।

प्रश्न था, अब क्या हो ? आनंदी बाई के विषय में तो जनता ने फैसला कर दिया। बहस यह थी कि गोपीनाथ के साथ क्या व्यवहार किया जाय। कोई कहता था, उन्होंने जो कुकर्म किया है, उसका फल भोगें। आनंदी बाई को नियमित रूप से घर में रखें। कोई कहता, हमें इससे क्या मतलब, आनंदी जानें और वह जानें। दोनों जैसे के तैसे हैं, जैसे उदई वैसे भान, न उनके चोटी न उनके कान। लेकिन इन महाशय को पाठशाला के अंदर अब कदम न रखने देना चाहिए। जनता के फैसले साक्षी नहीं खोजते। अनुमान ही उनके लिए सबसे बड़ी गवाही है।

लेकिन पं. अमरनाथ और उनकी गोष्ठी के लोग गोपीनाथ को इतने सस्ते न छोड़ना चाहते थे। उन्हें गोपीनाथ से पुराना द्वेष था। यह कल का लौंडा दर्शन की दो-चार पुस्तकें उलट-पलट कर, राजनीति में कुछ शुदबुद करके लीडर बना हुआ बिचरे, सुनहरी ऐनक लगाये, रेशमी चादर गले में डाले, यों गर्व से ताके, मानों सत्य और प्रेम का पुतला है। ऐसे रँगे सियाने की जितनी कलई खोली जाय, उतना ही अच्छा। जाति को ऐसे दगाबाज, चरित्रहीन, दुर्बलात्मा सेवकों से सचेत कर देना चाहिए। पंडित अमरनाथ पाठशाला की अध्यापिकाओं और नौकरों से तहकीकात करते थे। लाला जी कब आते थे, कब जाते थे, कितनी देर रहते थे, यहाँ क्या किया करते थे, तुम लोग उनकी उपस्थिति में वहाँ जाने पाते थे या रोक थी ? लेकिन यह छोटे-छोटे आदमी, जिन्हें गोपीनाथ से संतुष्ट रहने का कोई कारण न था (उनकी सख्ती की नौकर लोग बहुत शिकायत किया करते थे) इस दुरवस्था में उनके ऐबों पर परदा डालने लगे। अमरनाथ ने प्रलोभन दिया, डराया, धमकाया; पर किसी ने गोपीनाथ के विरुद्ध साक्षी न दी।

उधर लाला गोपीनाथ ने उसी दिन से आनन्दी के घर आना-जाना छोड़ दिया। दो हफ्ते तक तो वह अभागिनी किसी तरह कन्या पाठशाला में रही। पन्द्रहवें दिन प्रबन्धक समिति ने उसे मकान खाली कर देने की नोटिस दे दी। महीने भर की मुहलत देना भी उचित न समझा। अब वह दुखिया एक तंग मकान में रहती थी, कोई पूछनेवाला न था। बच्चा कमजोर, खुद बीमार, कोई आगे न पीछे, न कोई दुःख का संगी न साथी। शिशु को गोद में लिये दिन के दिन बेदाना-पानी पड़ी रहती थी। एक बुढ़िया महरी मिल गयी थी, जो बर्तन धो कर जाती थी। कभी-कभी शिशु को छाती से लगाये रात की रात रह जाती; पर धन्य है उसके धैर्य और संतोष को ! लाला गोपीनाथ से मुँह में शिकायत थी न दिल में। सोचती, इन परिस्थितियों में उन्हें मुझसे पराङ्मुख ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त और उपाय नहीं है। उनके बदनाम होने से नगर की कितनी बड़ी हानि होती। सभी उन पर सन्देह करते हैं; पर किसी को यह साहस तो नहीं हो सकता कि उनके विपक्ष में कोई प्रमाण दे सके !

यह सोचते हुए उसने स्वामी अभेदानंद की एक पुस्तक उठायी और उसके एक अध्याय का अनुवाद करने लगी। अब उसकी जीविका का एकमात्र यही आधार था। सहसा धीरे से किसी ने द्वार खटखटाया। वह चौंक पड़ी। लाला गोपीनाथ की आवाज मालूम हुई। उसने तुरंत द्वार खोल दिया। गोपीनाथ आकर खड़े हो गये और सोते हुए बालक को प्यार से देखकर बोले—आनंदी, मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। मैं अपनी भीरुता और नैतिक दुर्बलता पर अत्यंत लज्जित हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी बदनामी जो कुछ होनी थी, वह हो चुकी। मेरे नाम से चलने वाली संस्थाओं को जो हानि पहुँचनी थी, पहुँच चुकी। अब सम्भव है कि मैं जनता को अपना मुँह फिर न दिखाऊँ और न वह मुझ पर विश्वास ही कर सकती है। इतना जानते हुए भी मुझमें इतना साहस नहीं है कि अपने कुकृत्य का भार सिर ले लूँ। मैं पहले सामाजिक शासन की रत्ती भर परवाह न करता, पर अब पग-पग पर उसके भय से मेरे प्राण तक काँपने लगते हैं। धिक्कार है मुझ पर कि तुम्हारे ऊपर ऐसी विपत्तियाँ पड़ीं, लोकनिंदा, रोग, शोक, निर्धनता सभी का सामना करना पड़ा और मैं यों अलग-अलग रहा मानो मुझसे कोई प्रयोजन नहीं है; पर मेरा हृदय ही जानता है कि उसको कितनी पीड़ा होती थी। कितनी ही बार आने का निश्चय किया और फिर हिम्मत हार गया। अब मुझे विदित हो गया कि मेरी सारी दार्शनिकता केवल हाथी का दाँत थी। मुझमें क्रिया-शक्ति नहीं है; लेकिन इसके साथ ही तुमसे अलग रहना मेरे लिए असह्य है। तुमसे दूर रह कर मैं जिन्दा नहीं रह सकता, प्यारे बच्चे को देखने के लिए मैं कितनी ही बार लालायित हो गया हूँ; पर यह आशा कैसे करूँ कि मेरी चरित्रहीनता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के बाद तुम्हें मुझसे घृणा न हो गयी होगी।

आनंदी—स्वामी, आपके मन में ऐसी बातों का आना मुझ पर घोर अन्याय है। मैं ऐसी बुद्धि-हीन नहीं हूँ कि केवल अपने स्वार्थ के लिए आपको कलंकित करूँ। मैं आपको अपना इष्टदेव समझती हूँ और सदैव समझूँगी। मैं भी अब आपके वियोग-दुःख को नहीं सह सकती। कभी-कभी आपके दर्शन पाती रहूँ, यही जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा है।

इस घटना को पंद्रह वर्ष बीत गये हैं। लाला गोपीनाथ नित्य बारह बजे रात को आनंदी के साथ बैठे हुए नजर आते हैं। वह नाम पर मरते हैं, आनंदी प्रेम पर। बदनाम दोनों हैं, लेकिन आनंदी के साथ लोगों की सहानुभूति है, गोपीनाथ सबकी निगाह से गिर गये हैं। हाँ, उनके कुछ आत्मीयगण इस घटना को केवल मानुषीय समझ कर अब भी उनका सम्मान करते हैं; किंतु जनता इतनी सहिष्णु नहीं है।

[हिन्दी कहानी। 'मर्यादा' में नवम्बर, 1921 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित। उर्दू रूप 'फिलसफी की मुहब्बत' शीर्षक से 'ख्वाबोखयाल' में संकलित।]

मूठ

डॉक्टर जयपाल ने प्रथम श्रेणी की सनद पायी थी, पर इसे भाग्य ही कहिए या व्यावसायिक सिद्धान्तों का अज्ञान कि उन्हें अपने व्यवसाय में कभी उन्नत अवस्था न मिली। उनका घर

सँकरी गली में था; पर उनके जी में खुली जगह में घर लेने का विचार तक न उठा। औषधालय की आलमारियाँ, शीशियाँ और डॉक्टरी यंत्र आदि भी साफ-सुथरे न थे। मितव्ययिता के सिद्धांत का वह अपनी घरेलू बातों में भी बहुत ध्यान रखते थे।

लड़का जवान हो गया था, पर अभी उसकी शिक्षा का प्रश्न सामने न आया था। सोचते थे कि इतने दिनों तक पुस्तकों से सर मार कर मैंने ऐसी कौन सी बड़ी सम्पत्ति पा ली, जो उसके पढ़ाने-लिखाने में हजारों रुपये बर्बाद करूँ। उनकी पत्नी अहल्या धैर्यवान महिला थी, पर डॉक्टर साहब ने उसके इन गुणों पर इतना बोझ रख दिया था कि उसकी कमर भी झुक गयी थी। माँ भी जीवित थी, पर गंगास्नान के लिए तरस-तरस कर रह जाती थी; दूसरे पवित्र स्थानों की यात्रा की चर्चा ही क्या ! इस क्रूर मितव्ययिता का परिणाम यह था कि इस घर में सुख और शांति का नाम न था। अगर कोई मद फुटकल थी तो यह बुढ़िया महरी जगिया थी। उसने डॉक्टर साहब को गोद में खिलाया था और उसे इस घर से ऐसा प्रेम हो गया था कि सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलती थी, पर टलने का नाम न लेती थी।

2

डॉक्टर साहब डॉक्टरी आय की कमी को कपड़े और शक्कर के कारखानों में हिस्से लेकर पूरा करते थे। आज संयोगवश बम्बई के कारखाने ने उनके पास वार्षिक लाभ के साढ़े सात सौ रुपये भेजे। डॉक्टर साहब ने बीमा खोला, नोट गिने, डाकिये को विदा किया, पर डाकिये के पास रुपये अधिक थे, बोझ से दबा जाना था। बोला—हुजूर रुपये ले लें और मुझे नोट दे दें तो बड़ा अहसान हो, बोझ हलका हो जाय। डॉक्टर साहब डाकियों को प्रसन्न रखा करते थे, उन्हें मुफ्त दवाइयाँ दिया करते थे। सोचा कि हाँ, मुझे बैंक जाने के लिए ताँगा मँगाना ही पड़ेगा, क्यों न बिन कौड़ी के उपकार वाले सिद्धांत से काम लूँ। रुपये गिन कर एक थैली में रख दिये और सोच ही रहे थे कि चलूँ उन्हें नैंक में रखता आऊँ कि एक रोगी ने बुला भेजा। ऐसे अवसर यहाँ कदाचित् ही आते थे। यद्यपि डॉक्टर साहब को बक्स पर भरोसा न था, पर विवश हो कर थैली बक्स में रखी और रोगी को देखने चले गये। वहाँ से लौटे तो तीन बज चुके थे, बैंक बंद हो चुका था। आज रुपये किसी तरह जमा न हो सकते थे। प्रतिदिन की भाँति औषधालय में बैठ गये। आठ बजे रात को जब घर के भीतर जाने लगे, तो थैली को घर ले जाने के लिए बक्स से निकाला, थैली कुछ हल्की जान पड़ी, तत्काल उसे दवाइयों के तराजू पर तौला, होश उड़ गये। पूरे पाँच सौ रुपये कम थे। विश्वास न हुआ। थैली खोल कर रुपये गिने। पाँच सौ रुपये कम निकले। विक्षिप्त अधीरता के साथ बक्स के दूसरे खानों को टटोला परंतु व्यर्थ। निराश होकर एक कुरसी पर बैठ गये और स्मरण-शक्ति को एकत्र करने के लिए आँखें बंद कर दीं और सोचने लगे, मैंने रुपये कहीं अलग तो नहीं रखे, डाकिये ने रुपये कम तो नहीं दिये, मैंने गिनने में भूल तो नहीं की, मैंने पचीस-पचीस रुपये की गड्डियाँ लगायी थीं, पूरी तीस गड्डियाँ थीं, खूब याद है। मैंने एक-एक गड्डी गिन कर थैली में रखी, स्मरण-शक्ति मुझे धोखा नहीं दे रही है। सब मुझे ठीक-ठीक याद है। बक्स का ताला भी बंद कर दिया था, किंतु ओह, अब समझ में आ गया, कुंजी मेज पर ही छोड़ दी, जल्दी के मारे उसे जेब में रखना भूल गया, वह अभी तक

मेज पर पड़ी है। बस यही बात है, कुंजी जेब में डालने की याद नहीं रही, परंतु ले कौन गया, बाहर दरवाजे बंद थे। घर में धरे रुपये-पैसे कोई छूता नहीं, आज तक कभी ऐसा अवसर नहीं आया। अवश्य यह किसी बाहरी आदमी का काम है। हो सकता है कि कोई दरवाजा खुला रह गया हो, कोई दवा लेने आया हो, कुंजी मेज पर पड़ी देखी हो और बक्स खोल कर रुपये निकाल लिये हों।

इसी से मैं रुपये नहीं लिया करता, कौन ठिकाना डाकिये की ही करतूत हो, बहुत सम्भव है, उसने मुझे बक्स में थैली रखते देखा था। रुपये जमा हो जाते तो मेरे पास पूरे ...हजार रुपये हो जाते, ब्याज जोड़ने में सरलता होती। क्या करूँ। पुलिस को खबर दूँ ? व्यर्थ बैठे-बिठाये उलझन मोल लेनी है। टोले भर के आदमियों की दरवाजे पर भीड़ होगी। दस-पाँच आदमियों को गालियाँ खानी पड़ेंगी और फल कुछ नहीं! तो क्या धीरज धर कर बैठ रहूँ ? कैसे धीरज धरूँ ! यह कोई सेंतमेंत मिला धन तो था नहीं, हराम की कौड़ी होती तो समझता कि जैसे आयी, वैसे गयी। यहाँ एक-एक पैसा अपने पसीने का है। मैं जो इतनी मितव्ययिता से रहता हूँ, इतने कष्ट से रहता हूँ, कंजूस प्रसिद्ध हूँ, घर के आवश्यक व्यय में भी काट-छाँट करता हूँ, क्या इसीलिए कि किसी उचक्के के लिए मनोरंजन का सामान जुटाऊँ ? मुझे रेशम से घृणा नहीं, न मेवे ही अरुचिकर हैं, न अजीर्ण का रोग है कि मलाई खाऊँ और अपच हो जाय, न आँखों में दृष्टि कम है कि थियेटर और सिनेमा का आनन्द न उठा सकूँ। मैं सब ओर से अपने मन को मारे रहता हूँ, इसीलिए तो कि मेरे पास चार पैसे हो जायँ, काम पड़ने पर किसी के आगे हाथ फैलाना न पड़े। कुछ जायदाद ले सकूँ, और नहीं तो अच्छा घर ही बनवा लूँ। पर इस मन मारने का यह फल ! गाढ़े परिश्रम के रुपये लुट जायँ। अन्याय है कि मैं यों दिनदहाड़े लुट जाऊँ और उस दुष्ट का बाल भी टेढ़ा न हो। उसके घर दीवाली हो रही होगी, आनंद मनाया जा रहा होगा, सब के सब बगलें बजा रहे होंगे।

डॉक्टर साहब बदला लेने के लिए व्याकुल हो गये। मैंने कभी किसी फकीर को, किसी साधु को, दरवाजे पर खड़ा होने नहीं दिया। अनेक बार चाहने पर भी मैंने कभी मित्रों को अपने यहाँ निमंत्रित नहीं किया, कुटुम्बियों और संबंधियों से सदा बचता रहा, क्या इसीलिए। उसका पता लग जाता तो मैं एक विषैली सुई से उसके जीवन का अंत कर देता।

किन्तु कोई उपाय नहीं है। जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर। गुप्त पुलिसवाले भी बस नाम ही के हैं, पता लगाने की योग्यता नहीं। इनकी सारी अक्ल राजनीतिक व्याख्यानों और झूठी रिपोर्टों के लिखने में समाप्त हो जाती है। किसी मेस्मेरिजम जानने वाले के पास चलूँ, वह इस उलझन को सुलझा सकता है। सुनता हूँ, यूरोप और अमेरिका में बहुधा चोरियों का पता इसी उपाय से लग जाता है। पर यहाँ ऐसा मेस्मेरिजम का पंडित कौन है और फिर मेस्मेरिजम के उत्तर सदा विश्वसनीय नहीं होते। ज्योतिषियों के समान वे भी अनुमान और अटकल के अनंत-सागर में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। कुछ लोग नाम भी तो निकालते हैं। मैंने कभी उन कहानियों पर विश्वास नहीं किया, परन्तु कुछ न कुछ इसमें तत्त्व है अवश्य, नहीं तो इस प्रकृति-उपासना के युग में इनका अस्तित्व ही न रहता। आजकल के विद्वान् भी तो आत्मिक-बल का लोहा मानते जाते हैं, पर मान लो किसी ने नाम बतला ही दिया

तो मेरे हाथ में बदला चुकाने का कौन-सा उपाय है, अंतर्ज्ञान साक्षी का काम नहीं दे सकता। एक क्षण के लिए मेरे जी को शांति मिल जाने के सिवाय और इनसे क्या लाभ है?

हाँ, खूब याद आया। नदी की ओर जाते हुए वह जो एक ओझा बैठता है, उसके करतब की कहानियाँ प्रायः सुनने में आती हैं। सुनता हूँ, गये हुए धन का पता बतला देता है, रोगियों को बात की बात में चंगा कर देता है, चोरी के माल का पता लगा देता है, मूठ चलाता है। मूठ की बड़ी बड़ाई सुनी है, मूठ चली और चोर के मुँह से रक्त जारी हुआ, जब तक वह माल न लौटा दे रक्त बन्द नहीं होता। यह निशाना बैठ जाय तो मेरी हार्दिक इच्छा पूरी हो जाय ! मुँहमाँगा फल पाऊँगा। रुपये भी मिल जायँ, चोर को शिक्षा भी मिल जाय ! उसके यहाँ सदा लोगों की भीड़ लगी रहती है। इसमें कुछ करतब न होता तो इतने लोग क्यों जमा होते ? उसकी मुखाकृति से एक प्रतिभा बरसती है। आजकल के शिक्षित लोगों को तो इन बातों पर विश्वास नहीं है, पर नीच और मूर्ख-मंडली में उसकी बहुत चर्चा है। भूत-प्रेत आदि की कहानियाँ प्रतिदिन ही सुना करता हूँ। क्यों न उसी ओझे के पास चलूँ? मान लो कोई लाभ न हुआ तो हानि ही क्या हो जायगी। जहाँ पाँच सौ गये हैं, दो-चार रुपये का ख़ून और सही। यह समय भी अच्छा है। भीड़ कम होगी, चलना चाहिए।

3

जी में यह निश्चय करके डॉक्टर साहब उस ओझे के घर की ओर चले, जाड़े की रात थी। नौ बज गये थे। रास्ता लगभग बन्द हो गया था। कभी-कभी घरों से रामायण की ध्वनि कानों में आ जाती थी। कुछ देर के बाद बिलकुल सन्नाटा हो गया। रास्ते के दोनों ओर हरे-भरे खेत थे। सियारों का हुँआना सुन पड़ने लगा। जान पड़ता है इनका दल कहीं पास ही है। डॉक्टर साहब को प्रायः दूर से इनका सुरीला स्वर सुनने का सौभाग्य हुआ था। पास से सुनने का नहीं। इस समय इस सन्नाटे में और इतने पास से इनका चीखना सुन कर उन्हें डर लगा। कई बार अपनी छड़ी धरती पर पटकी, पैर धमधमाये ! सियार बड़े डरपोक होते हैं, आदमी के पास नहीं आते, पर फिर संदेह हुआ, कहीं इनमें कोई पागल हो तो उसका काटा तो बचता ही नहीं। यह संदेह होते ही कीटाणु, बैक्टिरिया, पास्टयार इन्स्टिच्यूट और कसौली की याद उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगी। वह जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये चले जाते थे। एकाएक जी में विचार उठा—कहीं मेरे ही घर में किसी ने रुपये उठा लिये हों तो। वे तत्काल ठिठक गये, पर एक ही क्षण में उन्होंने इसका भी निर्णय कर लिया, क्या हर्ज है घरवालों को तो और भी कड़ा दंड मिलना चाहिए। चोर की मेरे साथ सहानुभूति नहीं हो सकती, पर घरवालों की सहानुभूति का मैं अधिकारी हूँ। उन्हें जानना चाहिए कि मैं जो कुछ करता हूँ उन्हीं के लिए करता हूँ। रात-दिन मरता हूँ तो उन्हीं के लिए मरता हूँ। यदि इस पर भी वे मुझे यों धोखा दने के लिए तैयार हों तो उनसे अधिक कृतघ्न, उनसे अधिक अकृतज्ञ, उनसे अधिक निर्दय और कौन होगा ? उन्हें और भी कड़ा दंड मिलना चाहिए। इतना कड़ा, इतना शिक्षाप्रद कि फिर कभी किसी को ऐसा करने का साहस न हो।

अंत में वे ओझे के घर के पास जा पहुँचे। लोगों की भीड़ न थी। उन्हें बड़ा संतोष

हुआ। हाँ, उनकी चाल कुछ धीमी पड़ गयी। फिर जी में सोचा, कहीं यह सब ढकोसला ही ढकोसला हो तो व्यर्थ लज्जित होना पड़े। जो सुने, मूर्ख बनाये। कदाचित् ओझा ही मुझे तुच्छबुद्धि समझे। पर अब तो आ गया, यह तजरबा भी हो जाय। और कुछ न होगा तो जाँच ही सही। ओझा का नाम बुद्धू था। लोग चौधरी कहते थे। जाति का चमार था। छोटा सा घर और वह भी गन्दा। छप्पर इतनी नीची थी कि झुकने पर भी सिर में टक्कर लगने का डर लगता था। दरवाजे पर एक नीम का पेड़ था। उसके नीचे एक चौरा। नीम के पेड़ पर एक झंडी लहराती थी। चौरा पर मिट्टी के सैकड़ों हाथी सिंदूर से रंगे हुए खड़े थे। कई लोहे के नोकदार त्रिशूल भी गड़े थे, जो मानो इन मंदगति हाथियों के लिये अंकुश का काम दे रहे थे। दस बजे थे। बुद्धू चौधरी जो एक काले रंग का तोंदीला और रोबदार आदमी था, एक फटे हुए टाट पर बैठा नारियल पी रहा था। बोतल और गिलास भी सामने रखे हुए।

बुद्धू ने डॉक्टर साहब को देख कर तुरंत बोतल छिपा दी और नीचे उतर कर सलाम किया। घर से एक बुढ़िया ने मोढ़ा ला कर उनके लिए रख दिया। डॉक्टर साहब ने कुछ झेंपते हुए सारी घटना कह सुनायी। बुद्धू ने कहा हुजूर, यह कौन बड़ा काम है। अभी इसी इतवार को दारोगाजी की घड़ी चोरी गयी थी, बहुत कुछ तहकीकात की, पता न चला। मुझे बुलाया। मैंने बात की बात में पता लगा दिया। पाँच रुपये इनाम दिये। कल की बात है, जमादार साहब की घोड़ी खो गयी थी। चारों तरफ दौड़ते फिरते थे। मैंने ऐसा पता बता दिया कि घोड़ी चरती हुई मिल गयी। इसी विद्या की बदौलत हुजूर हुक्काम सभी मानते हैं।

डॉक्टर को दारोगा और जमादार की चर्चा न रुची। इन सब गँवारों की आँखों में जो कुछ है, वह दारोगा और जमादार ही हैं। बोले—मैं केवल चोरी का पता लगाना नहीं चाहता, मैं चोर को सजा देना चाहता हूँ।

बुद्धू ने एक क्षण के लिए आँखें बंद कीं, जमुहाइयाँ लीं, चुटकियाँ बजायीं और फिर कहा—यह घर ही के किसी आदमी का काम है।

डॉक्टर—कुछ परवाह नहीं, कोई हो।

बुढ़िया—पीछे से कोई बात बने या बिगड़ेगी तो हजूर हमीं को बुरा कहेंगे।

डॉक्टर—इसकी तुम कुछ चिंता न करो, मैंने खूब सोच-विचार लिया है ! बल्कि अगर घर के किसी आदमी की शरारत है तो मैं उसके साथ और भी कड़ाई करना चाहता हूँ। बाहर का आदमी मेरे साथ छल करे तो क्षमा के योग्य है, पर घर के आदमी को मैं किसी प्रकार क्षमा नहीं कर सकता।

बुद्धू—तो हुजूर क्या चाहते हैं ?

डॉक्टर—बस यही कि मेरे रुपये मिल जायँ और चोर किसी बड़े कष्ट में पड़ जाय।

बुद्धू—मूठ चला दूँ ?

बुढ़िया—ना बेटा, मूठ के पास न जाना। न जाने कैसी पड़े, कैसी न पड़े।

डॉक्टर—तुम मूठ चला दो, इसका जो कुछ मेहनताना और इनाम हो, मैं देने को तैयार हूँ।

बुढ़िया—बेटा, मैं फिर कहती हूँ, मूठ के फेर में मत पड़। कोई जोखम की बात आ पड़ेगी तो वही बाबूजी फिर तेरे सिर होंगे और तेरे बनाये कुछ न बनेगी। क्या जानता नहीं, मूठ का उतार कितना कठिन है ?

बुद्धू—हाँ बाबू जी ! फिर एक बार अच्छी तरह सोच लीजिए। मूठ तो मैं चला दूँगा, लेकिन उसको उतारने का जिम्मा मैं नहीं ले सकता।

डॉक्टर—अभी कह तो दिया, मैं तुमसे उतारने को न कहूँगा, चलाओ भी तो।

बुद्धू ने आवश्यक सामान की एक लम्बी तालिका बनायी। डॉक्टर साहब ने सामान की अपेक्षा रुपये देना अधिक उचित समझा। बुद्धू राजी हो गया। डॉक्टर साहब चलते-चलते बोले—ऐसा मंतर चलाओ के सबेरा होते-होते चोर मेरे सामने माल लिये हुए आ जाय।

बुद्धू ने कहा—आप निसाखातिर रहें।

4

डॉक्टर साहब वहाँ से चले तो ग्यारह बजे थे। जाड़े की रात, कड़ाके की ठंड थी। उनकी माँ और स्त्री दोनों बैठी हुई उनकी राह देख रही थीं। जी को बहलाने के लिए बीच में एक अँगीठी रख ली थी, जिसका प्रभाव शरीर की अपेक्षा विचार पर अधिक पड़ता था। यहाँ कोयला विलास्य पदार्थ समझा जाता था। बुढ़िया महरी जगिया वहीं फटा टाट का टुकड़ा ओढ़े पड़ी थी। वह बार-बार उठ कर अपनी अँधेरी कोठरी में जाती, आले पर कुछ टटोल कर देखती और फिर अपनी जगह पर आ कर पड़ रहती। बार-बार पूछती, कितनी रात गयी होगी। जरा भी खटका होता तो चौंक पड़ती और चिंतित दृष्टि से इधर-उधर देखने लगती। आज डॉक्टर साहब ने नियम के प्रतिकूल क्यों इतनी देर लगायी, इसका सबको आश्चर्य था। ऐसे अवसर बहुत कम आते थे कि उन्हें रोगियों को देखने के लिए रात को जाना पड़ता हो। यदि कुछ लोग उनकी डॉक्टरी के कायल भी थे, तो वे रात को उस गली में आने का साहस न करते थे। सभा-सोसाइटियों में जाने को उन्हें रुचि न थी। मित्रों से भी उनका मेल-जोल न था। माँ ने कहा—जाने कहाँ चला गया, खाना बिलकुल पानी हो गया।

अहल्या—आदमी जाता है तो कह कर जाता है, आधी रात से ऊपर हो गयी।

माँ—कोई ऐसी ही अटक हो गयी होगी, नहीं तो वह कब घर से बाहर निकलता है?

अहल्या—मैं तो अब सोने जाती हूँ, उनका जब जी चाहे आयें। कोई सारी रात बैठा पहरा देगा।

यही बातें हो रही थीं कि डॉक्टर साहब घर आ पहुँचे। अहल्या सँभल बैठी; जगिया उठकर खड़ी हो गयी और उनकी ओर सहमी हुई आँखों से ताकने लगी। माँ ने पूछा—आज कहाँ इतनी देर लगा दी ?

डॉक्टर—तुम लोग तो सुख से बैठी हो न ! हमें देर हो गयी, इसकी तुम्हें क्या चिंता ! जाओ, सुख से सोओ, इन ऊपरी दिखावटी बातों से मैं धोखे में नहीं आता। अवसर पाओ तो गला काट लो, इस पर चली हो बात बनाने !

माँ ने दुःखी हो कर कहा—बेटा ! ऐसी जी दखाने वाली बातें क्यों करते हो ? घर में तुम्हारा कौन बैरी है जो तुम्हारा बुरा चेतेगा ?

डॉक्टर—मैं किसी को अपना मित्र नहीं समझता, सभी मेरे बैरी हैं, मेरे प्राणों के ग्राहक हैं ! नहीं तो क्या आँख ओझल होते ही मेरी मेज से पाँच सौ रुपये उड़ जायँ, दरवाजे बाहर से बंद थे, कोई ग़ैर आया नहीं, रुपये रखते ही उड़ गये। जो लोग इस तरह मेरा गला काटने पर उतारू हों, उन्हें क्योंकर अपना समझूँ। मैंने खूब पता लगा लिया है, अभी एक

ओझे के पास से चला आ रहा हूँ। उसने साफ कह दिया कि घर के ही किसी आदमी का काम है। अच्छी बात है, जैसी करनी वैसी भरनी। मैं भी बता दूँगा कि मैं अपने बैरियों का शुभचिंतक नहीं हूँ। यदि बाहर का आदमी होता तो कदाचित् मैं जाने भी देता। पर जब घर के आदमी जिनके लिए रात-दिन चक्की पीसता हूँ, मेरे साथ ऐसा छल करें तो वे इसी योग्य हैं कि उनके साथ जरा भी रिआयत न की जाय। देखना सबेरे तक चोर की क्या दशा होती है। मैंने ओझे से मूठ चलाने को कह दिया है। मूठ चली और उधर चोर के प्राण संकट में पड़े।

जगिया घबड़ा कर बोली—भइया, मूठ में जान जोखम है।

डॉक्टर—चोर की यही सजा है।

जगिया—किस ओझे ने चलाया है ?

डॉक्टर—बुद्धू चौधरी ने।

जगिया—अरे राम, उसकी मूठ का तो उतार ही नहीं।

डॉक्टर अपने कमरे में चले गये, तो माँ ने कहा—सूम का धन शैतान खाता है। पाँच सौ रुपया कोई मुँह मार कर ले गया। इतने में तो मेरे सातों धाम हो जाते।

अहल्या बोली—कंगन के लिए बरसों से झींक रही हूँ, अच्छा हुआ, मेरी आह पड़ी है।

माँ—भला घर में उसके रुपये कौन लेगा ?

अहिल्या—किवाड़ खुले होंगे, कोई बाहरी आदमी उड़ा ले गया होगा।

माँ—उसको विश्वास क्योंकर आ गया कि घर ही के किसी आदमी ने रुपये चुराये हैं।

अहल्या—रुपये का लोभ आदमी को शक्की बना देता है।

5

रात को एक बजा था। डॉक्टर जयपाल भयानक स्वप्न देख रहे थे। एकाएक अहल्या ने आ कर कहा—जरा चल कर देखिए, जगिया का क्या हाल हो रहा है। जान पड़ता है, जीभ ऐंठ गयी। कुछ बोलती ही नहीं, आँखें पथरा गयी हैं।

डॉक्टर चौंक कर उठ बैठे। एक क्षण तक इधर-उधर ताकते रहे; मानो सोच रहे थे, यह भी स्वप्न तो नहीं है। तब बोले—क्या कहा ! जगिया को क्या हो गया ?

अहल्या ने फिर जगिया का हाल कहा। डॉक्टर के मुख पर हल्की-सी मुस्कराहट दौड़ गयी। बोले—चोर पकड़ा गया ! मूठ ने अपना काम किया।

अहल्या—और जो घर ही के किसी आदमी ने ले लिये होते ?

डॉक्टर—तो उसकी भी यही दशा होती, सदा के लिए सीख जाता।

अहल्या—पाँच सौ रुपये के पीछे प्राण ले लेते ?

डॉक्टर—पाँच सौ रुपये के लिए नहीं, आवश्यकता पड़े तो पाँच हजार खर्च कर सकता हूँ, केवल छल-कपट का दंड देने के लिए।

अहल्या—बड़े निर्दयी हो।

डॉक्टर—तुम्हें सिर से पैर तक सोने से लाद दूँ तो मुझे भलाई का पुतला समझने लगो, क्यों ? खेद है कि मैं तुमसे यह सनद नहीं ले सकता।

यह कहते हुए वह जगिया की कोठरी में गये। उसकी हालत उससे कहीं अधिक खराब थी जो अहल्या ने बतायी थी। मुख पर मुर्दनी छायी हुई थी, हाथ-पैर अकड़ गये थे, नाड़ी का पता न था। उसकी माँ उसे होश में लाने के लिए बार-बार उसके मुँह पर पानी के छींटे दे रही थी। डॉक्टर ने यह हालत देखी तो होश उड़ गये। उन्हें अपने उपाय की सफलता पर प्रसन्न होना चाहिए था। जगिया ने रुपये चुराये इसके लिए अब अधिक प्रमाण की आवश्यकता न थी; परंतु मूठ इतनी जल्दी प्रभाव डालने वाली और घातक वस्तु है, इसका उन्हें अनुमान भी न था। वे चोर को एड़ियाँ रगड़ते, पीड़ा से कराहते और तड़पते देखना चाहते थे। बदला लेने की इच्छा आशातीत सफल हो रही थी; परंतु वहाँ नमक की अधिकता थी, जो कौर को मुँह के भीतर धँसने नहीं देती। यह दुःखमय दृश्य देख कर प्रसन्न होने के बदले उनके हृदय पर चोट लगी। रोब में हम अपनी निर्दयता और कठोरता का भ्रममूलक अनुमान कर लिया करते हैं। प्रत्यक्ष घटना विचार से कहीं अधिक प्रभावशालिनी होती है। रणस्थल का विचार कितना कवित्वमय है। युद्धावेश का काव्य कितनी गर्मी उत्पन्न करने वाला है। परंतु कुचले हुए शव के कटे हुए अंग-प्रत्यंग देख कर कौन मनुष्य है, जिसे रोमांच न हो आवे। दया मनुष्य का स्वाभाविक गुण है।

इसके अतिरिक्त इसका उन्हें अनुमान न था कि जगिया जैसी दुर्बल आत्मा मेरे रोष पर बलिदान होगा। वह समझते थे, मेरे बदले का वार किसी सजीव मनुष्य पर होगा; यहाँ तक कि वे अपनी स्त्री और लड़के को भी इस वार के योग्य समझते थे। पर मरे को मारना, कुचले को कुचलना, उन्हें अपना प्रतिघात मर्यादा के विपरीत जान पड़ता। जगिया का यह काम क्षमा के योग्य था। जिसे रोटियों के लाले हों, कपड़ों को तरसे, जिसकी आकांक्षा का भवन सदा अंधकारमय रहा हो, जिसकी इच्छायें कभी पूरी न हुई हों, उसकी नीयत बिगड़ जाय तो आश्चर्य की बात नहीं। वे तत्काल औषधालय में गये, होश में लाने की जो अच्छी-अच्छी औषधियाँ थीं, उनको मिला कर एक मिश्रित नयी औषधि बना लाये, जगिया के गले में उतार दी। कुछ लाभ न हुआ। तब विद्युत यंत्र ले आये और उसकी सहायता से जगिया को होश में लाने का यत्न करने लगे। थोड़ी ही देर में जगिया की आँखें खुल गयीं। उसने सहमी हुई दृष्टि से डॉक्टर को देखा, जैसे लड़का अपने अध्यापक की छड़ी की ओर देखता है, और उखड़े हुए स्वर में बोली—हाय राम, कलेजा फुँका जाता है, अपने रुपये ले ले, आले पर एक हाँड़ी है, उसी में रखे हुए हैं। मुझे अंगारों से मत जला। मैंने तो यह रुपये तीरथ करने के लिए चुराये थे। क्या तुझे तरस नहीं आता, मुट्ठी भर रुपयों के लिए मुझे आग में जला रहा है, मैं तुझे ऐसा काला न समझती थी, हाय राम !

यह कहते-कहते वह फिर मूर्छित हो गयी, नाड़ी बंद हो गयी, ओठ नीले पड़ गये, शरीर के अंगों में खिंचाव होने लगा। डॉक्टर ने दीन भाव से अहल्या की ओर देखा और बोले—मैं तो अपने सारे उपाय कर चुका, अब इसे होश में लाना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। मैं क्या जानता था कि यह अभागी मूठ इतनी घातक होती है। कहीं इसकी जान पर बन गयी तो जीवन भर पछताना पड़ेगा। आत्मा की ठोकरों से कभी छुटकारा न मिलेगा। क्या करूँ बुद्धि कुछ काम नहीं करती।

अहल्या—सिविल सर्जन को बुलाओ, कदाचित् वह कोई अच्छी दवा दे दे। किसी को जान-बूझ कर आग में ढकेलना न चाहिए।

डॉक्टर—सिविल सर्जन इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकता, जो मैं कर चुका। हर घड़ी इसकी दशा और गिरती जाती है, न जाने हत्यारे ने कौन सा मंत्र चला दिया। उसकी माँ मुझे बहुत समझाती रही, पर मैंने क्रोध में उसकी बातों की जरा भी परवाह न की।

माँ—बेटा, तुम उसी को बुलाओ जिसने मंत्र चलाया है; पर क्या किया जायगा। कहीं मर गयी तो हत्या सिर पर पड़ेगी। कुटुम्ब को सदा सतायेगी।

6

दो बज रहे थे, ठंडी हवा हड्डियों में चुभी जाती थी। डॉक्टर लम्बे पाँवों बुद्धू चौधरी के घर की ओर चले जाते थे। इधर-उधर व्यर्थ आँखें दौड़ाते थे कि कोई इक्का या ताँगा मिल जाय। उन्हें मालूम होता था कि बुद्धू का घर बहुत दूर हो गया। कई बार धोखा हुआ, कहीं रास्ता तो नहीं भूल गया। कई बार इधर आया हूँ, यह बाग तो कभी नहीं मिला, लेटर-बक्स भी सड़क पर कभी नहीं देखा, यह पुल तो कदापि न था, अवश्य राह भूल गया। किससे पूछूँ। वे अपनी स्मरण-शक्ति पर झुँझलाये और उसी ओर थोड़ी दूर तक दौड़े। पता नहीं, दुष्ट इस समय मिलेगा भी या नहीं, शराब में मस्त पड़ा होगा। कहीं इधर बेचारी चल न बसी हो। कई बार इधर-उधर घूम जाने का विचार हुआ पर अंतःप्रेरणा ने सीधी राह से हटने न दिया। यहाँ तक कि बुद्धू का घर दिखाई पड़ा। डाक्टर जयपाल की जान में जान आयी। बुद्धू के दरवाजे पर जा कर जोर से कुण्डी खटखटायी। भीतर से कुत्ते ने असभ्यतापूर्ण उत्तर दिया, पर किसी आदमी का शब्द न सुनायी दिया। फिर ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ खटखटाये, कुत्ता और भी तेज पड़ा, बुढ़िया की नींद टूटी। बोली—यह कौन इतनी रात गये किवाड़ तोड़े डालता है ?

डॉक्टर—मैं हूँ, जो कुछ देर हुई तुम्हारे पास आया था।

.बुढ़िया ने बोली पहचानी, समझ गयी इनके घर के किसी आदमी पर विपद पड़ी, नहीं तो इतनी रात गये क्यों आते; पर अभी तो बुद्धू ने मूठ चलाई नहीं। उसका असर क्योंकर हुआ, समझाती थी तब न माने। खूब फँसे। उठकर कुप्पी जलायी और उसे लिये बाहर निकली। डॉक्टर साहब ने पूछा—बुद्धू चौधरी सो रहे हैं। ज़रा उन्हें जगा दो।

बुढ़िया—न बाबू जी, इस बखत मैं न जंगाऊँगी, मुझे कच्चा ही खा जायगा, रात को लाट साहब भी आवें तो नहीं उठता।

डॉक्टर साहब ने थोड़े शब्दों में पूरी घटना कह सुनायी और बड़ी नम्रता के साथ कहा कि बुद्धू को जगा दे। इतने में बुद्धू अपने ही आप बाहर निकल आया और आँखें मलता हुआ बोला—कहिए बाबू.जी, क्या हुकुम है।

बुढ़िया ने चिढ़ कर कहा—तेरी नींद आज कैसे खुल गयी, मैं जगाने गयी होती तो मारने उठता।

डॉक्टर—मैंने सब माजरा बुढ़िया से कह दिया है, इसी से पूछो।

बुढ़िया—कुछ नहीं, तूने मूठ चलायी थी, रुपये इनके घर की महरी ने लिये हैं, अब उसका अब तब हो रहा है।

डॉक्टर—बेचारी मर रही है, कुछ ऐसा उपाय करो कि उसके प्राण बच जायँ !

बुद्धू–यह तो आपने बुरी सुनायी, मूठ को फेरना सहज नहीं है।

बुढ़िया–बेटा, जान जोखिम है, क्या तू जानता नहीं। कहीं उल्टे फेरनेवाले पर ही पड़े तो जान बचना ही कठिन हो जाय।

डॉक्टर–अब उसकी जान तुम्हारे ही बचाये बचेगी, इतना धर्म करो।

बुढ़िया–दूसरे की जान की खातिर कोई अपनी जान गढ़े में डालेगा ?

डॉक्टर–तुम रात-दिन यही काम करते हो, तुम उसके दाँव-घात सब जानते हो। मार भी सकते हो, जिला भी सकते हो। मेरा तो इन बातों पर बिलकुल विश्वास ही न था, लेकिन तुम्हारा कमाल देख कर दंग रह गया! तुम्हारे हाथों कितने ही आदमियों का भला होता है, उस गरीब बुढ़िया पर दया करो।

बुद्धू कुछ पसीजा, पर उसकी माँ मामलेदारी में उससे कहीं अधिक चतुर थी। डरी, कहीं यह नरम हो कर मामला बिगाड़ न दे। उसने बुद्धू को कुछ कहने का अवसर न दिया। बोली–यह तो सब ठीक है, पर हमारे भी बाल-बच्चे हैं ! न जाने कैसी पड़े कैसी न पड़े। वह हमारे सिर आवेगी न ? आप तो अपना काम निकाल कर अलग हो जायेंगे। मूठ फेरना हँसी नहीं है।

बुद्धू–हाँ बाबू जी, काम बड़े जोखिम का है।

डॉक्टर–काम जोखिम का है जो मुफ्त तो नहीं करवाना चाहता।

बुढ़िया–आप बहुत देंगे, सौ-पचास रुपये देंगे। इतने में हम कै दिन तक खायेंगे। मूठ फेरना साँप के बिल में हाथ डालना है, आग में कूदना है। भगवान् की ऐसी ही निगाह हो तो जान बचती है।

डॉक्टर–तो माता जी मैं तुमसे बाहर तो नहीं होता हूँ। जो कुछ तुम्हारी मरजी हो वह कहो। मुझे तो उस गरीब की जान बचानी है। यहाँ बातों में देर हो रही है, वहाँ मालूम नहीं, उसका क्या हाल होगा।

बुढ़िया–देर तो आप ही कर रहे हैं, आप बात पक्की कर दें तो यह आपके साथ चला जाय। आपकी खातिर यह जोखिम अपने सिर ले रही हूँ दूसरा होता तो झट इनकार कर जाती। आपके मुलाहजे में पड़ कर जान-बूझ कर जहर पी रही हूँ।

डॉक्टर साहब को एक क्षण एक वर्ष जान पड़ रहा था। बुद्धू को उसी समय अपने साथ ले जाना चाहते थे। कहीं उसका दम निकल गया तो यह जा कर क्या बनायेगा। उस समय उनकी आँखों में रुपये का कोई मूल्य न था। केवल यही चिन्ता थी कि जगिया मौत के मुँह से निकल आये। जिस रुपये पर वह अपनी आवश्यकताएँ और घरवालों की आकांक्षाएँ निछावर करते उसे दया के आवेश ने बिलकुल तुच्छ बना दिया था। बोले–तुम्हीं बतलाओ, अब मैं क्या कहूँ, पर जो कुछ कहना हो झटपट कह दो।

बुढ़िया–अच्छा तो पाँच सौ रुपये दीजिए इससे कम में काम न होगा।

बुद्धू ने माँ की ओर आश्चर्य से देखा, और डॉक्टर साहब मूर्छित से हो गये, निराशा से बोले–इतना मेरे बूते के बाहर है, जान पड़ता है उसके भाग्य में मरना ही बदा है।

बुढ़िया–तो जाने दीजिए, हमें अपनी जान भार थोड़े ही है। हमने तो आपके मुलाहिजे से इस काम का बीड़ा उठाया था। जाओ बुद्धू सोओ।

डॉक्टर–बूढ़ी माता इतनी निर्दयता न करो, आदमी का काम आदमी से निकलता है।

बुद्धू—नहीं बाबूजी, मैं हर तरह से आपका काम करने को तैयार हूँ इसने पाँच सौ कहे, आप कुछ कम कर दीजिए। हाँ, जोखिम का ध्यान रखिएगा।

बुढ़िया—तू जा के सोता क्यों नहीं ? इन्हें रुपये प्यारे हैं तो क्या तुझे अपनी जान प्यारी नहीं है। कल को लहू थूकने लगेगा तो कुछ बनाये न बनेगी, बाल-बच्चों को किस पर छोड़ेगा ? है घर में कुछ ?

डॉक्टर साहब ने संकोच करते हुए ढाई सौ रुपये कहे। बुद्धू राजी हो गया, मामला तय हुआ, डॉक्टर साहब उसे साथ लेकर घर की ओर चले। उन्हें ऐसी आत्मिक प्रसन्नता कभी न मिली थी। हारा हुआ मुकदमा जीत कर अदालत से लौटने वाला मुकदमेबाज भी इतना प्रसन्न न होगा। लपके चले जाते थे। बुद्धू से बार-बार तेज चलने को कहते। घर पहुँचे तो जगिया को बिलकुल मरने के निकट पाया। जान पड़ता था यही साँस अंतिम साँस है। उनकी माँ और स्त्री दोनों आँसू भरे निराश बैठी थीं। बुद्धू को दोनों ने विनम्र दृष्टि से देखा। डॉक्टर साहब के आँसू भी न रुक सके। जगिया की ओर झुके तो आँसू की बूँदें उसके मुरझाये हुए पीले मुँह पर टपक पड़ीं। स्थिति ने बुद्धू को सजग कर दिया बुढ़िया के देह पर हाथ रखते हुए बोला—बाबू जी, अब मेरा किया कुछ नहीं हो सकता, यह दम तोड़ रही है।

डॉक्टर साहब ने गिड़गिडा कर कहा—नहीं चौधरी, ईश्वर के नाम पर अपना मंत्र चलाओ, इसकी जान बच गयी तो सदा के लिए मैं तुम्हारा गुलाम बना रहूँगा।

बुद्धू—आप मुझे जान-बूझ कर जहर खाने को कहते हैं। मुझे मालूम न था कि मूठ के देवता इस बखत इतने गरम हैं। वह मेरे मन में बैठे कह रहे हैं, तुमने हमारा शिकार छीना तो हम तुम्हें निगल जायेंगे।

डॉक्टर—देवता को किसी तरह राजी कर लो।

बुद्धू—राजी करना बड़ा कठिन है, पाँच सौ रुपये दीजिए तो इसकी जान बचे। उतारने के लिए बड़े-बड़े जतन करने पड़ेंगे।

डॉक्टर—पाँच सौ रुपये दे दूँ तो इसकी जान बचा दोगे ?

बुद्धू—हाँ, शर्त बद कर।

डॉक्टर साहब बिजली की तरह लपक कर अपने कमरे में आ गये और पाँच सौ रुपयों की थैली लाकर बुद्धू के सामने रख दी। बुद्धू ने विजय की दृष्टि से थैली को देखा। फिर जगिया का सर अपनी गोद में रखकर उस पर हाथ फेरने लगा। कुछ बुदबुदा कर छू-छू करता जाता था। एक क्षण में उसकी सूरत डरावनी हो गयी, लपटें-सी निकलने लगीं। बार-बार अँगड़ाइयाँ लेने लगा। इसी दशा में एक बेसुरा गाना आरम्भ किया, पर हाथ जगिया के सर पर ही था। अंत में कोई आध घंटा बीतने पर जगिया ने आँखें खोल दीं, जैसे बुझते हुए दीये में तेल पड़ जाय। धीरे-धीरे उसकी अवस्था सुधरने लगी। उधर कौवे की बोली सुनाई दी, जगिया एक अँगड़ाई ले कर उठ बैठी।

7

सात बजे थे जगिया मीठी नींद सो रही थी; उसकी आकृति निरोग थी, बुद्धू रुपयों की थैली ले कर अभी गया था। डॉक्टर साहब की माँ ने कहा—बात-की-बात में पाँच सौ

रुपये मार ले गया।

डॉक्टर—यह क्यों नहीं कहती कि एक मुरदे को जिला गया। क्या उसके प्राण का मूल्य इतना भी नहीं है।

माँ—देखो, आले पर पाँच सौ रुपये हैं या नहीं ?

डॉक्टर—नहीं, उन रुपयों में हाथ मत लगाना, उन्हें वहीं पड़े रहने दो। उसने तीरथ करने के वास्ते लिये थे, वह उसी काम में लगेंगे।

माँ—यह सब रुपये उसी के भाग के थे।

डॉक्टर—उसके भाग के तो पाँच सौ ही थे, बाकी मेरे भाग के थे। उनकी बदौलत मुझे ऐसी शिक्षा मिली, जो उम्र भर न भूलेगी। तुम मुझे अब आवश्यक कामों में मुट्ठी बंद करते हुए न पाओगी।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक 'जमाना' में जनवरी, 1922 में प्रकाशित। 'ख्वाबोखयाल' में संकलित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'मर्यादा' में जनवरी, 1922 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

सुहाग की साड़ी

यह कहना भूल है कि दाम्पत्य-सुख के लिए स्त्री-पुरुष के स्वभाव में मेल होना आवश्यक है। श्रीमती गौरा और श्रीमान् कुँवर रतनसिंह में कोई बात न मिलती थी। गौरा उदार थी, रतनसिंह कौड़ी-कौड़ी को दाँतों से पकड़ते थे। वह हँसमुख थी, रतनसिंह चिंताशील थे। वह कुल-मर्यादा पर जान देती थी, रतनसिंह इसे आडम्बर समझते थे। उनके सामाजिक व्यवहार और विचार में भी घोर अंतर था। यहाँ उदारता की बाजी रतनसिंह के हाथ थी गौरा को सहभोज से आपत्ति थी, विधवा-विवाह से घृणा ओर अछूतों के प्रश्न से विरोध। रतनसिंह इन सभी व्यवस्थाओं के अनुमोदक थे। राजनीतिक विषयों में यह विभिन्नता और भी जटिल थी ! गौरा वर्तमान स्थिति को अटल, अमर, अपरिहार्य समझती थी, इसलिए वह नरम-गरम, काँग्रेस, स्वराज्य, होमरूल सभी से विरक्त थी। कहती—"ये मुट्ठी भर पढ़े-लिखे आदमी क्या बना लेंगे, चने कहीं भाड़ फोड़ सकते हैं ?" रतनसिंह पक्के आशावादी थे, राजनीतिक सभा की पहली पंक्तियों में बैठनेवाले, कर्मक्षेत्र में सबसे पहले कदम उठानेवाले, स्वदेशव्रतधारी और बहिष्कार के पूरे अनुयायी। इतनी विषमताओं पर भी उनका दाम्पत्य-जीवन सुखमय था। कभी-कभी उनमें मतभेद अवश्य हो जाता था, पर वे समीर के वे झोंके थे, जो स्थिर जल को हल्की-हल्की लहरों से आभूषित कर देते हैं; वे प्रचंड झोंके नहीं जिनसे सागर विप्लवक्षेत्र बन जाता है। थोड़ी-सी सदिच्छा सारी विषमताओं और मतभेदों का प्रतिकार कर देती थी।

2

विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलायी जा रही थीं। स्वयंसेवकों के जत्थे भिखारियों की भाँति द्वारों पर खड़े हो-हो कर विलायती कपड़ों की भिक्षा माँगते थे और ऐसा कदाचित् ही कोई

द्वार था जहाँ उन्हें निराश होना पड़ता हो। खद्दर और गाढ़े के दिन फिर गये थे। नयनसुख, नयनदुख, मलमल मनमल और तनजेब तनबेध हो गये थे। रतनसिंह ने आकर गौरा से कहा—लाओ, अब सब विदेशी कपड़े संदूक से निकाल दो, दे दूँ।

गौरा—अरे तो इसी घड़ी कोई साइत निकली जाती है, फिर कभी दे देना।

रतन—वाह, लोग द्वार पर खड़े कोलाहल मचा रहे हैं और तुम कहती हो, फिर कभी दे देना।

गौरा—तो यह कुंजी लो, निकाल कर दे दो। मगर यह सब है लड़कों का खेल। घर फूँकने से स्वराज्य न कभी मिला है और न मिलेगा।

रतन—मैंने कल ही तो इस विषय पर तुमसे घंटों सिरपच्ची की थी और उस समय तुम मुझसे सहमत हो गयी थीं, आज तुम फिर वही शंकाएँ करने लगीं ?

गौरा—मैं तुम्हारे अप्रसन्न हो जाने के डर से चुप हो गयी थी।

रतन—अच्छा, शंकाएँ फिर कर लेना, इस समय जो करना है वह करो।

गौरा—लेकिन मेरे कपड़े तो न लोगे न ?

रतन—सब देने पड़ेंगे, विलायत का एक सूत भी घर में रखना मेरे प्रण को भंग कर देगा।

इतने में रामटहल साईस ने बाहर से पुकारा—सरकार, लोग जल्दी मचा रहे हैं कहते हैं, अभी कई मुहल्लों का चक्कर लगाना है। कोई गाढ़े का टुकड़ा हो तो मुझे भी मिल जाय, मैंने भी अपने कपड़े दे दिये।

केसर महरी कपड़ों की एक गठरी लेकर बाहर जाती हुई दिखायी दी। रतनसिंह ने पूछा—क्या तुम भी अपने कपड़े देने जाती हो ?

केसर ने लजाते हुए कहा—हाँ, सरकार जब देश छोड़ रहा है तो मैं कैसे पहनूँ?

रतनसिंह ने गौरा क़ी ओर आदेशपूर्ण नेत्रों से देखा। अब वह विलम्ब न कर सकी। लज्जा से सिर झुकाये संदूक खोलकर कपड़े निकालने लगी। एक संदूक खाली हो गया तो उसने दूसरा संदूक खोला। सबसे ऊपर एक सुंदर रेशमी सूट रखा हुआ था जो कुँवर साहब ने किसी अँगरेजी कारखाने में सिलाया था।

गौरा ने पूछा—क्या सूट भी निकाल दूँ ?

रतन—हाँ, हाँ, इसे किस दिन के लिए रखोगी ?

गौरा—यदि मैं यह जानती कि इतनी जल्दी हवा बदलेगी तो कभी यह सूट न बनवाने देती। सारे रुपये खून हो गये।

रतनसिंह ने कुछ उत्तर न दिया। तब गौरा ने अपना संदूक खोला और जलन के मारे स्वदेशी-विदेशी सभी कपड़े निकाल-निकाल कर फेंकने लगी। वह आवेश-प्रवाह में आ गयी। उनमें कितनी ही बहुमूल्य फैंसी जाकेट और साड़ियाँ थीं जिन्हें किसी समय पहन कर वह फूली न समाती थी। बाज-बाज साड़ियों के लिए तो उसे रतनसिंह से बार-बार तकाजे करने पड़ते थे। पर इस समय सब की सब आँखों में खटक रही थीं। रतनसिंह उसके भावों को ताड़ रहे थे। स्वदेशी कपड़ों का निकाला जाना उन्हें अखर रहा था, पर इस समय चुप रहने ही में कुशल समझते थे। तिस पर भी दो-एक बार वाद-विवाद की नौबत आ ही गयी। एक बनारसी साड़ी के लिए तो वह झगड़ बैठे, उसे गौरा के हाथों से छीन लेना

चाहा, पर गौरा ने एक न मानी, निकाल ही फेंका। सहसा संदूक में से एक केसरिया रंग की तनजेब की साड़ी निकल आयी जिस पर पक्के आँचल और पल्ले टँके हुए थे। गौरा ने उसे जल्दी से लेकर अपनी गोद में छिपा लिया।

रतनसिंह ने पूछा—कैसी साड़ी है।

गौरा—कुछ नहीं, तनजेब की साड़ी है। आँचल पक्का है।

रतन—तनजेब की है तब तो जरूर ही विलायती होगी। उसे अलग क्यों रख लिया ? क्या वह बनारसी साड़ियों से अच्छी है ?

गौरा—अच्छी तो नहीं है, पर मैं इसे न दूँगी।

रतन—वाह, विलायती चीज को मैं न रखने दूँगा। लाओ इधर।

गौरा—नहीं मेरी खातिर से इसे रहने दो।

रतन—तुमने मेरी खातिर से एक भी चीज न रखी, मैं क्यों तुम्हारी खातिर करूँ।

गौरा—पैरों पड़ती हूँ, जिद न करो।

रतन—स्वदेशी साड़ियों में से जो चाहो रख लो, लेकिन इस विलायती चीज को मैं न रखने दूँगा। इसी कपड़े की बदौलत हम गुलाम बने, यह गुलामी का दाग़ मैं अब नहीं रख सकता। लाओ इधर।

गौरा—मैं इसे न दूँगी, एक बार नहीं हज़ार बार कहती हूँ कि न दूँगी।

रतन—मैं इसे लेकर छोडूँगा, इस गुलामी के पटके को, इस दासत्व के बंधन को किसी तरह न रखूँगा।

गौरा—नाहक जिद करते हो।

रतन—आखिर तुमको इससे क्यों इतना प्रेम है ?

गौरा—तुम तो बाल की खाल निकालने लगते हो। इतने कपड़े थोड़े हैं ? एक साड़ी रख ही ली तो क्या ?

रतन—तुमने अभी तक इन होलियों का आशय ही नहीं समझा।

गौरा—खूब समझती हूँ। सब ढोंग है। चार दिन में जोश ठडा पड़ जायेगा।

रतन—तुम केवल इतना बतला दो कि यह साड़ी तुम्हें क्यों इतनी प्यारी है, तो शायद मैं मान जाऊँ।

गौरा—यह मेरी सुहाग की साड़ी है।

रतन—(जरा देर सोच कर) तब तो मैं इसे कभी न रखूँगा। मैं विदेशी वस्त्र को यह शुभस्थान नहीं दे सकता। इस पवित्र संस्कार का यह अपवित्र स्मृति-चिह्न घर में नहीं रख सकता। मैं इसे सबसे पहले होली की भेंट करूँगा। लोग कितने हतबुद्धि हो गये थे कि ऐसे शुभ कार्यों में भी विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने में संकोच न करते थे। मैं इसे अवश्य होली में दूँगा।

गौरा—कैसा असगुन मुँह से निकालते हो

रतन—ऐसी सुहाग की साड़ी का घर में रखना ही अशकुन, अमंगल, अनिष्ट और अनर्थ है।

गौरा—यों चाहे ज़बरदस्ती छीन ले जाओ, पर खुशी से न दूँगी।

रतन—तो फिर मैं ज़बरदस्ती ही करूँगा। मजबूरी है।

यह कह कर वह लपके कि गौरा के हाथों से साड़ी छीन लूँ। गौरा ने उसे मजबूती से पकड़ लिया और रतन की ओर कातर नेत्रों से देखकर कहा--तुम्हें मेरे सिर की कसम।

केसर महरी बोली--बहू जी की इच्छा है तो रहने दीजिए।

रतनसिंह के बढ़े हुए हाथ रुक गये, मुख मलिन हो गया। उदास हो कर बोले--मुझे अपना व्रत तोड़ना पड़ेगा। प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठे हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। खैर, यही सही।

3

शाम हो गयी थी। द्वार पर स्वयंसेवकगण शोर मचा रहे थे, कुँवर साहब जल्दी आइए, श्रीमती जी से भी कह दीजिए, हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। बहुत देर हो रही है। उधर रतनसिंह असमंजस में पड़े हुए थे कि प्रतिज्ञा-पत्र पर कैसे हस्ताक्षर करूँ। विदेशी वस्त्र घर में रख कर स्वदेशी व्रत का पालन क्योंकर होगा ? आगे कदम बढ़ा चुका हूँ, पीछे नहीं हट सकता। लेकिन प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करना अभीष्ट भी तो नहीं, केवल उसके आशय पर लक्ष्य रहना चाहिए। इस विचार से मुझे प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने का पूरा अधिकार है। त्रिया-हठ के सामने किसी की नहीं चलती। यों चाहूँ तो एक ताने में काम निकल सकता है, पर उसे बहुत दुःख होगा, बड़ी भावुक है, उसके भावों का आदर करना मेरा कर्तव्य है।

गौरा भी चिंता में डूबी हुई थी। सुहाग की साड़ी सुहाग का चिह्न है, उसे आग ....कितने अशकुन की बात है। ये कभी-कभी बालकों की भाँति जिद करने लगते हैं, अपनी धुन में किसी की सुनते नहीं। बिगड़ते हैं तो मानों मुँह ही नहीं सीधा होता।

लेकिन वे बेचारे भी तो अपने सिद्धांतों से मजबूर हैं। झूठ से उन्हें घृणा है। प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठी स्वीकृत लिखनी पड़ेगी, उनकी आत्मा को बड़ा दुःख होगा, घोर धर्म संकट में पड़े होंगे, यह भी तो नहीं हो सकता कि सारे शहर में स्वदेशानुरागियों के सिरमौर बन कर उस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से आनाकानी करें। कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी, लोग समझेंगे, बना हुआ है। पर शकुन की चीज कैसे दूँ?

इतने में उसने रामटहल साईस को सिर पर कपड़ों का गट्ठर लिये बाहर जाते देखा। केसर महरी भी एक गट्ठर सिर पर रखे हुए थी। पीछे-पीछे रतनसिंह हाथ में प्रतिज्ञा-पत्र लिये जा रहे थे। उनके चेहरे पर ग्लानि की झलक थी जैसे कोई सच्चा आदमी झूठी गवाही देने जा रहा हो। गौरा को देखकर उन्होंने आँखें फेर लीं और चाहा कि उसकी निगाह बचाकर निकल जाऊँ। गौरा को ऐसा जान पड़ा कि उनकी आँखें डबडबायी हुई हैं। वह राह रोककर बोली--ज़रा सुनते जाओ।

रतन--जाने दो, दिक न करो; लोग बाहर खड़े हैं।

उन्होंने चाहा कि पत्र को छिपा लूँ; पर गौरा ने उसे उनके हाथ से छीन लिया; उसे गौर से पढ़ा और एक क्षण चिन्तामग्न रहने के बाद बोली--वह साड़ी भी लेते जाओ।

रतन--रहने दो, अब तो मैंने झूठ लिख ही दिया।

गौरा--मैं क्या जानती थी कि तुम ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा कर रहे हो।

रतन--यह तो मैं तुमसे पहले कह चुका था।

गौरा--मेरी भूल थी, क्षमा कर दो और इसे लेते जाओ।

रतन—जब तुम इसे देना अशकुन समझती हो तो रहने दो। तुम्हारी खातिर थोड़ा-सा झूठ बोलने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

गौरा—नहीं, लेते जाओ। अमंगल के भय से तुम्हारी आत्मा का हनन नहीं करना चाहती।

यह कहकर उसने अपनी सुहाग की साड़ी उठाकर पति के हाथों में रख दी। रतन ने देखा, गौरा के चेहरे पर एक रंग आता है, एक रंग जाता है, जैसे कोई रोगी अंतरस्थ विषम वेदना को दबाने की चेष्टा कर रहा हो। उन्हें अपनी अहृदयता पर लज्जा आयी। हा ! केवल अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए, अपनी आत्मा के सम्मान के लिए, मैं इस देवी के भावों का वध कर रहा हूँ ! यह अत्याचार है। साड़ी गौरा को दे कर बोले—तुम इसे रख लो, मैं प्रतिज्ञा-पत्र को फाड़े डालता हूँ।

गौरा ने दृढ़ता से कहा—तुम न ले जाओगे तो मैं खुद जा कर दे आऊँगी।

रतनसिंह विवश हो गये। साड़ी ली और बाहर चले आये।

4

उसी दिन से गौरा के हृदय पर एक बोझ-सा रहने लगा। वह दिल बहलाने के लिए नाना उपाय करती; जलसों में भाग लेती, सैर करने जाती, मनोरंजक पुस्तकें पढ़ती, यहाँ तक कि कई बार नियम के विरुद्ध थियेटरों में भी गयी, किसी प्रकार अमंगल कल्पना को शान्त करना चाहती थी, पर यह आशंका एक मेघ-मंडल की भाँति उसके हृदय पर छायी रहती थी।

जब एक पूरा महीना गुजर गया और उसकी मानसिक वेदना दिनों-दिन बढ़ती ही गयी तो कुँवर साहब ने उसे कुछ दिनों के लिए अपने इलाके पर ले जाने का निश्चय किया। उसका मन उन्हें उनके आदर्श प्रेम पर नित्य तिरस्कार किया करता था। वह अक्सर देहातों में प्रचार का काम करने जाया करते थे ! पर अब अपने गाँव से बाहर न जाते, या जाते तो संध्या तक जरूर लौट आते। उनकी एक दिन की देर, उनका साधारण सिर दर्द और जुकाम उसे अव्यवस्थित कर देते थे। वह बहुधा बुरे स्वप्न देखा करती। किसी अनिष्ट के काल्पनिक अस्तित्व की छाया उसे अपने चारों ओर मँडराती हुई प्रतीत होती थी।

वह तो देहात में पड़ी हुई आशंकाओं की कठपुतली बनी हुई थी। इधर उसकी सुहाग की साड़ी स्वदेश-प्रेम की वेदी पर भस्म होकर ऋद्धि-प्रदायिनी भभूत बनी हुई थी।

दूसरे महीने के अन्त में रतनसिंह उसे ले कर लौट आये।

5

गौरा को वापस आये तीन-चार दिन हो चुके थे, पर असबाब के सँभालने और नियत स्थान पर रखने में वह इतनी व्यस्त रही कि घर से बाहर न निकल सकी थी। कारण यह था कि केसर महरी उसके जाने के दूसरे ही दिन छोड़कर चली गयी थी और अभी उतनी चतुर दूसरी महरी मिली न थी। कुँवर साहब का साईस रामटहल भी छोड़ गया था। बेचारे

कोचवान को साईस का भी काम करना पड़ता था।

संध्या का समय था। गौरा बरामदे में बैठी आकाश की ओर एकटक होकर ताक रही थी। चिन्ताग्रस्त प्राणियों का एकमात्र यही अवलम्ब है ! सहसा रतनसिंह ने आकर कहा—चलो, आज तुम्हें स्वदेशी बाजार की सैर करा लावें। यह मेरा ही प्रस्ताव था, पर चार दिन यहाँ आये हो गये, उधर जाने का अवकाश ही न मिला।

गौरा—मेरा तो जाने को जी नहीं चाहता। यहीं बैठकर कुछ बातें करो।

रतन—नहीं, चलो देख आवें। एक घंटे में लौट आवेंगे।

अंत में गौरा राजी हो गयी। इधर महीनों से बाहर न निकली थी। आज उसे चारों तरफ एक विचित्र शोभा दिखायी दी। बाजार कभी इतने रौनक पर न था। वह स्वदेशी बाजार में पहुँची तो जुलाहों और कोरियों को अपनी-अपनी दुकानें सजाये बैठे देखा। सहसा एक वृद्ध कोरी ने आकर रतनसिंह को सलाम किया। रतनसिंह चौंककर बोले—रामटहल, तुम अब कहाँ हो ?

रामटहल का चेहरा श्रीसम्पन्न था। उसके अंग-अंग से आत्म-सम्मान की आभा झलक रही थी। आँखों में गौरव-ज्योति थी। रतनसिंह को कभी अनुमान न हुआ था कि अस्तबल साफ करनेवाला बुड्ढा रामटहल इतना सौम्य, इतना भद्र पुरुष है। वह बोला—सरकार, अब तो अपना कारबार करता हूँ। जब से आपकी गुलामी छोड़ी तब से अपने काम में लग गया। आप लोगों की निगाह हम गरीबों पर हो गयी हमारा भी गुजर हो रहा है, नहीं तो आप जानते ही हैं, कि किस हालत में पड़ा हुआ था। जात का कोरी हूँ, पर पापी पेट के लिए चमार बन गया था।

रतन—तो भाई, अब मुँह मीठा कराओ। यह बाजार लगाने की मेरी ही सलाह थी, बिक्री तो अच्छी होती है।

रामटहल—हाँ सरकार ! आजकल खूब बिक्री हो रही है। माल हाथों-हाथ उड़ जाता है। यहाँ बैठते हुए एक महीना हो गया है, पर आपकी कृपा से लोगों के चार पैसे थे वे बेबाक हो गये। भगवान् की दया से रूखा-सूखा भोजन भी दोनों समय मिल जाता है और क्या चाहिए। मलकिन की सुहाग की साड़ी का होली में आना कहिए और बाजार का चमकना कहिए। लोगों ने कहा, जब इतने बड़े आदमी हो कर ऐसे शकुन की चीज़ की परवाह नहीं करते तो फिर हम विदेशी कपड़े क्यों रखें। जिस दिन होली जली है उसके दो-तीन दिन पहले ही सरकार इलाके पर चले गये थे। उसके पहले भी सरकार कई दिनों तक घर से बहुत कम निकलते थे। मैं तो यही कहूँगा कि यह सारी माया उसी सुहाग की साड़ी की है।

इतने में एक अधेड़ स्त्री गौरा के सामने आ कर बोली—बहू जी, मुझे भूल तो नहीं गयीं ?

गौरा ने सिर उठाया तो सामने केसर महरी खड़ी थी। वह सुंदर साड़ी पहने हुए थी, हाथ-पाँव में मामूली गहने भी थे, चेहरा खिला हुआ था। स्वाधीन जीवन का गौरव एक-एक भाव से प्रस्फुटित हो रहा था।

गौरा ने कहा—इतनी जल्दी भूल जाऊँगी ? अब कहाँ हो ? हमें लौटने भी न दिया, बीच में ही उड़ भागी।

केसर—क्या करूँ सरकार, अपना काम चलते देख कर सबर न हो सका। जब तक रोज़गार न चलता था तन तक लाचारी थी। पेट के लिए सेवा-टहल, करम-कुकरम सभी करना पड़ता था। अब आप लोगों की दया से हमारे भी दिन लौटे हैं, अब दूसरा काम नहीं किया जाता। अगर बाजार का यही रंग रहा तो अपनी कमाई खाये न चुकेगी। यह सब आपकी साड़ी की महिमा है। उसकी बदौलत हम गरीबों के कितने ही घर बस गये। एक महीना पहले इन दूकानवालों में से किसी को रोटियों का ठिकाना न था। कोई साईसी करता था, कोई तासे बजाता था, यहाँ तक कि कई आदमी मेहतर का काम करते थे। कितने ही भीख माँगते थे। अब सब अपने धंधे में लग गये हैं। सच पूछो तो तुम्हारी सुहाग की साड़ी ने हमें सुहागिन बना दिया, नहीं तो हम सुहागिन होते हुए भी विधवाएँ थीं। सच कहती हूँ, सैकड़ों जवानों से नित्य यही दुआ निकलती है कि आपका सुहाग अमर हो, जिसने हमारी राँड़ जात को सुहाग दान दिया।

रतनसिंह एक दूकान पर बैठकर कुछ कपड़े देखने लगे। गौरा का भावुक हृदय आनंद से पुलकित हो रहा था। उसकी सारी अमंगल कल्पनाएँ स्वप्नवत् विच्छिन्न होती जाती थीं। आँखें सजल हो गयी थीं और सुहाग की देवी अश्रुसंचित नेत्रों के सामने खड़ी आँचल फैला कर उसे आशीर्वाद दे रही थी।

उसने रतनसिंह को भक्तिपूर्ण आँखों से देख कर कहा—मेरे लिए भी एक साड़ी ले लो।

6

जब गौरा यहाँ से चली तो सड़क की बिजलियाँ जल चुकी थीं। सड़कों पर खूब प्रकाश था। उसका हृदय भी आनंद के प्रकाश से जगमगा रहा था।

रतनसिंह ने पूछा—सीधे घर चलूँ ?

गौरा—नहीं, छावनी की तरफ होते चलो।

रतन—बाजार खूब सजा हुआ था।

गौरा—यह जमीन ले कर एक स्थायी बाजार बनवा दो। स्वदेशी कपड़ों की दूकानें हों और किसी से किराया न लिया जाय।

रतन—बहुत खर्च पड़ेगा।

गौरा—मकान बेच दो, रुपये ही रुपये हो जायेंगे।

रतन—और रहें, पेड़ तले ?

गौरा—नहीं, गाँववाले मकान में।

रतन—सोचूँगा।

गौरा—(जरा देर में) इलाके-भर में खूब कपास की खेती कराओ, जो कपास बोये उसकी बेगार माफ कर दो।

रतन—हाँ, तदबीर अच्छी है, दूनी उपज हो जायेगी।

गौरा—(कुछ देर सोचने के बाद) लकड़ी बिना दाम दो तो कैसा हो ? जो चाहे, चरखे बनवाने के लिए काट ले जाये।

रतन—लूट मच जायेगी।

गौरा—ऐसी बेईमानी कोई न करेगा।

जब उसने गाड़ी से उतर कर घर में कदम रखा तो चित्त शुभ-कल्पनाओं से प्रफुल्लित हो रहा था। मानों कोई बछड़ा खूँटे से छूटकर किलोलें कर रहा हो।

[हिन्दी कहानी। केवल हिन्दी में प्रकाशित। 'प्रभा' में जनवरी, 1922 में छपी। 'उषा' में मई, 1930 में पुनः प्रकाशन। 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित।]

हार की जीत

केशव से मेरी पुरानी लाग-डाँट थी। लेख और वाणी, हास्य और विनोद सभी क्षेत्रों में मुझसे कोसों आगे था। उसके गुणों की चंद्र-ज्योति में मेरे दीपक का प्रकाश कभी प्रस्फुटित न हुआ। एक बार उसे नीचा दिखाना मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी। उस समय मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। अपनी त्रुटियों को कौन स्वीकार करता है—पर वास्तव में मुझे ईश्वर ने उसकी जैसी बुद्धि-शक्ति न प्रदान की थी। अगर मुझे कुछ तस्कीन थी तो यह कि विद्याक्षेत्र में चाहे मुझे उनसे कंधा मिलाना कभी नसीब न हो, पर व्यवहार की रंगभूमि में सेहरा मेरे ही सिर रहेगा। लेकिन दुर्भाग्य से जब प्रणय-सागर में भी उसने मेरे साथ गोता मारा और रत्न उसी के हाथ लगता हुआ नजर आया तो मैं हताश हो गया। हम दोनों ने ही एम. ए. के लिए साम्यवाद का विषय लिया था। हम दोनों ही साम्यवादी थे। केशव के विषय में तो यह स्वाभाविक बात थी। उसका कुल बहुत प्रतिष्ठित न था, न वह समृद्धि ही थी जो इस कमी को पूरा कर देती। मेरी अवस्था इसके प्रतिकूल थी। मैं खानदान का ताल्लुकेदार और रईस था। मेरी साम्यवादिता पर लोगों को कुतूहल होता था। हमारे साम्यवाद के प्रोफेसर बाबू हरिदास भाटिया साम्यवाद के सिद्धांतों के कायल थे, लेकिन शायद धन की अवहेलना न कर सकते थे। अपनी लज्जावती के लिए उन्होंने कुशाग्र बुद्धि केशव को नहीं, मुझे पसंद किया। एक दिन संध्या-समय वह मेरे कमरे में आये और चिंतित भाव से बोले—शारदाचरण, मैं महीनों से एक बड़ी चिंता में पड़ा हुआ हूँ। मुझे आशा है कि तुम उसका निवारण कर सकते हो ! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मैंने तुम्हें और केशव दोनों ही को पुत्र-तुल्य समझा है। यद्यपि केशव तुमसे चतुर है, पर मुझे विश्वास है कि विस्तृत संसार में तुम्हें जो सफलता मिलेगी, वह उसे नहीं मिल सकती। अतएव मैंने तुम्हीं को अपनी लज्जा के लिए वरा है। क्या मैं आशा करूँ कि मेरा मनोरथ पूरा होगा।

मैं स्वतंत्र था मेरे माता-पिता मुझे लड़कपन ही में छोड़ कर स्वर्ग चले गये थे। मेरे कुटुम्बियों में अब ऐसा कोई न था, जिसकी अनुमति लेने की मुझे जरूरत होती। लज्जावती जैसी सुशीला, सुन्दरी, सुशिक्षित स्त्री को पा कर कौन पुरुष होगा जो अपने भाग्य को न सराहता। मैं फूला न समाया। लज्जा एक कुसुमित वाटिका थी, जहाँ गुलाब की मनोहर सुगंधि थी और हरियाली की मनोरम शीतलता, समीर की शुभ्र तरंगें थीं और पक्षियों का मधुर संगीत। वह स्वयं साम्यवाद पर मोहित थी। स्त्रियों के प्रतिनिधित्व और ऐसे ही अन्य विषयों पर उसने मुझसे कितनी ही बार बातें की थीं। लेकिन प्रोफेसर भाटिया

की तरह केवल सिद्धान्तों की भक्त न थी, उनको व्यवहार में भी लाना चाहती थी। उसने चतुर केशव को अपना स्नेह-पात्र बनाया था। तथापि मैं जानता था कि प्रोफेसर भाटिया के आदेश को वह कभी नहीं टाल सकती, यद्यपि उसकी इच्छा के विरुद्ध मैं उसे अपनी प्रणयिनी बनाने के लिए तैयार न था। इस विषय में मैं स्वेच्छा के सिद्धांत का कायल था। इसलिए मैं केशव की विरक्ति और क्षोभ से आशातीत आनन्द न उठा सका। हम दोनों ही दुःखी थे, और मुझे पहली बार केशव से सहानुभूति हुई। मैं लज्जावती से केवल इतना पूछना चाहता था कि उसने मुझे क्यों नजरों से गिरा दिया। पर उसके सामने ऐसे नाजुक प्रश्नों को छेड़ते हुए मुझे संकोच होता था, और यह स्वाभाविक था, क्योंकि कोई रमणी अपने अंतःकरण के रहस्यों को नहीं खोल सकती। लेकिन शायद लज्जावती इस परिस्थिति को मेरे सामने प्रकट करना अपना कर्तव्य समझ रही थी। वह इसका अवसर ढूँढ़ रही थी। संयोग से उसे शीघ्र ही अवसर मिल गया।

संध्या का समय था। केशव राजपूत हॉस्टल में साम्यवाद पर एक व्याख्यान देने गया हुआ था। प्रोफेसर भाटिया उस जलसे के प्रधान थे। लज्जा अपने बँगले में अकेली बैठी हुई थी। मैं अपने अशांत हृदय के भाव छिपाये हुए, शोक और नैराश्य की दाह से जलता हुआ उसके समीप आ कर बैठ गया। लज्जा ने मेरी ओर एक उड़ती हुई निगाह डाली और सदय भाव से बोली—कुछ चिंतित जान पड़ते हो ?

मैंने कृत्रिम उदासीनता से कहा—तुम्हारी बला से।

लज्जा—केशव का व्याख्यान सुनने नहीं गये !

मेरी आँखों से ज्वाला सी निकलने लगी। जब्त करके बोला—आज सिर में दर्द हो रहा था।

यह कहते-कहते अनायास ही मेरे नेत्रों से आँसू की कई बूँदें टपक पड़ीं। मैं अपने शोक को प्रदर्शित करके उसका करुणापात्र बनना नहीं चाहता था। मेरे विचार में रोना स्त्रियों के ही स्वाभावानुकूल था। मैं उस पर क्रोध प्रकट करना चाहता था और निकल पड़े आँसू। मन के भाव इच्छा के अधीन नहीं होते।

मुझे रोते देख कर लज्जा की आँखों से आँसू गिरने लगे।

मैं कीना नहीं रखता, मलिन हृदय नहीं हूँ, लेकिन न मालूम क्यों लज्जा के रोने पर मुझे इस समय एक आनन्द का अनुभव हुआ। उस शोकावस्था में भी मैं उस पर व्यंग्य करने से बाज न रह सका। बोला—लज्जा, मैं तो अपने भाग्य को रोता हूँ। शायद तुम्हारे अन्याय की दुहाई दे रहा हूँ; लेकिन तुम्हारे आँसू क्यों ?

लज्जा ने मेरी ओर तिरस्कार-भाव से देखा और बोली—मेरे आँसुओं का रहस्य तुम न समझोगे क्योंकि तुमने कभी समझने की चेष्टा नहीं की। तुम मुझे कटु वचन सुना कर अपने चित्त को शांत कर लेते हो। मैं किसे जलाऊँ। तुम्हें क्या मालूम है कि मैंने कितना आगा-पीछा सोचकर, हृदय को कितना दबाकर, कितनी रातें करवटें बदल कर और कितने आँसू बहा कर यह निश्चय किया है। तुम्हारी कुल-प्रतिष्ठा, तुम्हारी रियासत एक दीवार की भाँति मेरे रास्ते में खड़ी है। उस दीवार को मैं पार नहीं कर सकती। मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हें कुल-प्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक

सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा। उस समय तुम अवश्य अपने फैसले पर पछताओगे और कुढ़ोगे। मैं तुम्हारे दूध की मक्खी और हृदय का काँटा बन जाऊँगी।

मैंने आर्द्र होकर कहा—जिन कारणों से मेरा साम्यवाद लुप्त हो जायगा, क्या वह तुम्हारे साम्यवाद को जीता छोड़ेगा ?

लज्जा—हाँ, मुझे पूरा विश्वास है कि मुझ पर उनका ज़रा भी असर न होगा। मेरे घर में कभी रियासत नहीं रही और कुल की अवस्था तुम भलीभाँति जानते हो। बाबू जी ने केवल अपने अविरल परिश्रम और अध्यवसाय से यह पद प्राप्त किया है। मुझे वह नहीं भूला है जब मेरी माता जीवित थीं और बाबू जी ग्यारह बजे रात को प्राइवेट ट्यूशन कर के घर आते थे। तो मुझे रियासत और कुल-गौरव का अभिमान कभी नहीं हो सकता, उसी तरह जैसे तुम्हारे हृदय से यह अभिमान कभी मिट नहीं सकता। यह घमंड मुझे उसी दशा में होगा जब मैं स्मृतिहीन हो जाऊँगी।

मैंने उद्दंडता से कहा—कुल-प्रतिष्ठा को तो मैं मिटा नहीं सकता, मेरे वश की बात नहीं है, लेकिन तुम्हारे लिए मैं आज रियासत की तिलांजलि दे सकता हूँ।

लज्जा क्रूर मुस्कान से बोली—फिर वही भावुकता ! अगर यह बात तुम किसी अबोध बालिका से करते तो कदाचित् वह फूली न समाती। मैं एक ऐसे गहन विषय में, जिस पर दो प्राणियों के समस्त जीवन का सुख-दुःख निर्भर है, भावुकता का आश्रय नहीं ले सकती। शादी बनावट नहीं है। परमात्मा साक्षी है मैं विवश हूँ, मुझे अभी तक स्वयं मालूम नहीं है कि मेरी डोंगी किधर जायेगी; लेकिन मैं तुम्हारे जीवन को कंटकमय नहीं बना सकती।

मैं यहाँ से चला तो इतना निराश न था जितना सचिंत। लज्जा ने मेरे सामने एक नयी समस्या उपस्थित कर दी थी।

2

हम दोनों साथ-साथ एम. ए. हुए। केशव प्रथम श्रेणी में आया, मैं द्वितीय श्रेणी में। उसे नागपुर के एक कालेज में अध्यापक का पद मिल गया। मैं घर आ कर अपनी रियासत का प्रबंध करने लगा। चलते समय हम दोनों गले मिल कर और रो कर विदा हुए। विरोध और ईर्ष्या को कालेज में छोड़ दिया।

मैं अपने प्रांत का पहला ताल्लुकेदार था, जिसने एम. ए. पद प्राप्त किया हो। पहले तो राज्याधिकारियों ने मेरी खूब आवभगत की; लेकिन जब मेरे सामाजिक सिद्धांतों से अवगत हुए तो उनकी कृपादृष्टि कुछ शिथिल पड़ गयी। मैंने भी उनसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। अपना अधिकांश समय असामियों के ही बीच में व्यतीत करता।

पूरा साल भर भी न गुजरने पाया कि एक ताल्लुकेदार की परलोक-यात्रा ने कौंसिल में एक स्थान खाली कर दिया। मैंने कौंसिल में जाने की अपनी तरफ से कोई कोशिश नहीं की। लेकिन काश्तकारों ने अपने प्रतिनिधित्व का भार मेरे ही सिर रखा। बेचारा केशव तो अपने कालेज में लेक्चर देता था, किसी को खबर भी न थी कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है और मैं अपने कुल-मर्यादा की बदौलत कौंसिल का मेम्बर हो गया। मेरी वक्तृताएँ समाचार-पत्रों में छपने लगीं। मेरे प्रश्नों की प्रशंसा होने लगी। कौंसिल में मेरा विशेष

सम्मान होने लगा, कई सज्जन ऐस निकल आये जो जनतावाद के भक्त थे। पहले वह परिस्थितियों से कुछ दबे हुए थे, अब वह खुल पड़े। हम लोगों ने लोकवादियों का अपना एक पृथक् दल बना लिया और कृषकों के अधिकारों को जोरों के साथ व्यक्त करना शुरू किया। अधिकांश भूपतियों ने मेरी अवहेलना की। कई सज्जनों ने धमकियाँ भी दीं; लेकिन मैंने अपने निश्चित पथ को न छोड़ा। सेवा के इस सुअवसर को क्योंकर हाथ से जाने देता। दूसरा वर्ष समाप्त होते-होते जाति के प्रधान नेताओं में मेरी गणना होने लगी। मुझे बहुत परिश्रम करना, बहुत पढ़ना, बहुत लिखना और बहुत बोलना पड़ता, पर जरा भी न घबराता। इस परिश्रमशीलता के लिए केशव का ऋणी था। उसी ने मुझे इतना अभ्यस्त बना दिया था।

मेरे पास केशव और प्रोफेसर भाटिया के पत्र बराबर आते रहते थे। कभी-कभी लज्जावती भी मिलती थी। उसके पत्रों में श्रद्धा और प्रेम की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती जाती थी। वह मेरी राष्ट्र सेवा का बड़े उदार, बड़े उत्साहमय शब्दों में बखान करती। मेरे विषय में उसे पहले जो शंकाएँ थीं, वह मिटती जाती थीं। मेरी तपस्या देवी को आकर्षित करने लगी थी। केशव के पत्रों से उदासीनता टपकती थी। उसके कालेज में धन का अभाव था। तीन वर्ष हो गये थे, पर उसकी तरक्की न हुई थी। पत्रों से ऐसा प्रतीत होता था मानो वह जीवन से असंतुष्ट है। कदाचित् इसका मुख्य कारण यह था कि अभी तक उसके जीवन का सुखमय स्वप्न चरितार्थ न हुआ था।

तीसरे वर्ष गर्मियों की तातील में प्रोफेसर भाटिया मुझसे मिलने आये और बहुत प्रसन्न हो कर गये। उसके एक ही सप्ताह पीछे लज्जावती का पत्र आया, अदालत ने तजबीज सुना दी, मेरी डिग्री हो गयी। केशव की पहली बार मेरे मुकाबले में हार हुई। मेरे हर्षोल्लास की कोई सीमा न थी। प्रो. भाटिया का इरादा भारतवर्ष के सब प्रांतों में भ्रमण करने का था। वह साम्यवाद पर एक ग्रन्थ लिख रहे थे जिसके लिए प्रत्येक बड़े नगर में कुछ अन्वेषण करने की जरूरत थी। लज्जा को अपने साथ ले जाना चाहते थे। निश्चय हुआ कि उनके लौट आने पर आगामी चैत के महीने में हमारा संयोग हो जाय। मैं यह वियोग के दिन बड़ी बेसब्री से काटने लगा। अब तक मैं जानता था कि बाजी केशव के हाथ रहेगी कि मैं निराश था, पर शांत था। अब आशा थी और उसके साथ घोर अशांति थी।

3

मार्च का महीना था। प्रतीक्षा की अवधि पूरी हो चुकी थी। कठिन परिश्रम के दिन गये, फसल काटने का समय आया। प्रोफेसर साहब ने ढाका से पत्र लिखा था कि कई अनिवार्य कारणों से मेरा लौटना मार्च में नहीं मई में होगा। इसी बीच में कश्मीर के दीवान लाला सोमनाथ कपूर नैनीताल आये। बजट पेश था। उन पर व्यवस्थापक सभा में वाद-विवाद हो रहा था। गवर्नर की ओर से दीवान साहब को पार्टी दी गयी। सभा के प्रतिनिधियों को भी निमंत्रण मिला। कौंसिल की ओर से मुझे अभिवादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरी बकवास को दीवान साहब ने बहुत पसंद किया। चलते समय मुझसे कई मिनट तक बातें कीं और मुझे अपने डेरे पर आने का आदेश दिया। उनके साथ उनकी पुत्री सुशीला भी थी। वह पीछे सिर झुकाये खड़ी रही। जान पड़ता था, भूमि को पढ़ रही है। पर मैं अपनी आँखों

को काबू में न रख सका। वह उतनी ही देर में एक बार नहीं, कई बार उठी और जैसे बच्चा किसी अजनबी की चुमकार से उसकी ओर लपकता है, पर फिर डर कर माँ की गोद से चिमट जाता है; वह भी डर कर आधे रास्ते से लौट गयी। लज्जा अगर कुसुमित वाटिका थी तो सुशीला शीतल सलिल-धारा थी जहाँ वृक्षों के कुंज थे, विनोदशील मृगों के झुंड, विहगावली की अनंत शोभा और तरंगों का मधुर संगीत।

मैं घर पर आया तो ऐसा थका हुआ था जैसे कोई मंजिल मारकर आया हूँ। सौंदर्य जीवन-सुधा है। मालूम नहीं क्यों इसका असर इतना प्राणघातक होता है।

लेटा तो वही सूरत सामने थी। मैं उसे हटाना चाहता था। मुझे भय था कि एक क्षण भी उस भँवर में पड़ कर मैं अपने को सँभाल न सकूँगा। मैं अब लज्जावती का हो चुका था, वही अब मेरे हृदय की स्वामिनी थी। मेरा उस पर कोई अधिकार न था लेकिन मेरे सारे संयम, सारी दलीलें निष्फल हुईं। जल के उद्वेग में नौका को धागे से कौन रोक सकता है। अंत में हताश हो कर मैंने अपने को विचारों के प्रवाह में डाल दिया। कुछ दूर तक नौका वेगवती तरंगों के साथ चली, फिर उसी प्रवाह में विलीन हो गयी।

दूसरे दिन मैं नियत समय पर दीवान साहब के डेरे पर जा पहुँचा, इस भाँति काँपता और हिचकता जैसे कोई बालक दामिनी की चमक से चौंक-चौंक कर आँख बंद कर लेता है कि कहीं वह चमक न जाय, कहीं मैं उसकी चमक न देख लूँ; भोला-भाला किसान भी अदालत के सामने इतना सशंक न होता होगा। यथार्थ यह था कि मेरी आत्मा परास्त हो चुकी थी, उसमें अब प्रतिकार की शक्ति न रही थी।

दीवान साहब ने मुझसे हाथ मिलाया और कोई घंटे भर तक आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर वार्तालाप करते रहे। मुझे उनकी बहुज्ञता पर आश्चर्य होता था। ऐसा वाक् चतुर पुरुष मैंने कभी न देखा था। साठ वर्ष की वयस थी, पर हास्य और विनोद के मानों भंडार थे। न जाने कितने श्लोक, कितने कवित्त, कितने शेर उन्हें याद थे। बात-बात पर कोई न कोई सुयुक्ति निकाल लाते थे। खेद है उस प्रकृति के लोग अब गायब होते जाते हैं। वह शिक्षा प्रणाली न जाने कैसी थी, जो ऐसे-ऐसे रत्न उत्पन्न करती थी। अब तो सजीवता कहीं दिखायी ही नहीं देती। प्रत्येक प्राणी चिन्ता की मूर्ति है, उसके होंठों पर कभी हँसी आती ही नहीं। खैर, दीवान साहब ने पहले चाय मँगवायी, फिर फल और मेवे मँगवाये। मैं रह-रह कर इधर-उधर उत्सुक नेत्रों से देखता था। मेरे कान उसके स्वर का रसपान करने के लिए मुँह खोले हुए थे, आँखें द्वार की ओर लगी हुई थीं। भय भी था और लगाव भी, झिझक भी थी और खिंचाव भी। बच्चा झूले से डरता है पर उस पर बैठना भी चाहता है।

लेकिन रात के नौ बज गये, मेरे लोटने का समय आ गया। मन में लज्जित हो रहा था कि दीवान साहब दिल में क्या कह रह होंगे। सोचते होंगे इसे कोई काम नहीं है ? जाता क्यों नहीं, बैठे-बैठे दो ढाई घंटे तो हो गये।

सारी बातें समाप्त हो गयीं। उनके लतीफे भी खत्म हो गये। वह नीरवता उपस्थित हो गयी, जो कहती है कि अब चलिए फिर मुलाकात होगी। यार जिंदा व सोहबत बाकी। मैंने कई बार उठने का इरादा किया, लेकिन इंतजार में आशिक की जान भी नहीं निकलती, मौत को भी इंतजार का सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि साढ़े नौ बज गये और अब मुझे विदा होने के सिवाय कोई मार्ग न रहा, जैसे दिल बैठ गया।

जिसे मैंने भय कहा है, वह वास्तव में भय नहीं था, वह उत्सुकता की चरम सीमा थी।

यहाँ से चला तो ऐसा शिथिल और निर्जीव था मानो प्राण निकल गये हों। अपने को धिक्कारने लगा। अपनी क्षुद्रता पर लज्जित हुआ। तुम समझते हो कि हम भी कुछ हैं। यहाँ किसी को तुम्हारे मरने-जीने की परवाह नहीं। माना उसके लक्षण क्वाँरियों के-से हैं। संसार में क्वाँरी लड़कियों की कमी नहीं। सौंदर्य भी ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं। अगर प्रत्येक रूपवती और क्वाँरी युवती को देख कर तुम्हारी वही हालत होती रही तो ईश्वर ही मालिक है।

वह भी तो अपने दिल में यही विचार करती होगी। प्रत्येक रूपवान युवक पर उसकी आँखें क्यों उठें। कुलवती स्त्रियों के यह ढंग नहीं होते। पुरुषों के लिए अगर यह रूप-तृष्णा निंदाजनक है तो स्त्रियों के लिए विनाश कारक है। द्वैत से अद्वैत को भी इतना आघात नहीं पहुँच सकता, जितना सौंदर्य को।

दूसरे दिन शाम को मैं अपने बरामदे में बैठा पत्र देख रहा था। क्लब जाने को भी जी नहीं चाहता था। चित्त कुछ उदास था। सहसा मैंने दीवान साहब को फिटन पर आते देखा। मोटर से उन्हें घृणा थी। वह उसे पैशाचिक उड़नखटोला कहा करते थे। उसके बगल में सुशीला थी। मेरा हृदय धक्-धक् करने लगा। उसकी निगाह मेरी तरफ उठी हो या न उठी हो, पर मेरी टकटकी उस वक्त तक लगी रही जब तक फिटन अदृश्य न हो गयी।

तीसरे दिन मैं फिर बरामदे में आ बैठा। आँखें सड़क की ओर लगी हुई थीं। फिटन आयी और चली गयी। अब यही उसका नित्यप्रति का नियम हो गया है। मेरा अब यही काम था कि सारे दिन बरामदे में बैठा रहूँ। मालूम नहीं फिटन कब निकल जाय। विशेषतः तीसरे पहर तो मैं अपनी जगह से हिलने का नाम भी न लेता था।

इस प्रकार एक मास वीत गया। मुझे अब कौंसिल के कामों में कोई उत्साह न था। समाचार पत्रों में, उपन्यासों में जी न लगता। कहीं सैर करने का भी जी न चाहता। प्रेमियों को न जाने जंगल-पहाड़ में भटकने की, काँटों में उलझने की सनक कैसे सवार होती है। मेरे तो जैसे पैरों में बेड़ियाँ-सी पड़ गयी थीं। बस बरामदा था और मैं, और फिटन का इंतजार। मेरी विचारशक्ति भी शायद अंतर्धान हो गयी थी। मैं दीवान साहब को या अँगरेजी शिष्टता के अनुसार सुशीला को ही, अपने यहाँ निमंत्रित कर सकता था, पर वास्तव में मैं अभी तक उससे भयभीत था। अब भी लज्जावती को अपनी प्रणयिनी समझता था। वह अब भी मेरे हृदय की रानी थी, चाहे उस पर किसी दूसरी शक्ति का अधिकार ही क्यों न हो गया हो !

एक महीना और निकल गया, लेकिन मैंने लज्जा को कोई पत्र न लिखा। मुझमें अब उसे पत्र लिखने की भी सामर्थ्य न थी। शायद उससे पत्र व्यवहार करने को मैं नैतिक अत्याचार समझता था। मैंने उससे दगा की थी। मुझे अब उसे अपने मलिन अंतःकरण में भी अपवित्र करने का कोई अधिकार न था। इसका अन्त क्या होगा ? यही चिंता अहर्निश मेरे मन पर कुहर मेघ की भाँति शून्य हो गयी थी। चिंता-दाह से दिनोंदिन घुलता जाता था। मित्रजन अक्सर पूछा करते आपको क्या मरज है ? मुख निस्तेज, कांतिहीन हो गया।

भोजन औषधि के समान लगता। सोने जाता तो जान पड़ता, किसी ने पिंजरे में बंद कर दिया है। कोई मिलने आता तो चित्त उससे कोसों भागता। विचित्र दशा थी।

एक दिन शाम को दीवान साहब की फिटन मेरे द्वार पर आ कर रुकी। उन्होंने अपने व्याख्यानों का एक संग्रह प्रकाशित कराया था। उसकी प्रति मुझे भेंट करने के लिये आये थे। मैंने उन्हें बैठने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन उन्होंने यही कहा, सुशीला को यहाँ आने में संकोच होगा और फिटन पर अकेली वह घबरायेगी। वह चले तो मैं भी साथ हो लिया और फिटन तक पीछे-पीछे आया। जब वह फिटन पर बैठने लगे तो मैंने सुशीला को निःशंक हो आँख भर कर देखा, जैसे कोई प्यासा पथिक गर्मी के दिन में अफर कर पानी पिये कि न जाने कब उसे जल मिलेगा। मेरी उस एक चितवन में उग्रता, वह याचना, वह उद्वेग, वह करुणा, वह श्रद्धा, वह आग्रह, वह दीनता थी, जो पत्थर की मूर्ति को भी पिघला देती। सुशीला तो फिर स्त्री थी। उसने भी मेरी ओर देखा, निर्भीक सरल नेत्रों से, जरा भी झेंप नहीं, जरा भी झिझक नहीं। मेरे परास्त होने में जो कसर रह गयी थी, वह पूरी हो गयी। इसके साथ उसने मुझ पर मानों अमृत वर्षा कर दी। मेरे हृदय और आत्मा में एक नयी शक्ति का संचार हो गया। मैं लौटा तो ऐसा प्रसन्नचित्त था मानो कल्पवृक्ष मिल गया हो।

एक दिन मैंने प्रोफेसर भाटिया को पत्र लिखा—मैं थोड़े दिनों से किसी गुप्त रोग से ग्रस्त हो गया हूँ। सम्भव है, तपेदिक (क्षय) का आरम्भ हो इसलिए मैं इस मई में विवाह करना उचित नहीं समझता। मैं लज्जावती से इस भांति पराङ्मुख होना चाहता था कि उनकी निगाहों में मेरी इज्जत कम न हो। मैं कभी-कभी अपनी स्वार्थपरता पर क्रुद्ध होता। लज्जा के साथ यह छल-कपट, यह बेवफ़ाई करते हुए मैं अपनी ही नज़रों में गिर गया था। लेकिन मन पर कोई वश न था। उस अबला को कितना दुःख होगा, यह सोच कर मैं कई बार रोया। अभी तक मैं सुशीला के स्वभाव, विचार, मनोवृत्तियों से जरा भी परिचित न था। केवल उसके रूप-लावण्य पर अपनी लज्जा की चिरसंचित अभिलाषाओं का बलिदान कर रहा था। अबोध बालकों की भाँति मिठाई के नाम पर अपने दूध-चावल को ठुकराये देता था। मैंने प्रोफेसर को लिखा था, लज्जावती से मेरी बीमारी का जिक्र न करें, लेकिन प्रोफेसर साहब इतने गहरे न थे। चौथे ही दिन लज्जा का पत्र आया, जिसमें उसने अपना हृदय खोल कर रख दिया था। वह मेरे लिए सब कुछ यहाँ तक कि वैधव्य की यंत्रणाएँ भी सहने के लिए तैयार थी। उसकी इच्छा थी कि अब हमारे संयोग में एक क्षण का भी विलम्ब न हो, अस्तु ! इस पत्र को लिये घंटों एक संज्ञाहीन दशा में बैठा रहा। इस अलौकिक आत्मोत्सर्ग के सामने अपनी क्षुद्रता, अपनी स्वार्थपरता, अपनी दुर्बलता कितनी घृणित थी !

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'मर्यादा', मई, 1922 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। उर्दू रूप 'शिकस्त की फतह' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'हजार दास्तां' में जुलाई, 1922 में प्रकाशित।]

स्वत्व-रक्षा

मीर दिलावर अली के पास एक बड़ी रास का कुम्मैत घोड़ा था। कहते तो वह यही थे कि मैंने अपनी जिन्दगी की आधी कमाई इस पर खर्च की है, पर वास्तव में उन्होंने इसे पलटन में सस्ते दामों मोल लिया था। यों कहिए कि यह पलटन का निकाला हुआ घोड़ा था। शायद पलटन के अधिकारियों ने इसे अपने यहाँ रखना उचित न समझ कर नीलाम कर दिया था। मीर साहब कचहरी में मोहर्रिर थे। शहर के बाहर मकान था। कचहरी तक आने में तीन मील की मंजिल तय करनी पड़ती थी, एक जानवर की फिक्र थी। यह घोड़ा सुभीते से मिल गया, ले लिया। पिछले तीन वर्षों से वह मीर साहब की ही सवारी में था। देखने में तो उसमें कोई ऐब न था, पर कदाचित् आत्म-सम्मान की मात्रा अधिक थी। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध या अपमान-सूचक काम में लगाना दुस्तर था। खैर, मीर साहब ने सस्ते दामों में कलाँ रास का घोड़ा पाया, तो फूले न समाये। ला कर द्वार पर बाँध दिया। साईस का इंतजाम करना कठिन था। बेचारे खुद ही शाम-सबेरे उस पर दो-चार हाथ फेर लेते थे। शायद घोड़ा इस सम्मान से प्रसन्न होता था। इसी कारण रातिब की मात्रा बहुत कम होने पर भी वह असंतुष्ट नहीं जान पड़ता था। उसे मीर साहब से कुछ सहानुभूति हो गयी थी। इस स्वामिभक्ति में उसका शरीर बहुत क्षीण हो चुका था; पर वह मीर साहब को नियत समय पर प्रसन्नतापूर्वक कचहरी पहुँचा दिया करता था। उसकी चाल उसके आत्मिक संतोष की द्योतक थी। दौड़ना वह अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के प्रतिकूल समझता था। उसकी दृष्टि में उच्छृंखलता थी। स्वामिभक्ति में उसने अपने कितने ही चिर-संचित स्वत्वों का बलिदान कर दिया था। अब अगर किसी स्वत्व से प्रेम था तो वह रविवार का शांतिनिवास था। मीर साहब इतवार को कचहरी न जाते थे। घोड़े को मलते, नहलाते, तैराते थे। इसमें उसे हार्दिक आनंद प्राप्त होता था। वहाँ कचहरी में पेड़ के नीचे बँधे हुए सूखी घास पर मुँह मारना पड़ता था, लू से सारा शरीर झुलस जाता था, कहाँ इस दिन छप्परों की शीतल छाँह में हरी-हरी दूब खाने को मिलती थी। अतएव इतवार को आराम वह अपना हक समझता था और मुमकिन न था कि कोई उसका यह हक छीन सके। मीर साहब ने कभी-कभी बाजार जाने के लिए इस दिन उस पर सवार होने की चेष्टा की, पर इस उद्योग में बुरी तरह मुँह की खायी। घोड़े ने मुँह में लगाम तक न ली। अंत को मीर साहब ने अपनी हार स्वीकार कर ली। वह उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचा कर अपने अवयवों को परीक्षा में न डालना चाहते थे।

2

मीर साहब के पड़ोस में एक मुंशी सौदागरलाल रहते थे। उनका भी कचहरी से कुछ सम्बन्ध था। वह मुहर्रिर न थे, कर्मचारी भी न थे। उन्हें किसी ने कभी कुछ लिखते-पढ़ते न देखा था। पर उनका वकीलों और मुख्तारों के समाज में बड़ा मान था। मीर साहब से उनकी दाँत-काटी रोटी थी।

जेठ का महीना था। बारातों की धूम थी। बाजे वाले सीधे मुँह बात न करते थे। आतिशबाज के द्वार पर गरज के बावले लोग चर्खी की भाँति चक्कर लगाते थे। भाँड़ और

कथक लोगों को उँगलियों पर नचाते थे। पालकी के कहार पत्थर के देवता बने हुए थे, भेंट ले कर भी न पसीजते थे। इसी सहालोगों की धूम में मुंशीजी ने भी लड़के का विवाह ठान दिया। दबाव वाले आदमी थे। धीरे-धीरे बारात का सब सामान जुटा तो लिया, पर पालकी का प्रबंध न कर सके। कहारों ने ऐन वक्त पर बयाना लौटा दिया। मुंशी जी बहुत गरम पड़े, हरजाने की धमकी दी, पर कुछ फल न हुआ। विवश होकर यही निश्चय किया कि वर को घोड़े पर बिठा कर वर-यात्रा की रस्म पूरी कर ली जायँ। छह बजे शाम को बारात चलने का मुहूर्त था। चार बजे मुंशी ने आ कर मीर साहब से कहा—यार अपना घोड़ा दे दो, वर को स्टेशन तक पहुँचा दें। पालकी तो कहीं मिलती नहीं।

मीरसाहब—आपको मालूम नहीं, आज इतवार का दिन है।

मुंशी जी—मालूम क्यों नहीं है, पर आखिर घोड़ा ही तो ठहरा। किसी न किसी तरह स्टेशन तक पहुँचा ही देगा। कौन दूर जाना है ?

मीरसाहब—यों आपका जानवर है ले जाइए। पर मुझे उम्मीद नहीं कि आज वह पुट्ठे पर हाथ तक रखने दे।

मुंशी जी—अजी मार के आगे भूत भागता है। आप डरते हैं। इसलिए आप से बदमाशी करता है। बच्चा पीठ पर बैठ जायँगे तो कितना ही उछले-कूदे पर उन्हें हिला न सकेगा।

मीरसाहब—अच्छी बात है, जाइए। और अगर उसकी यह जिद आप लोगों ने तोड़ दी, तो मैं आप का बड़ा एहसान मानूँगा।

3

मगर ज्यों ही मुंशी जी अस्तबल में पहुँचे, घोड़े ने शशंक नेत्रों से देखा और एक बार हिनहिना कर घोषित किया कि तुम आज मेरी शांति में विघ्न डालने वाले कौन होते हो। बाजे की धड़-धड़, पों-पों से वह उत्तेजित हो रहा था। मुंशी जी ने जब पगहे को खोलना शुरू किया तो उसने कनौतियाँ खड़ी कीं और अभिमानसूचक भाव से हरी-हरी घास खाने लगा।

लेकिन मुंशी जी भी चतुर खिलाड़ी थे। तुरंत घर से थोड़ा-सा दाना मँगवाया और घोड़े के सामने रख दिया। घोड़े ने इधर बहुत दिनों से दाने की सूरत न देखी थी ! बड़ी रुचि से खाने लगा और तब कृतज्ञ नेत्रों से मुंशी जी की ओर ताका, मानो अनुमति दी कि मुझे आप के साथ चलने में कोई आपत्ति नहीं है।

मुंशी जी के द्वार पर बाजे बज रहे थे। वर वस्त्राभूषण पहने हुए घोड़े की प्रतीक्षा कर रहा था। मुहल्ले की स्त्रियाँ उसे विदा करने के लिए आरती लिये खड़ी थीं। पाँच बज गये थे। सहसा मुंशी जी घोड़ा लाते हुए दिखायी दिये। बाजे वालों ने आगे की तरफ कदम बढ़ाया। एक आदमी मीर साहब के घर से दौड़ कर साज लाया।

घोड़े को खींचने की ठहरी, मगर वह लगाम देख कर मुँह फेर लेता था। मुंशी जी ने चुमकारा-पुचकारा, पीठ सहलायी, फिर दाना दिखलाया। पर घोड़े ने मुँह तक न खोला, तब उन्हें क्रोध आ गया। ताबड़तोड़ कई चाबुक लगाये। घोड़े ने जब अब भी मुँह में लगाम न ली, तो उन्होंने उसके नथनों पर चाबुक के बेंत से कई बार मारा। नथनों से खून निकलने लगा। घोड़े ने इधर-उधर दीन और विवश आँखों से देखा। समस्या कठिन थी। इतनी मार

उसने कभी न खायी थी। मीर साहब की अपनी चीज थी। यह इतनी निर्दयता से कभी न पेश आते थे। सोचा मुँह नहीं खोलता तो नहीं मालूम और कितनी मार पड़े। लगाम ले ली। फिर क्या था, मुंशी जी की फतह हो गयी। उन्होंने तुरंत जीन भी कस दी। दूल्हा कूद कर घोड़े पर सवार हो गया।

4

जब वर ने घोड़े की पीठ पर आसन जमा लिया, तो घोड़ा मानो नींद से जागा। विचार करने लगा, थोड़े-से दाने के बदले अपने इस स्वत्व से हाथ धोना एक कटोरे कढ़ी के लिए अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को बेचना है। उसे याद आया कि मैं कितने दिनों से आज के दिन आराम करता रहा हूँ, तो आज क्यों यह बेगार करूँ ? ये लोग मुझे न जाने कहाँ ले जायँगे, लौंडा आसन का पक्का जान पड़ता है, मुझे दौड़ायेगा, एँड़ लगायेगा, चाबुक से मार-मार कर अधमुँआ कर देगा, फिर न जाने भोजन मिले या नहीं। यह सोच-विचार कर उसने निश्चय किया कि मैं यहाँ से कदम न उठाऊँगा। यही न होगा मारेंगे, सवार को लिये हुए जमीन पर लोट जाऊँगा। आप ही छोड़ देंगे। मेरे मालिक मीर साहब भी तो यहीं कहीं होंगे। उन्हें मुझ पर इतनी मार पड़ती कभी पसंद न आयेगी कि कल उन्हें कचहरी भी न ले जा सकूँ।

वर ज्यों ही घोड़े पर सवार हुआ स्त्रियों ने मंगलगान किया, फूलों की वर्षा हुई। बारात के लोग आगे बढ़े। मगर घोड़ा ऐसा अड़ा कि पैर ही नहीं उठाता। वर उसे एँड़ लगाता है, चाबुक मारता है, लगाम को झटके देता है, मगर घोड़े के कदम मानों जमीन में ऐसे गड़ गये हैं कि उखड़ने का नाम नहीं लेते।

मुंशी जी को ऐसा क्रोध आता था कि अपना जानवर होता तो गोली मार देते। मित्र ने कहा—अड़ियल जानवर है, यों न चलेगा। इसके पीछे से डंडे लगाओ, आप दौड़ेगा।

मुंशी जी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पीछे से जाकर कई डंडे लगाये, पर घोड़े ने पैर न उठाये, उठाये तो भी अगले पैर, और आकाश की ओर। दो-एक बार पिछले पैर भी, जिससे विदित होता था कि वह बिलकुल प्राणहीन नहीं है। मुंशी जी बाल-बाल बच गये।

तब दूसरे मित्र ने कहा—इसकी पूँछ के पास एक जलता हुआ कुंदा जलाओ, आँच के डर से भागेगा।

यह प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ। फल यह हुआ कि घोड़े की पूँछ जल गयी। वह दो-तीन बार उछला-कूदा पर आगे न बढ़ा। पक्का सत्याग्रही था कदाचित् इन यंत्रणाओं ने उसके संकल्प को और भी दृढ़ कर दिया।

इतने में सूर्यास्त होने लगा। पंडित जी ने कहा—"जल्दी कीजिए नहीं तो मुहूर्त टल जायगा।" लेकिन अपने वश की बात तो थी नहीं। जल्दी कैसे होती। बाराती लोग गाँव के बाहर जा पहुँचे। यहाँ स्त्रियों और बालकों का मेला लग गया। लोग कहने लगे "कैसा घोड़ा है कि पग ही नहीं उठाता।" एक अनुभवी महाशय ने कहा—"मार-पीट से काम न चलेगा। थोड़ा-सा दाना मँगवाइए। एक आदमी इसके सामने तोबड़े में दाना दिखाता हुआ चले। दाने के लालच से खट-खट चला जायगा।" मुंशी जी ने यह उपाय भी करके देखा पर सफल मनोरथ न हुए। घोड़ा अपने स्वत्व को किसी दाम पर बेचना न चाहता था। एक

महाशय ने कहा—"इसे थोड़ी-सी शराब पिला दीजिए, नशे में आ कर खूब चौकड़ियाँ भरने लगेगा।" शराब की बोतल आयी। एक तसले में शराब उँड़ेल कर घोड़े के सामने रखी गयी, पर उसने सूँघी तक नहीं।

अब क्या हो ? चिराग जल गये मुहूर्त टल चुका था। घोड़ा यह नाना दुर्गतियाँ सह कर दिल में खुश होता था और अपने सुख में विघ्न डालनेवाले की दुरवस्था और व्यग्रता का आनंद उठा रहा था। उसे इस समय इन लोगों की प्रयत्नशीलता पर एक दार्शनिक आनंद प्राप्त हो रहा था। देखें आप लोग अब क्या करते हैं। वह जानता था कि अब मार खाने की सम्भावना नहीं है। लोग जान गये कि मारना व्यर्थ है। वह केवल अपनी सुयुक्तियों की विवेचना कर रहा था।

पाँचवें सज्जन ने कहा—अब एक ही तरकीब और है। वह जो खेत में खाद फेंकने की दो-पहिया गाड़ी होती है, उसे घोड़े के सामने ला कर रखिये। इसके दोनों अगले पैर उसमें रख दिये जायँ और हम लोग गाड़ी को खींचें। तब तो जरूर ही उसके पैर उठ जायेंगे। अगले पैर आगे बढ़े तो पिछले पैर भी झख मार कर उठेंगे ही। घोड़ा चल निकलेगा।

मुंशी जी डूब रहे थे। कोई तिनका सहारे के लिए काफी था। दो आदमी गये। दो-पहिया गाड़ी निकाल लाये। वर ने लगाम तानी। चार-पाँच आदमी घोड़े के पास डंडे ले कर खड़े हो गये। दो आदमियों ने उसके अगले पाँव जबरदस्ती उठाकर गाड़ी पर रक्खे। घोड़ा अभी तक यह समझ रहा था कि मैं यह उपाय भी न चलने दूँगा, लेकिन जब गाड़ी चली, तो उसके पिछले पैर आप ही आप उठ गये। उसे ऐसा जान पड़ा, मानों पानी में बहा जा रहा हूँ। कितना ही चाहता था कि पैरों को जमा लूँ पर कुछ अक्ल काम न करती थी। चारों ओर शोर मचा—'चला-चला।' तालियाँ पड़ने लगीं ! लोग ठट्ठे मार-मार हँसने लगे। घोड़े को यह उपहास और यह अपमान असह्य था, पर करता क्या? हाँ, उसने धैर्य न छोड़ा। मन में सोचा इस तरह कहाँ तक ले जायेंगे। ज्यों ही गाड़ी रुकेगी मैं भी रुक जाऊँगा। मुझसे बड़ी भूल हुई मुझे गाड़ी पर पैर ही न रखना चाहिए था।

अंत में वही हुआ जो उसने सोचा था। किसी तरह लोगों ने सौ कदम तक गाड़ी खींची, आगे न खींच सके। सौ-दो सौ कदम ही खींचना होता, तो शायद लोगों की हिम्मत बँध जाती पर स्टेशन पूरे तीन मील पर था। इतनी दूर घोड़े को खींच ले जाना दुस्तर था। ज्यों ही गाड़ी रुकी घोड़ा भी रुक गया ! वर ने फिर लगाम को झटके दिये, एँड़ लगायी। चाबुकों की वर्षा कर दी, पर घोड़े ने अपनी टेक न छोड़ी। उसके नथनों से खून निकल रहा था, चाबुकों से सारा शरीर छिल गया था, पिछले पैरों में घाव हो गये थे, पर वह दृढ़-प्रतिज्ञ घोड़ा अपनी आन पर अड़ा हुआ था।

5

पुरोहित ने कहा—"आठ बज गये। मुहूर्त टल गया।" दीन-दुर्बल घोड़े ने मैदान मार लिया। मुंशी जी क्रोधोन्मत्त होकर रो पड़े। वर एक कदम भी पैदल नहीं चल सकता। विवाह के अवसर पर भूमि पर पाँव रखना वर्जित है, प्रतिष्ठा भंग होती है, निंदा होती है, कुल को कलंक लगता है पर अब पैदल चलने के सिवाय अन्य उपाय न था। आ कर घोड़े के सामने खड़े हो गए और कुंठित स्वर से बोले—महाशय, अपना भाग्य बखानो कि मीर

साहब के घर हो। यदि मैं तुम्हारा मालिक होता तो तुम्हारी हड्डी-पसली का पता न लगता इसके साथ ही मुझे आज मालूम हुआ कि पशु भी अपनी स्वत्व की रक्षा किस प्रकार कर सकता है। मैं न जानता था, तुम व्रतधारी हो। बेटा, उतरो, बारात स्टेशन पहुँच रही होगी। चलो पैदल ही चलें। हम आपस ही के दस-बारह आदमी हैं, हँसने वाला कोई नहीं। ये रंगीन कपड़े उतार दो। रास्ते में लोग हँसेंगे कि पाँव-पाँव ब्याह करने जाता है। चल बे अड़ियल घोड़े, तुझे मीर साहब के हवाले कर आऊँ।

[हिन्दी कहानी। 'माधुरी' में जुलाई, 1922 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

अधिकार-चिन्ता

टामी यों देखने में तो बहुत तगड़ा था। भूँकता तो सुननेवाले के कानों के परदे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात में उस पर गधे का भ्रम हो जाता। लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी संग्रामक्षेत्र में प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफे जब बाजार के लेंडियों ने उसे चुनौती दी, तो वह उनका गर्व-मर्दन करने के लिए मैदान में आया; और देखनेवालों का कहना है कि जब तक लड़ा, जीवट से लड़ा, नखों और दाँतों से ज्यादा चोटें उसकी दुम ने कीं। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहा, किंतु जब उस दल को कुमक मँगानी पड़ी, तो रण-शास्त्र के नियमों के अनुसार विजय का श्रेय टामी ही को देना उचित न्यायानुकूल जान पड़ता है। टामी ने उस अवसर पर कौशल से काम लिया और दाँत निकाल दिये, जो संधि की याचना थी। किंतु तब से उसने ऐसे सन्नीति-विहीन प्रतिद्वंद्वियों के मुँह लगना उचित न समझा।

इतना शांति-प्रिय होने पर भी टामी के शत्रुओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती थी। उसके बराबरवाले उससे इसलिए जलते कि वह इतना मोटा-ताजा हो कर इतना भीरु क्यों है। बाजारी दल इसलिए जलता कि टामी के मारे घूरों पर की हड्डियाँ भी न बचने पाती थीं। वह घड़ी-रात रहे उठता और हलवाइयों की दूकानों के सामने के दोने और पत्तल, कसाईखाने के सामने की हड्डियाँ और छीछड़े चबा डालता। अतएव इतने शत्रुओं के बीच में रह कर टामी का जीवन संकटमय होता जाता था। महीनों बीत जाते और पेट भर भोजन न मिलता। दो-तीन बार उसे मनमाने भोजन करने की ऐसी प्रबल उत्कंठा हुई कि उसने संदिग्ध साधनों द्वारा उसको पूरा करने की चेष्टा की; पर जब परिणाम आशा के प्रतिकूल हुआ और स्वादिष्ट पदार्थों के बदले अरुचिकर दुर्ग्राह्य वस्तुएँ भरपेट खाने को मिलीं—जिससे पेट के बदले कई दिन तक पीठ में विषम वेदना होती रही—तो उसने विवश हो कर फिर सन्मार्ग का आश्रय लिया। पर डंडों से पेट चाहे भर गया हो, वह उत्कंठा शांत न हुई। वह किसी ऐसी जगह जाना चाहता था, जहाँ खूब शिकार मिले; खरगोश, हिरन, भेड़ों के बच्चे मैदानों में विचर रहे हों और उनका कोई मालिक न हो, जहाँ किसी प्रतिद्वंद्वी की गंध तक न हो; आराम करने को सघन वृक्षों की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल। वहाँ मनमाना शिकार करूँ, खाऊँ और मीठी नींद सोऊँ। वहाँ चारों ओर मेरी धाक बैठ जाय; सब

पर ऐसा रोब छा जाय कि मुझी को अपना राजा समझने लगें और धीरे-धीरे मेरा ऐसा सिक्का बैठ जाय कि किसी द्वेषी को वहाँ पैर रखने का साहस ही न हो।

संयोगवश एक दिन वह इन्हीं कल्पनाओं के सुख स्वप्न देखता हुआ सिर झुकाये सड़क छोड़ कर गलियों से चला जा रहा था कि सहसा एक सज्जन से उसकी मुठभेड़ हो गयी। टामी ने चाहा कि बच कर निकल जाऊँ, पर वह दुष्ट इतना शांतिप्रिय न था। उसने तुरंत झपट कर टामी का टेटुआ पकड़ लिया। टामी ने बहुत अनुनय-विनय की, गिड़गिड़ा कर कहा—ईश्वर के लिए मुझे यहाँ से चले जाने दो; कसम ले लो, जो इधर पैर रखूँ। मेरी शामत आयी थी कि तुम्हारे अधिकार क्षेत्र में चला आया। पर उस मदांध और निर्दय प्राणी ने जरा भी रिआयत न की। अंत में हार कर टामी ने गर्दभ स्वर में फरियाद करनी शुरू की। यह कोलाहल सुन कर मोहल्ले के दो-चार नेता लोग एकत्र हो गये; पर उन्होंने भी दीन पर दया करने के बदले उलटे उसी पर दंत-प्रहार करना शुरू किया। इस अन्यायपूर्ण व्यवहार ने टामी का दिलतोड़ दिया। वह जान छुड़ा कर भागा। उन अत्याचारी पशुओं ने बहुत दूर तक उसका पीछा किया, यहाँ तक कि मार्ग में एक नदी पड़ गयी और टामी ने उसमें कूद कर अपनी जान बचायी।

कहते हैं, एक दिन सबके दिन फिरते हैं। टामी के दिन भी नदी में कूदते ही फिर गये। कूदा था जान बचाने के लिए, हाथ लग गये मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, तो वहाँ उसकी चिर-संचित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रही थीं।

2

यह एक विस्तृत मैदान था। जहाँ तक निगाह जाती थी, हरियाली की छटा दिखायी देती थी। कहीं नालों का मधुर कलरव था, कहीं झरनों का मंद गान; कहीं वृक्षों के सुखद पुंज थे, कहीं रेत के सपाट मैदान। बड़ा सुरम्य मनोहर दृश्य था।

यहाँ बड़े तेज नखोंवाले पशु थे, जिनकी सूरत देख कर टामी का कलेजा दहल उठता था, पर उन्होंने टामी की कुछ परवा न की। वे आपस में नित्य लड़ा करते थे; नित्य खून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयंकर जंतुओं से पेश न पा सकूँगा। उसने कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लड़नेवाले पशुओं में एक घायल और मुर्दा होकर गिर पड़ता, तो टामी लपक कर मांस का कोई टुकड़ा ले भागता और एकांत में बैठ कर खाता। विजयी पशु विजय के उन्माद में उसे तुच्छ समझ कर कुछ न बोलता।

अब क्या था, टामी के पौ-बारह हो गये। सदा दीवाली रहने लगी। न गुड़ की कमी थी, न गेहूँ की। नित्य नये पदार्थ उड़ाता और वृक्षों के नीचे आनंद से सोता। उसने ऐसे सुख स्वर्ग की कल्पना भी न की थी। वह मर कर नहीं, जीते जी स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों में पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गयी। उसका शरीर तेजस्वी और सुगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ करने लगा। जंगल के जंतु अब चौंके और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगे। टामी ने एक नयी चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता, तुम्हारा फलाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है; किसी से कहता, फलाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जंतु उसके चकमे में आ कर आपस में लड़ जाते और टामी की चाँदी हो जाती। अंत में यहाँ तक

नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जंतुओं का नाश हो गया। छोटे-मोटे पशुओं का उससे मुकाबला करने का साहस न होता था। उसकी उन्नति और शक्ति देख कर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाजी के जौहर दिखा कर उनकी इस भ्रांति को पुष्ट किया करता था। बड़े गर्व से कहता—"परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिए भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घर में पड़े रहो। मैं तुमसे कुछ न बोलूँगा, केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कारस्वरूप तुममें से एकाध का शिकार कर लिया करूँगा। आखिर मेरे भी तो पेट है; बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा।" वह अब बड़ी शान से जंगल में चारों ओर गौरवान्वित दृष्टि से ताकता हुआ विचरा करता।

टामी को अब कोई चिंता थी तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। वह सजग और सशस्त्र रहने लगा। ज्यों-ज्यों दिन गुजरते थे और सुख-भोग का चसका बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसकी चिंता भी बढ़ती जाती थी। बस अब बहुधा रात को चौंक पड़ता और किसी अज्ञात शत्रु के पीछे दौड़ता। अक्सर "अंधा कूकुर बात से भूँके" वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करता। वन के पशुओं से कहता—"ईश्वर न करे कि तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ; सदैव तुम्हारी शुभ-कामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रखो।" पशु एक स्वर में कहते, जब तक हम जियेंगे, आप ही के अधीन रहेंगे।"

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण भर भी शांति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात दिन-दिन भर नदी के किनारे इधर से उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता, बेदम हो जाता; मगर चित्त को शांति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आये।

लेकिन क्वार का महीना आया तो टामी का चित्त एक बार फिर अपने पुराने सहचरी से मिलने के लिए लालायित होने लगा। वह अपने मन को किसी भाँति रोक न सका। वह दिन याद आया जब वह दो-चार मित्रों के साथ किसी प्रेमिका के पीछे गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाता था। दो-चार दिन तो उसने सब्र किया, पर अन्त में आवेग इतना प्रबल हुआ कि वह तकदीर ठोंक कर खड़ा हुआ। उसे अब अपने तेज और बल पर अभिमान भी था। दो-चार को तो वही मजा चखा सकता था।

किन्तु नदी के इस पार आते ही उसका आत्मविश्वास प्रातःकाल के तम के समान फटने लगा। उसकी चाल मन्द पड़ गयी, आप ही आप सिर झुक गया, दुम सिकुड़ गयी। मगर एक प्रेमिका को आते देख कर वह विह्वल हो उठा; उसके पीछे हो लिया। प्रेमिका को उसकी वह कुचेष्टा अप्रिय लगी। उसने तीव्र स्वर से उसकी अवहेलना की। उसकी आवाज सुनते ही उसके कई प्रेमी आ पहुँचे और टामी को वहाँ देखते ही जामे से बाहर हो गये। टामी सिटपिटा गया। अभी निश्चय न कर सका था कि क्या करूँ कि चारों ओर से उस पर दाँतों और नखों की वर्षा होने लगी। भागते ही न बन पड़ा। देह लहूलुहान हो गयी। भागा भी, तो शैतानों का एक दल पीछे था।

उस दिन से उसके दिल में शंका-सी समा गयी। हर घड़ी यह भय लगा रहता कि

आक्रमणकारियों का दल मेरे सुख और शांति में बाधा डालने के लिए मेरे स्वर्ग को विध्वंस करने के लिये आ रहा है। यह शंका पहले भी कम न थी; अब और भी बढ़ गयी।

एक दिन उसका चित्त भय से इतना व्याकुल हुआ कि उसे जान पड़ा, शत्रु-दल आ पहुँचा। वह बड़े वेग से नदी के किनारे आया और इधर से उधर दौड़ने लगा।

दिन बीत गया, रात बीत गयी; पर उसने विश्राम न लिया। दूसरा दिन आया और गया, पर टामी निराहार, निर्जल नदी के किनारे चक्कर लगाता रहा।

इस तरह पाँच दिन बीत गये। टामी के पैर लड़खड़ाने लगे, आँखों-तले अँधेरा छाने लगा। क्षुधा से व्याकुल हो कर गिर पड़ता, पर वह शंका किसी भाँति शांत न हुई।

अन्त में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिन्ता से ग्रस्त, जर्जर और शिथिल हो कर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की; किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाये। कई दिनों तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे; अन्त में अस्थिपंजरों के सिवा और कुछ न रह गया।

[हिन्दी कहानी। 'माधुरी' में अगस्त, 1922 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित। उर्दू रूप 'फिक्रे दुनिया' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित।]

गुप्तधन

बाबू हरिदास का ईंटों का पजांवा शहर से मिला हुआ था। आसपास के देहातों से सैकड़ों स्त्री-पुरुष, लड़के नित्य आते और पजावे से ईंट सिर पर उठा कर ऊपर कतारों से सजाते। एक आदमी पजावे के पास एक टोकरी में कौड़ियाँ लिए बैठा रहता था। मजदूरों को ईंटों की संख्या के हिसाब से कौड़ियाँ बाँटता। ईंटें जितनी ही ज्यादा होतीं उतनी ही ज्यादा कौड़ियाँ मिलतीं। इस लोभ में बहुत से मजदूर बूते के बाहर काम करते। वृद्धों और बालकों को ईंटों के बोझ से अकड़े हुए देखना बहुत करुणाजनक दृश्य था। कभी-कभी बाबू हरिदास स्वंय आ कर कौड़ीवाले के पास बैठ जाते और ईंटें लादने को प्रोत्साहित करते। यह दृश्य तब और भी दारुण हो जाता था जब ईंटों की कोई असाधारण आवश्यकता आ पड़ती। उसमें मजूरी दूनी कर दी जाती और मजूर लोग अपनी सामर्थ्य से दूनी ईंटें ले कर चलते। एक-एक पग उठाना कठिन हो जाता। उन्हें सिर से पैर तक पसीने में डूबे पजावे की राख चढ़ाये ईंटों का एक पहाड़ सिर पर रखे, बोझ से दबे देख कर ऐसा जान पड़ता था मानों लोभ का भूत उन्हें जमीन पर पटक कर उनके सिर पर सवार हो गया है। सबसे करुण दशा एक छोटे लड़के की थी जो सदैव अपनी अवस्था के लड़कों से दुगनी ईंटें उठाता और सारे दिन अविश्रांत परिश्रम और धैर्य के साथ अपने काम में लगा रहता। उसके मुख पर ऐसी दीनता छायी रहती थी, उसका शरीर इतना कृश और दुर्बल था कि उसे देख कर दया आ जाती थी। और लड़के बनिये की दूकान से गुड़ ला कर खाते, कोई सड़क पर जानेवाले इक्कों और हवागाड़ियों की बहार देखता और कोई व्यक्तिगत संग्राम में अपनी जिह्वा और वाहु के जौहर दिखाता, लेकिन इस गरीब लड़के को अपने काम से काम था।

उसमें लड़कपन की न चंचलता थी, न शरारत न खिलाड़ीपन, यहाँ तक कि उसके ओठों पर कभी हँसी भी न आती थी। बाबू हरिदास को उसकी दशा पर दया आती। कभी-कभी कौड़ीवाले को इशारा करते कि उसे हिसाब से अधिक कौड़ियाँ दे दो। कभी-कभी वे उसे कुछ खाने को दे देते।

एक दिन उन्होंने उस लड़के को बुला कर अपने पास बैठाया और उसके समाचार पूछने लगे। ज्ञात हुआ कि उसका घर पास ही के गाँव में है। घर में एक वृद्धा माता के सिवा कोई नहीं है और वह वृद्धा भी किसी पुराने रोग से ग्रस्त रहती है। घर का सारा भार इसी लड़के के सिर था। कोई उसे रोटियाँ बना कर देने वाला भी न था। शाम को जाता तो अपने हाथों से रोटियाँ बनाता और अपनी माँ को खिलाता था। जाति का ठाकुर था। किसी समय उसका कुल धन-धान्य सम्पन्न था। लेन-देन होता था और शक्कर का कारखाना चलता था। कुछ जमीन भी थी किन्तु भाइयों की स्पर्धा और विद्वेष ने उसे इतनी हीनावस्था को पहुँचा दिया कि अब रोटियों के लाले थे। लड़के का नाम मगनसिंह था।

हरिदास ने पूछा—गाँववाले तुम्हारी कुछ मदद नहीं करते?

मगन—वाह, उनका वश चले तो मुझे मार डालें। सब समझते हैं कि मेरे घर में रुपये गड़े हैं।

हरिदास ने उत्सुकता से पूछा—पुराना घराना है, कुछ-न-कुछ तो होगा ही। तुम्हारी माँ ने इस विषय में तुमसे कुछ नहीं कहा ?

मगन—बाबूजी नहीं, एक पैसा भी नही। रुपये होते तो अम्माँ इतनी तकलीफ क्यों उठातीं।

2

बाबू हरिदास मगनसिंह से इतने प्रसन्न हुए कि मजूरों की श्रेणी से उठा कर अपने नौकरों में रख लिया। उसे कौड़ियाँ बाँटने का काम दिया और पजावे में मुंशी जी को ताकीद कर दी कि इसे कुछ पढ़ना-लिखना सिखाइए। अनाथ के भाग्य जाग उठे।

मगनसिंह बड़ा कर्त्तव्यशील और चतुर लड़का था। उसे कभी देर न होती, कभी नागा न होता। थोड़े ही दिनों में उसने बाबू साहब का विश्वास प्राप्त कर लिया। लिखने-पढ़ने में भी कुशल हो गया।

बरसात के दिन थे। पजावे में पानी भरा हुआ था। कारबार बंद था। मगनसिंह तीन दिनों से गैरहाजिर था। हरिदास को चिंता हुई, क्या बात है, कहीं बीमार तो नहीं हो गया, कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी ? कई आदमियों से पूछताछ की, पर कुछ पता न चला ! चौथे दिन पूछते-पूछते मगनसिंह के घर पहुँचे। घर क्या था पुरानी समृद्धि का ध्वंसावशेष मात्र था। उनकी आवाज सुनते ही मगनसिंह बाहर निकल आया। हरिदास ने पूछा—कई दिन से आये क्यों नहीं, माता का क्या हाल है ?

मगनसिंह ने अवरुद्ध कंठ से उत्तर दिया—अम्माँ आजकल बहुत बीमार है, कहती है अब न बचूँगी। कई बार आपको बुलाने के लिए मुझसे कह चुकी है, पर मैं संकोच के मारे आपके पास न आता था। अब आप सौभाग्य से आ गये हैं तो जरा चल कर उसे देख लीजिए। उसकी लालसा भी पूरी हो जाय।

हरिदास भीतर गये। सारा घर भौतिक निस्सारता का परिचायक था। सुर्खी, कंकड़, ईंटो के ढेर चारों ओर पड़े हुए थे। विनाश का प्रत्यक्ष स्वरूप था। केवल दो कोठरियाँ गुजर करने लायक थीं। मगनसिंह ने एक कोठरी की ओर उन्हें इशारे से बताया। हरिदास भीतर गये तो देखा कि वृद्धा एक सड़े हुए काठ के टुकड़े पर पड़ी कराह रही है।

उनकी आहट पाते ही आँखे खोलीं और अनुमान से पहचान गयी, बोली—आप आ गये, बड़ी दया की। आपके दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी, मेरे अनाथ बालक के नाथ अब आप ही हैं। जैसे आप ने अब तक उसकी रक्षा की है, वह निगाह उस पर सदैव बनाये रखिएगा। मेरी विपित्त के दिन पूरे हो गये। इस मिट्टी को पार लगा दीजिएगा। एक दिन घर में लक्ष्मी का वास था। अदिन आये तो उन्होंने भी आँखे फेर लीं। पुरखों ने इसी दिन के लिए कुछ थाती धरती माता को सौंप दी थी। उसका बीजक बड़े यत्न से रखा था; पर बहुत दिनों से उसका कहीं पता न लगता था। मगन के पिता ने बहुत खोजा पर न पा सके, नहीं तो हमारी दशा इतनी हीन न होती। आज तीन दिन हुए मुझे वह बीजक आप ही आप रद्दी कागजों में मिल गया। तब से उसे छिपा कर रखे हुए हूँ, मगन बाहर है ? मेरे सिरहाने जो संदूक रखी है, उसी में वह बीजक है। उसमें सब बातें लिखी हैं। उसी से ठिकाने का भी पता चलेगा। अवसर मिले तो उसे खुदवा डालिएगा। मगन को दे दीजिएगा। यही कहने के लिए आपको बार-बार बुलवाती थी। आपके सिवा मुझे किसी पर विश्वास न था। संसार से धर्म उठ गया। किसकी नीयत पर भरोसा किया जाय।

3

हरिदास ने बीजक का समाचार किसी से न कहा। नीयत बिगड़ गयी। दूध में मक्खी पड़ गयी। बीजक से ज्ञात हुआ कि धन उस घर से 500 डग पश्चिम की ओर एक मंदिर के चबूतरे के नीचे है।

हरिदास धन को भोगना चाहते थे, पर इस तरह कि किसी को कानों-कान खबर न हो। काम कष्ट-साध्य था। नाम पर धब्बा लगने की प्रबल आशंका थी जो संसार में सबसे बड़ी यंत्रणा है। कितनी घोर नीचता थी। जिस अनाथ की रक्षा की, जिसे बच्चे की भाँति पाला, उसके साथ विश्वासघात ! कई दिनों तक आत्म-वेदना की पीड़ा सहते रहे। अंत में कुतर्कों ने विवेक को परास्त कर दिया। मैंने कभी धर्म का परित्याग नहीं किया और न कभी करूँगा। क्या कोई ऐसा प्राणी भी है जो जीवन में एक बार भी विचलित न हुआ हो। यदि है तो वह मनुष्य नहीं, देवता है। मैं मनुष्य हूँ। मुझे देवताओं की पंक्ति में बैठने का दावा नहीं है।

मन को समझाना बच्चे को फुसलाना है। हरिदास साँझ को सेर करने के लिए घर से निकल जाते। जब चारों ओर सन्नाटा छा जाता तो मंदिर के चबूतरे पर आ बैठते और एक कुदाली से उसे खोदते। दिन में दो-एक बार इधर-उधर ताक-झाँक करते कि कोई चबूतरे के पास खड़ा तो नहीं है। रात की निस्तब्धता में उन्हें अकेले बैठे ईंटों को हटाते हुए उतना ही भय होता था जितना किसी भ्रष्ट वैष्णव को आमिष भोजन से होता है।

चबूतरा लम्बा-चौड़ा था। उसे खोदते एक महीना लग गया और अभी आधी मंजिल भी तय न हुई। इन दिनों उनकी दशा उस पुरुष की-सी थी जो कोई मंत्र जगा रहा हो। चित्त

पर चंचलता छायी रहती। आँखों की ज्योति तीव्र हो गयी थी। बहुत गुम-सुम रहते, मानो ध्यान में हों। किसी से बातचीत न करते, अगर कोई छेड़ कर बात करता तो झुँझला पड़ते। पजावे की ओर बहुत कम जाते। विचारशील पुरुष थे। आत्मा बार-बार इस कुटिल व्यापार से भागती, निश्चय करते कि अब चबूतरे की ओर न जाऊँगा, पर संध्या होते ही उन पर एक नशा-सा छा जाता, बुद्धि-विवेक का अपहरण हो जाता। जैसे कुत्ता मार ख़ा कर थोड़ी देर के बाद टुकड़े की लालच में जा बैठता है, वही दशा उनकी थी। यहाँ तक कि दूसरा मास भी व्यतीत हुआ।

अमावस की रात थी। हरिदास मलिन हृदय में बैठी हुई कालिमा की भाँति चबूतरे पर बैठे हुए थे। आज चबूतरा खुद जायगा। जरा देर तक और मेहनत करनी पड़ेगी। कोई चिंता नहीं। घर में लोग चिंतित हो रहे होंगे। पर अभी निश्चित हुआ जाता है कि चबूतरे के नीचे क्या है। पत्थर का तहखाना निकल आया तो समझ जाऊँगा कि धन अवश्य होगा। तहखाना न मिले तो मालूम हो जायगा कि सब धोखा ही धोखा है। कहीं सचमुच तहखाना न मिले तो बड़ी दिल्लगी हो। मुफ्त में उल्लू बनूँ। पर नहीं, क़ुदाली खट-खट बोल रही है। हाँ, पत्थर की चट्टान है। उन्होंने टटोल कर देखा। भ्रम दूर हो गया। चट्टान थी। तहखाना मिल गया; लेकिन हरिदास खुशी से उछले-कूदे नहीं।

आज वे लौटे तो सिर में दर्द था। समझे थकान है। लेकिन यह थकान नींद से न गयी। रात को ही उन्हें ज़ोर से बुखार हो गया। तीन दिन तक ज्वर में पड़े रहे। किसी दवा से फायदा न हुआ।

इस रुग्णावस्था में हरिदास को बार-बार भ्रम होता था—कहीं यह मेरी तृष्णा का दंड तो नहीं है। जी में आता था, मगनसिंह को बीजक दे दूँ और क्षमा की याचना करूँ; पर भंडाफोड़ होने का भय मुँह बंद कर देता था। न जाने ईसा के अनुयायी अपने पादरियों के सम्मुख कैसे अपने जीवन भर के पापों की कथा सुनाया करते थे।

4

हरिदास की मृत्यु के पीछे यह बीजक उनके सुपुत्र प्रभुदास के हाथ लगा। बीजक मगनसिंह के पुरखों का लिखा हुआ है, इसमें लेशमात्र भी संदेह न था। लेकिन उन्होंने सोचा—पिताजी ने कुछ सोच कर ही इस मार्ग पर पग रखा होगा। वे कितने नीतिपरायण, कितने सत्यवादी पुरुष थे। उनकी नीयत पर कभी किसी को संदेह नहीं हुआ। जब उन्होंने इस आचार को घृणित नहीं समझा तो मेरी क्या गिनती है। कहीं यह धन हाथ आ जाय तो कितने सुख से जीवन व्यतीत हो। शहर के रईसों को दिखा दूँ कि धन का सदुपयोग क्योंकर होना चाहिए। बड़े-बड़ों का सिर नीचा कर दूँ। कोई आँखें न मिला सके। इरादा पक्का हो गया।

शाम होते ही वे घर से बाहर निकले। वही समय था, वही चौकन्नी आँखें थीं और वही तेज कुदाली थी। ऐसा ज्ञात होता था मानो हरिदास की आत्मा इस नये भेष में अपना काम कर रही है।

चबूतरे का धरातल पहले ही खुद चुका था। अब संगीन तहखाना था, जोड़ों को हटाना कठिन था। पुराने जमाने का पक्का मसाला था; कुल्हाड़ी उचट-उचट कर लौट आती थी। कई दिनों में ऊपर की दरारें खुलीं, लेकिन चट्टानें ज़रा भी न हिलीं। तब वह लोहे की

छड़ से काम लेने लगे, लेकिन कई दिनों तक ज़ोर लगाने पर भी चट्टानें न खिसकीं। सब कुछ अपने ही हाथों करना था। किसी से सहायता न मिल सकती थी। यहाँ तक कि फिर वही अमावस्या की रात आयी ! प्रभुदास को जोर लगाते बारह बज गये और चट्टानें भाग्यरेखाओं की भाँति अटल थीं।

पर, आज इस समस्या को हल करना आवश्यक था। कहीं तहखाने पर किसी की निगाह पड़ जाय तो मेरे मन की लालसा मन ही में रह जाय।

वह चट्टान पर बैठ कर सोचने लगे--क्या करूँ, बुद्धि कुछ काम नहीं करती। सहसा उन्हें एक युक्ति सूझी, क्यों न बारूद से काम लूँ ? इतने अधीर हो रहे थे कि कल पर इस काम को न छोड़ सके। सीधे बाजार की तरफ चले, दो मील का रास्ता हवा की तरह तय किया। पर वहाँ पहुँचे तो दूकानें बन्द हो चुकी थीं। आतिशबाज हीले करने लगा। बारूद इस समय नहीं मिल सकती। सरकारी हुक्म नहीं है। तुम कौन हो ? इस वक्त बारूद ले कर क्या करोगे ? न भैया, कोई वारदात हो जाय तो मुफ्त में बँधा-बँधा फिरूँ तुम्हें कौन पूछेगा ?

प्रभुदास की शांति-वृत्ति कभी इतनी कठिन परीक्षा में न पड़ी थी। वे अंत तक अनुनय-विनय ही करते रहे, यहाँ तक कि मुद्राओं की सुरीली झंकार ने उसे वशीभूत कर लिया। प्रभुदास यहाँ से चले तो धरती पर पाँव न पड़ते थे।

रात के दो बजे थे। प्रभुदास मंदिर के पास पहुँचे। चट्टानों की दराजों में बारूद रख पलीता लगा दिया और दूर भागे। एक क्षण में बड़े जोर का धमाका हुआ। चट्टान उड़ गयी। अँधेरा गार सामने था, मानो कोई पिशाच उन्हें निगल जाने के लिए मुँह खोले हुए है।

5

प्रभात का समय था। प्रभुदास अपने कमरे में लेटे हुए थे। सामने लोहे के संदूक में दस हजार पुरानी मुहरें रखी हुई थीं। उनकी माता सिरहाने बैठी पंखा झल रही थीं। प्रभुदास ज्वर की ज्वाला से जल रहे थे। करवटें बदलते थे, कराहते थे, हाथ-पाँव पटकते थे; पर आँखें लोहे के संदूक की ओर लगी हुई थीं। इसी में उनके जीवन की आशाएँ बन्द थीं।

मगनसिंह अब पजावे का मुंशी था। इसी घर में रहता था। आ कर बोला--पजावे चलिएगा ? गाड़ी तैयार कराऊँ ?

प्रभुदास ने उसके मुख की ओर क्षमा-याचना की दृष्टि से देखा और बोले--नहीं, मैं आज न चलूँगा, तबीयत अच्छी नहीं है। तुम भी मत जाओ।

मगनसिंह उनकी दशा देख कर डाक्टर को बुलाने चला।

दस बजते-बजते प्रभुदास का मुख पीला पड़ गया। आँखें लाल हो गयीं। माता ने उसकी ओर देखा तो शोक से विह्वल हो गयीं। बाबू हरिदास की अंतिम दशा उनकी आँखों में फिर गयी। जान पड़ता था, यह उसी शोक घटना की पुनरावृत्ति है ! यह देवताओं की मनौतियाँ मना रही थीं, किंतु प्रभुदास की आँखें उसी लोहे के संदूक की ओर लगी हुई थीं, जिस पर उन्होंने अपनी आत्मा अर्पण कर दी थी।

उनकी स्त्री आ कर उनके पैताने बैठ गयी और बिलख-बिलख कर रोने लगी। प्रभुदास की आँखों से भी आँसू बह रहे थे, पर वे आँखें उसी लोहे के संदूक की ओर निराशा

पूर्ण भाव से देख रही थीं।

डाक्टर ने आ कर देखा, दवा दी और चला गया, पर दवा का असर उल्टा हुआ। प्रभुदास के हाथ-पाँव सर्द हो गये, मुख निस्तेज हो गया, हृदय की गति मंद पड़ गयी, पर आँखें सन्दूक की ओर से न हटीं।

मुहल्ले के लोग जमा हो गये। पिता और पुत्र के स्वभाव और चरित्र पर टिप्पणियाँ होने लगीं। दोनों शील और विनय के पुतले थे। किसी को भूल कर भी कड़ी बात न कही। प्रभुदास का सम्पूर्ण शरीर ठंडा हो गया था। प्राण था तो केवल आँखों में। वे अब भी उसी लोहे के सन्दूक की ओर सतृष्ण भाव से देख रही थीं।

घर में कोहराम मचा हुआ था। दोनों महिलाएँ पछाड़ें खा-खा कर गिरती थीं। मुहल्ले की स्त्रियाँ उन्हें समझाती थीं। अन्य मित्रगण आँखों पर रूमाल जमाये हुए थे। जवानी की मौत संसार का सबसे करुण, सबसे अस्वाभाविक और भयंकर दृश्य है। यह वज्रघात है, विधाता की निर्दय लीला है। प्रभुदास का सारा शरीर प्राणहीन हो गया था, पर आँखें जीवित थीं। वे अब भी उसी संदूक की ओर लगी हुई थीं। जीवन ने तृष्णा का रूप धारण कर लिया था। साँस निकलती है, पर आस नहीं निकलती।

इतने में मगनसिंह आ कर खड़ा हो गया। प्रभुदास की निगाह उस पर पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानों उनके शरीर में फिर रक्त का संचार हुआ। अंगों में स्फूर्ति के चिह्न दिखायी दिये। इशारे से अपने मुँह के निकट बुलाया, उसके कान में कुछ कहा, एक बार लोहे के सन्दूक की ओर इशारा किया और आँखें उलट गयीं, प्राण निकल गये।

[हिन्दी कहानी। 'श्री शारदा' में अगस्त, 1922 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। यह कहानी केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई है।]

दुराशा

(प्रहसन)

पात्र

दयाशंकर—कार्यालय के एक साधारण लेखक।

आनंदमोहन—कालेज का एक विद्यार्थी तथा दयाशंकर का मित्र।

ज्योतिस्वरूप—दयाशंकर का एक सुदूर-सम्बन्धी।

सेवती—दयाशंकर की पत्नी।

(होली का दिन)

(समय—9 बजे रात्रि, आनंदमोहन तथा दयाशंकर वार्तालाप करते जा रहे हैं।)

आ.—हम लोगों को देर तो न हुई। अभी तो नौ बजे होंगे !

द.—नहीं, अभी क्या देर होगी !

आ.—वहाँ बहुत इंतजार न कराना। क्योंकि एक तो दिन भर गली-गली घूमने के पश्चात् मुझमें इंतजार करने की शक्ति ही नहीं, दूसरे ठीक ग्यारह बजे बोर्डिंग हाउस का

दरवाजा बंद हो जाता है।

द.—अजी, चलते-चलते थाली सामने आवेगी। मैंने तो सेवती से पहले ही कह दिया है कि नौ बजे तक सामान तैयार रखना।

आ.—तुम्हारा घर तो अभी दूर है। यहाँ मेरे पैरों में चलने की शक्ति ही नहीं। आओ कुछ बातचीत करते चलें। भला यह तो बताओ कि परदे के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है ? भाभी जी मेरे सामने आयेंगी या नहीं, क्या मैं उनके चंद्रमुख का दर्शन कर सकूँगा ? सच कहो।

द.—तुम्हारे और मेरे बीच में तो भाईचारे का सम्बन्ध है। यदि सेवती मुँह खोले हुए भी तुम्हारे सम्मुख आ जाय तो मुझे कोई म्लान नहीं। किंतु साधारणतः मैं परदे की प्रथा का सहायक और समर्थक हूँ। क्योंकि हम लोगों की सामाजिक नीति इतनी पवित्र नहीं है कि कोई स्त्री अपने लज्जा-भाव को चोट पहुँचाये बिना अपने घर से बाहर निकले।

आ.—मेरे विचार में तो पर्दा ही कुचेष्टाओं का मूल कारण है। पर्दे से स्वभावतः पुरुषों के चित्त में उत्सुकता उत्पन्न होती है और वह भाव कभी तो बोली-ठोली में प्रकट होता है और कभी नेत्रों के कटाक्षों में।

द.—जब तक हम लोग इतने दृढ़प्रतिज्ञ न हो जायँ कि सतीत्वरक्षा के पीछे प्राण भी बलिदान कर दें तब तक परदे की प्रथा को तोड़ना समाज के मार्ग में विष बोना है।

अ.—आपके विचार से तो यही सिद्ध होता है कि यूरोप में सतीत्व-रक्षा के लिए रात-दिन रुधिर की नदियाँ बहा करती हैं।

द.—वहाँ इसी बेपर्दगी ने तो सतीत्वधर्म को निर्मूल कर दिया है। अभी मैंने किसी समाचारपत्र में पढ़ा था कि एक स्त्री ने किसी पुरुष पर इस प्रकार का अभियोग चलाया था कि उसने मुझे निर्भीकतापूर्वक कुदृष्टि से घूरा था, किन्तु विचारक ने उस स्त्री को नख-शिख से देख कर यह कह कर मुकदमा खारिज कर दिया कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि हाट-बाट में नवजवान स्त्री को घूर कर देखे। मुझे तो यह अभियोग और यह फैसला सर्वथा हास्यास्पद जान पड़ते हैं और किसी भी समाज को निंदित करनेवाले हैं।

आ.—इस विषय को छोड़ो। यह तो बताओ कि इस समय क्या-क्या खिलाओगे ? मित्र नहीं तो मित्र की चर्चा ही हो।

द.—यह तो सेवती की पाक-कला-कुशलता पर निर्भर है। पूरियाँ और कचौरियाँ तो होंगी ही। यथासंभव खूब खरी भी होंगी। यथाशक्ति खस्ते और समोसे भी आयेंगे। खीर आदि के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। आलू और गोभी की शोरबेदार तरकारी और मटर, दालमोट भी मिलेंगे। फीरिनी के लिए भी कह आया था। गूलर के कोफते और आलू के कबाब, यह दोनों सेवती खूब पकाती है। इनके सिवा दही-बड़े और चटनी-अचार की चर्चा तो व्यर्थ ही है। हाँ, शायद किशमिश का रायता भी मिले। जिसमें केसर की सुगंध उड़ती होगी।

आ.—मित्र, मेरे मुँह में तो पानी भर आया। तुम्हारी बातों ने तो मेरे पैरों में जान डाल दी। शायद पर होते तो उड़ कर पहुँच जाता।

द.—लो, अब तो आ ही जाते हैं। यह तम्बाकूवाले की दूकान है, इसके बाद चौथा मकान मेरा ही है।

आ.—मेरे साथ बैठ कर एक ही थाली में खाना। कहीं ऐसा न हो कि अधिक खाने के लिए मुझे भाभी जी के सामने लज्जित होना पड़े।

द.—इससे तुम निश्शंक रहो। उन्हें मिताहारी आदमी से चिढ़ है, वे कहती हैं—"जो खायेगा ही नहीं दुनिया में काम क्या करेगा ?" आज शायद तुम्हारी बदौलत मुझे भी काम करनेवालों की पंक्ति में स्थान मिल जावे। कम से कम कोशिश तो ऐसी ही करना।

आ.—भई, यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। शायद तुम्हें ही प्रधानपद मिल जाये।

द.—यह लो, आ गये। देखना सीढ़ियों पर अँधेरा है। शायद चिराग जलाना भूल गयी।

आ.—कोई हर्ज नहीं। तिमिरलोक ही में तो सिकंदर को अमृत मिला था।

द.—अंतर इतना ही है कि तिमिरलोक में पैर फिसले तो पानी में गिरोगे और यहाँ फिसला तो पथरीली सड़क पर।

(ज्योतिस्वरूप आते हैं)

ज्योति.—सेवक भी उपस्थित हो गया। देर तो नहीं हुई ? डबल मार्च करता आया हूँ।

द.- नहीं, अभी तो देर नहीं हुई। शायद आपकी भोजनाभिलाषा आपको समय से पहले खींच लायी।

आ.—आपका परिचय कराइए। मुझे आपसे देखा-देखी नहीं है।

द.—**(अँगरेजी में)** मेरे सुदूर के सम्बन्ध में साले होते हैं। एक वकील के मुहर्रिर हैं। जबरदस्ती नाता जोड़ रहे हैं। सेवती ने निमंत्रण दिया होगा; मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं। ये अँगरेजी नहीं जानते।

आ.—इतना तो अच्छा है। अँगरेजी में ही बातें करेंगे।

द.—सारा मजा किरकिरा हो गया। कुमानुषों के साथ बैठ कर खाना फोड़े के आप्रेशन के बराबर है।

आ.—किसी उपाय से इन्हें विदा कर देना चाहिए।

द.—मुझे तो चिंता यह है कि अब संसार के कार्यकर्त्ताओं में हमारी और तुम्हारी गणना ही न होगी। पाला इसके हाथ रहेगा।

आ.—खैर ऊपर चलो। आनंद तो जब आवे कि इन महाशय को आधे पेट ही उठना पड़े।

(तीनों आदमी ऊपर जाते हैं)

द.—अरे ! कमरे में भी रोशनी नहीं, घुप अँधेरा है। लाला ज्योतिस्वरूप, देखिएगा, कहीं ठोकर खा कर न गिर पड़ियेगा।

आ.—अरे गजब....(आलमारी से टकरा कर धम् से गिर पड़ता है)।

द.—लाला ज्योतिस्वरूप, क्या आप गिरे ? चोट तो नहीं आयी ?

आ.—अजी, मैं गिर पड़ा। कमर टूट गयी। तुमने अच्छी दावत की।

द.—भले आदमी, सैकड़ों बार तो आये हो। मालूम नहीं था कि सामने आलमारी रखी हुई है। क्या ज्यादा चोट लगी ?

आ.—भीतर जाओ। थालियाँ लाओ और भाभी जी से कह देना के थोड़ा-सा तेल गर्म कर लें। मालिश कर लूँगा।

ज्योति.—महाशय, यह आपने क्या रख छोड़ा है। जमीन पर गिर पड़ा।

द.—उगालदान तो नहीं लुढ़का दिया ? हाँ, वही तो है। सारा फर्श खराब हो गया।

आ.—बन्धुवर, जा कर लालटेन जला लाओ। कहाँ ला कर काल-कोठरी में डाल दिया।

द.—(घर में जा कर) अरे ! यहाँ भी अँधेरा है ! चिराग तक नहीं। सेवती, कहाँ हो ?

से.—बैठी तो हूँ।

द.—यह बात क्या है ? चिराग क्यों नहीं जले ! तबीयत तो अच्छी है ?

से.—बहुत अच्छी है। बारे, तुम आ तो गये ! मैंने समझा था कि आज आपका दर्शन ही न होगा।

द.—ज्वर है क्या ? कब से आया है ?

से.—नहीं, ज्वर-स्वर कुछ नहीं, चैन से बैठी हूँ।

द.—तुम्हारा पुराना बायगोला तो नहीं उभर आया हूँ ?

से.—(व्यंग्य से) हाँ, बायगोला ही तो है। लाओ, कोई दवा है ?

द.—अभी डाक्टर के यहाँ से मँगवाता हूँ।

से.—कुछ मुफ्त की रकम हाथ आ गयी है क्या ? लाओ, मुझे दे दो, अच्छी हो जाऊँ।

द.—तुम तो हँसी कर रही हो। साफ-साफ कोई बात नहीं कहती। क्या मेरे देर से आने का यही दंड है ? मैंने नौ बजे आने का वचन दिया था। शायद दो-चार मिनट अधिक हुए हों। सब चीजें तैयार हैं न ?

से.—हाँ, बहुत ही खस्ता आधो-आध मक्खन डाला था।

द.—आनंदमोहन से मैंने तुम्हारी खूब प्रशंसा की है।

से.—ईश्वर ने चाहा तो वे भी प्रशंसा ही करेंगे। पानी रख आओ, हाथ-वाथ तो धोयें।

द.—चटनियाँ भी बनवा ली हैं न ? आनंदमोहन को चटनियों से बहुत प्रेम है।

से.—खूब चटनी खिलाओ। सेरों बना रखी है।

द.—पानी में केवड़ा डाल दिया है ?

से.—हाँ, ले जा कर पानी रख आओ। पानी आरम्भ करें, प्यास लगी होगी।

आ.—(बाहर से) मित्र, शीघ्र आओ। अब इन्तजार करने की शक्ति नहीं है।

द.—जल्दी मचा रहा है। लाओ, थालियाँ परसो।

से.—पहले चटनी और पानी तो रख आओ।

द.—(रसोई में जा कर) अरे ! यहाँ तो चूल्हा बिलकुल ठंडा पड़ गया है। महरी आज सबेरे ही काम कर गयी क्या ?

से.—हाँ, खाना पकने से पहले ही आ गयी थी।

द.—बर्तन सब मँजे हुए हैं। क्या कुछ पकाया ही नहीं ?

से.—भूत-प्रेत आ कर खा गये होंगे।

द.—क्या—चूल्हा ही नहीं जलाया ? गजब कर दिया।

से.—गजब मैंने कर दिया या तुमने ?

द.—मैंने तो सब सामान ला कर रख दिया था। तुमसे बार-बार पूछ लिया था कि किसी चीज की कमी हो तो बतलाओ। फिर खाना क्यों न पका ? क्या विचित्र रहस्य है ! भला मैं इन दोनों को क्या मुँह दिखाऊँगा।

आ.—मित्र, क्या तुम अकेले ही सब सामग्री चट कर रहे हो ? इधर भी लोग आशा लगाये बैठे हैं। इन्तजार दम तोड़ रहा है।

से.—यदि सब सामग्री ला कर रख ही देते तो मुझे बनाने में क्या आपत्ति थी?

द.—अच्छा, यदि दो-एक वस्तुओं की कमी ही रह गयी थी, तो इसका क्या अभिप्राय कि चूल्हा ही न जले ? यह तो किसी अपराध का दंड दिया है। आज होली का दिन और यहाँ आग ही न जली ?

से.—जब तक ऐसे चरके न खाओगे, तुम्हारी आँखें न खुलेंगी।

द.—तुम तो पहेलियों से बातें कर रही हो। आखिर किस बात पर अप्रसन्न हो? मैंने कौन-सा अपराध किया ? जब मैं यहाँ से जाने लगा था, तुम प्रसन्नमुख थीं और इसके पहले भी मैंने तुम्हें दुखी नहीं देखा था। तो मेरी अनुपस्थिति में कौन ऐसी बात हो गयी कि तुम इतनी रूठ गयीं ?

से.—घर में स्त्रियों को कैद करने का यह दंड है।

द.—अच्छा तो यह इस अपराध का दंड है ? मगर तुमने मुझसे परदे की निन्दा नहीं की। बल्कि इस विषय पर जब कोई बात छिड़ती थी तो तुम मेरे विचारों से सहमत ही रहती थी। मुझे आज ही ज्ञात हुआ कि तुम्हें परदे से कितनी घृणा है ! क्या दोनों अथितियों से यह कह दूँ कि परदे की सहायता के दंड में मेरे यहाँ अनशन व्रत है, आप लोग ठंडी-ठंडी हवा खायें ?

से.—जो चीजें तैयार हैं वह जा कर खिलाओ और जो नहीं हैं, उसके लिए क्षमा माँगो।

द.—मैं तो कोई चीज तैयार नहीं देखता ?

से.—हैं क्यों नहीं, चटनी बना ही डाली है और पानी भी पहले से तैयार है।

द.—यह दिल्लगी तो हो चुकी। सचमुच बताओ खाना क्यों नही पकाया ? क्या तबीयत खराब हो गयी थी, अथवा किसी कुत्ते ने आ कर रसोई अपवित्र कर दी थी?

आ.—बाहर क्यों नहीं आते हो भाई, भीतर ही भीतर क्या मिसकौट कर रहे हो ? अब सब चीजें नहीं तैयार हैं, नहीं सही, जो कुछ तैयार हो वही लाओ। इस समय तो सादी पूरियाँ भी खस्ते से अधिक स्वादिष्ट जान पड़ेंगी। कुछ लाओ, भला श्रीगणेश तो हो। मुझसे अधिक उत्सुक मेरे मित्र मुंशी ज्योतिस्वरूप हैं।

से.—भैया ने दावत के इंतजार में आज दोपहर को भी न खाया होगा।

द.—बात क्यों टालती हो, मेरी बातों का जवाब क्यों नहीं देती ?

से.—नहीं जवाब देती, क्या कुछ आपका कर्ज खाया है या रसोई बनाने के लिए लौंडी हूँ ?

द.—यदि मैं घर का काम करके अपने को दास नहीं समझता तो तुम घर का काम करके अपने को दासी क्यों समझती हो !

से.—मैं नहीं समझती, तुम समझते हो !

द.—क्रोध मुझे आना चाहिए, उल्टी तुम बिगड़ रही हो।

से.—तुम्हें क्यों मुझ पर क्रोध आना चाहिए ? इसलिए कि तुम पुरुष हो ?

द.—नहीं, इसलिए कि तुमने आज मुझे मेरे मित्रों तथा सम्बन्धियों के सम्मुख नीचा दिखाया।

से.—नीचा दिखाया तुमने मुझे कि मैंने तुम्हें ? तुम तो किसी प्रकार क्षमा करा लोगे, किंतु कालिमा तो मेरे मुख लगेगी।

आ.—भई, अपराध क्षमा हो, मैं भी वहीं आता हूँ। यहाँ तो किसी पदार्थ की सुगंध तक नहीं आती।

द.—क्षमा क्या करा लूँगा, लाचार हो कर बहाना करना पड़ेगा।

से.—चटनी खिला कर पानी पिलाओ। इतना सत्कार बहुत है। होली का दिन है, यह भी एक प्रहसन रहेगा।

द.—प्रहसन क्या रहेगा, कहीं मुख दिखाने योग्य न रहूँगा। आखिर तुम्हें यह क्या शरारत सूझी ?

से.—फिर वही बात ! शरारत क्यों सूझती ! क्या तुमसे और तुम्हारें मित्रों से कोई बदला लेना था ? लेकिन जब लाचार हो गयी तो क्या करती ? तुम तो दस मिनट पछता कर और मुझ पर क्रोध मिटा कर आनंद से सोओगे। यहाँ तो में तीन बजे से बैठीं झींक रही हूँ। और यह सब तुम्हारी करतूत है ?

द.—यही तो पूछता हूँ कि मैंने क्या किया ?

से.—तुमने मुझे पिंजरे में बंद कर दिया, पर काट दिये ! मेरे सामने दाना रख दो तो खाऊँ, मुधिया में पानी डाल दो तो पीऊँ, यह किसका कसूर है ?

द.—भाई छिपी-छिपी बातें न करो। साफ-साफ क्यों नहीं कहती !

आ.—विदा होता हूँ, मौज उड़ाइए। नहीं, बाजार की दुकाने भी बंद हो जायँगी। खूब चकमा दिये मित्र, फिर समझेंगे। लाला ज्योतिस्वरूप तो बैठे-बैठे अपनी निराशा को खुर्राटों से भुला रहे है। मुझे यह संतोष कहाँ ! तारे भी नहीं हैं कि बैठ कर उन्हें ही गिनूँ। इस समय तो स्वादिष्ट पदार्थों का स्मरण कर रहा हूँ।

द.—बंधुवर, दो मिनट और संतोष करो। आया। हाँ ! लाला ज्योतिस्वरूप से कह दो कि किसी हलवाई की दूकान से पूरियाँ ले आयें। यहाँ कम पड़ गयी हैं। आज दोपहर ही से इनकी तबीयत खराब हो गयी है। मेरे मेज की दराज में रुपये रखे हैं।

से.—साफ-साफ तो यही है कि तुम्हारे परदे ने मुझे पंगु बना दिया है। कोई मेरा गला भी घोंट जाय तो फरियाद नहीं कर सकती।

द.—फिर भी वही अन्योक्ति ! इस विषय का अंत भी होगा या नहीं !

से.—दियासलाई तो थी ही नहीं, फिर आग कैसे जलाती !

द.—अहा ! मैंने जाते समय दियासलाई की डिबिया जेब में रख ली थी...जरा सी बात का तुमने इतना बतंगड़ बना दिया। शायद मुझे तंग करने के लिए अवसर ढूँढ़ रही थीं। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है।

से.—यह तुम्हारी ज्यादती है। ज्यों ही तुम सीढ़ी से उतरे, मेरी दृष्टि डिबिया की

तरफ गयी, किंतु वह लापता थी। ताड़ गयी कि तुम ले गये तुम मुश्किल से दरवाजे तक पहुँचे होंगे। अगर जोर से पुकारती तो तुम सुन लेते। लेकिन नीचे दूकानदारों के कान में भी आवाज जाती तो सुन कर तुम न जाने मेरी कौन-कौन दुर्दशा करते। हाथ मल कर रह गयी। उसी समय से बहुत व्याकुल हो रही हूँ कि किसी प्रकार भी दियासलाई मिल जाती तो अच्छा होता। मगर कोई वश न चलता था। अंत में लाचार हो कर बैठ रही।

द.—यह कहो कि तुम मुझे तंग करना चाहती थीं। नहीं तो क्या आग या दियासलाई न मिल जाती ?

से.—अच्छा, तुम मेरी जगह होते तो क्या करते ? नीचे सब के सब दूकानदार हैं। और तुम्हारी जान-पहचान के हैं। घर के एक ओर पंडित जी रहते हैं। उनके घर में कोई स्त्री नहीं। सारे दिन फाग हुई है। बाहर के सैकड़ों आदमी जमा थे दूसरी ओर बंगाली बाबू रहते हैं। उनके घर की स्त्रियाँ किसी सम्बन्धी से मिलने गयी हैं और अब तक नहीं आयीं। इन दोनों से भी बिना छज्जे पर आये चीज न मिल सकती थी। लेकिन शायद तुम इतनी बेपर्दगी को क्षमा न करते। और कौन ऐसा था जिससे कहती कि कहीं से आग ला दो। महरी तुम्हारे सामने ही चौका-बर्तन करके चली गयी थी। रह-रह कर तुम्हारे ऊपर क्रोध आता था।

द.—तुम्हारी लाचारी का कुछ अनुमान कर सकता हूँ, पर मुझे अब भी यह मानने में आपत्ति है कि दियासलाई का न होना चूल्हा न जलने का वास्तविक कारण हो सकता है।

से.—तुम्हीं से पूछती हूँ कि बतलाओ, क्या करती ?

द.—मेरा मन इस समय स्थिर नहीं, किंतु मुझे विश्वास है कि यदि मैं तुम्हारे स्थान पर होता तो होली के दिन और खास कर जब अतिथि भी उपस्थित हों, चूल्हा ठंडा न रहता। कोई-न-कोई उपाय अवश्य ही निकालता।

से.—जैसे ?

द.—एक रुक्का लिख किर किसी दूकानदार के सामने फेंक देता।

से.—यदि मैं ऐसा करती तो शायद तुम आँख मिलाने का मुझ पर कलंक लगाते।

द.—अँधेरा हो जाने पर सिर से पैर तक चादर ओढ़ कर बाहर निकल जाता और दियासलाई ले आता। घंटे दो घंटे में अवश्य ही कुछ-न-कुछ तैयार हो जाता। ऐसा उपवास तो न पड़ता।

से.—बाजार जाने से मुझे तुम गली-गली घूमनेवाली कहते और गला काटने पर उतारू हो जाते। तुमने मुझे कभी इतनी स्वतंत्रता नहीं दी। यदि कभी स्नान करने जाती हूँ तो गाड़ी का पट बंद रहता है।

द.—अच्छा, तुम जीतीं और मैं हारा। सदैव के लिए उपदेश मिल गया कि ऐसे अत्यावश्यक समय पर तुम्हें घर से बाहर निकलने की स्वतंत्रता है।

से.—मैं तो इसे आकस्मिक समय नहीं कहती। आकस्मिक समय तो वह है कि दैवात् घर में कोई बीमार हो जाय और उसे डाक्टर के यहाँ ले जाना आवश्यक हो।

द.—निस्संदेह वह समय आकस्मिक है। इस दशा में तुम्हारे जाने में कोई हस्तक्षेप नहीं।

से.—और भी आकस्मिक समय गिनाऊँ ?

द.—नहीं भाई, इसका फैसला तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर है।

आ.—मित्र, संतोष की सीमा तो अंत हो गयी; अब प्राण-पीड़ा हो रही है। ईश्वर करे, घर आबाद रहे, बिदा होता हूँ।

द.—बस, एक मिनट और। उपस्थित हुआ।

से.—चटनी और पानी लेते जाओ और पूरियाँ बाजार से मँगवा लो। इसके सिवा इस समय हो ही क्या सकता है ?

द.—(मरदाने कमरे में आकर) पानी लाया हूँ, प्यालियों में चटनी है। आप लोग जब तक भोग लगावें। मैं अभी आता हूँ।

आ.—धन्य है ईश्वर ! भला तुम बाहर तो निकले ! मैंने तो समझा था कि एकांतवास करने लगे। मगर निकले भी तो चटनियाँ ले कर। वह स्वादिष्ट वस्तुएँ क्या हुईं जिनका आपने वादा किया था और जिनका स्मरण मैं प्रेमानुरक्त भाव से कर रहा हूँ ?

द.—ज्योतिस्वरूप कहाँ गये ?

से.—ऊर्द्धव संसार में भ्रमण कर रहे हैं। बड़ा ही अद्भुत उदासीन मनुष्य है कि आते ही आते सो गया और अभी तक नहीं चौंका।

द.—मेरे यहाँ एक दुर्घटना हो गयी। उसे और क्या कहूँ। सब सामान मौजूद और चूल्हे में आग न जली।

आ.—खूब ! यह एक ही रही। लकड़ियाँ न रही होंगी।

द.—घर में तो लकड़ियों का पहाड़ लगा है। अभी थोड़े ही दिन हुए कि गाँव से एक गाड़ी लकड़ी आ गयी थी। दियासलाई न थी।

आ.—(अट्टहास कर) वाह ! यह अच्छा प्रहसन हुआ। थोड़ी-सी भूल ने सारा स्वप्न ही नष्ट कर दिया। कम से कम मेरी तो बधिया बैठ गयी।

द.—क्या कहूँ मित्र, लज्जित हूँ। तुमसे सत्य कहता हूँ। आज से मैं परदे का शत्रु हो गया। इस निगोड़ी प्रथा के बन्धन ने ठीक होली के दिन ऐसा विश्वासघात किया कि जिसकी कभी भी संभावना न थी। अच्छा अब बतलाओ, बाजार से लाऊँ पूरियाँ ? अभी तो ताजी मिल जायँगी।

आ.—बाजार का रास्ता तो मैंने भी देखा है। कष्ट न करो। जा कर बोर्डिंग हाउस में खा लूँगा। रहे ये महाशय, मेरे विचार में तो इन्हें छेड़ना ठीक नहीं। पड़े-पड़े खर्राटे लेने दो। प्रातःकाल चौंकेंगे तो घर का मार्ग पकड़ेंगे।

द.—तुम्हारा यों वापस जाना मुझे खल रहा है। क्या सोचा था, क्या हुआ ! मजे ले-ले कर समोसे और कोफ्ते खाते और गपड़चौथ मचाते। सभी आशाएँ मिट्टी में मिल गयीं। ईश्वर ने चाहा तो शीघ्र ही इसका प्रायश्चित करूँगा।

आ.—मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि तुम्हारा सिद्धान्त टूट गया। अब इतनी आज्ञा दो कि भाभी जी को धन्यवाद दे आऊँ।

द.—शौक से जाओ।

आ.—(भीतर जा कर) भाभी जी को साष्टांग प्रणाम कर रहा हूँ। यद्यपि आज के आकाशी भोज से मुझे दुराशा तो अवश्य हुई, किन्तु वह उस आनन्द के सामने शून्य है जो भाई साहब के विचार-परिवर्तन से हुआ है। आज एक दियासलाई ने जो शिक्षा प्रदान की

है वह लाखों प्रामाणिक प्रमाणों से भी संभव नहीं है। इसके लिये मैं आपको सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। अब से बन्धुवर परदे के पक्षपाती न होंगे, यह मेरा अटल विश्वास है।

['दावते-शीराज' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक पत्रिका 'हजार दास्तां' में अक्टूबर, 1922 में प्रकाशित। यह पत्रिका लाहौर से प्रकाशित होती थी। 'ख्वाबोखयाल' में संकलित। हिन्दी रूप 'दुराशा' शीर्षक से 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित। 'प्रेम प्रसून' (हिन्दी कहानी संग्रह) में, जुलाई, 1924 में भी संकलित।

लोकमत का सम्मान

बेचू धोबी को अपने गाँव और घर से उतना ही प्रेम था, जितना प्रत्येक मनुष्य को होता है। उसे रूखी-सूखी और आधे पेट खाकर भी अपना गाँव समग्र संसार से प्यारा था। यदि उसे वृद्धा किसान स्त्रियों की गालियाँ खानी पड़ती थीं तो बहुओं से 'बेचू दादा' कहकर पुकारे जाने का गौरव भी प्राप्त होता था। आनन्द और शोक के प्रत्येक अवसर पर उसका बुलावा होता था विशेषतः विवाहों में तो उसकी उपस्थिति वर और वधू से कम आवश्यक न थी। उसकी स्त्री घर में पूजी जाती थी, द्वार पर बेचू का स्वागत होता था। वह पेशवाज पहने कमर में घंटियाँ बाँधे साजिन्दों को साथ लिये एक हाथ मृदंग और दूसरा अपने कान पर रख कर जब तत्कालरचित विरहे और बोल कहने लगता तो आत्मसम्मान से उसकी आँखें उन्मत्त हो जाती थीं। हाँ, धेले पर कपड़े धोकर भी वह अपनी दशा से संतुष्ट रह सकता था, किन्तु जमींदार के नौकरों की क्रूरता और अत्याचार कभी-कभी इतने असह्य हो जाते थे कि उसका जी गाँव छोड़कर भाग जाने को चाहने लगता था। गाँव में कारिन्दा साहब के अतिरिक्त पाँच-छह चपरासी थे। उनके सहवासियों की संख्या कम न थी। बेचू को इन सज्जनों के कपड़े मुफ्त धोने पड़ते थे। उसके पास इस्तरी न थी। उनके कपड़ों पर इस्तरी करने के लिए उसे दूसरे-दूसरे गाँव के धोबियों की चिरौरी करनी पड़तो थी। अगर कभी बिना इस्तरी किये ही कपड़े ले जाता तो उसकी शामत आ जाती थी। मार पड़ती, घंटों चौपाल के सामने खड़ा रहना पड़ता, गालियों की वह बौछार पड़ती कि सुननेवाले कानों पर हाथ रख लेते, उधर से गुजरनेवाली स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेतीं।

जेठ का महीना था। आसपास की ताल-तलैया सब सूख गयी थीं। बेचू को पहर रात रहते दूर के एक ताल पर जाना पड़ता था। यहाँ भी धोबियों की ओसरी बँधी हुई थी। बेचू की ओसरी पाँचवें दिन पड़ती थी। पहर रात रहे लादी लाद कर ले जाता। मगर जेठ की धूप में 9-10 बजे के बाद खड़ा न हो सकता। आधी लादी भी न धुल पाती, बिना धुले कपड़े समेट कर घर चला आता। गाँव के सरल जजमान उसकी विपत्ति कथा सुन कर शांत हो जाते थे; न कोई गालियाँ देता, न मारने दौड़ता। जेठ की धूप में उन्हें भी पुर चलाना और खेत गोड़ना पड़ता था। अपने पैरों में बिवाय फटी थी, उसकी पीर जानते थे। परन्तु कारिंदा महाशय को प्रसन्न करना इतना सहज न था। उनके आदमी नित्य बेचू के सिर पर सवार रहते थे। वह बड़ी गम्भीरता से कहते—'तू एक-एक अठवारे तक कपड़े नहीं लाता, क्या

यह भी कोई जाड़े के दिन हैं, आजकल पसीने से दूसरे दिन कपड़े मैले हो जाते हैं; कपड़ों से बू आने लगती है और तुझे कुछ भी परवाह नहीं रहती।' बेचू हाथ-पैर जोड़कर किसी तरह उन्हें मनाता रहता था, यहाँ तक कि एक बार उसे बातें करते 9 दिन हो गये और कपड़े तैयार न हो सके। धुल तो गये थे, पर इस्तरी न हुई थी। अंत में विवश होकर बेचू दसवें दिन कपड़े लेकर चौपाल पहुँचा। मारे डर के पैर आगे न उठते थे। कारिंदा साहब उसे देखते ही क्रोध से लाल हो गये। बोले—क्यों बे पाजी, तुझे गाँव में रहना है कि नहीं ?

बेचू ने कपड़ों की गठरी तख्त पर रख दी और बोला—क्या करूँ सरकार कहीं भी पानी नहीं है और न मेरे इस्तरी ही है।

कारिंदा—पानी तेरे पास नहीं है और सारी दुनिया में है। अब तेरा इलाज इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि गाँव से निकाल दूँ। शैतान, दाई से पेट बनाता है, पानी नहीं, इस्तरी नहीं।

बेचू—मालिक, गाँव आपका है, चाहे रहने दें, चाहे निकाल दें, लेकिन यह कलंक न लगायें, इतनी उमिर आपही लोगों की खिदमत करते हो गयी, पर चाहे कितनी ही भूल-चूक हुई हो, कभी नीयत बद नहीं हुई। अगर गाँव में कोई कह दे कि मैंने कभी गाहकों के साथ ऐसी चाल चली है तो उसकी टाँग की राह निकल जाऊँ। यह दस्तूर शहर के धोबियों का है।

निरंकुशता का तर्क से विरोध है। कारिंदा साहब ने कुछ और अपशब्द कहे। बेचू ने भी न्याय और दया की दुहाई दी। फल यह हुआ कि उसे आठ दिन हल्दी और गुड़ पीना पड़ा। नवें दिन उसने सब गाहकों के कपड़े जैसे-तैसे धो दिये, अपना बोरिया-बँधना सँभाला और बिना किसी से कुछ कहे-सुने रात को पटने की राह ली। अपने पुराने गाहकों से विदा होने के लिए जितने धैर्य की जरूरत थी, उससे वह वंचित था।

2

बेचू शहर में आया तो ऐसा जान पड़ा कि मेरे लिए पहले से ही जगह खाली थी। उसे केवल एक कोठरी किराये पर लेनी पड़ी और काम चल निकला। पहले तो यह किराया सुनकर चकराया। देहात में तो उसे महीने में इतनी धुलाई भी न मिलती थी। पर जब धुलाई की दर मालूम हुई तो किराये की अखर मिट गयी। एक ही महीने में गाहकों की संख्या उसकी गणना-शक्ति से अधिक हो गयी। यहाँ पानी की कमी न थी। वह वादे का पक्का था। अभी नागरिक-जीवन के कुसंस्कारों से मुक्त था। कभी-कभी उसकी एक दिन की मजदूरी देहात की वार्षिक आय से बढ़ जाती थी।

लेकिन तीन ही चार महीने में उसे शहर की हवा लगने लगी। पहले नारियल पीता था, अब एक गुड़गुड़ी लाया। नंगे पाँव जूते से वेष्टित हो गये और मोटे अनाज से पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ने लगा। पहले कभी-कभी तीज-त्यौहार के दिन शराब पी लिया करता था, अब थकान मिटाने के लिए नित्य उसका सेवन होने लगा। स्त्री को आभूषणों की चाट पड़ी। और धोबिनें बन-ठनकर निकलती हैं, मैं किससे कम हूँ। लड़के खोंचे पर लट्टू हुए, हलवे और मूँगफली की आवाज सुनकर अधीर हो जाते। उधर मकान के मालिक ने किराया बढ़ा दिया; भूसा और खली भी मोतियों के मोल बिकती थी। लादी के दोनों बैलों

का पेट भरने में एक खासी रकम निकल जाती थी। अतएव पहले कई महीनों में जो बचत हो जाती थी, वह अब गायब हो गयी। कभी-कभी खर्च का पलड़ा भारी हो जाता; लेकिन किफायत करने की कोई विधि समझ में न आती थी। निदान स्त्री ने बेचू की नज़र बचाकर गाहकों के कपड़े पछाई देने शुरू किये। बेचू को यह बात मालूम हुई तो बिगड़ कर बोला—अगर मैंने फिर यह शिकायत सुनी तो मुझसे बुरा कोई न होगा। इसी इलजाम पर तो मैंने बाप-दादे का गाँव छोड़ दिया। यहाँ से भी निकालना चाहती है क्या ?

स्त्री ने उत्तर दिया—तुम्हीं से तो एक दिन भी दारू के बिना नहीं रहा जाता। मैं क्या पैसे ला कर लुटाती हूँ। जो खर्च लगे वह देते जाओ। मुझे इससे कुछ मिठाई थोड़े ही मिलती है। पर शनैः-शनैः नैतिक ज्ञान ने आवश्यकता के सामने सिर झुकाना शुरू किया। एक बार उसे कई दिन तक ज्वर आया। स्त्री उसे डोली पर बिठाकर वैद्य जी के यहाँ ले गयी। वैद्य जी ने नुस्खा लिख दिया। घर में पैसे न थे। बेचू स्त्री को कातर नेत्रों से देखकर बोला—तो क्या होगा ? दवा मँगानी ही है ?

स्त्री—जो कहो वह करूँ।

बेचू—किसी से उधार न मिलेगा ?

स्त्री—सबसे तो उधार ले चुकी। मुहल्ले में राह चलना मुश्किल है। अब किससे लूँ। अकेले जितना काम हो सकता है, करती हूँ। अब छाती फाड़ के मर थोड़ी ही जाऊँगी ? कुछ पैसे ऊपर से मिल जाते थे, लेकिन तुमने उसकी मनाही कर दी है। तो मेरा क्या बस है ? दो दिन से बैल भूखे खड़े हैं। दो रुपये हों तो इनका पेट भरे।

बेचू—अच्छा, जो तेरे जी में आये कर, किसी तरह काम तो चला। मुझे मालूम हो गया कि शहर में अच्छी नीयतवाले आदमी का निर्वाह नहीं हो सकता।

उस दिन से यहाँ अन्य धोबियों की नीति का व्यवहार होने लगा।

3

बेचू के पड़ोस में एक वकील के मुहर्रिर मुंशी दाताराम रहा करते थे। बेचू कभी-कभी अवकाश के समय उनके पास जा बैठता। पड़ोस की बात थी धुलाई का कोई हिसाब-किताब न था। मुंशी जी बेचू की खातिर करते, अपनी चिलम उतार कर उसकी तरफ बढ़ा देते, कभी घर में कोई अच्छी चीज पकती तो बेचू के लड़कों के लिए भेजवा देते। हाँ, इसका विचार रखते थे कि इन सत्कारों का मूल्य धुलाई के पैसे से बढ़ने न पाये।

गर्मियों के दिन थे, बरातों की धूम थी। मुंशी जी को एक बरात में शरीक होना था। गुड़गुड़ी के लिए पेचवान बनवाया, रोगनी चिलम लाये, सलेमशाही जूते खरीदे, अपने वकील साहब के घर से एक कालीन मँगनी लाये, अपने मित्र से सोने की अँगूठी और बटन लिये। इन सामग्रियों के एकत्रित करने में ज्यादा कठिनाई न पड़ी, किन्तु कपड़े मँगनी लेते हुए शर्म आती थी। बरात के योग्य कपड़े बनवाने की गुंजाइश न थी। तनजेब के कुरते, रेशमी अचकन, नैनसुख का चुन्नटदार पायजामा, बनारसी साफा बनवाना आसान न था। खासी रकम लगती थी। रेशमी किनारे की धोतियाँ और काशी सिल्क की चादर खरीदनी भी कठिन समस्या थी। कई दिनों तक बेचारे इसी चिंता में पड़े रहे। अंत में बेचू के सिवाय और कोई इस चिंता का निवारण करनेवाला न दिखाई दिया। संध्या समय जब बेचू उनके

पास आकर बैठा तो बड़ी नम्रता से बोले—"बेचू, एक बरात में जाना था और सब सामान तो मैंने जमा कर लिये हैं, मगर कपड़े बनवाने में झंझट है। रुपयों की तो कोई चिंता नहीं, तुम्हारी दया से हाथ कभी खाली नहीं रहता। पेशा भी ऐसा है कि जो कुछ मिल जाय वह थोड़ा है, एक न एक आँख का अंधा गाँठ का पूरा नित्य फँसा ही रहता है, पर जानते हो आजकल लग्न की तेजी है, दरजियों को सिर उठाने की फुरसत नहीं, दूनी सिलाई लेते हैं तिस पर भी महीनों दौड़ाते हैं। अगर तुम्हारे यहाँ मेरे लायक कपड़े हों तो दो-तीन दिन के लिए दे दो, किसी तरह सिर से यह बला टले। नेवता दे देने में किसी का क्या खर्च होता है, बहुत किया तो पत्र छपवा लिये, लेकिन लोग यह नहीं सोचते कि बरातियों को कितनी तैयारियाँ करनी पड़ती हैं, क्या-क्या कठिनाइयाँ पड़ती हैं। अगर बिरादरी में यह रिवाज हो जाता कि जो महाशय निमंत्रण भेजें, वही उसके लिए सब सामान भी जुटाएँ तो लोग इतनी बेपरवाही से नेवते न दिया करते। तो बोलो—इतनी मदद करोगे न ?

बेचू ने मुरौवत में पड़ कर कहा—मुंशी जी, आपके लिए किसी बात से इन्कार थोड़ी ही है। लेकिन बात यह है कि आजकल लग्न की तेजी से सभी गाहक अपने-अपने कपड़ों की जल्दी मचा रहे हैं, दिन में दो-तीन बेर आदमी भेजते हैं। ऐसा न हो, इधर आपको कपड़े दे दूँ, उधर कोई जल्दी मचाने लगे।

मुंशीजी—अजी, दो-तीन दिन के लिए टालना कौन बड़ा काम है। तुम चाहो तो हफ्तों टाल सकते हो, अभी भट्ठी नहीं दी, अभी इस्तरी नहीं हुई, घाट बंद है। तुम्हारे पास बहानों की क्या कमी है। पड़ोस में रह कर मेरी खातिर से इतना भी न करोगे?

बेचू—नहीं मुंशी जी, आपके लिए जान हाजिर है। चलिए कपड़े पसंद कर लीजिए, तो मैं उन पर और एक बेर इस्तरी करके ठीक कर दूँ। यही न होगा, गाहकों की घुड़कियाँ खानी पड़ेंगी। दो-चार गाहक टूट ही जायँगे तो कौन गम है।

4

मुंशी दाताराम ठाट से बारात में पहुँचे। यहाँ उनके बनारसी साफे, रेशमी अचकन और रेशमी चादर ने ऐसा रंग जमाया कि लोग समझने लगे, यह कोई बड़े रईस हैं। बेचू भी उनके साथ हो लिया था। मुंशी जी उसकी बड़ी खातिर कर रहे थे। उसे एक बोतल शराब दिला दी, भोजन करने गये तो एक पत्तल उसके वास्ते भी लेते आये। बेचू के बदले उसे चौधरी कह कर पुकारते थे। यह सारा ठाट-बाट उसी की बदौलत तो था।

आधी रात गुजर चुकी थी। महफिल उठ गयी थी। लोग सोने की तैयारियाँ कर रहे थे। बेचू मुंशी जी की चारपाई के पास एक चदरा ओढ़े पड़ा था। मुंशी जी ने कपड़े उतारे और बड़ी सावधानी से अलगनी पर लटका दिये। हुक्का तैयार था। लेटकर पीने लगे कि अकस्मात् साजिन्दों में से एक अताई आ कर सामने खड़ा हो गया और बोला—कहिए हजरत यह अचकन और साफा आपने कहाँ पाया ?

मुंशी जी ने उसकी ओर सशंक नेत्रों से देखकर कहा—इसका क्या मतलब ?

अताई—इसका मतलब यह है, यह दोनों चीज़ें मेरी हैं।

मुंशीजी ने दुस्साहसपूर्ण भाव से कहा—क्या तुम्हारे खयाल में रेशमी अचकन और साफा तुम्हारे सिवाय और किसी के पास हो ही नहीं सकता।

अताई—हो क्यों नहीं सकता। अल्लाह ने जिसे दिया है, वह पहनता है। एक से एक पड़े हुए हैं। मैं किस गिनती में हूँ। लेकिन यह दोनों चीज़ें मेरी हैं। अगर ऐसी अचकन शहर में किसी के पास निकल आये तो जो जरीबाना कहिए दूँ। मैंने इसकी सिलाई दस रुपये दिये हैं। ऐसा कोई कारीगर ही शहर में नहीं। ऐसी तराश करता है कि हाथ चूम लें। साफे पर भी मेरा निशान बना हुआ है। लाइए दिखा दूँ। मैं आपसे महज इतना पूछता चाहता हूँ कि आपने यह चीज़ें कहाँ पायीं।

मुंशी जी समझ गये कि अब अधिक तर्क-वितर्क का स्थान नहीं है। कहीं बात बढ़ जाय तो बेइज्जती हो। कूटनीति से काम न चलेगा। नम्रता से बोले—भाई, यह न पूछो, यहाँ इन बातों के कहने का मौका नहीं। हमारी और तुम्हारी इज्जत एक है। बस, इतना ही समझ लो कि इसी तरह दुनिया का काम चलता है। अगर ऐसे कपड़े बनवाने बैठता तो इस वक्त सैकड़ों के माथे जाती। यहाँ तो किसी तरह नवेद में शरीक होना था। तुम्हारे कपड़े खराब न होंगे, इसका जिम्मा मेरा। मैं इनकी एहतियात अपने कपड़ों से भी ज़्यादा करता हूँ।

अताई—कपड़े की मुझे फिकर नहीं, आपकी दुआ से अल्लाह ने बहुत दिया है। रईसों को खुदा सलामत रखे, उनकी बदौलत पाँचों उँगलियाँ घी में हैं। न मैं आपको बदनाम करना चाहता हूँ। आपकी जूतियों का गुलाम हूँ। मैं सिर्फ इतना जानना चाहता था कि कपड़े यह आपने किससे पाये। मैंने बेचू धोबी को धोने के लिए दिये थे। ऐसा तो नहीं हुआ कि कोई चोर बेचू के घर से उड़ा लाया हो, या किसी धोबी ने बेचू के घर से चुरा कर आपको दे दिये हों, क्योंकि बेचू ने अपने हाथ से आपको हरगिज कपड़े न दिये होंगे। वह ऐसा छिछोरापन नहीं करता। मैं खुद उससे इस तरह का मुआमला करना चाहता था, हाथों पर रुपये रख देता था, पर उसने कभी परवा न की। साहब रुपये उठा कर फेंक दिये और ऐसी डाँट बतायी कि मेरे होश उड़ गये। इधर का हाल मैं नहीं जानता, क्योंकि अब मैं उससे कभी ऐसी बातचीत ही नहीं करता। पर मुझे यकीन नहीं आता कि वह इतना बदनीयत हो गया होगा। इसलिए आपसे बार-बार पूछता हूँ कि आपने वह कपड़े कहाँ पाये ?

मुंशी जी—बेचू की निस्बत तुम्हारा जो खयाल है, वह बिलकुल ठीक है। वह ऐसा ही बेगरज आदमी है, लेकिन भाई पड़ोस का भी तो कुछ हक होता है। मेरे पड़ोस में रहता है, आठों पहर का साथ है। इधर से भी कुछ न कुछ सलूक होता ही रहता है। मेरी जरूरत देखी, पसीज गया। बस और कोई बात नहीं।

अताई ने बेचू की निस्पृहता के विषय में बड़ी अतिशयोक्ति से काम लिया था। न उसने बेचू के हाथ पर रुपये रखे थे और न बेचू ने कभी उसे डाँट बतायी थी। पर इस अतिशयोक्ति का प्रभाव बेचू पर उससे कहीं ज्यादा पड़ा जितना केवल बात को यथार्थ कह देने से पड़ सकता था। बेचू नींद में न सोया था। अताई की एक-एक बात उसने सुनी थी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि मेरी आत्मा किसी गहरी नींद से जाग रही है। दुनिया मुझे कितना ईमानदार, कितना सच्चा, कितना निष्कपट समझती है और मैं कितना बेईमान कितना दगाबाज हूँ। इसी झूठे इलजाम पर मैंने वह गाँव छोड़ा जहाँ बाप-दादों से रहता आया था। लेकिन यहाँ आकर दारू-शराब, घी-चीनी के पीछे तबाह हो गया।

बेचू यहाँ से लौटा तो दूसरा ही मनुष्य हो गया था या यों कहिए कि वह फिर अपनी खोयी हुई आत्मा को पा गया।

5

छह महीने बीत गये। संध्या का समय था। बेचू के लड़के मलखान के ब्याह की बातचीत करने के लिए मेहमान लोग आये हुए थे। बेचू स्त्री से कुछ सलाह करने के लिए घर में आया तो वह बोली—दारू कहाँ से आयेगी ? तुम्हारे पास कुछ है ?

बेचू—मेरे पास जो कुछ था, वह तुम्हें पहले ही नहीं दे दिया था ?

स्त्री—उससे तो मैं चावल, दाल, घी, यह सब सामान लायी। सात आदमियों का खाना बनाया है। सब उठ गये।

बेचू—तो फिर मैं क्या करूँ ?

स्त्री—बिना दारू लिए वह लोग भला खाने उठेंगे ? कितनी नामूसी होगी।

बेचू—नामूसी हो चाहे बदनामी हो, दारू लाना मेरे बस की बात नहीं। यही न होगा, ब्याह न ठीक होगा, न सही।

स्त्री—वह दुशाला धुलने के लिए नहीं आया है ? न हो किसी बनिये के यहाँ गिरवी रख कर चार-पाँच रुपये ले आओ, दो-तीन दिन में छुड़ा लेना, किसी तरह मरजाद तो निभानी चाहिए ? सब कहेंगे, नाम बड़े दरसन थोड़े। दारू तक न दे सका।

बेचू—कैसी बात करती है। यह दुशाला मेरा है ?

स्त्री—किसी का हो, इस बखत काम निकाल लो। कौन किसी से कहने जाता है।

बेचू—न, यह मुझसे न होगा, चाहे दारू मिले या न मिले।

यह कह कर बाहर चला आया। दोबारा भीतर गया तो देखा स्त्री जमीन से खोद कर कुछ निकाल रही है। उसे देखते ही गड्ढे को आँचल से छिपा लिया ?

बेचू मुस्कराता हुआ बाहर चला आया।

['हुस्ने-जन' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक 'जमाना' में, अक्टूबर, 1922 में प्रकशित। उर्दू में असंकलित। हिन्दी रूप 'लोकमत का सम्मान' शीर्षक से 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित।]

चकमा

सेठ चंदूमल जब अपनी दूकान और गोदाम में भरे हुए माल को देखते तो मुँह से ठंडी साँस निकल जाती। यह माल कैसे बिकेगा ? बैंक का सूद बढ़ रहा है, दूकान का किराया चढ़ रहा है, कर्मचारियों का वेतन बाकी पड़ता जाता है। ये सभी रकमें गाँठ से देनी पड़ेंगी। अगर कुछ दिन यही हाल रहा तो दिवाले के सिवा और किसी तरह जान न बचेगी। तिस पर भी धरनेवाले नित्य सिर पर शैतान की तरह सवार रहते हैं।

सेठ चंदूमल की दूकान चाँदनी चौक, दिल्ली में थी। मुफस्सिल में भी कई दूकानें

थीं। जब शहर काँग्रेस कमेटी ने उनसे बिलायती कपड़े की खरीद और बिक्री के विषय में प्रतिज्ञा करानी चाही तो उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। बाजार के कई आढ़तियों ने उनकी देखा-देखी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। चंदूमल को जो नेतृत्व कभी न नसीब हुआ था, वह इस अवसर पर बिना हाथ-पैर हिलाये ही मिल गया। वे सरकार के खैरख्वाह थे। साहब बहादुरों को समय-समय पर डालियाँ नजर देते थे। पुलिस से भी घनिष्ठता थी। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी थे। काँग्रेस के व्यापारिक कार्यक्रम का विरोध करके अमनसभा के कोषाध्यक्ष बन बैठे। यह इसी खैरख्वाही की बरकत थी। युवराज का स्वागत करने के लिए अधिकारियों ने उनसे पचीस हजार के कपड़े खरीदे। ऐसा सामर्थी पुरुष काँग्रेस से क्यों डरे ? काँग्रेस है किस खेत की मूली ? पुलिसवालों ने भी बढ़ावा दिया—"मुआहिदे पर हरगिज दस्तखत न कीजिएगा। देखें ये लोग क्या करते हैं। एक-एक को जेल न भिजवा दिया तो कहिएगा।" लाला जी के हौसले बढ़े। उन्होंने काँग्रेस से लड़ने की ठान ली। उसी के फलस्वरूप तीन महीनों से उनकी दूकान पर प्रातःकाल से नौ बजे रात तक पहरा रहता था। पुलिस-दलों ने उनकी दूकान पर वालंटियरों को कई बार गालियाँ दीं, कई बार पीटा, खुद सेठ जी ने भी कई बार उन पर बाण चलाये, परंतु पहरेवाले किसी तरह न टलते थे। बल्कि इन अत्याचारों के कारण चंदूमल का बाजार और भी गिरता जाता। मुफस्सिल की दूकानों से मुनीम लोग और भी दुराशाजनक समाचार भेजते रहते थे। कठिन समस्या थी। इस संकट से निकलने का कोई उपाय न था। वे देखते थे कि जिन लोगों ने प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं वे चोरी-छिपे कुछ-न-कुछ विदेशी माल लेते हैं। उनकी दूकानों पर पहरा नहीं बैठता। यह सारी विपत्ति मेरे ही सिर पर है।

उन्होंने सोचा, पुलिस और हाकिमों की दोस्ती से मेरा भला क्या हुआ ? उनके हटाये ये पहरे नहीं हटते। सिपाहियों की प्रेरणा से ग्राहक नहीं आते ! किसी तरह पहरे बन्द हो जाते तो सारा खेल बन जाता।

इतने में मुनीम जी ने कहा—लाला जी, यह देखिए, कई व्यापारी हमारी तरफ आ रहे थे। पहरेवालों ने उनको न जाने क्या मंत्र पढ़ा दिया, सब चले जा रहे हैं।

चंदूमल—अगर इन पापियों को कोई गोली मार देता तो मैं बहुत खुश होता। यह सब मेरा सर्वनाश करके दम लेंगे।

मुनीम—कुछ हेठी तो होगी, यदि आप प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर देते तो यह पहरा उठ जाता। तब हम भी यह सब माल किसी न किसी तरह खपा देते।

चंदूमल—मन में तो मेरे भी यह बात आती है, पर सोचो, अपमान कितना होगा ? इतनी हेकड़ी दिखाने के बाद फिर झुका नहीं जाता। फिर हाकिमों की निगाहों में गिर जाऊँगा। और लोग भी ताने देंगे कि चले थे बच्चा काँग्रेस से लड़ने ! ऐसी मुँह की खायी कि होश ठिकाने आ गये। जिन लोगों को पीटा और पिटवाया, जिनको गालियाँ दीं, जिनकी हँसी उड़ायी, अब उनकी शरण कौन मुँह ले कर जाऊँ ? मगर एक उपाय सूझ रहा है। अगर चकमा चल गया तो पौ बारह है। बात तो तब है जब साँप को मारूँ, मगर लाठी बचा कर। पहरा उठा दूँ, पर बिना किसी की खुशामद किये।

2

नौ बज गये थे। सेठ चंदूमल गंगा-स्नान करके लौट आये थे और मसनद पर बैठ कर चिट्ठियाँ पढ़ रहे थे। अन्य दूकानों के मुनीमों ने अपनी विपत्ति-कथा सुनायी थी। एक-एक पत्र को पढ़ कर सेठ जी का क्रोध बढ़ता जाता था। इतने में दो वालंटियर गाड़ियाँ लिये हुए उनकी दूकान के सामने आ कर खड़े हो गये !

सेठ जी ने डाँट कर कहा—हट जाओ हमारी दूकान के सामने से।

एक वालंटियर ने उत्तर दिया—महाराज, हम तो सड़क पर हैं। क्या यहाँ से भी चले जायँ ?

सेठ जी—मैं तुम्हारी सूरत नहीं देखना चाहता।

वालंटियर—तो आप काँग्रेस कमेटी को लिखिए। हमको तो वहाँ से यहाँ खड़े रह कर पहरा देने का हुक्म मिला है।

एक कान्सटेबिल ने आ कर कहा—क्या है सेठ जी, यह लौंडा क्या टर्राता है।

चंदूमल बोले—मैं कहता हूँ कि दूकान के सामने से हट जाओ, पर यह कहता है कि न हटेंगे, न हटेंगे। जरा इसकी जबरदस्ती देखो।

कान्सटेबिल—(वालंटियरों से) तुम दोनों यहाँ से जाते हो कि आ कर गरदन नापूँ ?

वालंटियर—हम सड़क पर खड़े हैं, दूकान पर नहीं।

कान्सटेबिल का अभीष्ट अपनी कारगुजारी दिखाना था। यह सेठ जी को खुश करके कुछ इनाम-इकराम भी लेना चाहता था। उसने वालंटियरों को अपशब्द कहे और जब उन्होंने उसकी कुछ परवा न की तो एक वालंटियर को इतने जोर से धक्का दिया कि वह बेचारा मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ा। कई वालंटियर इधर-उधर से आ कर जमा हो गये। कई सिपाही भी आ पहुँचे। दर्शकवृन्द को ऐसी घटनाओं में मजा आता ही है। उनकी भीड़ लग गयी। किसी ने हाँक लगायी 'महात्मा गाँधी की जय'। औरों ने भी उसके सुर में सुर मिलाया, देखते-देखते एक जनसमूह एकत्रित हो गया।

एक दर्शक ने कहा—क्या है लाला चंदूमल ? अपनी दूकान के सामने इन गरीबों की दुर्गति करा रहे हो और तुम्हें जरा भी लज्जा नहीं आती ? कुछ भगवान् का भी डर है या नहीं?

सेठ जी ने कहा—मुझसे कसम ले लो जो मैंने किसी सिपाही से कुछ कहा हो। ये लोग अनायास बेचारों के पीछे पड़ गये। मुझे सेंत में बदनाम करते हैं।

एक सिपाही—लाला जी, आप ही ने तो कहा था कि ये दोनों वालंटियर मेरे ग्राहकों को छेड़ रहे हैं। अब आप निकले जाते हैं ?

चंदूमल—बिलकुल झूठ, सरासर झूठ, सोलहों आना झूठ। तुम लोग अपनी कारगुजारी की धुन में इनसे उलझ पड़े। यह बेचारे तो दूकान से बहुत दूर खड़े थे। न किसी से बोलते थे, न चालते थे। तुमने जबरदस्ती ही इन्हें गरदनी देनी शुरू की। मुझे अपना सौदा बेचना है कि किसी से लड़ना है ?

दूसरा सिपाही—लाला जी, हो बड़े होशियार। मुझसे आग लगवा कर आप अलग हो गये। तुम न कहते तो हमें क्या पड़ी थी कि इन लोगों को धक्के देते ? दारोगा जी ने भी हमको ताकीद कर दी थी कि सेठ चन्दूमल की दूकान का विशेष ध्यान रखना। वहाँ कोई

वालंटियर न आये। तब हम लोग आये थे। तुम फरियाद न करते, तो दारोगा जी हमारी तैनाती ही क्यों करते ?

चंदूमल–दारोगा जी को अपनी कारगुजारी दिखानी होगी। मैं उनके पास क्यों फरियाद करने जाता ? सभी लोग काँग्रेस के दुश्मन हो रहे हैं। थाने वाले तो उनके नाम से ही जलते हैं। क्या मैं शिकायत करता तभी तुम्हारी तैनाती करते ?

इतने में किसी ने थाने में इत्तिला दी कि चन्दूमल की दूकान पर कांस्टेबिलों और वालंटियरों में मारपीट हो गयी। काँग्रेस के दफ्तर में भी खबर पहुँची। जरा देर में मय सशस्त्र पुलिस के थानेदार और इन्सपेक्टर साहब आ पहुँचे। उधर काँग्रेस के कर्मचारी भी दल-बल सहित दौड़े। समूह और बढ़ा। बार-बार जयकार की ध्वनि उठने लगी। काँग्रेस और पुलिस के नेताओं में वाद-विवाद होने लगा। परिणाम यह हुआ कि पुलिसवालों ने दोनों को हिरासत में लिया और थाने की ओर चले।

पुलिस अधिकारियों के जाने के बाद सेठ जी ने काँग्रेस के प्रधान से कहा–आज मुझे मालूम हुआ कि ये लोग वालंटियरों पर इतना घोर अत्याचार करते हैं।

प्रधान–तब तो दो वालंटियरों का फँसना व्यर्थ नहीं हुआ। इस विषय में अब तो आपको कोई शंका नहीं है ? हम कितने लड़ाकू, कितने द्रोही, कितने शांतिभंगकारी हैं; यह तो आपको खूब मालूम हो गया होगा ?

चंदूमल–जी हाँ, मालूम हो गया।

प्रधान–आपकी शहादत तो अवश्य ही होगी।

चंदूमल–होगी तो मैं भी साफ-साफ कह दूँगा; चाहे बने या बिगड़े। पुलिस की सख्ती अब नहीं देखी जाती। मैं भी भ्रम में पड़ा हुआ था।

मंत्री–पुलिसवाले आपको दबायेंगे बहुत।

चंदूमल–एक नहीं, सौ दबाव पड़ें, मैं झूठ कभी न बोलूँगा। सरकार उस दरबार में साथ न जायगी।

मंत्री–अब तो हमारी लाज आपके हाथ है।

चंदूमल–मुझे आप देश का द्रोही न पायेंगे।

यहाँ से प्रधान और मंत्री तथा अन्य पदाधिकारी चले तो मंत्री जी ने कहा–आदमी सच्चा जान पड़ता है।

प्रधान–(संदिग्ध भाव से) कल तक आप ही सिद्ध हो जायगा।

3

शाम को इन्सपेक्टर-पुलिस ने लाला चन्दूमल को थाने में बुलाया और कहा–आपको शहादत देनी होगी। हम आपकी तरफ से बेफिक्र हैं।

चंदूमल बोले–हाजिर हूँ।

इन्स.–वालंटियरों ने कान्स्टेबिलों को गालियाँ दीं ?

चंदूमल–मैंने नहीं सुनीं।

इन्स.–सुनी या न सुनी यह बहस नहीं है। आपको यह कहना होगा वह सब खरीदारों को धक्के दे कर हटा रहे थे, हाथापाई करते थे, मारने की धमकी देते थे, ये सभी

बातें कहनी होंगी। दारोगा जी, वह बयान लाइए जो मैंने सेठ जी के लिए लिखवाया है।

चंदूमल—मुझसे भरी अदालत में झूठ न बोला जायगा। अपने हजारों जाननेवाले अदालत में होंगे। किस-किस से मुँह छिपाऊँ ? कहीं निकलने को जगह भी चाहिए।

इन्स.—यह सब बातें निज के मुआमलों के लिए हैं। पोलिटिकल मुआमलों में झूठ-सच, शर्म और हया, किसी का भी खयाल नहीं किया जाता।

चंदूमल—मुँह में कालिख लग जायगी।

इन्स.—सरकार की निगाह में इज्जत चौगुनी हो जायगी।

चंदू—(सोच कर) जी नहीं, गवाही न दे सकूँगा। कोई और गवाह बना लीजिए।

इन्स.—याद रखिए, यह इज्जत खाक में मिल जायगी।

चंदू—मिल जाय; मजबूरी है।

इन्स.—अमन-सभा के कोषाध्यक्ष का पद छिन जायगा।

चंदू—उससे कौन रोटियाँ चलती हैं ?

इन्स.—बंदूक का लाइसेंस छिन जायगा।

चंदू.—छिन जाय; बला से !

इन्स.—इनकम टैक्स की जाँच फिर से होगी।

चंदू.—जरूर कराइए। यह तो मेरे मन की बात हुई।

इन्स.—बैठने को कुरसी न मिलेगी।

चंदू.—कुरसी ले कर चाटूँ ? दिवाला तो निकला जा रहा है।

इन्स.—अच्छी बात है। तशरीफ ले जाइए। कभी तो आप पंजे में आयेंगे।

4

दूसरे दिन इसी समय काँग्रेस के दफ्तर में कल के लिए कार्यक्रम निश्चित किया जा रहा था। प्रधान ने कहा—सेठ चंदूमल की दूकान पर धरना देने के लिए दो स्वयंसेवक भेजिए।

मंत्री—मेरे विचार में वहाँ अब धरना देने की कोई जरूरत नहीं।

प्रधान—क्यों ? उन्होंने अभी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर तो नहीं किये ?

मंत्री—हस्ताक्षर नहीं किये, पर हमारे मित्र अवश्य हो गये। पुलिस की तरफ से गवाही न देना यही सिद्ध करता है। अधिकारियों का कितना दबाव पड़ा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। यह नैतिक साहस में परिवर्तन हुए बिना नहीं आ सकता।

प्रधान—हाँ कुछ परिवर्तन तो अवश्य हुआ है।

मंत्री—कुछ नहीं महाशय ! पूरी क्रांति कहना चाहिए। आप जानते हैं, ऐसे मुआमलों में अधिकारियों की अवहेलना करने का क्या अर्थ है ? यह राजविद्रोह की घोषणा के समान है ! त्याग में संन्यास से इसका महत्त्व कम नहीं है। आज जिले के सारे हाकिम उनके खून के प्यासे हो रहे हैं। आश्चर्य नहीं कि गवर्नर महोदय को भी इसकी सूचना दी गयी हो।

प्रधान—और कुछ नहीं तो उन्हें नियम का पालन करने ही के लिए प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देना चाहिएं था। किसी तरह उन्हें यहाँ बुलाइए। अपनी बात तो रह जाय।

मंत्री—वह बड़ा आत्माभिमानी है, कभी न आयेगा। बल्कि हम लोगों की ओर से इतना अविश्वास देख कर सम्भव है कि फिर उस दल में मिलने की चेष्टा करने लगे।

प्रधान—अच्छी बात है, आपको उन पर इतना विश्वास हो गया है तो उनकी दूकान छोड़ दीजिए। तब भी मैं यही कहूँगा कि आपको स्वयं मिलने के बहाने से उस पर निगाह रखनी होगी।

मंत्री—आप नाहक इतना शक करते हैं।

नौ बजे सेठ चंदूमल अपनी दूकान पर आये तो वहाँ एक भी वालंटियर न था। मुख पर मुस्कराहट की झलक आयी। मुनीम से बोले—कौड़ी चित्त पड़ी।

मुनीम—मालूम तो होता है। एक महाशय भी नहीं आये।

चंदूमल—न आये और न आयेंगे। बाजी अपने हाथ रही। कैसा दाँव खेला—चारों खाने चित्त।

चंदू.—आप भी बातें करते हैं ? इन्हें दोस्त बनाते कितनी देर लगती है। कहिए, अभी बुला कर जूतियाँ सीधी करवाऊँ। टके के गुलाम हैं, न किसी के दोस्त, न किसी के दुश्मन। सच कहिए, कैसा चकमा दिया है ?

मुनीम—बस, यही जी चाहता है कि आपके हाथ चूम लें। साँप भी मरा और लाठी भी न टूटी। मगर काँग्रेसवाले भी टोह में होंगे।

चंदूमल—तो मैं भी तो मौजूद हूँ। वह डाल-डाल चलेंगे, तो मैं पात-पात चलूँगा। विलायती कपड़े की गाँठ निकलवाइए और व्यापारियों को देना शुरू कीजिए। एक अठवारे में बेड़ा पार है।

[हिन्दी कहानी। 'प्रभा' मासिक में नवम्बर, 1922 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित। उर्दू रूप इसी शीर्षक से उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

पूर्व-संस्कार

सज्जनों के हिस्से में भौतिक उन्नति कभी भूल कर ही आती है। रामटहल विलासी, दुर्व्यसनी, चरित्र हीन आदमी थे, पर सांसारिक व्यवहारों में चतुर, सूद-ब्याज के मामले में दक्ष और मुकदमे-अदालत में कुशल थे। उनका धन बढ़ता था। सभी उनके असामी थे। उधर उन्हीं के छोटे भाई शिवटहल साधु-भक्त, धर्म-परायण और परोपकारी जीव थे। उनका धन घटता जाता था। उनके द्वार पर दो-चार अतिथि बने रहते थे। बड़े भाई का सारे मुहल्ले पर दबाव था। जितने नीच श्रेणी के आदमी थे, उनका हुक्म पाते ही फौरन उनका काम करते थे। उनके घर की मरम्मत बेगार में हो जाती। ऋणी कुँजड़े साग-भाजी भेंट में दे जाते हैं। ऋणी ग्वाला उन्हें बाजार-भाव से ड्योढ़ा दूध देता। छोटे भाई का किसी पर रोब न था। साधु-संत आते और इच्छापूर्ण भोजन करके अपनी राह लेते। दो-चार आदमियों को रुपये उधार दिये भी तो सूद के लालच से नहीं, बल्कि संकट से छुड़ाने के लिये। कभी जोर दे कर तगादा न करते कि कहीं उन्हें दुःख न हो।

इस तरह कई साल गुजर गये। यहाँ तक कि शिवटहल की सारी सम्पत्ति परमार्थ में उड़ गयी। रुपये भी बहुत डूब गये ! उधर रामटहल ने नया मकान बनवा लिया। सोने-

चाँदी की दूकान खोल ली। थोड़ी जमीन भी खरीद ली और खेती-बारी भी करने लगे।

शिवटहल को अब चिंता हुई। निर्वाह कैसे होगा ? धन न था कि कोई रोजगार करते। वह व्यवहार बुद्धि भी न थी, जो बिना धन के भी अपनी राह निकाल लेती है। किसी से ऋण लेने की हिम्मत न पड़ती थी। रोजगार में घाटा हुआ तो देंगे कहाँ से? किसी दूसरे आदमी की नौकरी भी न कर सकते थे। कुल-मर्यादा भंग होती थी। दो-चार महीने तो ज्यों-त्यों करके काटे, अंत में चारों ओर से निराश हो कर बड़े भाई के पास गये और कहा—भैया, अब मेरे और मेरे परिवार के पालन का भार आपके ऊपर है। आपके सिवा अब किसकी शरण लूँ ?

रामटहल ने कहा—इसकी कोई चिन्ता नहीं। तुमने कुकर्म में तो धन उड़ाया नहीं। जो कुछ किया, उससे कुल-कीर्ति ही फैली है। मैं धूर्त हूँ; संसार को ठगना जानता हूँ। तुम सीधे-सादे आदमी हो। दूसरों ने तुम्हें ठग लिया। यह तुम्हारा ही घर है। मैंने जो जमीन ली है, उसकी तहसील वसूल करो, खेती-बारी का काम सँभालो। महीने में तुम्हें जितना खर्च पड़े, मुझसे ले जाओ। हाँ, एक बात मुझसे न होगी। मैं साधु-संतों का सत्कार करने को एक पैसा भी न दूँगा और न तुम्हारे मुँह से अपनी निंदा सुनूँगा।

शिवटहल ने गद्गद् कंठ से कहा—भैया, मुझसे इतनी भूल अवश्य हुई कि मैं सबसे आपकी निंदा करता रहा हूँ, उसे क्षमा करो। अब से मुझे अपनी निंदा करते सुनना तो जो चाहे दंड देना। हाँ, आपसे मेरी एक विनय है। मैंने अब तक अच्छा किया या बुरा, पर भाभी जी को मना कर देना कि उसके लिए मेरा तिरस्कार न करें।

रामटहल—अगर वह कभी तुम्हें ताना देंगी, तो मैं उनकी जीभ खींच लूँगा।

2

रामटहल की जमीन शहर से दस-बारह कोस पर थी। वहाँ एक कच्चा मकान भी था। बैल, गाड़ी, खेती की अन्य सामग्रियाँ वहीं रहती थीं। शिवटहल ने अपना घर भाई को सौंपा और अपने बाल-बच्चों को ले कर गाँव चले गये। वहाँ उत्साह के साथ काम करने लगे। नौकरों ने काम में चौकसी की। परिश्रम का फल मिला। पहले ही साल उपज ड्योढ़ी हो गयी और खेती का खर्च आधा रह गया।

पर स्वभाव को कैसे बदलें ? पहले की तरह तो नहीं, पर अब भी दो-चार मूर्तियाँ शिवटहल की कीर्ति सुनकर आ ही जाती थीं। और शिवटहल को विवश हो कर उनकी सेवा और सत्कार करना ही पड़ता था। हाँ, अपने भाई से यह बात छिपाते थे कि कहीं वह अप्रसन्न हो कर जीविका का यह आधार भी न छीन लें। फल यह होता कि उन्हें भाई से छिपा कर अनाज, भूसा, खली आदि बेचना पड़ता। इस कमी को पूरी करने के लिए वह मजदूरों से और भी कड़ी मेहनत लेते थे और खुद भी कड़ी मेहनत करते। धूप-ठंड, पानी-बूँदी की बिलकुल परवाह न करते थे। मगर कभी इतना परिश्रम तो किया न था। शरीर शक्तिहीन होने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा मिलता था। उस पर कोई ठीक समय नहीं। कभी दोपहर को खाया, कभी तीसरे पहर। कभी प्यास लगी, तो तालाब का पानी पी लिया। दुर्बलता रोग का पूर्व रूप है। बीमार पड़ गये। देहात में दवा-दारू का सुभीता न था। भोजन में भी कुपथ्य करना पड़ता था। रोग ने जड़ पकड़ ली। ज्वर ने प्लीहा का रूप

धारण किया और प्लीहा ने छह महीने में काम तमाम कर दिया।

रामटहल ने यह शोक-समाचार सुना, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन तीन वर्षों में उन्हें एक पैसे का नाज नहीं लेना पड़ा। गुड़, घी, भूसा-चारा, उपले-ईंधन सब गाँव से चला आता था। बहुत रोये, पछतावा हुआ कि मैंने भाई की दवा-दरपन की कोई फिक्र नहीं की; अपने स्वार्थ की चिंता में उसे भूल गया। लेकिन मैं क्या जानता था कि मलेरिया का ज्वर प्राणघातक ही होगा ! नहीं तो यथाशक्ति अवश्य इलाज करता। भगवान् की यही इच्छा थी फिर मेरा क्या वश !

3

अब कोई खेती को सँभालने वाला न था। इधर रामटहल को खेती का मजा मिल गया था! उस पर विलासिता ने उसका स्वास्थ्य भी नष्ट कर डाला था। अब वह देहात के स्वच्छ जलवायु में रहना चाहते थे। निश्चय किया कि खुद ही गाँव में जाकर खेती-बारी करूँ। लड़का जवान हो गया था। शहर का लेन-देन उसे सौंपा और देहात चले आये।

यहाँ उनका समय और चित्त विशेष कर गौओं की देखभाल में लगता था। उनके पास एक जमुनापारी बड़ी रास की गाय थी। उसे कई साल हुए बड़े शौक से खरीदा था। दूध खूब देती थी, और सीधी वह इतनी कि बच्चा भी सींग पकड़ ले, तो न बोलती! वह इन दिनों गाभिन थी। उसे बहुत प्यार करते थे। शाम-सबेरे उसकी पीठ सुहलाते, अपने हाथों से नाज खिलाते। कई आदमी उसके ड्योढे दाम देते थे, पर रामटहल ने न बेची। जब समय पर गऊ ने बच्चा दिया, तो रामटहल ने धूमधाम से उसका जन्मोत्सव मनाया, कितने ही ब्राह्मणों को भोजन कराया। कई दिन तक गाना-बजाना होता रहा। इस बछड़े का नाम रखा गया 'जवाहिर'। एक ज्योतिषी से उसका जन्म-पत्र भी बनवाया गया। उसके अनुसार बछड़ा बड़ा होनहार, बड़ा भाग्यशाली, स्वामिभक्त निकला। केवल छठे वर्ष उस पर एक संकट की शंका थी। उससे बच गया तो फिर जीवन-पर्यन्त सुख से रहेगा।

बछड़ा श्वेत-वर्ण था। उसके माथे पर एक लाल तिलक था। आँखें कजरी थीं। स्वरूप का अत्यन्त मनोहर और हाथ-पाँव का सुडौल था। दिन भर कलोलें किया करता। रामटहल का चित्त उसे छलाँगें भरते देख कर प्रफुल्लित हो जाता था। वह उनसे इतना हिल-मिल गया कि उनके पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति दौड़ा करता था। जब वह शाम और सुबह को अपनी खाट पर बैठ कर असामियों से बातचीत करने लगते, तो जवाहिर उनके पास खड़ा हो कर उनके हाथ या पाँव को चाटता था। वह प्यार से उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगते, तो उसकी पूँछ खड़ी हो जाती और आँखें हृदय के उल्लास से चमकने लगतीं। रामटहल को भी उससे इतना स्नेह था कि जब तक वह उनके सामने चौके में न बैठा हो, भोजन में स्वाद न मिलता। वह उसे बहुधा गोद में चिपटा लिया करते। उसके लिए चाँदी का हार, रेशमी फूल, चाँदी की झाँझें बनवायीं। एक आदमी उसे नित्य नहलाता और झाड़ता-पोंछता रहता था। जब कभी वह किसी काम से दूसरे गाँव में चले जाते तो उन्हें घोड़े पर आते देख कर जवाहिर कुलेलें मारता हुआ उसके पास पहुँच जाता और उनके पैरों को चाटने लगता। पशु और मनुष्य में यह पिता-पुत्र-सा प्रेम देख कर लोग चकित हो जाते।

4

जवाहिर की अवस्था ढाई वर्ष की हुई। रामटहल ने उसे अपनी सवारी की बहली के लिए निकालने का निश्चय किया। वह अब बछड़े से बैल हो गया था। उसका ऊँचा डील, गठे हुए अंग, सुदृढ़ मांसपेशियाँ, गर्दन के ऊपर ऊँचा डील, चौड़ी छाती और मस्तानी चाल थी। ऐसा दर्शनीय बैल सारे इलाके में न था। बड़ी मुश्किल से उसका बाँधा मिला। पर देखने वाले साफ कहते थे कि जोड़ नहीं मिला। रुपये आपने बहुत खर्च किये हैं, पर कहाँ जवाहिर और कहाँ यह ! कहाँ लैंप और कहाँ दीपक !

पर कौतूहल की बात यह थी कि जवाहिर को कोई गाड़ीवान हाँकता तो वह आगे पैर न उठाता। गर्दन हिला-हिला कर रह जाता। मगर जब रामटहल आप पगहा हाथ में ले लेते और एक बार चुमकार कर कहते—चलो बेटा, तो जवाहिर उन्मत्त होकर गाड़ी को ले उड़ता। दो-दो कोस तक बिना रुके, एक ही साँस में दौड़ता चला जाता। घोड़े भी उसका मुकाबला न कर सकते।

एक दिन संध्या समय जब जवाहिर नाँद में खली और भूसा खा रहा था और रामटहल उसके पास खड़े उसकी मक्खियाँ उड़ा रहे थे, एक साधु महात्मा आ कर द्वार पर खड़े हो गये। रामटहल ने अविनयपूर्ण भाव से कहा—यहाँ क्यों खड़े हो महाराज, आगे जाओ।

साधु—कुछ नहीं बाबा, इसी बैल को देख रहा हूँ। मैंने ऐसा सुन्दर बैल नहीं देखा।

रामटहल—(ध्यान दे कर) घर ही का बछड़ा है।

साधु—साक्षात् देवरूप है।

यह कह कर महात्मा जी जवाहिर के निकट गये और उसके खुर चूमने लगे।

रामटहल—आपका शुभागमन कहाँ से हुआ ? आज यहीं विश्राम कीजिए तो बड़ी दया हो।

साधु—नहीं बाबा, क्षमा करो। मुझे आवश्यक कार्य से रेलगाड़ी पर सवार होना है। रातों-रात चला जाऊँगा ! ठहरने से विलम्ब होगा।

रामटहल—तो फिर और कभी दर्शन होंगे ?

साधु—हाँ, तीर्थ-यात्रा से तीन वर्ष में लौट कर इधर से फिर जाना होगा। तब आपकी इच्छा होगी तो ठहर जाऊँगा ! आप बड़े भाग्यशाली पुरुष हैं कि आपको ऐसे देवरूप नंदी की सेवा का अवसर मिल रहा है। इन्हें पशु न समझिए, यह कोई महान् आत्मा है। इन्हें कष्ट न दीजिएगा। इन्हें कभी फूल से भी न मारिएगा।

यह कह कर साधु ने फिर जवाहिर के चरणों पर सीस नवाया और चले गये।

5

उस दिन से जवाहिर की और भी खातिर होने लगी। वह पशु से देवता हो गया। रामटहल उसे पहले रसोई के सब पदार्थ खिलाकर तब आप भोजन करते। प्रातःकाल उठ कर उसके दर्शन करते। यहाँ तक कि वह उसे अपनी बहली में भी न जोतना चाहते। लेकिन जब उनको कहीं जाना होता और बहली बाहर निकाली जाती, तो जवाहिर उसमें जुतने के लिये

इतना अधीर और उत्कंठित हो जाता, सिर हिला-हिला कर इस तरह अपनी उत्सुकता प्रकट करता कि रामटहल को विवश हो कर उसे जोतना पड़ता। दो-एक बार वह दूसरी जोड़ी जोत कर चले तो जवाहिर को इतना दुःख हुआ कि उसने दिन भर नाँद में मुँह नहीं डाला। इसलिए वह अब बिना किसी विशेष कार्य के कहीं जाते ही न थे।

उनकी श्रद्धा देख कर गाँव के अन्य लोगों ने भी जवाहिर को अन्न ग्रास देना शुरू किया। सुबह उसके दर्शन करने तो प्रायः सभी आ जाते थे।

इस प्रकार तीन साल और बीते। जवाहिर को छठा वर्ष लगा।

रामटहल को ज्योतिषी की बात याद थी। भय हुआ, कहीं उसकी भविष्यवाणी सत्य न हो। पशु-चिकित्सा की पुस्तकें मँगा कर पढ़ीं। पशु-चिकित्सक से मिले और कई औषधियाँ ला कर रखीं। जवाहिर को टीका लगवा दिया। कहीं नौकर उसे खराब चारा या गंदा पानी न खिला-पिला दें, इस आशंका से वह अपने हाथों से उसे खोलने-बाँधने लगे। पशुशाला का फर्श पक्का करा दिया जिसमें कोई कीड़ा-मकोड़ा न छिप सके। उसे नित्यप्रति खूब धुलवाते भी थे।

संध्या हो गयी थी। रामटहल नाँद के पास खड़े जवाहिर को खिला रहे थे कि इतने में सहसा वही साधु महात्मा आ निकले जिन्होंने आज से तीन वर्ष पहले दर्शन दिये थे। रामटहल उन्हें देखते ही पहचान गये। जाकर दंडवत् की, कुशल-समाचार पूछे और उनके भोजन का प्रबन्ध करने लगे। इतने में अकस्मात् जवाहिर ने जोर से डकार ली और धम-से भूमि पर गिर पड़ा। रामटहल दौड़े हुए उसके पास आये। उसकी आँखें पथरा रही थीं। पहले एक स्नेहपूर्ण दृष्टि उन पर डाली और चित हो गया।

रामटहल घबराये हुए घर से दवाएँ लाने दौड़े। कुछ समझ में न आया कि खड़े-खड़े इसे हो क्या गया। जब वह घर में से दवाइयाँ ले कर निकले तब जवाहिर का अंत हो चुका था।

रामटहल शायद अपने छोटे भाई की मृत्यु पर भी इतने शोकातुर न हुए थे। वह बार-बार लोगों के रोकने पर भी दौड़-दौड़ कर जवाहिर के शव के पास जाते और उससे लिपट कर रोते।

रात उन्होंने रो-रो कर काटी। उसकी सूरत आँखों से न उतरती थी। रह-रह कर हृदय में एक वेदना-सी होती और शोक से विह्वल हो जाते।

प्रातःकाल लाश उठायी गयी, किन्तु रामटहल ने गाँव की प्रथा के अनुसार उसे चमारों के हवाले नहीं किया। यथाविधि उसकी दाह-क्रिया की, स्वयं आग दी। शास्त्रानुसार सब संस्कार किये। तेरहवें दिन गाँव के ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। उक्त साधु महात्मा को उन्होंने अब तक नहीं जाने दिया था। उनकी शांति देने वाली बातों से रामटहल को बड़ी सांत्वना मिलती थी।

6

एक दिन रामटहल ने साधु से पूछा—महात्मा जी, कुछ समझ में नहीं आता कि जवाहिर को कौन-सा रोग हुआ था। ज्योतिषी जी ने उसके जन्मपत्र में लिखा था कि उसका छठा साल अच्छा न होगा। लेकिन मैंने इस तरह किसी जानवर को मरते नहीं देखा। आप तो योगी हैं,

यह रहस्य कुछ आपकी समझ में आता है।

साधु—हाँ, कुछ थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ।

रामटहल—कुछ मुझे भी बताइए। चित्त को धैर्य नहीं आता।

साधु—वह उस जन्म का कोई सच्चरित्र, साधु-भक्त, परोपकारी जीव था। उसने आपकी सारी सम्पत्ति धर्म-कार्यों में उड़ा दी थी। आपके सम्बन्धियों में ऐसा कोई सज्जन था ?

रामटहल—हाँ महाराज, था।

साधु—उसने तुम्हें धोखा दिया—तुमसे विश्वासघात किया। तुमने उसे अपना कोई काम सौंपा था। वह तुम्हारी आँख बचा कर तुम्हारे धन से साधुजनों की सेवा-सत्कार किया करता था।

रामटहल—मुझे उस पर इतना संदेह नहीं होता। वह इतना सरल प्रकृति, इतना सच्चरित्र मनुष्य था कि बेईमानी करने का उसे कभी ध्यान भी नहीं आ सकता था।

साधु—लेकिन उसने विश्वासघात अवश्य किया। अपने स्वार्थ के लिए नहीं, अतिथि-सत्कार के लिए सही, पर था वह विश्वासघाती।

रामटहल—संभव है दुरवस्था ने उसे धर्म-पथ से विचलित कर दिया हो।

साधु—हाँ, यही बात है। उस प्राणी को स्वर्ग में स्थान देने का निश्चय किया गया। पर उसे विश्वासघात का प्रायश्चित्त करना आवश्यक था। उसने बेईमानी से तुम्हारा जितना धन हर लिया था, उसकी पूर्ति करने के लिए उसे तुम्हारे यहाँ पशु का जन्म दिया गया। यह निश्चय कर लिया गया कि छह वर्ष में प्रायश्चित्त पूरा हो जायगा। इतनी अवधि तक वह तुम्हारे यहाँ रहा। ज्यों ही अवधि पूरी हो गयी त्यों ही उसकी आत्मा निष्पाप और निर्लिप्त हो कर निर्वाणपद को प्राप्त हो गयी।

महात्मा जी तो दूसरे दिन विदा हो गये, लेकिन रामटहल के जीवन में उसी दिन से एक बड़ा परिवर्तन देख पड़ने लगा। उनकी चित्त-वृत्ति बदल गयी। दया और विवेक से हृदय परिपूर्ण हो गया। वह मन में सोचते, जब ऐसे धर्मात्मा प्राणी को जरा से विश्वासघात के लिए इतना कठोर दंड मिला तो मुझ जैसे कुकर्मी की क्या दुर्गति होगी! यह बात उनके ध्यान से कभी न उतरती थी।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'माधुरी' में, दिसम्बर, 1922 में प्रकाशित। केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई है। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित।]

राज्य-भक्त

संध्या का समय था। लखनऊ के बादशाह नासिरुद्दीन अपने मुसाहबों और दरबारियों के साथ बाग की सैर कर रहे थे। उनके सिर पर रत्नजटित मुकुट की जगह अँग्रेजी टोपी थी। वस्त्र भी अँग्रेजी ही थे। मुसाहबों में पाँच अँग्रेज थे। उनमें से एक के कन्धे पर सिर रख कर

बादशाह चल रहे थे। तीन-चार हिंदुस्तानी भी थे। उनमें से एक राजा बख्तावरसिंह थे। वह बादशाही सेना के अध्यक्ष थे। उन्हें सब लोग "जेनरल" कहा करते थे। वह अधेड़ आदमी थे। शरीर खूब गठा हुआ था। लखनवी पहनावा उन पर बहुत सजता था। मुख से विचारशीलता झलक रही थी। दूसरे महाशय का नाम रोशनुद्दौला था। यह राज्य के प्रधानमंत्री थे। बड़ी-बड़ी मूँछें और नाटा डील था, जिसे ऊँचा करने के लिए वह तन कर चलते थे। नेत्रों से गर्व टपक रहा था। शेष लोगों में एक कोतवाल था और दो बादशाह के रक्षक। यद्यपि अभी 19वीं शताब्दी का आरंभ ही था, पर बादशाह ने अँग्रेजी रहन-सहन अख्तियार कर ली थी। भोजन भी प्रायः अँग्रेजी ही करते थे। अँग्रेजों पर उनका असीम विश्वास था। वह सदैव उनका पक्ष लिया करते थे। मजाल न थी कि कोई बड़े-से-बड़ा राजा या राजकर्मचारी किसी अँग्रेज से बराबरी करने का साहस कर सके।

अगर किसी में यह हिम्मत थी, तो वह राजा बख्तावरसिंह थे। उनसे कंपनी का बढ़ता हुआ अधिकार न देखा जाता था; कंपनी की उस सेना की संख्या जो उसने अवध के राज्य की रक्षा के लिए लखनऊ में नियुक्त की थी, दिन-दिन बढ़ती जाती थी। उसी परिणाम से सेना का व्यय भी बढ़ रहा था। राज-दरबार उसे चुका न सकने के कारण कंपनी का ऋणी होता जाता था। बादशाही सेना की दशा हीन से हीनतर होती जाती थी। उसमें न संगठन था, न बल। बरसों तक सिपाहियों का वेतन न मिलता था। शस्त्र सभी पुराने थे। वर्दी फटी हुई। कवायद का नाम नहीं। कोई उनका पूछनेवाला न था। अगर राजा बख्तावरसिंह वेतन-वृद्धि या नये शस्त्रों के सम्बन्ध में कोई प्रयत्न करते तो कम्पनी का रेजीडेंट उसका घोर विरोध और राज्य पर विद्रोहात्मक शक्ति-संचार का दोषारोपण करता था। उधर से डाँट पड़ती तो बादशाह अपना गुस्सा राजा साहब पर उतारते। बादशाह के सभी अँग्रेज मुसाहब राजासाहब से शंकित रहते और उनकी जड़ खोदने का प्रयास किया करते थे। पर वह राज्य का सेवक एक ओर अवहेलना और दूसरी ओर से घोर विरोध सहते हुए भी अपने कर्तव्य का पालन करता जाता था। मजा यह कि सेना भी उनसे संतुष्ट न थी। सेना में अधिकांश लखनऊ के शोहदे और गुंडे भरे हुए थे। राजा साहब जब उन्हें हटा कर अच्छे-अच्छे जवानों की भरती करने की चेष्टा करते, तो सारी सना में हाहाकार मच जाता। लोगों को शंका होती कि यह राजपूतों की सेना बना कर कहीं राज्य ही पर तो हाथ नहीं बढ़ाना चाहते ? इसलिए मुसलमान भी उनसे बदगुमान रहते थे। राजा साहब के मन में बार-बार प्रेरणा होती कि इस पद को त्याग कर चले जायँ; पर यह भय उन्हें रोकता था कि मेरे हटते ही अँग्रेजों की बन आयेगी और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन जायँगे, रही-सही सेना के हाथ अवध-राज्य का अस्तित्त्व भी मिट जायगा। अतएव इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी चारों ओर बैर-विरोध से घिरे होने पर भी, वह अपने पद से हटने का निश्चय न कर सकते थे। सबसे कठिन समस्या यह थी कि रोशनुद्दौला भी राजा साहब से खार खाता था। उसे सदैव शंका रहती कि यह मराठों से मैत्री करके अवध-राज्य को मिटाना चाहते हैं। इसलिए वह राजा साहब के प्रत्येक कार्य में बाधा डालता रहता था। उसे अब भी आशा थी कि अवध का मुसलमानी राज्य अगर जीवित रह सकता है, तो अँग्रेजों के संरक्षण में, अन्यथा वह अवश्य हिंदुओं की बढ़ती हुई शक्ति का ग्रास बन जायगा।

वास्तव में बख्तावरसिंह की दशा अत्यंत करुण थी। वह अपनी चतुराई से जिह्वा की

भाँति दाँतों के बीच में पड़े हुए अपना काम किये जाते थे। यों तो वह स्वभाव के अक्खड़ थे, अपना काम निकालने के लिए मधुरता और मृदुलता, शील और विनय का आवाहन करते रहते थे। इससे उनके व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती थी और वह शत्रुओं को उनकी ओर से और भी सशंक बना देती थी।

बादशाह ने एक अँग्रेज मुसाहब से पूछा—तुमको मालूम है, मैं तुम्हारी कितनी खातिर करता हूँ ? मेरी सल्तनत में किसी की मजाल नहीं कि वह किसी अँग्रेज को कड़ी निगाहों से देख सके।

अँग्रेज मुसाहब ने सिर झुका कर कहा—हम हुजूर की इस मिहरबानी को कभी नहीं भूल सकते।

बा.—इमामहुसैन की कसम, अगर यहाँ कोई आदमी तुम्हें तकलीफ दे, तो मैं उसे फौरन जिंदा दीवार में चुनवा दूँ।

बादशाह की आदत थी कि वह बहुधा अपनी अँग्रेजी टोपी हाथ में ले कर उसे उँगली पर नचाने लगते थे। रोज-रोज नचाते-नचाते टोपी में उँगली का घर हो गया था। इस समय जो उन्होंने टोपी उठा कर उँगली पर रखी तो टोपी में छेद हो गया। बादशाह का ध्यान अँग्रेजों की तरफ था। बख्तावरसिंह बादशाह के मुँह से ऐसी बात सुन कर कबाब हुए जाते थे। उक्त कथन में कितनी खुशामद, कितनी नीचता और अवध की प्रजा तथा राजों का कितना अपमान था ! और लोग तो टोपी का छिद्र देख कर हँसने लगे, पर राजा बख्तावरसिंह के मुँह से अनायास निकल गया—हुजूर, ताज में सुराख हो गया।

राजा साहब के शत्रुओं ने तुरंत कानों पर उँगलियाँ रख लीं। बादशाह को भी ऐसा मालूम हुआ कि राजा ने मुझ पर व्यंग्य किया। उनके तेवर बदल गये। अँग्रेजों और अन्य सभासदों ने इस प्रकार कानाफूसी शुरू की, जैसे कोई महान् अनर्थ हो गया। राजा साहब के मुँह से अनर्गल शब्द अवश्य निकले। इसमें कोई संदेह नहीं था। संभव है, उन्होंने जान-बूझ कर व्यंग्य न किया हो, उनके दुःखी हृदय ने साधारण चेतावनी को यह तीव्र रूप दे दिया; पर बात बिगड़ जरूर गयी थी। अब उनके शत्रु उन्हें कुचलने के ऐसे सुन्दर अवसर को हाथ से क्यों जाने देते ?

राजा साहब ने सभा का यह रंग देखा, तो खून सर्द हो गया। समझ गये, आज शत्रुओं के पंजे में फँस गया और ऐसा बुरा फँसा कि भगवान् ही निकालें, तो निकल सकता हूँ।

बादशाह ने कोतवाल से लाल आँखें करके कहा—इस नमकहराम को कैद कर लो और इसी वक्त इसका सिर उड़ा दो। इसे मालूम हो जाय कि बादशाहों से बेअदबी करने का क्या नतीजा होता है।

कोतवाल को सहसा 'जेनरल' पर हाथ बढ़ाने की हिम्मत न पड़ी। रोशनुद्दौला ने उससे इशारे से कहा—खड़े सोचते क्या हो, पकड़ लो, नहीं तो तुम भी इसी आग में जल जाओगे।

तब कोतवाल ने आगे बढ़ कर बख्तावरसिंह को गिरफ्तार कर लिया। एक क्षण में उनकी मुश्कें कस दी गयीं। लोग उन्हें चारों ओर से घेर कर कत्ल करने ले चले।

बादशाह ने मुसाहबों से कहा—मैं भी वहीं चलता हूँ। जरा देखूँगा कि नमकहरामों

की लाश क्योंकर तड़पती है।

कितनी घोर पशुता थी ! यही प्राण जरा देर पहले बादशाह का विश्वासपात्र था !

एकाएक बादशाह ने कहा—पहले इस नमकहराम की खिलअत उतार लो। मैं नहीं चाहता कि मेरी खिलअत की बेइज्जती हो।

किसकी मजाल थी, जो जरा भी जबान हिला सके। सिपाहियों ने राजा साहब के वस्त्र उतारने शुरू किये। दुर्भाग्यवश उनकी एक जेब से पिस्तौल निकल आयी। उसकी दोनों नालियाँ भरी हुई थीं। पिस्तौल देखते ही बादशाह की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोले—कसम है हजरत इमामहुसैन की, अब इसकी जाँबख्शी नहीं करूँगा। मेरे साथ भरी हुई पिस्तौल की क्या जरूरत ! जरूर इसकी नीयत में फितूर था। अब मैं इसे कुत्तों से नुचवाऊँगा। (मुसाहबों की तरफ देख कर) देखा तुम लोगों ने इसकी नीयत ! मैं अपनी आस्तीन में साँप पाले हुए था। आप लोगों के खयाल में इसके पास भरी हुई पिस्तौल का निकलना क्या माने रखता है।

अँग्रेजों को केवल राजा साहब को नीचा दिखाना मंजूर था। वे उन्हें अपना मित्र बना कर जितना काम निकाल सकते थे उतना उनके मारे जाने से नहीं। इसी से एक अँग्रेज मुसाहब ने कहा—मझे तो इसमें कोई गैरमुनासिब बात नहीं मालूम होती। जेनरल आपका बाडीगार्ड (रक्षक है)। उसे हमेशा हथियारबन्द रहना चाहिए। खासकर जब आपकी खिदमत में हो। नहीं मालूम, किस वक्त इसकी जरूरत आ पड़े।

दूसरे अंग्रेज मुसाहबों ने भी इस विचार की पुष्टि की। बादशाह के क्रोध की ज्वाला कुछ शांत हुई। अगर ये ही बातें किसी हिंदुस्तानी मुसाहब की जबान से निकली होतीं, तो उनकी जान की खैरियत न थी। कदाचित् अँग्रेजों को अपनी न्याय-परता का नमूना दिखाने ही के लिए उन्होंने यह प्रश्न किया था। बोले—कसम हजरत इमाम की, तुम सब के सब शेर के मुँह से उसका शिकार छीनना चाहते हो ! पर मैं एक न मानूँगा, बुलाओ कप्तान साहब को। मैं उनसे यही सवाल करता हूँ। अगर उन्होंने भी तुम लोगों के खयाल की ताईद की, तो इसकी जान न लूँगा। और अगर उनकी राय इसके खिलाफ हुई, तो इस मक्कार को इसी वक्त जहन्नुम भेज दूँगा। मगर खबरदार, कोई उनकी तरफ किसी तरह का इशारा न करे। वर्ना मैं जरा भी रू-रिआयत न करूँगा। सब के सब सिर झुकाये बैठे रहें।

कप्तान साहब थे तो राजा साहब के आउरदे, पर इन दिनों बादशाहों की उन पर विशेष कृपा थी। वह उन सच्चे राज-भक्तों में थे, जो अपने को राजा का नहीं, राज्य का सेवक समझते हैं। वह दरबार से अलग रहते थे। बादशाह उनके कामों से बहुत संतुष्ट थे। एक आदमी तुरन्त कप्तान साहब को बुला लाया। राजा साहब की जान उनकी मुट्ठी में थी। रोशनुद्दौला को छोड़ कर ऐसा शायद एक व्यक्ति भी न था, जिसका हृदय आशा और निराशा से न धड़क रहा हो। सब मन में भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे कि कप्तान साहब किसी तरह से इस समस्या को समझ जायँ। कप्तान साहब आये, और उड़ती हुई दृष्टि से सभा की ओर देखा। सभी की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह कुछ अनिश्चित भाव से सिर झुका कर खड़े हो गये।

बादशाह ने पूछा—मेरे मुसाहबों को अपनी जेब में भरी हुई पिस्तौल रखना मुनासिब है या नहीं ?

दरबारियों की नीरवता, उनके आशंकित चेहरे और उनकी चिंतायुक्त अधीरता देख कर कप्तान साहब को वर्तमान समस्या की कुछ टोह मिल गयी। वह निर्भीक भाव से बोले—हुज़ूर, मेरे खयाल में तो यह उनका फर्ज है। बादशाह के दोस्त-दुश्मन सभी होते हैं। अगर मुसाहब लोग उनकी रक्षा का भार न लेंगे, तो कौन लेगा ? उन्हें सिर्फ पिस्तौल ही नहीं, और भी छिपे हुए हथियारों से लैस रहना चाहिए। न जाने कब हथियारों की जरूरत आ पड़े, तो वह ऐन वक्त पर कहाँ दौड़ते फिरेंगे ?

राजा साहब के जीवन के दिन बाकी थे। बादशाह ने निराश होकर कहा—रोशन, इसे कत्ल मत करना, काल कोठरी में कैद कर दो। मुझसे पूछे बगैर इसे दाना-पानी कुछ न दिया जाय। जा कर इसके घर का सारा माल-असबाब जब्त कर लो और सारे खानदान को जेल में बंद कर दो। इसके मकान की दीवारें जमींदोज करा देना। घर में एक फूटी हाँड़ी भी ऩ रहने पाये।

इससे तो यही कहीं अच्छा था कि राजा साहब ही की जान जाती। खानदान की बेइज्जती तो न होती, महिलाओं का अपमान तो न होता, दरिद्रता की चोटें तो न सहनी पड़तीं ! विकार को निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वह सारे शरीर में फैल जाता है। राजा के प्राण तो बचे, पर सारे खानदान को विपत्ति में डाल कर !

रोशनुद्दौला को मुँहमाँगी मुराद मिली। उसकी ईर्ष्या कभी इतनी संतुष्ट न हुई थी। वह मगन था कि आज वह काँटा निकल गया, जो बरसों से हृदय में चुभा हुआ था। आज हिन्दू-राज्य का अंत हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा। अब मैं समस्त राज्य का विधाता हूँगा। संध्या से पहले ही राजा साहब की सारी स्थावर और जंगम संपत्ति कुर्क हो गयी। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रमणियाँ, छोटे-छोटे बालक, सब के सब जेल में कैद कर दिये गये। कितनी करुण दशा थी। वे महिलाएँ, जिन पर कभी देवताओं की भी निगाह न पड़ी थी, खुले मुँह, नंगे पैर, पाँव घसीटतीं, शहर की भरी हुई सड़कों और गलियों से होती हुईं, सिर झुकाये, शोक-चित्रों की भाँति, जेल की तरफ चली जाती थीं। सशस्त्र सिपाहियों का एक बड़ा दल साथ था। जिस पुरुष के एक इशारे पर कई घंटे पहले सारे शहर में हलचल मच जाती, उसी के खानदान की यह दुर्दशा !

2

राजा बख्तावरसिंह को बंदी-गृह में रहते हुए एक मास बीत गया। वहाँ उन्हें सभी प्रकार के कष्ट दिये जाते थे। यहाँ तक कि भोजन भी यथासमय न मिलता था। उनके परिवार को भी असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन राजा साहब को बंदी-गृह में एक प्रकार की शांति का अनुभव होता था। वहाँ प्रति-क्षण यह खटका तो न रहता था कि बादशाह मेरी किसी बात से नाराज न हो जायँ; मुसाहब लोग कहीं मेरी शिकायत तो नहीं कर रहे हैं। शारीरिक कष्टों का सहना उतना कठिन नहीं, जितना कि मानसिक कष्टों का। यहाँ सब तकलीफें थीं, पर सिर पर तलवार तो नहीं लटक रही थी। उन्होंने मन में निश्चय किया कि अब चाहे बादशाह मुझे मुक्त भी कर दें, मगर मैं राज-काज से अलग ही रहूँगा। इस राज्य का सूर्य अस्त होनेवाला है; कोई मानवी-शक्ति उसे विनाश-दिशा में लीन होने से नहीं रोक सकती। ये उसी पतन के लक्षण हैं। नहीं तो क्या मेरी राज-भक्ति का यही पुरस्कार मिलना चाहिए

था ? मैंने अब तक कितनी कठिनाइयों से राज्य की रक्षा की है, यह भगवान् ही जानते हैं। एक ओर तो बादशाह की निरंकुशता, दूसरी ओर बलवान् और युक्ति-संपन्न शत्रुओं की कूटनीति—इस शिला और भँवर के बीच में राज्य की नौका को चलाते रहना कितना कष्टसाध्य था ! शायद ही ऐसा कोई दिन गुजरा होगा, जिस दिन मेरा चित्त प्राण-शंका से आंदोलित न हुआ हो। इस सेवा, भक्ति और तल्लीनता का यह पुरस्कार है। मेरे मुख से व्यंग्य-शब्द अवश्य निकले, लेकिन उनके लिए इतना कठोर दंड ? इससे तो यह कहीं अच्छा था कि मैं कत्ल कर दिया गया होता, अपनी आँखों से अपने परिवार की यह दुर्गति तो न देखता? सुनता हूँ पिता जी को सोने के लिए चटाई नहीं दी गयी है ! न जाने स्त्रियों पर कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे होंगे। लेकिन इतना जानता हूँ कि प्यारी सुखदा अंत तक अपने सतीत्व की रक्षा करेगी; अन्यथा प्राण त्याग देगी। मुझे बेड़ियों की परवाह नहीं। पर सुनता हूँ लड़कों के पैरों में भी बेड़ियाँ डाली गयी हैं। यह सब इसी कुटिल रोशनुद्दौला की शरारत है। जिसका जी चाहे, इस समय सता ले, कुचल ले, मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं। भगवान् से यही प्रार्थना है कि अब संसार से उठा ले। मुझे अपने जीवन में जो कुछ करना था, कर चुका, और उसका खूब फल पा चुका। मेरे-जैसे आदमी के लिए संसार में स्थान नहीं है।

राजा इन्हीं विचारों में डूबे थे। सहसा उन्हें अपनी काल कोठरी की ओर किसी के आने की आहट मिली। रात बहुत जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा छाया था, और उस अंधकारमय सन्नाटे में किसी के पैरों की चाप स्पष्ट सुनायी देती थी। कोई बहुत पाँव दबा-दबा कर चला आ रहा था। राजा साहब का कलेजा धक्-धक् करने लगा। वह उठ कर खड़े हो गये। हम निःशस्त्र और प्रतिकार के लिए असमर्थ होने पर भी बैठे-बैठे वारों का निशाना नहीं बनना चाहते। खड़े हो जाना आत्मरक्षा का अंतिम प्रयत्न है। कोठरी में ऐसी कोई वस्तु न थी, जिससे वह अपनी रक्षा कर सकते। समझ गये अंतिम समय आ गया। शत्रुओं ने इस तरह मेरे प्राण लेने की ठानी है। अच्छा है, जीवन के साथ इस विपत्ति का भी अंत हो जायगा।

एक क्षण में उनके सम्मुख एक आदमी आ कर खड़ा हो गया। राजा साहब ने पूछा—कौन है ?

उत्तर मिला—मैं हूँ, आपका सेवक।

राजा—ओ हो, तुम हो कप्तान ! मैं शंका में पड़ा हुआ था कि कहीं शत्रुओं ने मेरा वध करने के लिए कोई दूत न भेजा हो !

कप्तान—शत्रुओं ने कुछ और ही ठानी है। आज बादशाह-सलामत की जान बचती नहीं नजर आती।

राजा—अरे ! यह क्योंकर !

कप्तान—जब से आपको यहाँ नजरबंद किया गया है, सारे राज्य में हाहाकार मचा हुआ है। स्वार्थी कर्मचारियों ने लूट मचा रखी है। अँग्रेजों की खुदाई फिर रही है। जो जी में आता है, करते हैं; किसी को मजाल नहीं कि चूँ कर सके। इस एक महीने में शहर के सैकड़ों बड़े-बड़े रईस मिट गये। रोशनुद्दौला की बादशाही है। बाजारों का भाव चढ़ता जाता है। बाहर से व्यापारी लोग डर के मारे कोई चीज ही नहीं लाते। दूकानदारों से मनमानी

रकमें महसूल के नाम पर वसूल की जा रही हैं। गल्ले का भाव इतना चढ़ गया है कि कितने ही घरों में चूल्हा जलने की नौबत नहीं आती। सिपाहियों को अभी तक तनख्वाह नहीं मिली। वे जा कर दूकानदारों को लूटते हैं। सारे राज्य में बदअमनी हो रही है। मैंने कई बार यह कैफियत बादशाह-सलामत के कानों तक पहुँचाने की कोशिश की; मगर वह यह तो कह देते हैं कि मैं इसकी तहकीकात करूँगा, और फिर बेखबर हो जाते हैं। आज शहर के बहुत से दूकानदार फरियाद ले कर आये थे कि हमारे हाल पर निगाह न की गयी, तो हम शहर छोड़ कर कहीं और चले जायँगे। क्रिस्तानों ने उनको सख्त कहा, धमकाया, लेकिन उन्होंने जब तक अपनी सारी मुसीबत न बयान कर ली, वहाँ से न हटे। आखिर बादशाह-सलामत ने उनको दिलासा दिया, तो चले गये।

राजा—बादशाह पर इतना असर हुआ, मुझे तो यही ताज्जुब है !

कप्तान—असर-वसर कुछ नहीं हुआ। यह भी उनकी एक दिल्लगी है। शाम को खास मुसाहबों को बुला कर हुक्म दिया है कि आज मैं भेष बदल कर शहर का गश्त करूँगा; तुम लोग भी भेष बदले हुए मेरे साथ रहना। मैं देखना चाहता हूँ कि रिआया क्यों इतनी घबरायी हुई है। सब लोग मुझसे दूर रहें; किसी को न मालूम हो कि मैं कौन हूँ। रोशनुद्दौला और पाँचों अँग्रेज-मुसाहिब साथ रहेंगे।

राजा—तुम्हें क्योंकर यह बात मालूम हो गयी ?

कप्तान—मैंने उसी अँग्रेज हज्जाम को मिला रखा है। दरबार में जो कुछ होता है, उसका पता मुझे मिल जाता है। उसी की सिफारिश से आपकी खिदमत में हाजिर होने का मौका मिला। (घड़ियाल में दस बजते हैं) ग्यारह बजे चलने की तैयारी है। बारह बजते-बजते लखनऊ का तख्त खाली हो जायगा।

राजा (घबरा कर)—क्या इन सबों ने उन्हें कत्ल करने की साजिश कर रखी है ?

कप्तान—जी नहीं; कत्ल करने से उनका मंशा पूरा न होगा। बादशाह को बाजार की सैर कराते हुए गोमती की तरफ ले जायेंगे। वहाँ अँग्रेज सिपाहियों का एक दस्ता तैयार रहेगा। वह बादशाह को फौरन एक गाड़ी में बिठा कर रेजिडेंसी में ले जायगा। वहाँ रेजिडेंट साहब बादशाह-सलामत को सल्तनत से इस्तीफा देने पर मजबूर करेंगे। उसी वक्त उनसे इस्तीफा लिखा लिया जायगा और इसके बाद रातों-रात उन्हें कलकत्ते भेज दिया जायगा।

राजा—बड़ा गजब हो गया। अब तो वक्त बहुत कम है, बादशाह-सलामत निकल पड़े होंगे ?

कप्तान—गजब क्या हो गया ? इनकी जात से किसे आराम था। दूसरी हुकूमत चाहे कितनी ही खराब हो, इससे अच्छी ही होगी।

राजा—अँग्रेजों की हुकूमत होगी ?

कप्तान—अँग्रेज इनसे कहीं बेहतर इंतजाम करेंगे।

राजा—(करुण स्वर से)—कप्तान ! ईश्वर के लिए ऐसी बातें न करो। तुमने मुझसे जरा देर पहले क्यों न यह कैफियत बयान की ?

कप्तान (आश्चर्य से)—आपके साथ तो बादशाह ने कोई अच्छा सलूक नहीं किया !

राजा—मेरे साथ कितना ही बुरा सलूक किया हो, लेकिन एक राज्य की कीमत एक आदमी या एक खानदान की जान से कहीं ज्यादा होती है। तुम मेरे पैरों की बेड़ियाँ

खुलवा सकते हो ?

कप्तान—सारे अवध-राज्य में एक भी ऐसा आदमी न निकलेगा, जो बादशाह को सच्चे दिल से दुआ देता हो। दुनिया उनके जुल्म से तंग आ गयी है।

राजा—मैं अपनों के जुल्म को गैरों की बंदगी से कहीं बेहतर खयाल करता हूँ। बादशाह की यह हालत गैरों ही के भरोसे पर हुई है। वह इसीलिए किसी की परवाह नहीं करते कि अँग्रेजों की मदद का यकीन है। मैं इन फिरंगियों की चालों को गौर से देखता आया हूँ। बादशाह के मिजाज को उन्होंने बिगाड़ा है। उनकी मंशा यही थी, जो हुआ। रिआया के दिल से बादशाह की इज्जत और मुहब्बत उठ गयी। आज सारा मुल्क बगावत करने पर आमादा है। ये लोग इसी मौके का इंतजार कर रहे थे। वह जानते हैं कि बादशाह की माजूली (गद्दी से हटाये जाने) पर एक आदमी भी आँसू न बहावेगा। लेकिन मैं जताये देता हूँ कि अगर इस वक्त तुमने बादशाह को दुश्मनों के हाथों से न बचाया, तो तुम हमेशा के लिए अपने ही वतन में गुलामी की जंजीरों में बँध जाओगे। किसी गैर कौम के चाकर बन कर अगर तुम्हें आफियत (शांति) भी मिली, तो वह आफियत न होगी, मौत होगी। गैरों के बेरहम पैरों के नीचे पड़ कर तुम हाथ भी न हिला सकोगे, और यह उम्मीद कि कभी हमारे मुल्क में आईनी सल्तनत (वैध शासन) कायम होगी, हसरत का दाग बन कर रह जायगी। नहीं, मुझमें अभी मुल्क की मुहब्बत बाकी है। मैं अभी इतना बेजान नहीं हुआ हूँ। मैं इतनी आसानी से सल्तनत को हाथ से न जाने दूँगा, अपने को इतने सस्ते दामों गैर के हाथों न बेचूँगा, मुल्क की इज्जत को न मिटने दूँगा, चाहे इस कोशिश में मेरी जान ही क्यों न जाय। कुछ और नहीं कर सकता, तो अपनी जान तो दे ही सकता हूँ। मेरी बेड़ियाँ खोल दो।

कप्तान—मैं आपका खादिम हूँ, मगर मुझे यह मजाज नहीं है।

राजा—(जोश में आ कर) जालिम, यह इन बातों का वक्त नहीं है। एक-एक पल हमें तबाही की तरफ लिये जा रहा है। खोल दे ये बेड़ियाँ। जिस घर में आग लगी है, उसके आदमी खुदा को नहीं याद करते, कुएँ की तरफ दौड़ते हैं।

कप्तान—आप मेरे मुहसिन हैं। आपके हुक्म से मुँह नहीं मोड़ सकता। लेकिन....

राजा—जल्दी करो, जल्दी करो। अपनी तलवार मुझे दे दो। अब इन तकल्लुफ की बातों का मौका नहीं है।

कप्तान साहब निरुत्तर हो गये। सजीव उत्साह में बड़ी संक्रामक शक्ति होती है। यद्यपि राजा साहब के नीतिपूर्ण वार्तालाप ने उन्हें माकूल नहीं किया, तथापि वह अनिवार्य रूप से उनकी बेड़ियाँ खोलने पर तत्पर हो गये। उसी वक्त जेल के दारोगा को बुला कर कहा—साहब ने हुक्म दिया है कि राजा साहब को फौरन आजाद कर दिया जाय। इसमें एक पल की भी ताखीर (विलंब) हुई, तो तुम्हारे हक में अच्छा न होगा।

दारोगा को मालूम था कि कप्तान साहब और मि....में गाढ़ी मैत्री है। अगर साहब नाराज हो जायेंगे, तो रोशनुद्दौला की कोई सिफारिश मेरी रक्षा न कर सकेगी। उसने राजा साहब की बेड़ियाँ खोल दीं।

राजा साहब जब तलवार हाथ में ले कर जेल से निकले, तो उनका हृदय राज्य-भक्ति की तरंगों से आंदोलित हो रहा था। उसी वक्त घड़ियाल ने ग्यारह बजाये।

3

आधी रात का समय था। मगर लखनऊ की तंग गलियों में खूब चहल-पहल थी। ऐसा मालूम होता था कि अभी नौ बजे होंगे। सराफे में सबसे ज्यादा रौनक थी। मगर आश्चर्य यह था कि किसी दूकान पर जवाहरात या गहने नहीं दिखायी देते थे। केवल आदमियों के आने-जाने की भीड़ थी। जिसे देखो, पाँचों शस्त्रों से सुसज्जित, मूँछें खड़ी किये, ऐंठता हुआ चला जाता था। बाजार के मामूली दूकानदार भी निःशस्त्र न थे।

सहसा एक आदमी भारी साफा बाँधे, पैर की घुटनियों तक नीची कबा पहने, कमर में पटका बाँधे, आ कर एक सराफ की दूकान पर खड़ा हो गया। जान पड़ता था कोई ईरानी सौदागर है। उन दिनों ईरान के व्यापारी लखनऊ में बहुत आते-जाते थे। इस समय ऐसे आदमी का आ जाना असाधारण बात न थी।

सराफ का नाम माधोदास था। बोला—कहिए मीर साहब, कुछ दिखाऊँ ?

सौदागर—सोने का क्या निर्ख है ?

माधो—(सौदागर के कान के पास मुँह ले जाकर) निर्ख की कुछ न पूछिए। आज करीब एक महीना से बाजार का निर्ख बिगड़ा हुआ है। माल बाजार में आता ही नहीं। लोग दबाये हुए हैं। बाजार में खौफ के मारे नहीं लाते। अगर आपको ज्यादा माल की दरकार हो तो मेरे साथ गरीबखाने तक तकलीफ कीजिए। जैसा माल चाहिए, लीजिए। निर्ख मुनासिब ही होगा। इसका इतमीनान रखिए।

सौदागर—आजकल बाजार का निर्ख क्यों बिगड़ा हुआ है ?

माधो—क्या आप हाल ही में वारिद हुए हैं ?

सौदागर—हाँ, मैं आज ही आया हूँ। कहीं पहले की-सी रौनक नहीं नजर आती। कपड़े का बाजार भी सुस्त था। ढाके का एक कीमती थान बहुत तलाश करने पर भी न मिला।

माधो—इसके बड़े किस्से हैं; कुछ ऐसा ही मुआमला है।

सौदागर—डाकुओं का जोर तो नहीं है ? पहले तो यहाँ इस किस्म की वारदातें न होती थीं।

माधो—अब वह कैफियत नहीं है। दिनदहाड़े डाके पड़ते हैं। उन्हें कोतवाल क्या, बादशाह-सलामत भी गिरफ्तार नहीं कर सकते। अब और क्या कहूँ। दीवार के भी कान होते हैं। कहीं कोई सुन ले तो लेने के देने पड़ जायँ।

सौदागर—सेठ जी, आप तो पहेलियाँ बुझवाने लगे। मैं परदेसी आदमी हूँ, यहाँ किससे कहने जाऊँगा। आखिर बात क्या है ? बाजार क्यों इतना बिगड़ा हुआ है ? नाज की मंडी की तरफ गया था। सन्नाटा छाया हुआ है। मोटी जिंस भी दूने दामों पर बिक रही थी।

माधो (इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देख कर)—एक महीना हुआ; रोशनुद्दौला के हाथ में सियाह-सफेद का अख्तियार आ गया है। यह सब उन्हीं की बदइंतजामी का फल है। उनके पहले राजा बख्तावरसिंह हमारे मालिक थे। उनके वक्त में किसी की मजाल न थी कि व्यापारियों को टेढ़ी आँख से देख सके। उनका रोब सभी पर छाया हुआ था। फिरंगियों पर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। हुक्म था कि कोई फिरंगी बाजार में आवे, तो

थाने का सिपाही उनकी देखभाल करता रहे। इसी वजह से फिरंगी उनसे जला करते थे। आखिर सबों ने रोशनुद्दौला को मिला कर बख्तावरसिंह को बेकसूर कैद करा दिया। बस तब से बाजार में लूट मची हुई है। सरकारी अमले अलग लूटते हैं। फिरंगी अलग नोचते-खसोटते हैं। जो चीज चाहते हैं उठा ले जाते हैं। दाम माँगो तो धमकियाँ देते हैं। शाही दरबार में फरियाद करो, तो उलटे सजा होती है। अभी हाल ही में हम-सब मिल कर बादशाह-सलामत की खिदमत में हाजिर हुए थे। पहले तो वह बहुत नाराज हुए, पर आखिर रहम आ गया। बादशाहों का मिजाज ही तो है। हमारी सब शिकायतें सुनीं और तसकीन दी कि हम तहकीकात करेंगे। मगर अभी तक वही लूट-खसोट जारी है।

इतने में तीन आदमी राजपूती ढंग की मिर्जई पहने आ कर दूकान के सामने खड़े हो गये। माधोदास उनका रंग-ढंग देख कर चौंका। शाही फौज के सिपाही बहुधा इसी सज-धज से निकलते थे। तीनों आदमी सौदागर को देख कर ठिठके; पर उसने उन्हें कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि तीनों आगे चले गये। तब सौदागर ने माधोदास से पूछा—इन्हें देख कर तुम क्यों चौंके ?

माधोदास ने कहा—ये फौज के सिपाही हैं। जब से राजा बख्तावरसिंह नजरबंद हुए हैं, इन पर किसी की दाब ही नहीं रही। खुले साँड़ की तरह बाजारों में चक्कर लगाया करते हैं। सरकार से तलब मिलने का कुछ ठीक तो नहीं है। बस, नोच-खसोट करके गुजर करते हैं। —हाँ तो फिर अगर मरजी हो, तो मेरे साथ घर तक चलिए, आपको माल दिखाऊँ।

सौदागर—नहीं भाई, इस वक्त नहीं। सुबह आऊँगा। देर हो गयी है, और मुझे भी यहाँ की हालत देख कर खौफ मालूम होने लगा है।

यह कह कर सौदागर उसी तरफ चला गया, जिधर वे तीनों राजपूत गये थे। थोड़ी देर में तीन आदमी और सराफे में आये। एक तो पंडितों की तरह नीची चपकन पहने हुए था, सिर पर गोल पगिया थी और कंधे पर जरी के काम का शाल। उसके दोनों साथी खिदमतगारों के-से कपड़े पहने हुए थे। तीनों इस तरह इधर-उधर ताक रहे थे, मानो किसी को खोज रहे हों। यों ताकते हुए तीनों आगे चले गये। ईरानी सौदागर तीव्र नेत्रों से इधर-उधर देखता हुआ एक मील चला गया। वहाँ एक छोटा-सा बाग था। एक पुरानी मसजिद भी थी। सौदागर वहाँ ठहर गया। एकाएक तीनों राजपूत मसजिद से बाहर निकल आये और बोले—हुजूर तो बहुत देर तक सराफ की दूकान पर बैठे रहे। क्या बातें हुईं।

सौदागर ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि पीछे से पंडित और उनके दोनों खिदमतगार भी आ पहुँचे। सौदागर ने पंडित को देखते ही भर्त्सनापूर्ण शब्दों में कहा—मियाँ रोशनुद्दौला, मुझे इस वक्त तुम्हारे ऊपर इतना गुस्सा आ रहा है कि तुम्हें कुत्तों से नुचवा दूँ। नमकहराम कहीं का ! दगाबाज ! तूने मेरी सल्तनत को तबाह कर दिया ! सारा शहर तेरे जुल्म का रोना रो रहा है ! मुझे आज मालूम हुआ कि तूने क्यों राजा बख्तावरसिंह को कैद कराया। मेरी अकल पर न जाने क्यों पत्थर पड़ गये थ कि मैं तेरी चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गया। इस नमकहरामी की तुझे वह सजा दूँगा कि देखनेवालों को भी इबरत (शिक्षा) हो।

रोशनुद्दौला ने निर्भीकता से उत्तर दिया—आप मेरे बादशाह हैं; इसलिए आपका अदब करता हूँ, वर्ना इसी वक्त बद-जबानी का मजा चखा देता। खुद आप तो महल में

हसीनों के साथ ऐश किया करते हैं, दूसरों को क्या गरज पड़ी है कि सल्तनत की फिक्र से दुबले हों ? खूब, हम अपना खून जलायें और आप जशन मनायें ! ऐसे अहमक कहीं और रहते होंगे।

बादशाह (क्रोध से काँपते हुए)—मि....मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि इस नमकहराम को अभी गोली मार दो। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। और, इसी वक्त जा कर इसकी सारी जायदाद जब्त कर लो। इसके खानदान का एक बच्चा भी जिंदा न रहने पाये।

रोशन—मि....मैं तुमको हुक्म देता हूँ कि इस मुल्क और कौम के दुश्मन, रैयत के कातिल और बदकार आदमी को फौरन गिरफ्तार कर लो। यह इस काबिल नहीं कि ताज और तख्त का मालिक बने।

इतना सुनते ही पाँचों अँग्रेज-मुसाहबों ने, जो भेष बदले हुए साथ थे, बादशाह के दोनों हाथ पकड़ लिये और खींचते हुए गोमती नदी की तरफ ले चले। तब बादशाह की आँखें खुलीं। समझ गये कि पहले ही से यह षड्यंत्र रचा गया था। इधर-उधर देखा, कोई आदमी नहीं। शोर मचाना व्यर्थ था। बादशाही का नशा उतर गया। दुरवस्था ही वह परीक्षाग्नि है, जो मुलम्मे और रोगन को उतार कर मनुष्य का यथार्थ रूप दिखा देती है। ऐसे ही अवसरों पर विदित होता है कि मानव-हृदय पर कृत्रिम भावों का कितना गहरा रंग चढ़ा होता है। एक क्षण में बादशाह की उद्दंडता और घमंड ने दीनता और विनयशीलता का आश्रय लिया। बोले—मैंने तो आप लोगों की मरजी के खिलाफ ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसकी यह सजा मिले। मैंने आप लोगों को हमेशा अपना दोस्त समझा है।

रोशन—तो हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह भी आपके फायदे ही के लिए कर रहे हैं। हम आपके सिर से सल्तनत का बोझ उतार कर आपको आजाद कर देंगे। तब आपके ऐश में खलल न पड़ेगा। आप बेफिक्र हो कर हसीनों के साथ जिंदगी की बहार लूटिएगा।

बादशाह—तो क्या आप लोग मुझे तख्त से उतारना चाहते हैं ?

रोशन—नहीं, आपको बादशाही की जिम्मेदारियों से आजाद कर देना चाहते हैं।

बादशाह—हजरत इमाम की कसम, मैं यह जिल्लत न बर्दाश्त करूँगा। मैं अपने बुजुर्गों का नाम न डुबाऊँगा।

रोशन—आपके बुजुर्गों के नाम की फिक्र हमें आपसे ज्यादा है। आपकी ऐश-परस्ती बुजुर्गों का नाम रोशन नहीं कर रही है।

बादशाह (दीनता से)—वादा करता हूँ कि आइंदा से आप लोगों को शिकायत का कोई मौका न दूँगा।

रोशन—नशेबाजों के वादों पर कोई दीवाना ही यकीन कर सकता है।

बादशाह—तुम मुझे जबरदस्ती तख्त से नहीं उतार सकते।

रोशन—इन धमकियों की जरूरत नहीं। चुपचाप चले चलिए; आगे आपको सेजगाड़ी मिल जायगी। हम आपको इज्जत के साथ रुखसत करेंगे।

बादशाह—आप जानते हैं, रिआया पर इसका क्या असर होगा ?

रोशन—खूब जानता हूँ ! आपकी हिमायत में एक उँगली भी न उठेगी। कल सारी सल्तनत में घी के चिराग जलेंगे।

इतनी देर में सब लोग उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ बादशाह को ले जाने के लिए

सवारी तैयार खड़ी थी। लगभग 25 सशस्त्र गोरे सिपाही भी खड़े थे। बादशाह सेजगाड़ी को देखकर मचल गये। उनके रुधिर की गति तीव्र हो गयी, भोग और विलास के नीचे दबी हुई मर्यादा सजग हो गयी। उन्होंने जोर से झटका दे कर अपना हाथ छुड़ा लिया और नैराश्यपूर्ण दुस्साहस के साथ, परिणाम-भय को त्याग कर, उच्च स्वर से बोले—ऐ लखनऊ के बसनेवालो ! तुम्हारा बादशाह यहाँ दुश्मनों के हाथों कत्ल किया जा रहा है। उसे इनके हाथ से बचाओ, दौड़ो वर्ना पछताओगे !

यह आर्त पुकार आकाश की नीरवता को चीरती हुई गोमती की लहरों में विलीन नहीं हुई बल्कि लखनऊवालों के हृदयों में जा पहुँची। राजा बख्तावरसिंह बंदी-गृह से निकल कर नगर-निवासियों को उत्तेजित करते और प्रतिक्षण रक्षाकारियों के दल को बढ़ाते, बड़े वेग से दौड़े चले आ रहे थे। एक पल का विलम्ब भी षड्यंत्रकारियों के घातक विरोध को सफल कर सकता था। देखते-देखते उनके साथ दो-तीन हजार सशस्त्र मनुष्यों का दल हो गया था। यह सामूहिक शक्ति बादशाह का और लखनऊ-राज्य का उद्धार कर सकती थी। समय सब कुछ था। बादशाह गोरी सेना के पंजे में फँस गये, तो फिर समस्त लखनऊ भी उन्हें मुक्त न कर सकता था। राजा साहब ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, नैराश्य से दिल बैठा जाता था। विफल मनोरथ होने की शंका से उत्साह भंग हुआ जाता था। अब तक कहीं उन लोगों का पता नहीं ! अवश्य हम देर में पहुँचे। विद्रोहियों ने अपना काम पूरा कर लिया। लखनऊ राज्य की स्वाधीनता सदा के लिए विसर्जित हो गयी !

ये लोग निराश हो कर लौटना ही चाहते थे कि अचानक बादशाह का आर्तनाद सुनायी दिया। कई हजार कंठों से आकाश-भेदी ध्वनि निकली—हुजूर को खुदा सलामत रखे। हम फिदा होने को आ पहुँचे !

समस्त दल एक ही प्रबल इच्छा से प्रेरित हो कर, वेगवती जलधारा की भाँति, घटनास्थल की ओर दौड़ा। अशक्त लोग भी सशक्त हो गये। पिछड़े हुए लोग आगे निकल जाना चाहते थे। आगे के लोग चाहते थे कि उड़ कर जा पहुँचें !

इन आदमियों की आहट पाते ही गोरों ने बंदूकें भरीं और 25 बंदूकों की बाढ़ सर हो गयी। रक्षाकारियों में कितने ही लोग गिर पड़े; मगर कदम पीछे न हटे। वीर मद ने और भी मतवाला कर दिया। एक क्षण में दूसरी बाढ़ आयी; कुछ लोग फिर वीर-गति को प्राप्त हुए लेकिन कदम आगे बढ़ते ही गये। तीसरी बाढ़ छूटने ही वाली थी कि लोगों ने विद्रोहियों को पा लिया। गोरे भागे।

जब लोग बादशाह के पास पहुँचे, तो अद्भुत दृश्य देखा। बादशाह रोशनुद्दौला की छाती पर सवार थे। जब गोरे जान ले कर भागे, तो बादशाह ने इस नरपिशाच को पकड़ लिया और उसे बलपूर्वक भूमि पर गिरा कर उसकी छाती पर बैठ गये। अगर उनके हाथों में हथियार होता, तो इस वक्त रोशन की लाश तड़फती हुई दिखायी देती।

राजा बख्तावरसिंह आगे बढ़ कर बादशाह को आदाब बजा लाये। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश हिल उठा। कोई बादशाह के पैरों को चूमता था। कोई उन्हें आशीर्वाद देता था, और रोशनुद्दौला का शरीर तो लातों और घूसों का लक्ष्य बना हुआ था। कुछ बिगड़े दिल ऐसे भी थे, जो उसके मुँह पर थूकने में भी संकोच न करते थे।

4

प्रातःकाल था। लखनऊ में आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। बादशाही महल के सामने लाखों आदमी जमा थे। सब लोग बादशाह को यथायोग्य नजर देने आये थे। जगह-जगह गरीबों को भोजन कराया जा रहा था। शाही नौबतखाने में नौबत झड़ रही थी।

दरबार सजा। बादशाह हीरे और जवाहर से जगमगाते, रत्नजटित आभूषणों से सजे हुए, सिंहासन पर बिराजे। रईसों और अमीरों से नजरें गुजारीं। कविजनों ने कसीदे पढ़े। एकाएक बादशाह ने पूछा—राजा बख्तावरसिंह कहाँ हैं ? कप्तान ने जवाब दिया—कैदखाने में।

बादशाह ने उसी वक्त कई कर्मचारियों को भेजा कि राजा साहब को जेलखाने से इज्जत के साथ लायें। जब थोड़ी देर के बाद राजा ने आ कर बादशाह को सलाम किया, तो वे तख्त से उतर कर उनसे गले मिले और उन्हें अपनी दाहिनी ओर सिंहासन पर बैठाया। फिर दरबार में खड़े होकर उनकी सुकीर्ति और राज-भक्ति की प्रशंसा करने के उपरांत अपने ही हाथों से उन्हें खिलअत पहनायी। राजा साहब के कुटुम्ब के प्राणी आदर और सम्मान के साथ बिदा किये गये।

अन्त को जब दोपहर के समय दरबार बर्खास्त होने लगा तो बादशाह ने राजा साहब से कहा—आपने मुझ पर और मेरी सल्तनत पर जो एहसान किया है, उसका सिला (पुरस्कार) देना मेरे इमकान से बाहर है। मेरी आपसे यही इल्तिजा (अनुरोध) है कि आप वजंरत का कलमदान अपने हाथ में लीजिए और सल्तनत का, जिस तरह मुनासिब समझिए, इन्तजाम कीजिए। मैं आपके किसी काम में दखल न दूँगा। मुझे एक गोशे में पड़ा रहने दीजिए। नमकहरामं रोशन को भी मैं आपके सुपुर्द किये देता हूँ। आप इसे जो सजा चाहें, दें। मैं इसे कब का जहन्नुम भेज चुका होता; पर यह समझ कर कि यह आपका शिकार है, इसे छोड़े हुए हूँ।

लेकिन बख्तावरसिंह बादशाह के उच्छृंखल स्वभाव से भली-भाँति परिचित थे, वह जानते थे, बादशाह की ये सदिच्छाएँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं ! मानवचरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं। दो-चार महीने में दरबार का फिर वही रंग हो जायगा. इसलिए मेरा तटस्थ रहना ही अच्छा है। राज्य के प्रति मेरा जो कुछ कर्तव्य था, वह मैंने पूरा कर दिया। मैं दरबार से अलग रह कर निष्काम भाव से जितनी सेवा कर सकता हूँ, उतनी दरबार में रह कर कदापि नहीं कर सकता। हितैषी मित्र का जितना सम्मान होता है, स्वामिभक्त सेवक का उतना नहीं हो सकता।

वह विनीत भाव से बोले—हुजूर, मुझे इस ओहदे से मुआफ रखें। मैं यों ही आपका खादिम हूँ। इस मंसब पर किसी लायक आदमी को माशूर फरमाइए (नियुक्त कीजिए)। मैं अक्खड़ राजपूत हूँ। मुल्की इन्तजाम करना क्या जानूँ।

बादशाह—मुझे तो आपसे ज्यादा लायक और वफादार आदमी नजर नहीं आता।

मगर राजा साहब उनकी बातों में न आये। आखिर मजबूर होकर बादशाह ने उन्हें ज्यादा न दबाया। क्षण भर बाद जब रोशनुद्दौला को सजा देने का प्रश्न उठा, तब दोनों आदमियों में इतना मतभेद हुआ कि वाद-विवाद की नौबत आ गयी। बादशाह आग्रह करते थे कि इसे कुत्तों से नुचवा दिया जाय। राजा साहब इस बात पर अड़े हुए थे कि इसे

जान से न मारा जाय, केवल नजरबन्द कर दिया जाय। अन्त में बादशाह ने क्रुद्ध होकर कहा–यह एक दिन आपको जरूर दगा देगा !

राजा–इस खौफ से मैं इसकी जान न लूँगा।

बादशाह–तो जनाब, आप चाहे इसे मुआफ कर दें, मैं कभी मुआफ नहीं कर सकता।

राजा–आपने तो इसे मेरे सुपुर्द कर दिया था। दी हुई चीज को आप वापस कैसे लेंगे?

बादशाह ने कहा–तुमने मेरे निकलने का कहीं रास्ता ही नहीं रखा।

रोशनुद्दौला की जान बच गयी। वजारत का पद कप्तान साहब को मिला। मगर सबसे विचित्र बात यह थी कि रेजिडेंट ने इस षड्यन्त्र से पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट की और साफ लिख दिया कि बादशाह-सलामत अपने अँग्रेज मुसाहबों को जो सजा चाहें दें; कोई आपत्ति न होगी। मैं उन्हें पाता, तो स्वयं बादशाह की खिदमत में भेज देता; लेकिन पाँचों महानुभावों में से एक का भी पता न चला। शायद वे सब के सब रातों-रात कलकत्ते भाग गये। इतिहास में उक्त घटना का कहीं उल्लेख नहीं किया गया, लेकिन किंवदंतियाँ, जो इतिहास से अधिक विश्वसनीय हैं, उसकी सत्यता की साक्षी हैं।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' में, फरवरी, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित।]

नैराश्य लीला

पंडित हृदयनाथ अयोध्या के एक सम्मानित पुरुष थे। धनवान् तो नहीं लेकिन खाने-पीने से खुश थे। कई मकान थे, उन्हीं के किराये पर गुजर होता था। इधर किराये बढ़ गये थे, उन्होंने अपनी सवारी भी रख ली थी। बहुत विचारशील आदमी थे, अच्छी शिक्षा पायी थी। संसार का काफी तजुरबा था, पर क्रियात्मक शक्ति से वंचित थे, सब-कुछ न जानते थे। समाज उनकी आँखों में एक भयंकर भूत था जिससे सदैव डरते रहना चाहिए। उसे जरा भी रुष्ट किया तो फिर जान की खैर नहीं ! उनकी स्त्री जागेश्वरी उनका प्रतिबिम्ब थी, पति के विचार उसके विचार और पति की इच्छा उसकी इच्छा थी, दोनों प्राणियों में कभी मतभेद न होता था। जागेश्वरी शिव की उपासक थी, हृदयनाथ वैष्णव थे, पर दान और व्रत में दोनों को समान श्रद्धा थी, दोनों धर्मनिष्ठ थे, उससे कहीं अधिक, जितना सामान्यतः शिक्षित लोग हुआ करते हैं। इसका कदाचित् यह कारण था कि एक कन्या के सिवा उनके और कोई संतान न थी। उसका विवाह तेरहवें वर्ष में हो गया था और माता-पिता की अब यही लालसा थी कि भगवान् इसे पुत्रवती करें तो हम लोग नवासे के नाम अपना सब-कुछ लिख-लिखा कर निश्चिंत हो जायें।

किंतु विधाता को कुछ और ही मंजूर था। कैलासकुमारी का अभी गौना भी न हुआ था, वह अभी तक यह भी न जानने पायी थी कि विवाह का आशय क्या है, कि उसका

सोहाग उठ गया। वैधव्य ने उसके जीवन की अभिलाषाओं का दीपक बुझा दिया।

माता और पिता विलाप कर रहे थे, घर में कुहराम मचा हुआ था, पर कैलासकुमारी भौंचक्की हो-हो कर सबके मुँह की ओर ताकती थी। उसकी समझ ही में न आता था कि यह लोग रोते क्यों हैं ? माँ-बाप की इकलौती बेटी थी। माँ-बाप के अतिरिक्त वह किसी तीसरे व्यक्ति को अपने लिए आवश्यक न समझती थी। उसकी सुख कल्पनाओं में अभी तक पति का प्रवेश न हुआ था। वह समझती थी, स्त्रियाँ पति के मरने पर इसलिए रोती हैं कि वह उनका और उनके बच्चों का पालन करता है। मेरे घर में किस बात की कमी है ? मुझे इसकी क्या चिन्ता है कि खायेंगे क्या, पहनेंगे क्या ? मुझे जिस चीज की जरूरत होगी बाबू जी तुरन्त ला देंगे, अम्मा से जो चीज माँगूँगी वह दे देंगी। फिर रोऊँ क्यों ? यह अपनी माँ को रोते देखती तो रोती, पति के शोक से नहीं, माँ के प्रेम से। कभी सोचती, शायद यह लोग इसलिए रोते हैं कि कहीं मैं कोई ऐसी चीज न माँग बैठूँ जिसे वह दे न सकें। तो मैं ऐसी चीज़ माँगूँगी ही क्यों ? मैं अब भी तो उनसे कुछ नहीं माँगती, वह आप ही मेरे लिए एक न एक चीज नित्य लाते रहते हैं। क्या मैं अब कुछ और हो जाऊँगी ? इधर माता का यह हाल था कि बेटी की सूरत देखते ही आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती। बाप की दशा और भी करुणाजनक थी। घर में आना-जाना छोड़ दिया। सिर पर हाथ धरे कमरे में अकेले उदास बैठे रहते। उसे विशेष दुःख इस बात का था कि सहेलियाँ भी अब उसके साथ खेलने न आतीं। उसने उनके घर जाने की माता से आज्ञा माँगी तो वह फूट-फूट कर रोने लगीं। माता-पिता की यह दशा देखी तो उसने उनके सामने जाना छोड़ दिया, बैठी किस्से-कहानियाँ पढ़ा करती। उसकी एकांतप्रियता का माँ-बाप ने कुछ और ही अर्थ समझा। लड़की शोक के मारे घुली जाती है, इस वज्रापात ने उसके हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर डाला है।

एक दिन हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—जी चाहता है, घर छोड़ कर कहीं भाग जाऊँ। इसका कष्ट अब नहीं देखा जाता।

जागेश्वरी—मेरी तो भगवान से यही प्रार्थना है कि मुझे संसार से उठा लें। कहाँ तक छाती पर पत्थर की सिल रखूँ।

हृदयनाथ—किसी भाँति इसका मन बहलाना चाहिए, जिसमें शोकमय विचार आने ही न पायें। हम लोगों को दुःखी और रोते देख कर उसका दुःख और भी दारुण हो जाता है।

जागेश्वरी—मेरी तो बुद्धि कुछ काम नहीं करती।

हृदयनाथ—हम लोग यों ही मातम करते रहे तो लड़की की जान पर बन जायेगी। अब कभी-कभी उसे लेकर सैर करने चली जाया करो। कभी-कभी थिएटर दिखा दिया, कभी घर में गाना-बजाना करा दिया। इन बातों से उसका दिल बहलता रहेगा।

जागेश्वरी—मैं तो उसे देखते ही रो पड़ती हूँ। लेकिन अब ज़ब्त करूँगी। तुम्हारा विचार बहुत अच्छा है। बिना दिल-बहलाव के उसका शोक न दूर होगा।

हृदयनाथ—मैं भी अब उससे दिल बहलानेवाली बातें किया करूँगा। कल एक सैरबीं लाऊँगा, अच्छे-अच्छे दृश्य जमा करूँगा। ग्रामोफोन तो आज ही मँगवाये देता हूँ। बस उसे हर वक्त किसी न किसी काम में लगाये रहना चाहिए। एकांतवास शोक-ज्वाला

के लिए समीर के समान है।

उस दिन से जागेश्वरी ने कैलासकुमारी के लिए विनोद और प्रमोद के सामान जमा करने शुरू किये। कैलासी माँ के पास आती तो उसकी आँखों में आँसू की बूँदें न देखती, होंठों पर हँसी की आभा दिखाई देती। वह मुस्करा कर कहती—बेटी, आज थिएटर में बहुत अच्छा तमाशा होनेवाला है, चलो देख आयें। कभी गंगा-स्नान की ठहरती, वहाँ माँ-बेटी किश्ती पर बैठ कर नदी में जल-विहार करतीं, कभी दोनों संध्या-समय पार्क की ओर चली जातीं। धीरे-धीरे सहेलियाँ भी आने लगीं। कभी सब की सब बैठ कर ताश खेलतीं, कभी गाती-बजातीं। पण्डित हृदयनाथ ने भी विनोद की सामग्रियाँ जुटायीं। कैलासी को देखते ही मग्न हो कर बोलते—बेटी आओ, तुम्हें आज काश्मीर के दृश्य दिखाऊँ; कभी कहते, आओ आज स्विट्ज़रलैंड की अनुपम झाँकी और झरनों की छटा देखें; कभी ग्रामोफोन बजा कर उसे सुनाते। कैलासी इन सैर-सपाटों का खूब आनन्द उठाती। इतने सुख से उसके दिन कभी न गुजरे थे।

2

इस भाँति दो वर्ष बीत गये। कैलासी सैर-तमाशे की इतनी आदी हो गयी कि एक दिन भी थिएटर न जाती तो बेकल-सी होने लगती। मनोरंजन नवीनता का दास है और समानता का शत्रु। थिएटरों के बाद सिनेमा की सनक सवार हुई। सिनेमा के बाद मिस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म के तमाशों की ! ग्रामोफोन के नये रिकार्ड आने लगे। संगीत का चस्का पड़ गया। बिरादरी में कहीं उत्सव होता तो माँ-बेटी अवश्य जातीं। कैलासी नित्य इसी नशे में डूबी रहती, चलती तो कुछ गुनगुनाती हुई, किसी से बातें करती तो वही थिएटर की ओर सिनेमा की। भौतिक संसार से अब कोई वास्ता न था, अब उसका निवास कल्पना-संसार में था। दूसरे लोक की निवासिन हो कर उसे प्राणियों से कोई सहानुभूति न रही, किसी के दुःख पर जरा दया न आती। स्वभाव में उच्छृंखलता का विकास हुआ, अपनी सुरुचि पर गर्व करने लगी। सहेलियों से डींगे मारती, यहाँ के लोग मूर्ख हैं, यह सिनेमा की कद्र क्या करेंगे। इसकी कद्र तो पश्चिम के लोग करते हैं। वहाँ मनोरंजन की सामग्रियाँ उतनी ही आवश्यक हैं जितनी हवा। जभी तो वे उतने प्रसन्न-चित्त रहते हैं, मानो किसी बात की चिंता ही नहीं। यहाँ किसी को इसका रस ही नहीं। जिन्हें भगवान् ने सामर्थ्य भी दिया है वह भी सरेशाम से मुँह ढाँक कर पड़ रहते हैं। सहेलियाँ कैलासी की यह गर्व-पूर्ण बातें सुनतीं और उसकी और भी प्रशंसा करतीं। वह उनका अपमान करने के आवेग में आप ही हास्यास्पद बन जाती थी।

पड़ोसियों में इन सैर-सपाटों की चर्चा होने लगी। लोक-सम्मति किसी की रिआयत नहीं करती। किसी ने सिर पर टोपी टेढ़ी रखी और पड़ोसियों की आँखों में खुबा, कोई जरा अकड़ कर चला और पड़ोसियों ने आवाजें कसीं। विधवा के लिए पूजा-पाठ है, तीर्थ-व्रत है, मोटा खाना है, मोटा पहनना है; उसे विनोद और विलास, राग और रंग की क्या जरूरत ? विधाता ने उसके सुख के द्वार बंद कर दिये हैं। लड़की प्यारी सही, लेकिन शर्म और हया भी तो कोई चीज है। जब माँ-बाप ही उसे सिर चढ़ाये हुए हैं तो उसका क्या दोष ? मगर एक दिन आँखें खुलेंगी अवश्य। महिलाएँ कहतीं, बाप तो मर्द है, लेकिन माँ कैसी है

उसको जरा भी विचार नहीं कि दुनिया क्या कहेगी। कुछ उन्हीं की एक दुलारी बेटी थोड़े ही है, इस भाँति मन बढ़ाना अच्छा नहीं।

कुछ दिनों तक तो यह खिचड़ी आपस में पकती रही। अंत को एक दिन कई महिलाओं ने जागेश्वरी के घर पदार्पण किया। जागेश्वरी ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एक महिला बोली—महिलाएँ रहस्य की बातें करने में बहुत अभ्यस्त होती हैं—बहन, तुम्हीं मजे में हो कि हँसी-खुशी में दिन काट देती हो। हमें तो दिन पहाड़ हो जाता है। न कोई काम न धंधा, कोई कहाँ तक बातें करे ?

दूसरी देवी ने आँखें मटकाते हुए कहा—अरे, तो यह तो बदे की बात है। सभी के दिन हँसी-खुशी से कटें तो रोये कौन। यहाँ तो सुबह से शाम तक चक्की-चूल्हे से छुट्टी नहीं मिलती; किसी बच्चे को दस्त आ रहे हैं; तो किसी को ज्वर चढ़ा हुआ है; कोई मिठाइयों की रट रहा है; तो कोई पैसों के लिए महनामथ मचाये हुए है। दिन भर हाय-हाय करते बीत जाता है। सारे दिन कठपुतलियों की भाँति नाचती रहती हूँ।

तीसरी रमणी ने इस कथन का रहस्यमय भाव से विरोध किया—बदे की बात नहीं, वैसा दिल चाहिए। तुम्हें तो कोई राजसिंहासन पर बिठा दे तब भी तस्कीन न होगी। तब और भी हाय-हाय करोगी।

इस पर एक वृद्धा ने कहा—नौज ऐसा दिल ! यह भी कोई दिल है कि घर में चाहे आग लग जाय, दुनिया में में कितना ही उपहास हो रहा हो, लेकिन आदमी अपने राग-रंग में मस्त रहे। वह दिल है कि पत्थर ! हम गृहिणी कहलाती हैं, हमारा काम है अपनी गृहस्थी में रत रहना। आमोद-प्रमोद में दिन काटना हमारा काम नहीं।

और महिलाओं ने इस निर्दय व्यंग्य पर लज्जित हो कर सिर झुका लिया। वे जागेश्वरी की चुटकियाँ लेनी चाहती थीं। उसके साथ बिल्ली और चूहे की निर्दयी क्रीड़ा करना चाहती थीं। आहत को तड़पाना उनका उद्देश्य था। इस खुली हुई चोट ने उनके पर-पीड़न प्रेम के लिए कोई गुंजाइश न छोड़ी; किंतु जागेश्वरी को ताड़ना मिल गयी। स्त्रियों के विदा होने के बाद उसने जा कर पति से यह सारी कथा सुनायी। हृदयनाथ उन पुरुषों में न थे जो प्रत्येक अवसर पर अपनी आत्मिक स्वाधीनता का स्वाँग भरते हैं, हठधर्मी को आत्म-स्वातंत्र्य के नाम से छिपाते हैं। वह सचिंव भात से बोले—तो अब क्या होगा ?

जागेश्वरी—तुम्हीं कोई उपाय सोचो।

हृदयनाथ—पड़ोसियों ने जो आक्षेप किया है वह सर्वथा उचित है। कैलासकुमारी के स्वभाव में मुझे एक विचित्र अंतर दिखाई दे रहा है। मुझे स्वयं ज्ञात हो रहा है कि उसके मनबहलाव के लिए हम लोगों ने जो उपाय निकाला है वह मुनासिब नहीं है। उनका यह कथन सत्य है कि विधवाओं के लिए यह आमोद-प्रमोद वर्जित है। अब हमें यह परिपाटी छोड़नी पड़ेगी।

जागेश्वरी—लेकिन कैलासी तो इन खेल-तमाशों के बिना एक दिन भी नहीं रह सकती।

हृदयनाथ—उसकी मनवृत्तियों को बदलना पड़ेगा।

३

शनैः-शनैः यह विलासोन्माद शांत होने लगा। वासना का तिरस्कार किया जाने लगा। पंडित जी संध्या समय ग्रामोफोन न बजा कर कोई धर्म ग्रंथ पढ़ कर सुनाते। स्वाध्याय, संयम, उपासना में माँ-बेटी रत रहने लगीं। कैलासी को गुरु जी ने दीक्षा दी, मुहल्ले और बिरादरी की स्त्रियाँ आयीं, उत्सव मनाया गया।

माँ-बेटी अब किश्ती पर सैर करने के लिए गंगा न जातीं, बल्कि स्नान करने के लिए मन्दिरों में नित्य जातीं। दोनों एकादशी का निर्जल व्रत रखने लगीं। कैलासी को गुरुजी नित्य संध्या-समय धर्मोपदेश करते। कुछ दिनों तक तो कैलासी को वह विचार-परिवर्तन बहुत कष्टजनक मालूम हुआ, पर धर्मनिष्ठा नारियों का स्वाभाविक गुण है, थोड़े ही दिनों में उसे धर्म से रुचि हो गयी। अब उसे अपनी अवस्था का ज्ञान होने लगा था। विषय-वासना से चित्त आप ही आप खिंचने लगा। 'पति' का यथार्थ आशय समझ में आने लगा था। पतिही स्त्री का सच्चा मित्र, सच्चा पथ-प्रदर्शक और सच्चा सहायक है। पति विहीन होना किसी घोर पाप का प्रायश्चित्त है। मैंने पूर्व जन्म में कोई अकर्म किया होगा। पतिदेव जीवित होते तो मैं फिर माया में फँस जाती। प्रायश्चित्त का अवसर कहाँ मिलता। गुरु जी का वचन सत्य है कि परमात्मा ने तुम्हें पूर्व कर्मों के प्रायश्चित्त का यह अवसर दिया है। वैधव्य यातना नहीं है, जीवोद्धार का साधन है। मेरा उद्धार त्याग, विराग, भक्ति और उपासना से होगा।

कुछ दिनों के बाद उसकी धार्मिक वृत्ति इतनी प्रबल हो गयी कि अन्य प्राणियों से वह पृथक् रहने लगी। किसी को न छूती, महरियों से दूर रहती, सहेलियों से गले तक न मिलती, दिन में दो-दो तीन-तीन बार स्नान करती, हमेशा कोई न कोई धर्म-ग्रन्थ पढ़ा करती। साधु-महात्माओं के सेवा-सत्कार में उसे आत्मिक सुख प्राप्त होता। जहाँ किसी महात्मा के आने की खबर पाती, उनके दर्शनों के लिए विकल हो जाती। उनकी अमृतवाणी सुनने से जी न भरता। मन संसार से विरक्त होने लगा। तल्लीनता की अवस्था प्राप्त हो गयी। घंटों ध्यान और चिंतन में मग्न रहती। सामाजिक बंधनों से घृणा हो गयी। हृदय स्वाधीनता के लिए लालायित हो गया; यहाँ तक कि तीन ही बरसों में उसने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया।

माँ-बाप को यह समाचार ज्ञात हुआ तो होश उड़ गये। माँ बोली—बेटी, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है कि तुम ऐसी बातें सोचती हो।

कैलासकुमारी—माया-मोह से जितनी जल्द निवृत्ति हो जाय उतना ही अच्छा।

हृदयनाथ—क्या अपने घर में रह कर माया-मोह से मुक्त नहीं हो सकती हो ? माया-मोह का स्थान मन है, घर नहीं।

जागेश्वरी—कितनी बदनामी होगी।

कैलासकुमारी—अपने को भगवान् के चरणों पर अर्पण कर चुकी तो बदनामी की क्या चिंता ?

जागेश्वरी—बेटी, तुम्हें न हो, हमको तो है। हमें तो तुम्हारा ही सहारा है। तुमने जो संन्यास ले लिया तो हम किस आधार पर जियेंगे ?

कैलासकुमारी—परमात्मा ही सब का आधार है। किसी दूसरे प्राणी का आश्रय लेना भूल है।

दूसरे दिन यह बात मुहल्लेवालों के कानों में पहुँच गयी। जब कोई अवस्था असाध्य हो जाती है तो हम उस पर व्यंग्य करने लगते हैं। 'यह तो होना ही था, नयी बात क्या हुई, लड़कियों को इस तरह स्वच्छंद नहीं कर दिया जाता, फूले न समाते थे कि लड़की ने कुल का नाम उज्ज्वल कर दिया। पुराण पढ़ती है, उपनिषद् और वेदांत का पाठ करती है, धार्मिक समस्याओं पर ऐसी-ऐसी दलीलें करती है कि बड़े-बड़े विद्वानों की ज़बान बंद हो जाती है, तो अब क्यों पछताते हैं ?' भद्र पुरुषों में कई दिनों तक यही आलोचना होती रही। लेकिन जैसे अपने बच्चे के दौड़ते-दौड़ते धम से गिर पड़ने पर हम पहले क्रोध के आवेश में उसे झिड़कियाँ सुनाते हैं, इसके बाद गोद में बिठा कर आँसू पोंछने और फुसलाने लगते हैं; उसी तरह इन भद्र पुरुषों ने व्यंग्य के बाद इस गुत्थी के सुलझाने का उपाय सोचना शुरू किया। कई सज्जन हृदयनाथ के पास आये और सिर झुका कर बैठ गये। विषय का आरम्भ कैसे हो ?

कई मिनट के बाद एक सज्जन ने कहा—सुना है डाक्टर गौड़ का प्रस्ताव आज बहुमत से स्वीकृत हो गया।

दूसरे महाशय बोले—यह लोग हिंदू-धर्म का सर्वनाश करके छोड़ेंगे।

तीसरे महानुभाव ने फ़रमाया—सर्वनाश तो हो ही रहा है, अब और कोई क्या करेगा ! जब हमारे साधु-महात्मा, जो हिंदू-जाति के स्तम्भ हैं, इतने पतित हो गये हैं कि भोली-भाली युवतियों को बहकाने में संकोच नहीं करते तो सर्वनाश होने में रह ही क्या गया।

हृदयनाथ—यह विपत्ति तो मेरे सिर ही पड़ी हुई है। आप लोगों को तो मालूम होगा।

पहले महाशय—आप ही के सिर क्यों, हम सभी के सिर पड़ी हुई है।

दूसरे महाशय—समस्त जाति के सिर कहिए।

हृदयनाथ—उद्धार का कोई उपाय सोचिए।

पहले महाशय—आपने समझाया नहीं ?

हृदयनाथ—समझा के हार गया। कुछ सुनती ही नहीं।

तीसरे महाशय—पहले ही भूल हुई। उसे इस रास्ते पर डालना ही न चाहिए था।

पहले महाशय—उस पर पछताने से क्या होगा ? सिर पर जो पड़ी है उसका उपाय सोचना चाहिए। आपने समाचार-पत्रों में देखा होगा, कुछ लोगों की सलाह है कि विधवाओं से अध्यापकों का काम लेना चाहिए। यद्यपि मैं इसे भी बहुत अच्छा नहीं समझता, पर संन्यासिनी बनने से तो कहीं अच्छा है। लड़की अपनी आँखों के सामने तो रहेगी। अभिप्राय केवल यही है कि कोई ऐसा काम होना चाहिए जिसमें लड़की का मन लगे। किसी अवलम्ब के बिना मनुष्य को भटक जाने की शंका सदैव बनी रहती है। जिस घर में कोई नहीं रहता उसमें चमगादड़ बसेरा लेते हैं।

दूसरे महाशय—सलाह तो अच्छी है। मुहल्ले की दस-पाँच कन्याएँ पढ़ने के लिए बुला ली जायें। उन्हें किताबें, गुड़ियाँ आदि इनाम मिलता रहे तो बड़े शौक से आयेंगी। लड़की का मन तो लग जायगा।

हृदयनाथ—देखना चाहिए। भरसक समझाऊँगा।

ज्यों ही यह लोग विदा हुए; हृदयनाथ ने कैलासकुमारी के सामने यह तजवीज पेश की। कैलासी को संन्यस्त के उच्चपद के सामने अध्यापिका बनना अपमानजनक जान

पड़ता था। कहाँ वह महात्माओं का सत्संग, वह पर्वतों की गुफा, वह सुरम्य प्राकृतिक दृश्य, वह हिमराशि की ज्ञानमय ज्योति, वह मानसरोवर और कैलास की शुभ्र छटा, वह आत्मदर्शन की विशाल कल्पनाएँ, और कहाँ बालिकाओं को चिड़ियों की भाँति पढ़ाना। लेकिन हृदयनाथ कई दिनों तक लगातार सेवा धर्म का महात्म्य उसके हृदय पर अंकित करते रहे। सेवा ही वास्तविक संन्यास है। संन्यासी केवल अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है, सेवा व्रतधारी अपने को परमार्थ की वेदी पर बलि दे देता है। इसका गौरव कहीं अधिक है। देखो, ऋषियों में दधीचि का जो यश है, हरिश्चंद्र की जो कीर्ति है, उसकी तुलना और कहाँ की जा सकती है। संन्यास स्वार्थ है, सेवा त्याग है, आदि। उन्होंने इस कथन की उपनिषदों और वेदमंत्रों से पुष्टि की। यहाँ तक कि धीरे-धीरे कैलासी के विचारों में परिवर्तन होने लगा। पंडित जी ने मुहल्लेवालों की लड़कियों को एकत्र किया, पाठशाला का जन्म हो गया। नाना प्रकार के चित्र और खिलौने मँगाये। पंडित जी स्वयं कैलासकुमारी के साथ लड़कियों को पढ़ाते। कन्याएँ शौक से आतीं। उन्हें यहाँ की पढ़ाई खेल मालूम होती। थोड़े ही दिनों में पाठशाला की धूम हो गयी, अन्य मुहल्लों की कन्याएँ भी आने लगीं।

4

कैलासकुमारी की सेवा-प्रवृत्ति दिनोंदिन तीव्र होने लगी। दिन भर लड़कियों को लिये रहती; कभी पढ़ाती, कभी उनके साथ खेलती; कभी सीना-पिरोना सिखाती। पाठशाला ने परिवार का रूप धारण कर लिया। कोई लड़की बीमार हो जाती तो तुरंत उसके घर जाती, उसकी सेवा-सुश्रूषा करती, गा कर या कहानियाँ सुना कर उसका दिल बहलाती।

पाठशाला को खुले हुए साल-भर हुआ था। एक लड़की को, जिससे वह बहुत प्रेम करती थी, चेचक निकल आयी। कैलासी उसे देखने गयी। माँ-बाप ने बहुत मना किया, पर उसने न माना। कहा, तुरंत लौट आऊँगी। लड़की की हालत खराब थी। कहाँ तो रोते-रोते तालू सूखता था, कहाँ कैलासी को देखते ही मानो सारे कष्ट भाग गये। कैलासी एक घंटे तक वहाँ रही। लड़की बराबर उससे बातें करती रही। लेकिन जब वह चलने को उठी तो लड़की ने रोना शुरू किया। कैलासी मजबूर हो कर बैठ गयी। थोड़ी देर के बाद जब वह फिर उठी तो फिर लड़की की यही दशा हो गयी। लड़की उसे किसी तरह छोड़ती ही न थी। सारा दिन गुजर गया। रात को भी लड़की ने न जाने दिया। हृदयनाथ उसे बुलाने को बार-बार आदमी भेजते, पर वह लड़की को छोड़ कर न जा सकती। उसे ऐसी शंका होती थी कि मैं यहाँ से चली और लड़की हाथ से गयी। उसकी माँ विमाता थी। इससे कैलासी को उसके ममत्व पर विश्वास न होता था। इस प्रकार वह तीन दिनों तक वहाँ रही। आठों पहर बालिका के सिरहाने बैठी पंखा झलती रहती। बहुत थक जाती तो दीवार से पीठ टेक लेती ! चौथे दिन लड़की की हालत कुछ सँभलती हुई मालूम हुई तो वह अपने घर आयी। मगर अभी स्नान भी न करने पायी थी कि आदमी पहुँचा—जल्द चलिए, लड़की रो-रो कर जान दे रही है।

हृदयनाथ ने कहा—कह दो, अस्पताल से कोई नर्स बुला लें !

कैलासकुमारी—दादा, आप व्यर्थ में झुँझलाते हैं। उस बेचारी की जान बच जाय, मैं तीन दिन नहीं, तीन महीने उसकी सेवा सकरने को तैयार हूँ। आखिर यह देह किस

दिन काम आयेगी।

हृदयनाथ—तो कन्याएँ कैसे पढ़ेंगी ?

कैलासी—दो-एक दिन में वह अच्छी हो जायगी, दाने मुरझाने लगे हैं, तब तक आप ज़रा इन लड़कियों की देखभाल करते रहिएगा।

हृदयनाथ—यह बीमारी छूत से फैलती है।

कैलासी—(हँस कर) मर जाऊँगी तो आपके सिर से एक विपत्ति टल जायगी। यह कह कर उसने उधर की राह ली। भोजन की थाली परसी रह गयी।

तब हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—जान पड़ता है, बहुत जल्द यह पाठशाला भी बंद करनी पड़ेगी।

जागेश्वरी—बिना माँझी के नाव पार लगाना बहुत कठिन है। जिधर हवा पाती है, उधर ही बह जाती है।

हृदयनाथ—जो रास्ता निकालता हूँ वही कुछ दिनों के बाद किसी दल-दल में फँसा देता है। अब फिर बदनामी के सामान होते नजर आ रहे हैं। लोग कहेंगे, लड़की दूसरों के घर जाती है और कई-कई दिन पड़ी रहती है। क्या करूँ, कह दूँ, लड़कियों को न पढ़ाया करो ?

जागेश्वरी—इसके सिवा और हो क्या सकता है।

कैलासकुमारी दो दिन बाद लौटी तो हृदयनाथ ने पाठशाला बंद कर देने की समस्या उसके सामने रखी। कैलासी ने तीव्र स्वर से कहा—अगर आपको बदनामी का इतना भय है तो मुझे विष दे दीजिए। इसके सिवा बदनामी से बचने का और कोई उपाय नहीं है।

हृदयनाथ—बेटी, संसार में रह कर तो संसार की-सी करनी ही पड़ेगी।

कैलासी—तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझमें जीव है, चेतना है, जड़ क्योंकर बन जाऊँ ! मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी, दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूँ। ऐसा क्यों करूँ ? संसार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती। मैं अपने आत्म-सम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी खेत में न जा पडूँ। यह दशा मेरे लिए असह्य है।

यह कह कर कैलासकुमारी वहाँ से चली गयी कि कहीं मुँह से अनर्गल शब्द न निकल पड़े। इधर कुछ दिनों से उसे अपनी बेकसी का यथार्थ ज्ञान होने लगा था। स्त्री पुरुष की कितनी अधीन है, मानो स्त्री को विधाता ने इसीलिए बनाया है कि पुरुषों के अधीन रहे। यह सोच कर वह समाज के अत्याचार पर दाँत पीसने लगती थी।

पाठशाला तो दूसरे ही दिन से बंद हो गयी, किंतु उसी दिन कैलासकुमारी को पुरुषों से जलन होने लगी। जिस सुख-भोग से प्रारब्ध हमें वंचित कर देता है उससे हमें द्वेष हो जाता है। ग़रीब आदमी इसीलिए तो अमीरों से जलता है और धन की निंदा करता है। कैलासी बार-बार झुँझलाती कि स्त्री क्यों पुरुष पर इतनी अवलम्बित है ? पुरुष क्यों स्त्री के भाग्य का विधायक है ? स्त्री क्यों नित्य पुरुषों का आश्रय चाहे, उनका मुँह ताके ? इसलिए न कि स्त्रियों में अभिमान नहीं है, आत्म-सम्मान नहीं है। नारी-हृदय के कोमल

भाव, उसे कुत्ते का दुम हिलाना मालूम होने लगे। प्रेम कैसा? यह सब ढोंग है, स्त्री पुरुष के अधीन है, उसकी खुशामद न करे, सेवा न करे, तो उसका निर्वाह कैसे हो।

एक दिन उसने अपने बाल गूँथे और जूड़े में गुलाब का फूल लगा लिया। माँ ने देखा तो ओंठ से जीभ दबा ली। महरियों ने छाती पर हाथ रखे।

इसी तरह उसने एक दिन रंगीन रेशमी साड़ी पहन ली। पड़ोसिनों में इस पर खूब आलोचनाएँ हुईं।

उसने एकादशी का व्रत रखना छोड़ दिया जो पिछले आठ बरसों से रखती आयी थी। कंघी और आइने को वह अब त्याज्य न समझती थी।

सहालग के दिन आये। नित्य-प्रति उसके द्वार पर से बारातें निकलतीं। मुहल्ले की स्त्रियाँ अपनी अपनी अटारियों पर खड़ी हो कर देखतीं। वर के रंग-रूप, आकार-प्रकार पर टीकाएँ होतीं, जागेश्वरी से भी बिना एक आँख देखे न रहा जाता। लेकिन कैलासकुमारी कभी भूल कर भी इन जलूसों को न देखती। कोई बरात या विवाह की बात चलाता तो वह मुँह फेर लेती। उसकी दृष्टि में वह विवाह नहीं, भोली-भाली कन्याओं का शिकार था। बातों को वह शिकारियों के कुत्ते समझती। यह विवाह नहीं है, स्त्री का बलिदान है।

5

तीज का व्रत आया। घरों की सफाई होने लगी। रमणियाँ इस व्रत को रखने की तैयारियाँ करने लगीं। जागेश्वरी ने भी व्रत का सामान किया। नयी-नयी साड़ियाँ मँगवायी। कैलासकुमारी के ससुराल से इस अवसर पर कपड़े, मिठाइयाँ और खिलौने आया करते थे। अबकी भी आये। यह विवाहिता स्त्रियों का व्रत है। इसका फल है पति का कल्याण। विधवाएँ भी इस व्रत का यथोचित रीति से पालन करती हैं। पति से उनका सम्बन्ध शारीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक होता है। उसका इस जीवन के साथ अंत नहीं होता, अनंत काल तक जीवित रहता है। कैलासकुमारी अब तक यह व्रत रखती आयी थी। अबकी उसने निश्चय किया, मैं व्रत न रखूँगी। माँ ने तो माथा ठोक लिया। बोली—बेटी, यह व्रत रखना धर्म है।

कैलासकुमारी—पुरुष भी स्त्रियों के लिए कोई व्रत रखते हैं ?

जागेश्वरी—मर्दों में इसकी प्रथा नहीं है।

कैलासकुमारी—इसीलिए न कि पुरुषों को स्त्रियों की जान उतनी प्यारी नहीं होती जितनी स्त्रियों को पुरुषों की जान ?

जागेश्वरी—स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी कैसे कर सकती हैं ? उनका तो धर्म है अपने पुरुष की सेवा करना।

कैलासकुमारी—मैं इसे अपना धर्म नहीं समझती। मेरे लिए अपनी आत्मा की रक्षा के सिवा और कोई धर्म नहीं।

जागेश्वरी—बेटी, गजब हो जायगा, दुनिया क्या कहेगी ?

कैलासकुमारी—फिर वही दुनिया ? अपनी आत्मा के सिवा मुझे किसी का भय नहीं।

हृदयनाथ ने जागेश्वरी से यह बातें सुनीं तो चिंता-सागर में डूब गये। इन बातों

का क्या आशय ? क्या आत्म-सम्मान का भाव जागृत हुआ है या नैराश्य की क्रूर क्रीड़ा है? धनहीन प्राणी को जब कष्ट-निवारण का कोई उपाय नहीं रह जाता तो वह लज्जा को त्याग देता है। निस्संदेह नैराश्य ने यह भीषण रूप धारण किया है। सामान्य दशाओं में नैराश्य अपने यथार्थ रूप में आता है, पर गर्वशील प्राणियों में वह परिमार्जित रूप ग्रहण कर लेता है। यहाँ पर हृदयगत कोमल भावों का अपहरण कर लेता है—चरित्र में अस्वाभाविक विकास उत्पन्न कर देता है—मनुष्य लोक-लाज और उपहास की ओर से उदासीन हो जाता है, नैतिक बंधन टूट जाते हैं। यह नैराश्य की अंतिम अवस्था है।

हृदयनाथ इन्हीं विचारों में मग्न थे कि जागेश्वरी ने कहा—अब क्या करना होगा ?

हृदयनाथ—क्या बताऊँ।

जागेश्वरी—कोई उपाय है ?

हृदयनाथ—बस, एक ही उपाय है, पर उसे जबान पर नहीं ला सकता।

[हिन्दी कहानी। 'चांद' मासिक पत्रिका में, अप्रैल, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'मजबूरी' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

वैर का अंत

रामेश्वरराय अपने बड़े भाई के शव को खाट से नीचे उतारते हुए भाई से बोले—तुम्हारे पास कुछ रुपये हों तो लाओ, दाह-क्रिया की फिक्र करें, मैं बिलकुल खाली हाथ हूँ।

छोटे भाई का नाम विश्वेश्वरराय था। वह एक जमींदार के कारिंदा थे, आमदनी अच्छी थी। बोले, आधे रुपये मुझसे ले लो। आधे तुम निकालो।

रामेश्वर—मेरे पास रुपये नहीं हैं।

विश्वेश्वर—तो फिर इनके हिस्से का खेत रेहन रख दो।

रामे.—तो जाओ, कोई महाजन ठीक करो। देर न लगे। विश्वेश्वरराय ने अपने एक मित्र से कुछ रुपये उधार लिये, उस वक्त का काम चला। पीछे फिर कुछ रुपये लिये, खेत की लिखा-पढ़ी कर दी। कुल पाँच बीघे जमीन थी। तीन सौ रुपये मिले। गाँव के लोगों का अनुमान है कि क्रिया-कर्म में मुश्किल से सौ रुपये उठे होंगे। पर विश्वेश्वरराय ने षोड्शी के दिन तीन सौ एक रुपये का लेखा भाई के सामने रख दिया। रामेश्वरराय ने चकित हो कर पूछा—सब रुपये उठ गये ?

विश्वे.—क्या मैं इतना नीच हूँ कि करनी के रुपये भी कुछ उठा रखूँगा ! किसको यह धन पचेगा।

रामे.—नहीं, मैं तुम्हें बेईमान नहीं बनाता, खाली पूछता था।

विश्वे.—कुछ शक हो तो जिस बनिये से चीज़ें ली गयी हैं, उससे पूछ लो।

2

साल-भर के बाद एक दिन विश्वेश्वरराय ने भाई से कहा—रुपये हों तो लाओ, खेत छुड़ा लें।

रामे.—मेरे पास रुपये कहाँ से आये। घर का हाल तुमसे छिपा थोड़े ही है।

विश्वे.—तो मैं सब रुपये देकर जमीन छोड़ाये लेता हूँ। जब तुम्हारे पास रुपये हों, आधा दे कर अपनी आधी जमीन मुझसे ले लेना।

रामे.—अच्छी बात है, छुड़ा लो।

तीस साल गुजर गये। विश्वेश्वरराय जमीन को भोगते रहे, उसे खाद गोबर से खूब सजाया।

उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यह जमीन न छोड़ूँगा। मेरा तो इस पर मौरूसी हक हो गया। अदालत से भी कोई नहीं ले सकता। रामेश्वरराय ने कई बार यत्न किया कि रुपये दे कर अपना हिस्सा ले लें; पर तीस साल में वे कभी एक सौ पचास रु. जमा न कर सके।

मगर रामेश्वरराय का लड़का जागेश्वर कुछ सँभल गया। वह गाड़ी लादने का काम करने लगा था और इस काम में उसे अच्छा नफा भी होता था। उसे अपने हिस्से की रात-दिन चिंता रहती थी। अंत में उसने रात-दिन श्रम करके यथेष्ट धन बटोर लिया और एक दिन चाचा से बोला—काका, अपने रुपये ले लीजिए। मैं अपना नाम चढ़वा लूँ।

विश्वे.—अपने बाप के तुम्हीं चतुर बेटे नहीं हो। इतने दिनों तक कान न हिलाये, जब मैंने जमीन सोना बना लिया तब हिस्सा बाँटने चले हो ? तुमसे माँगने तो नहीं गया था।

जागे.—तो अब जमीन न मिलेगी।

रामे.—भाई का हक मार कर कोई सुखी नहीं रहता।

विश्वे.—जमीन हमारी है। भाई की नहीं।

जागे.—तो आप सीधे न दीजिएगा ?

विश्वे.—न सीधे दूँगा, न टेढ़े से दूँगा। अदालत करो।

जागे.—अदालत करने की मुझे सामर्थ्य नहीं है; पर इतना कहे देता हूँ कि जमीन चाहे मुझे न मिले; पर आपके पास न रहेगी।

विश्वे.—यह धमकी जा कर किसी और को दो।

जागे.—फिर यह न कहियेगा कि भाई हो कर वैरी हो गया।

विश्वे.—एक हजार गाँठ में रख कर तब जो कुछ जी में आये, करना।

जागे.—मैं गरीब आदमी हजार रुपये कहाँ से लाऊँगा; पर कभी-कभी भगवान् दीनों पर दयालु हो जाते हैं।

विश्वे.—मैं इस डर से बिल नहीं खोद रहा हूँ।

रामेश्वरराय तो चुप ही रहा पर जागेश्वर इतना क्षमाशील न था। वकील से बातचीत की। वह अब आधी नहीं; पूरी जमीन पर दाँत लगाए हुए था।

मृत सिद्धेश्वरीराय के एक लड़की तपेश्वरी थी। अपने जीवन-काल में वे उसका विवाह कर चुके थे। उसे कुछ मालूम ही न था कि बाप ने क्या छोड़ा और किसने लिया। क्रिया-कर्म अच्छी तरह हो गया; वह इसी में खुश थी। षोड्शी में आयी थी। फिर ससुराल चली गयी। तीस वर्ष हो गये, न किसी ने बुलाया, न वह मैके आयी। ससुराल की दशा भी अच्छी न थी। पति का देहांत हो चुका था। लड़के भी अल्प वेतन पर नौकर थे। जागेश्वर

ने अपनी फूफी को उभारना शुरू किया। वह उसी को मुद्दई बनाना चाहता था।

तपेश्वरी ने कहा—बेटा, मुझे भगवान् ने जो दिया है, उसी में मगन हूँ। मुझे जगह-जमीन न चाहिए। मेरे पास अदालत करने को धन नहीं है।

जागे.—रुपये मैं लगाऊँगा, तुम खाली दावा कर दो।

तपेश्वरी—भैया तुम्हें खड़ा कर किसी काम का न रखेंगे।

जागे.—यह नहीं देखा जाता कि वे जायदाद ले कर मजें उड़ावें और हम मुँह ताकें। मैं अदालत का खर्च दे दूँगा। इस जमीन के पीछे बिक जाऊँगा पर उनका गला न छोड़ूँगा।

तपेश्वरी—अगर जमीन मिल भी गयी तो तुम अपने रुपयों के एवज में ले लोगे, मेरे हाथ क्या लगेगा ? मैं भाई से क्यों बुरी बनूँ ?

जागे.—जमीन आप ले लीजिएगा, मैं केवल चाचा साहब का घमंड तोड़ना चाहता हूँ।

तपेश्वरी—अच्छा, जाओ, मेरी तरफ से दावा कर दो।

जागेश्वर ने सोचा, जब चाचा साहब की मुट्ठी से जमीन निकल आयेगी तब मैं दस-पाँच रुपये साल पर इनसे ले लूँगा। इन्हें अभी कौड़ी नहीं मिलती। जो कुछ मिलेगा, उसी को बहुत समझेंगी। दूसरे दिन दावा कर दिया। मुंसिफ के इजलास में मुकदमा पेश हुआ। विश्वेश्वरराय ने सिद्ध किया कि तपेश्वरी सिद्धेश्वरी की कन्या ही नहीं है।

गाँव के आदमियों पर विश्वेश्वरराय का दबाव था। सब लोग उससे रुपये-पैसे उधार ले जाते थे। मामले-मुकदमे में उनसे सलाह लेते। सबने अदालत में बयान किया कि हम लोगों ने कभी तपेश्वरी को नहीं देखा। सिद्धेश्वर के कोई लड़की ही न थी। जागेश्वर ने बड़े-बड़े वकीलों से पैरवी करायी, बहुत धन खर्च किया, लेकिन मुंसिफ ने उसके विरुद्ध फैसला सुनाया। बेचारा हताश हो गया। विश्वेश्वर की अदालत में सबसे जान-पहचान थी। जागेश्वर को जिस काम के लिए मुट्ठियों रुपये खर्च करने पड़ते थे, वह विश्वेश्वर मुरौवत में करा लेता।

जागेश्वर ने अपील करने का निश्चय किया। रुपये न थे, गाड़ी-बैल बेच डाले। अपील हुई। महीनों मुकदमा चला। बेचारा सुबह से शाम तक कचहरी के अमलों और वकीलों की खुशामद किया करता, रुपये भी उठ गये, महाजनों से ऋण लिया। बारे अबकी उसकी डिग्री हो गयी। पाँच सौ का बोझ सिर पर हो गया था, पर अब जीत ने आँसू पोंछ दिये।

विश्वेश्वर ने हाईकोर्ट में अपील की। जागेश्वर को अब कहीं से रुपये न मिले। विवश होकर अपने हिस्से की जमीन रेहन रखी। फिर घर बेचने की नौबत आयी। यहाँ तक कि स्त्रियों के गहने भी बिक गये। अंत में हाईकोर्ट से भी उसकी जीत हो गयी। आनंदोत्सव में बची-खुची पूँजी भी निकल गयी। एक हजार पर पानी फिर गया। हाँ, संतोष यही था कि ये पाँचों बीघे मिल गये। तपेश्वरी क्या इतनी निर्दय हो जायगी कि थाली मेरे सामने से खींच लेगी।

लेकिन खेतों पर अपना नाम चढ़ते ही तपेश्वरी की नीयत बदली। उसने एक दिन गाँव में आकर पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि पाँचों बीघे सौ रुपये में उठ सकते हैं। लगान केवल पच्चीस रुपये था, पिचतर रुपये साल का नफा था। इस रकम ने उसे

विचलित कर दिया। उसने असामियों को बुला कर उनके साथ बंदोबस्त कर दिया। जागेश्वरराय हाथ मलता रह गया। आखिर उससे न रहा गया। बोला—फूफीजी, आपने जमीन तो दूसरों को दे दी, अब मैं कहाँ जाऊँ।

तपेश्वरी—बेटा, पहले अपने घर में दीया जला कर तब मस्जिद में जलाते हैं इतनी जगह मिल गयी, तो मैके से नाता हो गया, नहीं तो कौन पूछता।

जागे.—मैं तो उजड़ गया !

तपेश्वरी—जिस लगान पर और लोग ले रहे हैं, उसमें दो-चार रुपये कम करके तुम्हीं क्यों नहीं ले लेते ?

तपेश्वरी तो दो-चार दिन में विदा हो गयी। रामेश्वरराय पर वज्रपात-सा हो गया। बुढ़ापे में मजदूरी करनी पड़ी। मान-मर्यादा से हाथ धोया। रोटियों के लाले पड़ गये। बाप-बेटे दोनों प्रातःकाल से संध्या तक मजदूरी करते, तब कहीं आग जलती। दोनों में बहुधा तकरार हो जाती। रामेश्वर सारा अपराध बेटे के सिर रखता। जागेश्वर कहता, आपने मुझे रोका होता तो मैं क्यों इस विपत्ति में फँसता। उधर विश्वेश्वरराय ने महाजनों को उकसा दिया। साल भी न गुजरने पाया था कि बेचारे निराधार हो गये।—जमीन निकल गयी, घर नीलाम हो गया, दस-बीस पेड़ थे, वे भी नीलाम हो गये। चौबे जी दूबे न बने, दरिद्र हो गये। इस पर विश्वेश्वरराय के ताने और भी गजब ढाते। यह विपत्ति का सबसे नोकदार काँटा था। आतंक का सबसे निर्दय आघात था।

दो साल तक इस दुःखी परिवार ने जितनी मुसीबतें झेलीं, यह उन्हीं का दिल जानता है। कभी पेटभर भोजन न मिला। हाँ, इतनी आन थी कि नीयत नहीं बदली। दरिद्रता ने सब कुछ किया, पर आत्मा का पतन न कर सकी। कुलमर्यादा में आत्मरक्षा की बड़ी शक्ति होती है।

एक दिन संध्या समय दोनों आदमी बैठे आग ताप रहे थे कि सहसा एक आदमी ने आकर कहा—ठाकुर चलो, विश्वेश्वरराय तुम्हें बुलाते हैं।

रामेश्वर ने उदासीन भाव से कहा— मुझे क्यों बुलायेंगे ? मैं उनका कौन होता हूँ? क्या कोई और उपद्रव खड़ा करना चाहते हैं ?

इतने में दूसरा आदमी दौड़ा हुआ आकर बोला—ठाकुर, जल्दी चलो, विश्वेश्वरराय की दशा अच्छी नहीं है।

विश्वेश्वरराय को इधर कई दिनों से खाँसी-बुखार की शिकायत थी, लेकिन शत्रुओं के विषय में हमें किसी अनिष्ट की शंका नहीं होती। रामेश्वर और जागेश्वर कभी कुशल-समाचार पूछने भी न गये। कहते, उन्हें क्या हुआ है। अमीरों को धन का रोग होता है। जब आराम करने को जी चाहा; पलंग पर लेट रहे, दूध में साबूदाना उबाल कर मिश्री मिला कर खाया और फिर उठ बैठे। विश्वेश्वरराय की दशा अच्छी नहीं है, यह सुन कर भी दोनों जगह से न हिले। रामेश्वर ने कहा—दशा को क्या हुआ है। आराम से पड़े बातें तो कर रहे हैं।

जागे.—किसी वैद्य-हकीम को बुलाने भेजना चाहते होंगे। शायद बुखार तेज हो गया है।

रामे.—यहाँ किसे इतनी फुरसत है। सारा गाँव तो उनका हितू है, जिसे चाहें भेज दें।

जागे.—हर्ज ही क्या है। जरा जा कर सुन आऊँ ?

रामे.—जा कर थोड़े उपले बटोर लाओ, चूल्हा जले, फिर जाना। ठकुरसोहाती करनी आती तो आज यह दशा न होती।

जागेश्वर ने टोकरी उठायी और हार की तरफ चला कि इतने में विश्वेश्वरराय के घर से रोने की आवाज़ें आने लगीं। उसने टोकरी फेंक दी और दौड़ा हुआ चाचा के घर में जा पहुँचा। देखा तो उन्हें लोग चारपाई से नीचे उतार रहे थे। जागेश्वर को ऐसा जान पड़ा, मेरे मुँह में कालिख लगी हुई है। वह आँगन से दालान में चला आया और दीवार में मुँह छिपा कर रोने लगा। युवावस्था आवेशमय होती है। क्रोध से आग हो जाती है तो करुणा से पानी भी हो जाती है।

3

विश्वेश्वरराय की तीन बेटियाँ थीं। उनके विवाह हो चुके थे। तीन पुत्र थे, वे अभी छोटे थे। सबसे बड़े की उम्र दस वर्ष से अधिक न थी। माता जी जीवित थीं। खाने वाले तो चार थे, कमाने वाला कोई न था। देहात में जिसके घर में दोनों जून चूल्हा जले, वह धनी समझा जाता है। उसके धन के अनुमान में भी अत्युक्ति से काम लिया जाता है। लोगों का विचार था कि विश्वेश्वरराय ने हजारों रुपये जमा कर लिये हैं; पर वहाँ वास्तव में कुछ न था। आमदनी पर सबकी निगाह रहती है, खर्च को कोई नहीं देखता। उन्होंने लड़कियों के विवाह खूब दिल खोल कर किये थे। भोजन-वस्त्र में, मेहमानों और नातेदारों के आदर-सत्कार में उनकी सारी आमदनी गायब हो जाती थी। अगर गाँव में अपना रोब जमाने के लिए दो-चार सौ रुपयों का लेन-देन कर लिया था, तो कई महाजनों का क़र्ज भी था। यहाँ तक कि छोटी लड़की के विवाह में अपनी जमीन गिरों रख दी थी।

साल-भर तक तो विधवा ने ज्यों-त्यों करके बच्चों का भरण-पोषण किया। गहने बेच कर काम चलाती रही; पर जब यह आधार भी न रहा तब कष्ट होने लगा। निश्चय किया कि तीनों लड़कों को तीनों कन्याओं के पास भेज दूँ। रही अपनी जान उसकी क्या चिंता। तीसरे दिन भी पावभर आटा मिल जायेगा तो दिन कट जायेंगे। लड़कियों ने पहले तो भाइयों को प्रेम से रखा; किंतु तीन महीने से ज्यादा कोई न रख सकी। उनके घरवाले चिढ़ते थे और अनाथों को मारते थे। लाचार हो माता ने लड़कों को बुला लिया।

छोटे-छोटे लड़के दिन-दिनभर भूखे रह जाते। किसी को कुछ खाते देखते तो घर में जा कर माँ से माँगते। फिर माँ से माँगना छोड़ दिया। खानेवालों ही के सामने जा कर, खड़े हो जाते और क्षुधित नेत्रों से देखते। कोई तो मुट्ठी भर चबेना निकाल कर दे देता; पर प्रायः लोग दुत्कार देते थे।

जाड़ों के दिन थे। खेतों में मटर की फलियाँ लगी हुई थीं। एक दिन तीनों लड़के खेत में घुस कर मटर उखाड़ने लगे। किसान ने देख लिया; दयावान आदमी था। खुद एक बोझा मटर उखाड़ कर विश्वेश्वराय के घर पर लाया और ठकुराइन से बोला—काकी, लड़कों को डाँट दो किसी के खेत में न जाया करें। जागेश्वरराय उसी समय अपने द्वार पर बैठा चिलम पी रहा था, किसान को मटर लाते देखा—तीनों बालक पिल्लों की भाँति पीछे-पीछे दौड़े चले आते थे। उसकी आँखें सजल हो गयीं। घर में जा कर पिता से बोला—चाची के

पास अब कुछ नहीं रहा, लड़के भूखों मर रहे हैं।

रामे.—तुम त्रिया-चरित्र नहीं जानते। यह सब दिखावा है। जन्म भर की कमाई कहाँ उड़ गयी ?

जागे.—अपना काबू चलते हुए कोई लड़कों को भूखों नहीं मार सकता।

रामे.—तुम क्या जानो। बड़ी चतुर औरत है।

जागे.—लोग हमीं लोगों को हँसते होंगे।

रामे.—हँसी की लाज है तो जा कर छाँह कर लो, खिलाओ-पिलाओ। है दम !

जागे.—न भर-पेट खायँगे, आधे ही पेट सही। बदनामी तो न होगी ? चाचा से लड़ाई थी। लड़कों ने हमारा क्या बिगाड़ा है।

रामे.— वह चुड़ैल तो अभी जीती है न ?

जागेश्वर चला आया। उसके मन में कई बार यह बात आयी थी कि चाची को कुछ सहायता दिया करूँ, पर उनकी जली-कटी बातों से डरता था। आज से उसने एक नया ढंग निकाला है। लड़कों को खेलते देखता तो बुला लेता, कुछ खाने को दे देता। मजूरों को दोपहर छुट्टी मिलती है। अब वह अवकाश के समय काम करके मजूरी के पैसे कुछ ज्यादा पा जाता। घर चलते समय खाने की कोई न कोई चीज लेता आता और अपने घरवालों की आँख बचा कर उन अनाथों को दे देता। धीरे-धीरे लड़के उससे इतने हिल-मिल गये कि उसे देखते ही 'भैया-भैया' कह कर दौड़ते, दिन भर उसकी राह देखा करते। पहले माता डरती थी कि कहीं मेरे लड़कों को बहला कर ये महाशय पुरानी अदावत तो नहीं निकालना चाहते हैं। वह लड़कों को जागेश्वर के पास जाने और उससे कुछ ले कर खाने से रोकती, पर लड़के शत्रु और मित्र को बूढ़ों से ज्यादा पहचानते हैं। लड़के माँ के मना करने की परवा न करते, यहाँ तक कि शनैः-शनैः माता को भी जागेश्वर की सहृदयता पर विश्वास आ गया।

एक दिन रामेश्वर ने बेटे से कहा— तुम्हारे पास रुपये बढ़ गये हैं. तो चार पैसे जमा क्यों नहीं करते। लुटाते क्यों हो ?

जागे.—मैं तो एक-एक कौड़ी की किफायत करता हूँ ?

रामे.—जिन्हें अपना समझ रहे हो, वे एक दिन तुम्हारे शत्रु होंगे।

जागे.—आदमी का धर्म भी तो कोई चीज है। पुराने वैर पर एक परिवार की भेंट नहीं कर सकता। मेरा बिगड़ता ही क्या है, यही न रोज घंटे-दो-घंटे और मिहनत करनी पड़ती है।

रामेश्वर ने मुँह फेर लिया। जागेश्वर घर में गया तो उसकी स्त्री ने कहा—अपने मन की ही करते हो, चाहे कोई कितना ही समझाये। पहले घर में आदमी दीया जलाता है।

जागे.—लेकिन यह तो उचित नहीं कि अपने घर में दीया की जगह मोमबत्तियाँ जलाये और मस्जिद को अँधेरा ही छोड़ दे।

स्त्री—मैं तुम्हारे साथ क्या पड़ी, मानों कुएँ में गिर पड़ी। कौन सुख देते हो ? गहने उतार लिये, अब साँस भी नहीं लेते।

जागे.—मुझे तुम्हारे गहने से भाइयों की जान ज्यादा प्यारी है।

स्त्री ने मुँह फेर लिया और बोली—वैरी की संतान कभी अपनी नहीं होती।

जागेश्वर ने बाहर जाते हुए उत्तर दिया—वैर का अंत वैरी के जीवन के साथ हो जाता है।

[हिन्दी कहानी। 'सरस्वती' में, अप्रैल, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई।]

बौड़म

मुझे देवीपुर गये पाँच दिन हो चुके थे, पर ऐसा एक दिन भी न होगा कि बौड़म की चर्चा न हुई हो। मेरे पास सुबह से शाम तक गाँव के लोग बैठे रहते थे। मुझे अपनी बहुज्ञता के प्रदर्शित करने का न कभी ऐसा अवसर ही मिला था और न प्रलोभन ही। मैं बैठा-बैठा इधर-उधर की गप्पें उड़ाया करता। बड़े लाट ने गाँधी बाबा से यह कहा और गाँधी बाबा ने यह जवाब दिया। अभी आप लोग क्या देखते हैं, आगे देखिएगा क्या-क्या गुल खिलते हैं। पूरे 50 हजार जवान जेल जाने को तैयार बैठे हुए हैं। गाँधी जी ने आज्ञा दी है कि हिन्दुओं में छूत-छात का भेद न रहे, नहीं तो देश को और भी अदिन देखने पड़ेंगे। अस्तु! लोग मेरी बातों को तन्मय हो कर सुनते। उनके मुख फूल की तरह खिल जाते। आत्माभिमान की आभा मुख पर दिखायी देती। गद्‌गद् कंठ से कहते, अब तो महात्मा जी ही का भरोसा है। न हुआ बौड़म नहीं आपका गला न छोड़ता। आपको खाना-पीना कठिन हो जाता। कोई उससे ऐसी बातें किया करे तो रात की रात बैठा रहे। मैंने एक दिन पूछा, आखिर यह बौड़म है कौन ? कोई पागल है क्या ? एक सज्जन ने कहा— "महाशय, पागल क्या है, बस बौड़म है। घर में लाखों की सम्पत्ति है, शक्कर की एक मिल सिवान में है, दो कारखाने छपरे में हैं, तीन-तीन, चार-चार सौ के तलबवाले आदमी नौकर हैं, पर इसे देखिए फटेहाल घूमा करता है। घर वालों ने सिवान भेज दिया था कि जा कर वहाँ निगरानी करे। दो ही महीने में मैनेजर से लड़ बैठा, उसने यहाँ लिखा, मेरा इस्तीफा लीजिए। आपका लड़का मजदूरों को सिर चढ़ाये रहता है, वे मन से काम नहीं करते। आखिर घरवालों ने बुला लिया। नौकर-चाकर लूटते खाते हैं उसकी तो जरा भी चिन्ता नहीं, पर जो सामने आम का बाग है उसकी रात-दिन रखवाली किया करता है। क्या मजाल कि कोई एक पत्थर भी फेंक सके।" एक मियाँ जी बोले—"बाबू जी, घर में तरह-तरह के खाने पकते हैं, मगर इसकी तकदीर में वही रोटी और दाल लिखी हुई है और कुछ खाता ही नहीं। बाप अच्छे-अच्छे कपड़े खरीदते हैं, लेकिन वह उनकी तरफ निगाह भी नहीं उठाता। बस, वही मोटा कुरता गाढ़े की तहमद बाँधे मारा-मारा फिरता है। आपसे उसकी सिफत कहाँ तक कहें, बस पूरा बौड़म है।"

2

ये बातें सुन कर मुझे भी इस विचित्र व्यक्ति से मिलने की उत्कंठा हुई। सहसा एक आदमी ने कहा—'वह देखिये, बौड़म आ रहा है।' मैने कुतूहल से उसकी ओर देखा। एक

बीस-इक्कीस वर्ष का हृष्ट-पुष्ट युवक था। नंगे सिर, एक गाढ़े का कुरता पहने, गाढ़े का ढीला पाजामा पहने चला आता था! पैरों में जूते थे। पहले मेरी ही ओर आया। मैंने कहा—"आइए बैठिए।" उसने मंडली की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखा और बोला—"अभी नहीं, फिर आऊँगा।" यह कहकर चला गया।

जब संध्या हो गयी और सभा विसर्जित हुई तो वह आम के बाग की ओर से धीरे-धीरे आकर मेरे पास बैठ गया और बोला—इन लोगों ने तो मेरी खूब बुराइयाँ की होंगी। मुझे यह बौड़म का लकब मिला है।

मैंने सुकचाते हुए कहा—हाँ, आप की चर्चा लोग रोज करते थे। मेरी आप से मिलने की बड़ी इच्छा थी। आप का नाम क्या है?

बौड़म ने कहा— नाम तो मेरा मुहम्मद खलील है, पर आस-पास के दस-पाँच गाँवों में मुझे लोग उर्फ के नाम से ज्यादा जानते हैं। मेरा उर्फ बौड़म है।

मैं—आखिर लोग आपको बौड़म क्यों कहते हैं?

खलील—उनकी खुशी और क्या कहूँ? मैं जिन्दगी को कुछ और समझता हूँ, पर मुझे इजाजत नहीं है कि पाँचों वक्त की नमाज पढ़ सकूँ। मेरे वालिद हैं, चचा हैं। दोनों साहब पहर रात से पहर रात तक काम में मसरूफ रहते हैं। रात-दिन हिसाब-किताब, नफा-नुकसान, मंदी-तेजी के सिवाय और कोई जिक्र ही नहीं होता, गोया खुदा के बन्दे न हुए इस दौलत के बन्दे हुए। चचा साहब हैं, वह पहर रात तक शीरे के पीपों के पास खड़े हो कर उन्हें गाड़ी पर लदवाते हैं। वालिद साहब अक्सर अपने हाथों से शक्कर का वजन करते हैं। दोपहर का खाना शाम को और शाम का खाना आधी रात को खाते हैं। किसी को नमाज पढ़ने की फुर्सत नहीं। मैं कहता हूँ, आप लोग इतना सिर-मगजन क्यों करते हैं। बड़े कारबार में सारा काम एतबार पर होता है। मालिक को कुछ न कुछ बल खाना ही पड़ता है। अपने बलबूते पर छोटे कारोबार ही चल सकते हैं। मेरा उसूल किसी को पसन्द नहीं, इसलिए मैं बौड़म हूँ।

मैं—मेरे खयाल में तो आपका उसूल ठीक है।

खलील—ऐसा भूल कर भी न कहिएगा, वरना एक ही जगह दो बौड़म हो जायेंगे। लोगों को कारबार के सिवा न दीन से गरज है न दुनिया से। न मुल्क से, न कौम से। मैं अखबार मँगाता हूँ, स्मर्ना फंड में कुछ रुपये भेजना चाहता हूँ। खिलाफत-फंड को मदद करना भी अपना फर्ज समझता हूँ। सबसे बड़ा सितम है कि खिलाफत का रज़ाकार भी हूँ। क्यों साहब, जब कौम पर, मुल्क पर और दीन पर चारों तरफ से दुश्मनों का हमला हो रहा है तो क्या मेरा फर्ज नहीं है कि जाति के फायदे को क़ौम पर कुर्बान कर दूँ। इसीलिए घर और बाहर मुझे बौड़म का लकब दिया गया है।

मैं—आप तो वह कर रहे हैं जिसकी इस वक्त कौम को जरूरत है।

खलील—मुझे खौफ है कि इस चौपट नगरी से आप बदनाम हो कर जायेंगे। जब मेरे हजारों भाई जेल में पड़े हुए हैं, उन्हें गजी का गाढ़ा तक पहनने को मयस्सर नहीं तो मेरी ग़ैरत गवारा नहीं करती कि मैं मीठे लुकमें उड़ाऊँ और चिकन के कुर्ते पहनूँ, जिनकी कलाइयों और मुड्ढों पर सीज़नकारी की गयी हो।

मैं—आप यह बहुत ही मुनासिब कहते हैं। अफसोस है कि और लोग आपका-सा

त्याग करने के काबिल नहीं।

खलील—मैं इसे त्याग नहीं समझता, न दुनिया को दिखाने के लिए यह भेष बना के घूमता हूँ। मेरा जी ही लज़्ज़त और शौक़ से फिर गया है। थोड़े दिन होते हैं वालिद ने मुझे सिवान के मिल में निगरानी के लिए भेजा, मैंने वहाँ जा कर देखा तो इंजीनियर साहब के खानसामे, बैरे, मेहतर, धोबी, माली, चौकीदार, सभी मजदूरों की जैल में लिखे हुए थे। काम साहब का करते थे, मजदूरी कारखाने से पाते थे। साहब बहादुर खुद तो बेउसूल हैं, पर मजदूरों पर इतनी सख्ती थी कि अगर पाँच मिनट की देर हो जाए तो उनकी आधे दिन की मजदूरी कट जाती थी। मैंने साहब की मिजाज-पुरसी करनी चाही। मजदूरों के साथ रियायत करनी शुरू की। फिर क्या था ? साहब बिगड़ गये, इस्तीफे की धमकी दी। घरवालों को उनके सब हालात मालूम हैं। पल्ले दरजे का हरामखोर आदमी है। लेकिन उसकी धमकी पाते ही सबके होश उड़ गये। मैं तार से वापस बुला लिया गया और घर पर मेरी खूब ले-दे हुई। पहले बौड़म होने में कुछ कोर-कसर थी, वह पूरी हो गयी। न जाने साहब से लोग क्यों इतना डरते हैं?

मैं—आपने वही किया जो इस हालत में मैं भी करता बल्कि मैं तो पहले साहब पर ग़बन का मुकदमा दायर करता, बदमाशों से पिटवाता, तब बात करता। ऐसे हरामखोरों की यही सजाएँ हैं।

खलील—फिर तो एक और, दो हो गये। अफसोस यही है कि आपका यहाँ कयाम न रहेगा। मेरा जी चाहता है, कि चंद रोज आपके साथ रहूँ। मुद्दत के बाद आप ऐसे आदमी मिले हैं जिससे मैं अपने दिल की बातें कह सकता हूँ। इन गँवारों से मैं बोलता भी नहीं। मेरे चाचा साहब का जवानी में एक चमारिन से ताल्लुक हो गया था। उससे दो बच्चे, एक लड़का और एक लड़की पैदा हुए। चमारिन लड़की को गोद में छोड़कर मर गयी। तब से इन दोनों बच्चों की मेरे यहाँ वही हालत थी जो यतीमों की होती है। कोई बात न पूछता था। उनको खाने-पहनने को भी न मिलता। बेचारे नौकरों के साथ खाते और बाहर झोंपड़े में पड़े रहते थे। जनाब, मुझसे यह न देखा गया। मैंने उन्हें अपने दस्तरखान पर खिलाया और अब भी खिलाता हूँ। घर में कुहराम मच गया। जिसे देखिए मुझ पर त्योरियाँ बदल रहा है, मगर मैंने परवाह न की। आखिर है वह भी तो हमारा ही खून। इसलिए मैं बौड़म कहलाता हूँ।

मैं—जो लोग आपको बौड़म कहते हैं, वे खुद बौड़म हैं।

खलील—जनाब, इनके साथ रहना अजीब है। शाह काबुल ने कुर्बानी की मुमानियत कर दी है। हिंदुस्तान के उलमा ने भी यही फतवा दिया, पर यहाँ खास मेरे घर कुर्बानी हुई। मैंने हरचंद बावैला मचाया, पर मेरी कौन सुनता है ? उसका कफारा (प्रायश्चित्त) मैंने यह अदा किया कि अपनी सवारी का घोड़ा बेच कर तीन सौ फकीरों का खाना खिलाया और तब से कसाइयों को गायें लिये जाते देखता हूँ तो कीमत दे कर खरीद लेता हूँ। इस वक्त तक दस गायों की जान बचा चुका हूँ। वे सब यहाँ हिंदुओं के घरों में हैं, पर मजा यह है कि जिन्हें मैंने गायें दी हैं, वे भी मुझे बौड़म कहते हैं। मैं भी इस नाम का इतना आदी हो गया हूँ कि अब मुझे इससे मुहब्बत हो गयी है।

मैं—आप ऐसे बौड़म काश मुल्क में और ज्यादा होते।

खलील—लीजिए आपने भी बनाना शुरू कर दिया। यह देखिए आम का बाग है। मैं उनकी रखवाली करता हूँ। लोग कहते हैं जहाँ हजारों का नुकसान हो रहा है वहाँ तो देखभाल करता नहीं, जरा-सी बगिया की रखवाली में इतना मुस्तैद। जनाब, यहाँ लड़कों का यह हाल है कि एक आम तो खाते हैं और पचीस आम गिराते हैं। कितने ही पेड़ चोट खा जाते हैं और फिर किसी काम के नहीं रहते। मैं चाहता हूँ कि आम पक जायें, टपकने लगें तब जिसका जी चाहे चुन ले जाए। कच्चे आम खराब करने से क्या फायदा ? यह भी मेरे बौड़मपन में दाखिल है।

3

ये बातें हो ही रही थीं कि सहसा तीन-चार आदमी एक बनिये को पकड़े, घसीटते हुए आते दिखायी दिये। पूछा तो उन चारों आदमियों में से एक ने, जो सूरत से मौलवी मालूम होते थे, कहा—यह बड़ा बेईमान है, इसके बाँट कम हैं। अभी इसके यहाँ से सेर भर घी ले गया हूँ। घर पर तौलता हूँ तो आध पाव गायब। अब जो लौटाने आया हूँ तो कहता है मैंने तो पूरा तौला था। पूछो अगर तूने पूरा तौला था तो क्या मैं रास्ते में खा गया। अब ले चलता हूँ थाने पर, वहीं इसकी मरम्मत होगी।

दूसरे महाशय, जो वहाँ डाकखाने के मुंशी थे, बोले—इसकी हमेशा की यही आदत है, कभी पूरा नहीं तौलता। आज ही दो आने की शक्कर मँगवायी। लड़का घर ले कर गया तो मुश्किल से एक आने की थी। लौटाने आया तो आँखें दिखाने लगा। इसके बाँटों की आज जाँच करानी चाहिए।

तीसरा आदमी अहीर था। अपने सिर पर से खली की गठरी उतार कर बोला—साहब, यह ग्यारह रुपये की खली है। छः सेर के भाव से दी थी। घर पर तौला तो दो सेर हुई। लाया कि लौटा दूँगा, पर यह लेता ही नहीं ! अब इसका निबटारा थाने ही में होगा। इस पर कई आदमियों ने कहा—यह सचमुच बेईमान आदमी है।

बनिये ने कहा—अगर मेरे बाँट रत्ती भर कम निकलें तो हजार रुपये डाँड़ दूँ।

मौलवी साहब ने कहा—तो कमबख्त, टाँकी मारता होगा।

मुंशी जी बोले—टाँकी मार देता है, यही बात है।

अहीर ने कहा—दोहरे बाँट रखे हैं। दिखाने के और, बेचने के और इसके घर की पुलिस तलाशी ले।

बनिये ने फिर प्रतिवाद किया, पकड़ने वालों ने फिर आक्रमण किया, इसी तरह कोई आध घंटा तक तकरार होती रही। मेरी समझ में न आता था कि क्या करूँ। बनिये को छुड़ाने के लिए जोर दूँ या जाने दूँ। बनिये से सभी जले हुए मालूम होते थे। खलील को देखा तो गायब ? न जाने कब उठकर चला गया ? बनिया किसी तरह न दबता था, यहाँ तक कि थाने जाने से भी न डरता था।

4

ये लोग थाने जाना ही चाहते थे कि बौड़म सामने आता दिखायी दिया। उसके एक हाथ में

एक टोकरा था, दूसरे हाथ में एक टोकरी और पीछे एक सात-आठ बरस का लड़का। उसने आते ही मौलवी साहब से कहा--यह कटोरा आप ही का है काजी जी?

मौलवी--(चौंककर) हाँ है तो, फिर ? तुम मेरे घर से इसे क्यों लाये?

बौड़म--इसलिए कि कटोरे में वही आधा पाव घी है जिसके विषय में आप कहते हैं कि बनिये ने कम तौला। घी वही है। वजन वही है। बेईमानी गरीब बनिये की नहीं है, बल्कि काजी हाजी मौलवी जहूर अहमद की।

मौलवी--तुम अपना बौड़मपना यहाँ न दिखाना नहीं तो मैं किसी से डरने वाला नहीं हूँ। तुम लखपती होगे तो अपने घर के होगे। तुम्हें क्या मजाल था मेरे घर में जाने का !

बौड़म--वही जो आपको बनिये को थाने में ले जाने का है। अब यह घी भी थाने जायेगा।

मौलवी--(सिटपिटा कर) सबके घर में थोड़ी बहुत चीज रखी ही रहती है। कसम कुरान शरीफ की, मैं अभी तुम्हारे वालिद के पास जाता हूँ, आज तक गाँव भर में किसी ने मुझ पर ऐसा इलजाम नहीं लगाया था।

बनिया--मौलवी साहब आप जाते कहाँ हैं ? चलिए हमारा-आपका फैसला थाने में होगा। मैं एक न मानूँगा। कहलाने को मौलवी, दीनदार ऐसे बनते हैं कि देवता ही हैं। पर घर में चीज रख कर दूसरों को बेईमान बनाते हैं। यह लम्बी दाढ़ी धोखा देने के लिए बढ़ायी है?

मगर मौलवी साहब न रुके। बनिये को छोड़ कर खलील के बाप के पास चले गये, जो इस वक्त शर्म से बचने का सहज बहाना था।

तब खलील ने अहीर से कहा--क्यों बे, तू भी थाने जा रहा है ? चल मैं भी चलता हूँ। तेरे घर से यह सेर भर खली लेता आया हूँ।

अहीर ने मौलवी साहब की दुर्गति देखी तो चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, बोला--भैया जवानी की कसम है, मुझे मौलवी साहब ने सिखा दिया था।

खलील--दूसरे के सिखाने से तुम किसी के घर में आग लगा दोगे ? खुद तो बच्चा दूध में आधा पानी मिला-मिला कर बेचते हो, मगर आज तुमको इतनी मुटमरदी सवार हो गयी कि एक भले आदमी को तबाह करने पर आमादा हो गये। खली उठा कर घर में रख ली, उस पर बनिये से कहते हो कि कम तौला।

बनिया--भैया, मेरी लाख रुपये की इज्जत बिगड़ गयी। मैं थाने में रपट किये बिना न मानूँगा।

अहीर--साहू जी, अबकी माफ करो, नहीं तो कहीं का न रहूँगा।

तब खलील ने मुंशी जी से कहा--कहिए जनाब, आपकी कलई खोलूँ या चुपके से घर की राह लीजिएगा।

मुंशी--तुम बेचारे मेरी कलई क्या खोलोगे। मुझे भी अहीर समझ लिया है कि तुम्हारी भपकियों में आऊँगा।

खलील--(लड़के से) क्यों बेटा, तुम शक्कर ले कर सीधे घर चले गये थे?

लड़का--(मुंशी जी को सशंक नेत्रों से देख कर) नहीं बताऊँगा।

मुंशी--लड़कों को जैसा सिखा दोगे वैसा कहेंगे।

खलील–बेटा, अभी तुमने मुझसे जो कहा था, वही फिर कह दो।

लड़का–दादा मारेंगे।

मुंशी–क्या तूने रास्ते में शक्कर फाँक ली थी।

लड़का रोने लगा।

खलील–जी हाँ. इसने मुझसे खुद कहा; पर आपने उससे तो पूछा नहीं बनिये के सिर हो गये। यही शराफत है !

मुंशी–मुझे क्या मालूम था कि उसने रास्ते में यह शरारत की?

खलील–तो ऐसे कमजोर सबूत पर आप थाने क्योंकर चले थे। आप गँवारों को मनीआर्डर के रुपये देते हैं तो उस रुपये पर दो आने अपनी दस्तूरी काट लेते हैं। टके के पोस्टकार्ड आने में बेचते हैं, जब कहिए तब साबित कर दूँ। उसे क्या आप बेईमानी नहीं समझते हैं?

मुंशी जी ने बौड़म के मुँह लगना मुनासिब न समझा। लड़के को मारते हुए घर ले गये। बनिये ने बौड़म को खूब आशीर्वाद दिया। दर्शक लोग भी धीरे-धीरे चले गये। तब मैंने खलील से कहा–आपने इस बनिये की जान बचा ली नहीं तो बेचारा बेगुनाह पुलिस के पंजे में फँस जाता।

खलील–आप जानते हैं कि मुझे क्या सिला (इनाम) मिलेगा ? थानेदार मेरे दुश्मन हो जायेंगे। कहेंगे यह मेरे शिकारों को भगा दिया करता है। वालिद साहब पुलिस से थर-थर काँपते हैं। मुझे आड़े हाथों लेंगे कि तू दूसरों के बीच में क्यों दखल देता है ? यहाँ यह भी बौड़मपन में दाखिल है। एक बनिये के पीछे मुझे भले आदमियों की कलई खोलनी मुनासिब न थी। ऐसी हरकत बौड़म लोग किया करते हैं।

मैंने श्रद्धापूर्ण शब्दों में कहा–अब मैं आपको इस नाम से पुकारूँगा। आज मुझे मालूम हुआ कि बौड़म देवताओं को कहा जाता है! जो स्वार्थ पर आत्मा की भेंट कर देता है वह चतुर है, बुद्धिमान है। जो आत्मा के सामने, सच्चे सिद्धांत के सामने, सत्य के सामने, स्वार्थ की, निंदा की परवाह नहीं करता वह बौड़म है, निर्बुद्धि है।

[हिन्दी कहानी। 'प्रभा' में अप्रैल, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-8 मे संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई।]

गृह-दाह

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपये खर्च किये थे। उसका विद्यारम्भ-संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता था। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता। दिन भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता। कितना सुशील, होनहार बालक था ! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए पाँव। उसे देख कर सहसा मुँह से निकल पड़ता था–भगवान् इसे जिला दें, प्रतापी मनुष्य

होगा। उसकी बल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुखचंद्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश पत्नी को ले कर गंगास्नान करने गये। नदी खूब चढ़ी हुई थी; मानो अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी निर्मला जल में बैठ कर जल क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अब निकलो, सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो, मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ ?

देवप्रकाश—और जो कहीं पैर फिसल जाय ?

निर्मला—पैर क्या फिसलेगा !

यह कह कर वह छाती तक पानी में चली गयी। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना; किंतु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जलक्रीड़ा नहीं, मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया और फिसल गयी। मुँह से एक चीख निकली; दोनों हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे और फिर जलमग्न हो गये। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गयी। देवप्रकाश खड़े तौलिया से देह पोंछ रहे थे। तुरंत पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला, पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवायी गयी। मल्लाह ने बार-बार गोते मारे पर लाश हाथ न आयी। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आये। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा से दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसक को न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्माँ कहाँ है ?

देव.—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासाभाव से देखा और आशय समझ गया। अम्माँ-अम्माँ कह कर रोने लगा।

2

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन से दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सम्हालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंखहीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश का एकांत से प्रेम हो गया। अकेला बैठा रहता। वृक्षों में उसे कुछ-कुछ सहानुभूति का अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों से उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे, माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गये। पिता की आँखों में भी वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है।

छह महीने बीत गये। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नयी माता आनेवाली हैं। दौड़ा पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नयी माता आयेंगी।

पिता ने कहा—हाँ बेटा, वे आ कर तुम्हें प्यार करेंगी।

सत्य.—क्या मेरी ही माँ स्वर्ग से आ जायेंगी ?

देव.—हाँ, वही माता आ जायगी।

सत्य.—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी ?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते ? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्माँ आयेंगी ! मुझे गोद में ले कर प्यार करेंगी ! अब मैं उन्हें कभी दिक न करूँगा, कभी जिद न करूँगा, उन्हें अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आये। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश खुशी से फूला न समाता। मेरी नयी अम्माँ आयेंगी। बारात में वह भी गया। नये-नये कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अंदर बुलाया और उसे गोद में ले कर एक अशरफी दी। वहीं उसे नयी माता के दर्शन हुए। नानी ने नयी माता से कहा--बेटी, कैसा सुन्दर बालक है ! इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नयी माता को देखा और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषण से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनों हाथों से उसका अंचल पकड़ कर कहा—अम्माँ !

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय ! वह ललना जो 'देवप्रिया' नाम से सम्बोधित होती थी, यह उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का सम्बोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवनकाल की मदमय वायुतरंगों में आदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्माँ मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बालस्वप्न भी भंग हो गया। आँखें डबडबा गयीं। नानी ने कहा—बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्माँ कह दिया तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गयी ?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्माँ न कहे।

3

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है ? इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया। हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती; किंतु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया, और प्रसवकाल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश खूब उछला-कूदा और सौरगृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने लगा। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोषस्वर में कहा—खबरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़ कर उखाड़ लूँगी !

बालक उल्टे पाँव लौट आया और कोठे की छत पर जा कर खूब रोया। कितना सुन्दर बच्चा है ! मैं उसे गोद में ले कर बैठता, तो कैसा मजा आता ! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने क्यों मुझे झिड़क दिया ? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और ही है।

एक दिन शिशु सो रहा था। उसका नाम ज्ञानप्रकाश रखा गया था। देवप्रिया

स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया और बच्चे का ओढ़ना हटा कर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में ले कर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आयी। सत्यप्रकाश, को बच्चे को चूमते देख कर आग हो गयी। दूर ही से डाँटा, हट जा वहाँ से !

सत्यप्रकाश माता को दीननेत्रों से देखता हुआ बाहर निकल आया !

संध्या समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो ?

सत्य.—मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्माँ खिलाने को नहीं देतीं।

देव.—झूठ बोलते हो। आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।

सत्य.—जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।

देव.—झूठ बोलता है !

सत्य.—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाये। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध ! इसने उसके जीवन की कायापलट कर दी।

4

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखायी देने लगा। वह घर में बहुत कम आता। पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबका हुआ जा कर खा लेता; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यंत कुशाग्रबुद्धि था। उसकी सफाई, सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैल कपड़े पहिने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था। बाजार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता, गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर भी दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति गायब हो गयी। देवप्रकाश को अब आये-दिन उसकी शरारतों के उलाहने मिलने लगे और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा, यहाँ तक कि अगर वह घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर करके दौड़ाते। ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साथ से भी बचाती रहती थी। दोनों लड़कों में कितना अंतर था ! एक साफ सुथरा, सुन्दर कपड़े पहिने, शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला। देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाये हुए; मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौधा था, प्रेम से प्लावित, स्नेह से सिंचित, दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लवहीन नववृक्ष था, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देख कर पिता की छाती ठंडी होती थी; दूसरे को देख कर देह में आग लग जाती थी।

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेशमात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था; तो वह अपने भाई के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्यभाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश

अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता था। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। प्रेम से प्रेम। ज्ञान भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष ले कर अपनी माँ से वाद-विवाद कर कहता, भैया की अचकन फट गयी है, आप नयी अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं ? माँ उत्तर देती—उसके लिए वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, कभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-खर्च से बचा कर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता था। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता; उतनी देर उसे एक शांतिमय आनन्द का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिए वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिए उसकी सोयी हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते ? क्या सोच रखा है कि मैंने तुम्हारी जिन्दगी भर का ठेका ले रखा है।

सत्य.—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपये हो गये हैं। जाता हूँ तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।

दव.—फीस क्यों बाकी है ? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न ?

सत्य.—आये-दिन चन्दे लगा करते हैं, फीस के रुपये चन्दे में दे दिये।

देव.—और जुर्माना क्यों हुआ ?

सत्य.—फीस न देने के कारण।

देव.—तुमने चन्दा क्यों दिया !

सत्य.—ज्ञानू ने चन्दा दिया तो मैंने भी दिया।

देव.—तुम ज्ञानू से जलते हो ?

सत्य.—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहाँ हम और वह दो हैं, बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।

देव.—क्यों, यह कहते शर्म आती है ?

सत्य.—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देव.—अच्छा, तो आप मेरी मानरक्षा करते हैं। यह क्यों नहीं कहते कि पढ़ना अब मुझे मंजूर नहीं है। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ और ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिए भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञानबाबू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दर्जा नीचे है। तुम इस साल जरूर ही फेल होओगे और वह जरूर ही पास हो कर अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी ?

सत्य.—विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।

देव.—तुम्हारे भाग्य में क्या है ?

सत्य.—भीख माँगना।

देव.—तो फिर भीख माँगो। मेरे घर से निकल जाओ।

देवप्रिया भी आ गयी। बोली—शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है!

सत्य.—जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वही बचपन में अनाथ हो ज़ाते हैं।

देवप्रिया—ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायेंगी। मैं ख़ून का घूँट पी-पी कर रह जाती हूँ।

देवप्रकाश—बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है तो भीख ही माँगे।

5

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब 16 साल की हो गयी थी। इतनी बातें सुनने के बाद अब उसे उस घर में रहना असह्य हो गया। जब हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सह कर घर में रहता था। अब हाथ-पाँव हो गये थे, उस बंधन में क्यों रहता। आत्माभिमान आशा की भाँति बहुत चिरंजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बगल में दबायी; छोटा-सा बेग हाथ में लिया और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जाय कि ज्ञानू आ गया और उसे कहीं जाने को तैयार देख कर बोला—कहाँ जाते हो भैया ?

सत्य.—जाता हूँ कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञानू.—मैं जा कर अम्माँ से कहे देता हूँ।

सत्य.—तो फिर मैं तुमसे छिपकर चला जाऊँगा।

ज्ञानू.—क्यों चले जाओगे ? तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं ?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगा कर कहा—तुम्हें छोड़ कर जाने को जी तो नहीं चाहता, लेकिन जहाँ कोई पूछने वाला नहीं है, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा और पेट पालता रहूँगा। और किस लायक हूँ ?

ज्ञानू.—तुमसे अम्माँ क्यों इतना चिढ़ती हैं ? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं ?

सत्य.—मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।

ज्ञानू.—तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते ?

सत्य.—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ ? जब कोई परवा नहीं करता तो मैं भी सोचता हूँ—उँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से !

ज्ञानू.—मुझे भूल तो न जाओगे ? मैं तुम्हारे पास खत लिखा करूँगा, मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्य.—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञानू.—(रोते-रोते) मुझे न जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है !

सत्य.—मैं तुम्हें सदैव याद रखूँगा।

यह कह कर उसने फिर भाई को गले लगाया और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी और वह कलकत्ते जा रहा था।

6

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में किले बना सकते हैं, धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहिले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बेग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहर में जीविका का प्रश्न कठिन भी है और सरल भी है। सरल है उनके लिए, जो हाथ से काम कर सकते हैं, कठिन है उनके लिए, जो कलम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मजदूरी करना नीच काम समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रखा। बाद में शहर के मुख्य स्थानों का निरीक्षण करके एक डाकघर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया और अपढ़ मजदूरों की चिट्ठियाँ, मनीआर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने पैसे भी न मिले कि भर-पेट भोजन करता; लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मजदूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस वे पत्र को सुन कर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तांत कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप दे कर मजदूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट हो कर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे 1 रु. रोज मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकल कर शहर से बाहर 5 रु. महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। जमीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर जरा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेमयुक्त बातें न भूलतीं। अंधकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अंतिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिंत हो कर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया तो उसके आनंद की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उसी दिन से सत्यप्रकाश को यह चिंता हुई कि ज्ञान के लिए कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश को भी कई युवकों से मित्रता हो गयी थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-कबाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक भी पैदा हुआ, जो कुछ पाता, उड़ा देता। बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिये। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिंता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम से कम चालीस रुपये होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देख कर कैसा

खुश होगा ! अम्माँ और बाबू जी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सबेरे काम करने चला जाता और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खा कर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीने में उसके पास 50 रु. एकत्र हो गये और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बना कर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था मानो किसी निस्संतान पुरुष के बालक हुआ हो।

7

'घर' कितनी कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जागृत कर देता है ! यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है, प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन मात्र को स्थिर रखता है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाता है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहाँ था ? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी ? —माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता? —नहीं, उनका रक्षक, उद्धारक, उसका पारितोषिक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफायत करता था, उसी के लिए वह कठिन परिश्रम करता था और धनोपार्जन के नये-नये उपाय सोचता था। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वे एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है, इसलिए अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमाह ज्ञानू के पास कुछ न कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गये। रसिक मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

8

संध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब सत्रह वर्ष का सुंदर युवक था। बालविवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ-मुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय पचास हजार रुपये दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो !

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देव.–ज्ञानू का इन्कार केवल संकोच का इन्कार नहीं है, वह सिद्धांत का इन्कार है। वह साफ-साफ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राजी नहीं हूँ।

देवप्रिया–उसकी कौन चलावे, वहाँ कोई रखेली रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा ? वहाँ कोई देखने जाता है ?

देव–(झुँझला कर) रखेली रख ली होती तो तुम्हारे लड़के को चालीस रु. महीने न भेजता और न वे चीजें ही देता, जो पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है ! चाहे वह जान निकाल कर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी। देवप्रिया नाराज हो कर चली गयी। देवप्रकाश उससे यही कहलाना चाहते थे कि पहिले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है, किंतु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहिले बड़े लड़के का विवाह करें, पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहिले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिए क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है कि तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम मेरी विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी, अंत में इस बात पर जोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बंधन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनंद हुआ कि अम्माँ और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिंता थी ? मैं तो मर भी जाऊँ तो भी उनकी आँखों में आँसू न आयें। सात वर्ष हो गये, कभी भूल कर भी पत्र न लिखा कि मरा है या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अंत में विवाह करने पर राजी तो हो जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो तो मुझे तो एक बार अपने इन्कार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है, लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन सम्पूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँस कर मनुष्य अपनी संतान का शत्रु हो जाता है। न, मैं आँखों देख कर यह मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है; वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा ? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंशपरम्परा का पालन न करेगा ? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया ?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने पांच सौ रुपये पिता के पास भेजे और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई ! इन रुपयों से नववधू के लिए कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात। मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा है और मेरे सिर पर जो कुछ बीता है, उस पर

ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुम्बपाश में फँसू तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। मुझे आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धिहीन आदमी हूँ; मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन मेरे लिए इससे बढ़ कर आनंद और संतोष का विषय नहीं हो सकता।

9

देवप्रकाश यह पढ़ कर अवाक् रह गये। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़ कर कहा—यह लौंडा देखने को सीधा है, है जहर का बुझाया हुआ ! कैसा सौ कोस से बैठा हुआ बरछियों से छेद रहा है।

किंतु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्माँ के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिए। न जाने अम्माँ को उनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वे बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गम्भीर थे। अम्माँ की बातों का उन्हें जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे से अच्छा खाता था, फिर भी उनके तीवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य-जीवन से घृणा हो गयी, तो आश्चर्य ही क्या ? फिर मैं ही क्यों इस विपत्ति में फसूँ ? कौन जाने मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझ कर यह धारणा की है।

संध्या समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आ कर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।

देवप्रिया—क्या कलकंत्ते जाओगे ?

ज्ञान.—जी हाँ।

देवप्रिया—उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते ?

ज्ञान.—उन्हें कौन मुँह ले कर बुलाऊँ ? आप लोगों ने पहिले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि....

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर नोन मत छिड़क ! माता-पिता का धर्म है, इसलिए कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे की परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह, पर मेरी आँखों से दूर हो जा।

ज्ञान.—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गयी ?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे, रह। हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।

देव.—क्यों व्यर्थ में ऐसे कटुवचन बोलती हो ?

ज्ञान.—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा। देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया और पत्नी के क्रोध को

शांत करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूट कर रो रही थी और बार-बार कहती थी, मैं इसकी सूरत नहीं देखूँगी। अंत में देवप्रकाश ने चिढ़ कर कहा—तो तुम्हीं ने तो कटुवचन कह कर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र पार बैठा मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने के लिए उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस-नस पहिचानती हूँ। उसका यह मंत्र मेरी जान ले कर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता !

देव.—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा ! अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। जरा शांत हो जायगा तो मैं समझा कर राजी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक से मर जायगी, किंतु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' करके 'हाँ' न की। निदान पिता भी निराश हो कर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ता न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनों कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे फाड़े खाता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से पागल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को खूब जी भर कर कोसती ! मगर दोनों भाइयों में प्रेम-पत्र व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी और प्रायः धर्मग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी और एक विद्यालय में अध्यापक हो गये थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुन्दरी है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलजार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देख कर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान ऐसा भी कोई दिन आयेगा कि मैं अपनी बहू का मुखचंद्र देखूँगी, उसके बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में भी आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी ! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गयी। आप ही आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती। वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है।

तल्लीनता अत्यंत रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाये देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा और उसे जितना कोसते बना, उतना कोसा। तू मेरे प्राणों का वैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आयेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मंत्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा। यहाँ तक कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता था। इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाकघर भिजवा दिया करती थी।

10

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिए घातक हो गया। परदेश में उसे यही संतोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब यह अवलम्ब भी जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने जोर दे कर लिखा, अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठायें। मुझे अपनी गुजर करने के लिए काफी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान खूब चलती थी, लेकिन कलकत्ते-जैसे शहर में एक छोटे से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। साठ-सत्तर रुपये की मासिक आमदनी होती ही क्या है ? अब तक जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था। एक वक्त रूखा-सूखा खा कर, एक तंग आर्द्र कोठरी में रह कर पच्चीस-तीस रुपये बचे रहते थे। अब दोनों वक्त भोजन करने लगा। कपड़े भी जरा साफ पहिनने लगा। मगर थोड़े ही दिनों में उसके खर्च में औषधियों की एक मद बढ़ गयी और फिर वही पहिले की-सी दशा हो गयी। बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रह कर अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को भी अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है, किसी अवलम्ब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहिले सोता, तो एक ही करवट में सबेरा हो जाता। कभी बाजार से पूरियाँ ले कर खा लेता, कभी मिठाइयों पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाजारी भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थक कर चूर-चूर हो जाता था। उस वक्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता। पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था ? दीवालों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न होता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिए भावुकता कब शोभा देती है। शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिए आना असम्भव था ? मेरे लिए तो घर का द्वार बंद है, पर उसे कौन-सी बाधा है ? उस गरीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से

कलकत्ते न जाने की कसम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता बिरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहुसंख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में अब एक नयी आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ ? किसी संगिनी के प्रेम में क्यों न शरण लूँ ? वह सुख और शांति और कहाँ मिल सकती है। मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है ? वह इस आवेश को अपनी सम्पूर्ण विचारशक्ति से रोकता, जिस भाँति किसी बालक को घर में रखी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिंताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुख से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती ? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या ? क्या मैं श्रम से जी चुराता था ? अगर बालपन ही में मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि-शक्तियों का गला न घोंट दिया गया होता, तो मैं आज आदमी होता। पेट पालने के लिए इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संग्राम होता रहा। एक दिन वह दूकान से आ कर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिये ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उसका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों ? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र ले कर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ा और वह सिर थाम कर बैठ गया कि जमीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विषयुक्त लेखनी से निकला हुआ जहर का प्याला था, जिसने एक पल में संज्ञाहीन कर दिया। उसकी सारी मर्मातक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठंडी साँस में समाप्त हो गयी।

वह जा कर चारपाई पर लेटा रहा। मानसिक व्यथा आग से पानी हो गयी। हा ! सारा जीवन नष्ट हो गया ! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ। मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिए ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ। भगवान् ! इसके तुम्हीं साक्षी हो!

दूसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे ले कर फाड़ डाला, पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका वहीं अंत हुआ। फिर वह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता। किंतु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गयी। उसने दूकान बंद कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते जब माता पुचकार कर गोद में बिठा लेती और कहती, 'बेटा !' पिता भी संध्या समय दफ्तर से आकर गोद में उठा लेते और कहते 'भैया !' माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती; ठीक वैसी ही जब वह गंगा-स्नान करने गयी थी। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में आने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आ जाता, जब उसने नववधू माता को 'अम्माँ' कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अब अपना सिसक-सिसक

कर रोना याद आ जाता। फिर सौरगृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था ! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय ! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया ! फिर ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। जब बिना किसी अपराध के माँ डाँट बताती। पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर तिउरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना–हाय ! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया ! तब वह करवट बदल लेता और फिर वही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्ला कर कहता–इस जीवन का अन्त क्यों नहीं हो जाता।

इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गये। संध्या हो गयी थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज सुनायी पड़ी। उसने कान लगाकर सुना और चौंक पड़ा। किसी परिचित मनुष्य की आवाज थी। दौड़ा द्वार पर आया, तो देखा ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान पुरुष था ! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनों भाई घर में आये। अंधकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देख कर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलायी। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँख देखता था और रोता था।

सत्यप्रकाश ने कहा–मैं आजकल बीमार हूँ।

ज्ञानप्रकाश–वह तो देख ही रहा हूँ।

सत्य.–तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला ?

ज्ञान.–सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।

सत्य.–अच्छा, हाँ दी होगी, पत्र दूकान में डाल गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है ?

ज्ञान.–माता जी का देहांत हो गया।

सत्य.–अरे ! क्या बीमार थीं ?

ज्ञान.–जी नहीं। मालूम नहीं, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था; पिता जी ने कुछ कटुवचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य.–पिता जी तो कुशल से हैं ?

ज्ञान.–हाँ, अभी मरे नहीं हैं।

सत्य.–अरे ! क्या बहुत बीमार हैं ?

ज्ञान.–माता ने विष खा लिया, तो वे उनका मुँह खोल कर दवा पिला रहे थे। माता जी ने जोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं किसी को देखते हैं तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।

सत्य.–तब तो घर ही चौपट हो गया।

ज्ञान.–ऐसे घर को अबसे बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।

तीसरे दिन दोनों भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा हो कर चल दिये।

[हिन्दी कहानी। 'श्री शारदा', जून, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित।]

आप-बीती

प्रायः अधिकांश साहित्य-सेवियों के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब पाठकगण उनके पास श्रद्धा-पूर्ण पत्र भेजने लगते हैं। कोई उनकी रचना-शैली की प्रशंसा करता है, कोई उनके सद्विचारों पर मुग्ध हो जाता है। लेखक को भी कुछ दिनों से यह सौभाग्य प्राप्त है। ऐसे पत्रों को पढ़ कर उसका हृदय कितना गद्गद हो जाता है, इसे किसी साहित्य-सेवी ही से पूछना चाहिए। अपने फटे कंबल पर बैठा हुआ वह गर्व और आत्मगौरव की लहरों में डूब जाता है। भूल जाता है कि रात को गीली लकड़ी से भोजन पकाने के कारण सिर में कितना दर्द हो रहा था, खटमलों और मच्छरों ने रात भर कैसे नींद हराम कर दी थी। 'मैं भी कुछ हूँ' यह अहंकार उसे एक क्षण के लिए उन्मत्त बना देता है। पिछले साल सावन के महीने में मुझे एक ऐसा ही पत्र मिला। उसमें मेरी क्षुद्र रचनाओं की दिल खोल कर दाद दी गयी थी।

पत्र-प्रेषक महोदय स्वयं एक अच्छे कवि थे। मैं उनकी कविताएँ पत्रिकाओं में अक्सर देखा करता था। यह पत्र पढ़ कर फूला न समाया। उसी वक्त जवाब लिखने बैठा। उस तरंग में ज्गे कुछ लिख गया, इस समय याद नहीं। इतना जरूर याद है कि पत्र आदि से अंत तक प्रेम के उद्गारों से भरा हुआ था। मैंने कभी कविता नहीं की और न कोई गद्य-काव्य ही लिखा; पर भाषा को जितना सँवार सकता था, उतना सँवारा। यहाँ तक कि जब पत्र समाप्त करके दुबारा पढ़ा तो कविता का आनंद आया। सारा पत्र भाव-लालित्य से परिपूर्ण था। पाँचवें दिन कवि महोदय का दूसरा पत्र आ पहुँचा। वह पहले पत्र से भी कहीं अधिक मर्मस्पर्शी था। 'प्यारे भैया !' कह कर मुझे सम्बोधित किया गया था; मेरी रचनाओं की सूची और प्रकाशकों के नाम-ठिकाने पूछे गये थे। अंत में यह शुभ समाचार है कि "मेरी पत्नी जी को आपके ऊपर बड़ी श्रद्धा है। वह बड़े प्रेम से आपकी रचनाओं को पढ़ती हैं। वही पूछ रही हैं कि आपका विवाह कहाँ हुआ है। आपकी सतानें कितनी हैं तथा आपका कोई फोटो भी है ? हो तो कृपया भेज दीजिए।" मेरी जन्म-भूमि और वंशावली का पता भी पूछा गया था। इस पत्र, विशेषतः उसके अंतिम समाचार ने मुझे पुलकित कर दिया।

यह पहला ही अवसर था कि मुझे किसी महिला के मुख से, चाहे वह प्रतिनिधि द्वारा ही क्यों न हो, अपनी प्रशंसा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गरूर का नशा छा गया। धन्य है भगवान ! अब रमणियाँ भी मेरे कृत्य की सराहना करने लगीं ! मैंने तुरंत उत्तर लिखा। जितने कर्णप्रिय शब्द मेरी स्मृति के कोष में थे, सब खर्च कर दिये। मैत्री और बंधुत्व से सारा पत्र भरा हुआ था। अपनी वंशावली का वर्णन किया। कदाचित् मेरे पूर्वजों का ऐसा कीर्ति-गान किसी भाट ने भी न किया होगा। मेरे दादा एक जमींदार के कारिंदे थे, मैंने उन्हें एक बड़ी रियासत का मैनेजर बतलाया। अपने पिता को, जो एक दफ्तर में क्लर्क थे, उस दफ्तर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया। और काश्तकारी को जमींदारी बना देना तो साधारण बात थी। अपनी रचनाओं की संख्या तो न बढ़ा सका, पर उनके महत्त्व, आदर और प्रचार का उल्लेख ऐसे शब्दों में किया, जो नम्रता की ओट में अपने गर्व को छिपाते हैं। कौन नहीं जानता कि बहुधा 'तुच्छ' का अर्थ उससे विपरीत होता है, और 'दीन' के माने कुछ और ही

समझे जाते हैं। स्पष्ट से अपनी बड़ाई करना उच्छृंखलता है; मगर सांकेतिक शब्दों से आप इसी काम को बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं। खैर, मेरा पत्र समाप्त हो गया और तत्क्षण लेटरबक्स के पेट में पहुँच गया।

इसके बाद दो सप्ताह तक कोई पत्र न आया। मैंने उस पत्र में अपनी गृहणी की ओर से भी दो-चार समयोचित बातें लिख दी थीं। आशा थी, घनिष्ठता और भी घनिष्ठ होगी। कहीं कविता में मेरी प्रशंसा हो जाय, तो क्या पूछना ! फिर तो साहित्य-संसार में मैं ही नजर आऊँ ! इस चुप्पी से कुछ निराशा होने लगी; लेकिन इस डर से कि कहीं कवि जी मुझे मतलबी अथवा सेंटिमैंटल न समझ लें, कोई पत्र न लिख सका।

आश्विन का महीना था, और तीसरा पहर। रामलीला की धूम मची हुई थी। मैं अपने एक मित्र के घर चला गया था। ताश की बाजी हो रही थी। सहसा एक महाशय मेरा नाम पूछते हुए आये और मेरे पास की कुरसी पर बैठ गये। और मेरा उनसे कभी का परिचय न था। सोच रहा था, वह कौन आदमी है और यहाँ कैसे आया ? यार लोग उन महाशय की ओर देख कर आपस में इशारेबाजियाँ कर रहे थे। उनके आकार-प्रकार में कुछ नवीनता अवश्य थी। श्यामवर्ण, नाटा डील, मुख पर चेचक के दाग, नंगा सिर, बाल सँवारे हुए, सिर्फ सादी कमीज, गले में फूलों की एक माला, पैर में फुल-बूट और हाथ में एक मोटी-सी पुस्तक !

मैंने विस्मित हो कर नाम पूछा।

उत्तर मिला—मुझे उमापतिनारायण कहते हैं।

मैं उठ कर उनके गले से लिपट गया। यह वही कवि महोदय थे, जिनके कई प्रेम-पत्र मुझे मिल चुके थे। कुशल-समाचार पूछा। पान-इलायची से खातिर की। फिर पूछा—आपका आना कैसे हुआ ?

उन्होंने कहा—मकान पर चलिए, तो सब वृत्तांत कहूँगा। मैं आपके घर गया था। वहाँ मालूम हुआ, आप यहाँ हैं। पूछता हुआ चला आया।

मैं उमापति जी के साथ घर चलने को उठ खड़ा हुआ ! जब वह कमरे के बाहर निकल गये, तो मेरे मित्र ने पूछा—यह कौन साहब हैं ?

मैं—मेरे एक नये दोस्त हैं।

मित्र—जरा इनसे होशियार रहिएगा। मुझे तो उच्चके से मालूम होते हैं।

मैं—आपका अनुमान गलत है। आप हमेशा आदमी को उसकी सजधज से परखा करते हैं। पर मनुष्य कपड़ों में नहीं, हृदय में रहता है।

मित्र—खैर ये रहस्य की बातें तो आप जानें; मैं आपको आगाह किये देता हूँ।

मैंने इसका कुछ जवाब नहीं दिया। उमापति जी के साथ घर पर आया। बाजार से भोजन मँगवाया। फिर बातें होने लगीं। उन्होंने मुझे अपनी कई कविताएँ सुनायीं। स्वर बहुत सरस और मधुर था।

कविताएँ तो मेरी समझ में खाक न आयीं, पर मैंने तारीफों के पुल बाँध दिये। झूम-झूम कर वाह, वाह करने लगा; जैसे मुझसे बढ़ कर कोई काव्य रसिक संसार में न होगा। संध्या को हम रामलीला देखने गये। लौटकर उन्हें फिर भोजन कराया। अब उन्होंने अपना वृत्तांत सुनाना शुरू किया। इस समय वह अपनी पत्नी को लेने के लिए कानपुर जा

रहे हैं। उसका मकान कानपुर ही में है। उनका विचार है कि एक मासिक पत्रिका निकालें। उनकी कविताओं के लिए एक प्रकाशक एक हजार रुपये देता है; पर उनकी इच्छा तो यह है कि उन्हें पहले पत्रिका में क्रमशः निकाल कर फिर अपनी ही लागत से पुस्तकाकार छपवायें। कानपुर में उनकी जमींदारी भी है; पर वह साहित्यिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जमींदारी से उन्हें घृणा है। उनकी स्त्री एक कन्या-विद्यालय में प्रधानाध्यापिका है। आधी रात तक बातें होती रहीं। अब उनमें से अधिकांश याद नहीं हैं। हाँ ! इतना याद है कि हम दोनों ने मिल कर अपने भावी जीवन का एक कार्यक्रम तैयार कर लिया था। मैं अपने भाग्य को सराहता था कि भगवान् ने बैठे-बैठाये ऐसा सच्चा मित्र भेज दिया। आधी रात बीत गयी, तो सोये। उन्हें दूसरे दिन आठ बजे की गाड़ी से जाना था। मैं जब सो कर उठा, तब सात बज चुके थे। उमापति जी हाथ-मुँह धोये तैयार बैठे थे। बोले—अब आज्ञा दीजिए; लौटते समय इधर ही से जाऊँगा। इस समय आपको कुछ कष्ट दे रहा हूँ। क्षमा कीजिएगा। मैं कल चला, तो प्रातःकाल के चार बजे थे। दो बजे रात से पड़ा जाग रहा था कि कहीं नींद न आ जाये। बल्कि यों समझिए कि सारी रात जागना पड़ा; क्योंकि चलने की चिंता लगी हुई थी। गाड़ी में बैठा तो झपकियाँ आने लगीं। कोट उतार कर रख दिया और लेट गया, तुरंत नींद आ गयी। मुगलसराय में नींद खुली। कोट गायब ! नीचे-ऊपर चारों तरफ देखा, कहीं पता नहीं। समझ गया, किसी महाशय ने उड़ा दिया। सोने की सजा मिल गयी। कोट में पचास रुपये खर्च के लिए रखे थे; वे भी उसके साथ उड़ गये।आप मुझे पचास रुपये दें। पत्नी को मैके से लाना है; कुछ कपड़े वगैरह ले जाने पड़ेंगे। फिर ससुराल में सैकड़ों तरह के नेग-जोग लगने हैं। कदम-कदम पर रुपये खर्च होते हैं। न खर्च कीजिए तो हँसी हो। मैं इधर से लौटूँगा तो देता जाऊँगा।

मैं बड़े संकोच में पड़ गया। एक बार पहले भी धोखा खा चुका था। तुरंत भ्रम हुआ कहीं अबकी फिर वही दशा न हो। लेकिन शीघ्र ही मन के इस अविश्वास पर लज्जित हुआ। संसार में सभी मनुष्य एक-से नहीं होते। यह बेचारे इतने मज्जन हैं। इस समय संकट में पड़ गये हैं। और मैं मिथ्या संदेह में पड़ा हुआ हूँ। घर में आकर पत्नी से कहा—तुम्हारे पास कुछ रुपये तो नहीं हैं ?

स्त्री—क्या करोगे ?

मैं—मेरे मित्र जो कल आये हैं, उनके रुपये किसी ने गाड़ी में चुरा लिये। उन्हें बीवी को बिदा कराने ससुराल जाना है। लौटती बार देते जायँगे।

पत्नी ने व्यंग्य करके कहा—तुम्हारे याँ जितने मित्र आते हैं, सब तुम्हें ठगने ही आते हैं, सभी संकट में पड़े रहते हैं। मेरे पास रुपये नहीं हैं।

मैंने खुशामद करते हुए कहा—लाओ दे दो, बेचारे तैयार खड़े हैं। गाड़ी छूट जायगी।

स्त्री—कह दो, इस समय घर में रुपये नहीं हैं।

मैं—यह कह देना आसान नहीं है। इसक. अर्थ तो यह है कि मैं दरिद्र ही नहीं, मित्र-हीन भी हूँ; नहीं तो क्या मेरे लिये पचास रुपये का इंतजाम न हो सकता। उमापति को कभी विश्वास न आयेगा कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। इससे तो कहीं अच्छा हो कि साफ-साफ यह कह दिया जाय कि 'हमको आप पर भरोसा नहीं है, हम आपको रुपये नहीं दे सकते।' कम से कम अपना पर्दा तो ढंका रह जायगा।

श्रीमती ने झुंझला कर संदूक की कुंजी मेरे आगे फेंक दी और कहा—तुम्हें जितना बहस करना आता है, उतना कहीं आदमियों को परखना आता, तो अब तक आदमी हो गये होते ! ले जाओ, दे दो। किसी तरह तुम्हारी मरजाद तो बनी रहे। लेकिन उधार समझ कर मत दो, यह समझ लो कि पानी में फेंके देते हैं।

मुझे आम खाने से काम था, पेड़ गिनने से नहीं। चुपके से रुपये निकाले और ला कर उमापति को दे दिये। फिर लौटती बार आकर रुपये दे जाने का आश्वासन दे कर वह चल दिये।

सातवें दिन शाम को वह घर से लौट आये। उनकी पत्नी और पुत्री भी साथ थीं। मेरी पत्नी ने शक्कर और दही खिला कर उनका स्वागत किया। मुँह-दिखायी के बीस रुपये दिये। उनकी पुत्री को भी मिठाई खाने को दो रुपये दिये। मैंने समझा था, उमापति आते ही आते मेरे रुपये गिनने लगेंगे; लेकिन उन्होंने पहर रात गये तक रुपयों का नाम भी नहीं लिया। जब मैं घर में सोने गया, तो बीवी से कहा—इन्होंने तो रुपये नहीं दिये जी !

पत्नी ने व्यंग्य से हँस कर कहा—तो क्या सचमुच तुम्हें आशा थी कि वह आते ही आते तुम्हारे हाथ में रुपये रख देंगे ? मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि फिर पाने की आशा से रुपये मत दो; यही समझ लो कि किसी मित्र को सहायतार्थ दे दिये। लेकिन तुम भी विचित्र आदमी हो।

मैं लज्जित और चुप हो रहा। उमापति जी दो दिन रहे। मेरी पत्नी उनका यथोचित आदर-सत्कार करती रही। लेकिन मुझे उतना संतोष न था। मैं समझता था, इन्होंने मुझे धोखा दिया।

तीसरे दिन प्रातःकाल वह चलने को तैयार हुए। मुझे अब भी आशा थी कि वह रुपये दे कर जायेंगे। लेकिन जब उनकी नयी रामकहानी सुनी, तो सन्नाटे में आ गया। वह अपना बिस्तर बाँधते हुए बोले—बड़ा ही खेद है कि मैं अबकी बार आपके रुपये न दे सका। बात यह है कि मकान पर पिता जी से भेंट ही नहीं हुई। वह तहसील-वसूल करने गाँव चले गये थे। और मुझे इतना अवकाश न था कि गाँव तक जाता। रेल का रास्ता नहीं है। बैलगाड़ियों पर जाना पड़ता है। इसीलिए मैं एक दिन मकान पर रहकर ससुराल चला गया। वहाँ सब रुपये खर्च हो गये। बिदाई के रुपये न मिल जाते, तो यहाँ तक आना कठिन था। अब मेरे पास रेल का किराया तक नहीं है। आप मुझे पच्चीस रुपये और दे दें। मैं वहाँ जाते ही भेज दूँगा। मेरे पास इक्के तक का किराया नहीं है।

जी में तो आया कि टका-सा जवाब दे दूँ; पर इतनी अशिष्टता न हो सकी। फिर पत्नी के पास गया और रुपये माँगे। अबकी उन्होंने बिना कुछ कहे-सुने रुपये निकाल कर मेरे हवाले कर दिये। मैंने उदासीन भाव से रुपये उमापति जी को दिये। जब उनकी पुत्री और अर्धांगिनी जीने से उतर गयीं, तो उन्होंने बिस्तर उठाया और मुझे प्रणाम किया। मैंने बैठे-बैठे सर हिला कर जवाब दिया। उन्हें सड़क तक पहुँचाने भी न गया।

एक सप्ताह के बाद उमापति जी ने लिखा—मैं कार्यवश बरार जा रहा हूँ। लौट कर रुपये भेजूँगा।

पन्द्रह दिन के बाद एक पत्र लिख कर कुशल-समाचार पूछे। कोई उत्तर न आया। पन्द्रह दिन के बाद फिर रुपयों का तकाजा किया। उसका भी कुछ जवाब न मिला। एक

महीने के बाद फिर तकाजा किया। उसका भी यही हाल ! एक रजिस्टरी पत्र भेजा। वह पहुँच गया, इसमें संदेह नहीं; लेकिन जवाब उसका भी न आया। समझ गया, समझदार जोरू ने जो कुछ कहा था, वह अक्षरशः सत्य था ! निराश हो कर चुप हो रहा।

इन पत्रों की मैंने पत्नी से चर्चा भी नहीं की और न उसी ने कुछ इस बारे में पूछा।

2

इस कपट-व्यवहार का मुझ पर वही असर पड़ा जो साधारणतः स्वाभाविक रूप से पड़ना चाहिए। कोई ऊँची और पवित्र आत्मा इस छल पर भी अटल रह सकती थी। उसे यह समझ कर संतोष हो सकता था कि मैंने अपने कर्त्तव्य को पूरा कर दिया। यदि ऋणी ने ऋण नहीं चुकाया, तो मेरा क्या अपराध। पर मैं इतना उदार नहीं हूँ। यहाँ तो महीनों सिर खपाता हूँ, कलम घिसता हूँ, तब जा कर नगद-नारायण के दर्शन होते हैं।

इसी महीने की बात है। मेरे यंत्रालय में एक नया कंपोजीटर बिहार-प्रांत से आया। काम में चतुर जान पड़ता था। मैंने उसे पन्द्रह रुपये मासिक पर नौकर रख लिया। पहले किसी अँग्रेजी स्कूल में पढ़ता था। असहयोग के कारण पढ़ना छोड़ बैठा था। घरवालों ने किसी प्रकार की सहायता देने से इनकार किया। विवश होकर उसने जीविका के लिए यह पेशा अख्तियार कर लिया। कोई सत्तर-अट्ठारह वर्ष की उम्र थी। स्वभाव में गंभीरता थी। बातचीत बहुत सलीके से करता था। यहाँ आने के तीसरे दिन बुखार आने लगा। दो-चार दिन तो ज्यों-त्यों करके काटे, लेकिन जब बुखार न छूटा, तो घबरा गया। घर की याद आयी। और कुछ न सही, घरवाले क्या दवा-दरपन भी न करेंगे। मेरे पास आकर बोला—महाशय, मैं बीमार हो गया हूँ। आप कुछ रुपये दे दें तो घर चला जाऊँ। वहाँ जाते ही रुपयों का प्रबंध करके भेज दूँगा। वह वास्तव में बीमार था। मैं उससे भली-भाँति परिचित था। यह भी जानता था कि यहाँ रहकर वह कभी स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सकता। उसे सचमुच सहायता की जरूरत थी। पर मुझे शंका हुई कि कहीं यह भी रुपये हजम न कर जाय। जब एक विचारशील, सुयोग्य विद्वान् पुरुष धोखा दे सकता है, तो ऐसे अर्द्धशिक्षित नवयुवक से कैसे यह आशा की जाय कि वह अपने वचन का पालन करेगा ?

मैं कई मिनट तक घोर संकट में पड़ा रहा। अंत में बोला—भई, मुझे तुम्हारी दशा पर बहुत दुःख है। मगर मैं इस समय कुछ न कर सकूँगा। बिलकुल खाली हाथ हूँ। खेद है।

यह कोरा जवाब सुन कर उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। वह बोला—आप चाहें तो कुछ न कुछ प्रबंध अवश्य कर सकते हैं। मैं जाते ही आपके रुपये भेज दूँगा।

मैंने दिल में कहा—यहाँ तुम्हारी नीयत साफ है, लेकिन घर पहुँच कर भी यही नीयत रहेगी, इसका क्या प्रमाण है ? नीयत साफ रहने पर भी मेरे रुपये दे सकोगे या नहीं यही कौन जाने ? कम से कम तुमसे वसूल करने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। प्रकट में कहा—इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है, लेकिन खेद है कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। हाँ, तुम्हारी जितनी तनख्वाह निकलती हो वह ले सकते हो।

उसने कुछ जवाब नहीं दिया, किंकर्तव्यविमूढ़ की तरह एक बार आकाश की ओर देखा और चला गया। मेरे हृदय में कठिन वेदना हुई। अपनी स्वार्थपरता पर ग्लानि हुई। पर

अंत को मैंने जो निश्चय किया था उसी पर स्थिर रहा। इस विचार से मन को संतोष हो गया कि मैं ऐसा कहाँ का धनी हूँ जो यों रुपये पानी में फेंकता फिरूँ।

यह है उस कपट का परिणाम, जो मेरे कवि मित्र ने मेरे साथ किया।

मालूम नहीं, आगे चल कर इस निर्बलता का क्या कुफल निकलता, पर सौभाग्य से उसकी नौबत न आयी। ईश्वर को मुझे इस अपयश से बचाना मंजूर था। जब वह आँखों में आँसू-भरे मेरे पास से चला, तो कार्यालय के एक क्लर्क, पं. पृथ्वीनाथ से उसकी भेंट हो गयी। पंडित जी ने उससे हाल पूछा। पूरा वृत्तांत सुन लेने पर बिना किसी आगे-पीछे के उन्होंने पन्द्रह रु. निकाल कर उसे दे दिये। ये रुपये उन्हें कार्यालय के मुनीम से उधार लेने पड़े। मुझे यह हाल मालूम हुआ, तो हृदय के ऊपर से एक बोझ-सा उतर गया। अब वह बेचारा मजे से अपने घर पहुँच जायगा। यह संतोष मुफ्त ही में प्राप्त हो गया। कुछ अपनी नीचता पर लज्जा भी आयी। मैं लंबे-लंबे लेखों में दया, मनुष्यता और सद्व्यवहार का उपदेश किया करता था; पर अवसर पड़ने पर साफ जान बचा कर निकल गया ! और, यह बेचारा क्लर्क, जो मेरे लेखों का भक्त था, इतना उदार और दयाशील निकला ! गुरु गुड़ ही रहे, चेला शक्कर हो गये। खैर, उसमें भी एक व्यंग्य-पूर्ण संतोष था कि मेरे उपदेशों का असर मुझ पर न हुआ, न सही; दूसरों पर तो हुआ! चिराग के तले अँधेरा रहा तो क्या हुआ, उसका प्रकाश तो फैल रहा है! पर, कहीं बचा को रुपये न मिले (और शायद ही मिलें, इसकी बहुत कम आशा है) तो खूब छकेंगे। हजरत को आड़े हाथ। लूँगा। किंतु मेरी यह अभिलाषा न पूरी हुई। पाँचवें दिन रुपये आ गये। ऐसी और आँखें खोल देनेवाली यातना मुझे और कभी नहीं मिली थी। खैरियत यही थी कि मैंने इस घटना की चर्चा स्त्री से नहीं की थी; नहीं तो मुझे घर में रहना भी मुश्किल हो जाता।

3

उपर्युक्त वृत्तांत लिख कर मैंने एक पत्रिका में भेज दिया। मेरा उद्देश्य केवल यह था कि जनता के सामने कपट-व्यवहार के कुपरिणाम का एक दृश्य रखूँ। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कोई प्रत्यक्ष फल निकलेगा। इसी से जब चौथे दिन अनायास मेरे पास पचहत्तर रुपये का मनीआर्डर पहुँचा, तो मेरे आनंद की सीमा न रही। प्रेषक वही महाशय थे—उमापति। कूपन पर केवल "क्षमा" लिखा हुआ था। मैंने रुपये ले जाकर पत्नी के हाथों में रख दिये और कूपन दिखलाया।

उसने अनमने भाव से कहा—इन्हें ले जा कर यत्न से अपने संदूक में रखो। तुम ऐसे लोभी प्रकृति के मनुष्य हो, यह मुझे आज ज्ञात हुआ। थोड़े-से रुपयों के लिए किसी के पीछे पंजे झाड़ कर पड़ जाना सज्जनता नहीं है। जब कोई शिक्षित और विनयशील मनुष्य अपने वचन का पालन न करे, तो यही समझना चाहिए कि वह विवश है। विवश मनुष्य को बार-बार तकाजों से लज्जित करना भलमंसी नहीं है। कोई मनुष्य, जिसका सर्वथा नैतिक पतन नहीं हो गया है, यथाशक्ति किसी को धोखा नहीं देता। इन रुपयों को मैं तब तक अपने पास नहीं रखूँगी, जब तक उमापति का कोई पत्र नहीं आ जायगा कि क्यों रुपये भेजने में इतना विलंब हुआ।

पर इस समय मैं ऐसी उदार बातें सुनने को तैयार न था। डूबा हुआ धन मिल गया, इसकी खुशी से फूला नहीं समाता था।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' में, जुलाई, 1923 में प्रकाशित। मानसरोवर भाग-6 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित।]

आभूषण

आभूषणों की निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्यबाणों को नहीं ओढ़ सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिए जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नहीं देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिए आभूषणों की उतनी ही जरूरत है, जितनी घर के लिए दीपक की। किन्तु शारीरिक शोभा के लिए हम तन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं ? इसका हमें कदाचित् ज्ञान ही नहीं होता। इस दीपक की ज्योति में आँखें धुँधली हो जाती हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्धा, कितनी दुश्चिंता और कितनी दुराशा का कारण है; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हें भूषण नहीं, दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नववधू पति के घर आने के तीसरे दिन अपने पति से कहती कि "मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँध कर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया।" शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुकेदार कुँवर सुरेशसिंह की नवविवाहिता वधू को देखने गयी थी। उसके सामने ही वह मंत्रमुग्ध-सी हो गयी। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणों की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और वह जब से लौट कर घर आयी, उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अंत को ज्यों ही उसका पति आया, वह उस पर बरस पड़ी और दिल में भरा हुआ गुबार पूर्वोक्त शब्दों में निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमलसिंह था। उनके पुरखे किसी जमाने में इलाकेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहों आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गयी है। सुरेशसिंह के पिता जमींदारी के काम में दक्ष थे। विमलसिंह का सब इलाका किसी न किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था, उसे दिन में दो बार भोजन भी मुश्किल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी मोटर और कई घोड़े थे, दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर पड़े रहते थे। पर इतनी विषमता होने पर भी दोनों में भाईचारा निभाया जाता था। शादी-ब्याह में, मंडन-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या-प्रेमी थे। हिंदुस्तान में ऊँची शिक्षा समाप्त करके वह यूरोप चले गये और सब लोगों की शंकाओं के विपरीत, वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बन कर लौटे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोगलिप्सा और अमानुषिक मदांधता ने उनकी आँखें

खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत जोर देने पर भी विवाह करने को राजी नहीं हुए थे। लड़की से पूर्व-परिचय हुए बिना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर यूरोप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, बिना उसके आचार-विचार जाने हुए विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बंधन नहीं, धर्म का बंधन समझते थे। उसी सौभाग्यवती वधू को देखने के लिए आज शीतला, अपनी सास के साथ, सुरेश के घर गयी थी। उसी के आभूषणों की छटा देख कर वह मर्माहत-सी हो गयी है। विमल ने व्यथित हो कर कहा—तो माता-पिता से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वह तुम्हें गहनों से लाद सकते थे।

शीतला—तो गाली क्यों देते हो ?

विमल—गाली नहीं देता, बात कहता हूँ। तुम जैसी सुंदरी को उन्होंने नाहक मेरे साथ ब्याहा।

शीतला—लजाते तो हो नहीं, उलटे और ताने देते हो।

विमल—भाग्य मेरे वश में नहीं है। इतना पढ़ा भी नहीं हूँ कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपये कमाऊँ।

शीतला—यह क्यों नहीं कहते कि प्रेम ही नहीं है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।

विमल—तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है ?

शीतला—सभी को होता है। मुझे भी है।

विमल—अपने को अभागिनी समझती हो ?

शीतला—हूँ ही, समझना कैसा ? नहीं तो क्या दूसरे को देख कर तरसना पड़ता ?

विमल—गहने बनवा दूँ तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी ?

शीतला—(चिढ़ कर) तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाजे पर बैठा है !

विमल—नहीं, सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।

2

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्यहीन पुरुप अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमलसिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा या वैधव्य-शोक से। या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन भर वह चिंता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से संतुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेमपाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिर कर कभी न देखा। ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर की वस्तुओं को देख कर मन विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ भर हट सके।

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था। उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन आत्म-त्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की अगवानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मजदूरी अच्छी

मिलती है, तो वह रंगून जा पहुँचा और बंदर पर माल चढ़ाने-उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने-पीने के असंयम और कुछ जलवायु की खराबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कांति जाती रही; फिर भी उससे ज्यादा मेहनती मजदूर बंदर पर दूसरा न था। और मजदूर थे, पर यह मजदूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क किया, घर में मेरा कौन हितू है ? गहनों के सामने मुझे कौन पूछता है ? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने में असमर्थ थी कि आभूषणों की लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है। और मजदूर प्रातःकाल सेरों मिठाई खा कर जलपान करते थे। दिन भर दम-दम भर पर गाँजे-चरस और तमाखू के दम लगाते थे। अवकाश पाते, तो बाजार की सैर करते थे। कितनों ही को शराब का भी शौक था। पैसों के बदले रुपये कमाते थे, तो पैसों की जगह रुपये खर्च भी कर डालते थे। किसी की देह पर सबूत कपड़े तक न थे; पर विमल उन गिनती के दो-चार मजदूरों में था, जो संयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा-पी कर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों में उसके पास थोड़ी-सी संपत्ति हो गयी। धन के साथ और मजदूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कह कर उसे पुकारते थे। संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं। विमल मजदूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून में काम करते हुए तीन वर्ष हो चुके थे। संध्या हो गयी थी। वह कई मजदूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठा बातें कर रहा था।

एक मजदूर ने कहा—यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर 10 बरस से उसी बर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, सो उसके हाथ में रख देता था। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनों साथ-साथ खा कर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न बात, न चीत। रात को औरत न जाने कहाँ चली गयी। लड़कों को छोड़ गयी। बेचारा झींगुर रो रहा है। सबसे बड़ी मुश्किल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छह महीने का है। कैसे जियेगा भगवान् ही जानें।

विमलसिंह ने गंभीर भाव से कहा—गहने बनवाता था कि नहीं ?

मजदूर—रुपये-पैसे तो औरत ही के हाथ में थे। गहने बनवाती, उसका हाथ कौन पकड़ता ?

दूसरे मजदूर ने कहा—गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम्-छम् की आवाज से कान भर जाते थे।

विमल—जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफा होती है।

इतने में एक आदमी आ कर विमलसिंह से बोला—चौधरी, अभी मुझे एक सिपाही मिला था। वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेशसिंह हैं।

विमल ने सशंक हो कर कहा—हाँ, हैं तो। मेरे गाँव के इलाकेदार और बिरादरी के भाई हैं।

आदमी—उन्होंने थाने में कोई नोटिस छपवाया है कि जो विमलसिंह का पता लगावेगा उसे एक हजार रुपये का इनाम मिलेगा।

विमल—तो तुमने सिपाही को सब ठीक-ठीक बता दिया ?

आदमी—चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या ? समझ गया कुछ दाल में काला है; नहीं तो कोई इतने रुपये क्यों खरच करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमलसिंह नहीं जसोदा पाँडे है। बाप का नाम सुक्खू बताया और घर जिला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है ? मैंने कहा, कोई दस साल से। तब कुछ सोच कर चला गया। सुरेश बाबू से तुमसे कोई अदावत है क्या चौधरी ?

विमल—अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गयी हो। मुझ पर कोई अपराध लगा कर मेरी जगह-जमीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नझाँई बतायी।

आदमी—मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो पचास रुपये तुम्हें भी दिला दूँ। मैंने सोचा—आप तो हजार की गठरी मारेगा और मुझे पचास रुपये दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।

एक मजदूर—मगर जो दो सौ रुपये देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम-ठिकाना बता देते। (क्यों ? धत् तेरे लालची की !)

आदमी—(लज्जित होकर) दो सौ रुपये नहीं दो हजार रुपये भी देता, तो न बताता। मुझे ऐसा विश्वासघात करने वाला मत समझो। जब जी चाहे, परख लो।

मजदूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा—अब क्या करूँ ? जब सुरेश-जैसे सज्जन की नीयत बदल गयी, तो अब किसका भरोसा करूँ ! नहीं, अब बिना घर गये काम नहीं चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न रहूँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे पांच हजार रुपये हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर तीन हजार रुपये ही होंगे। इतने में उसकी अभिलाषा न पूरी होगी। खैर अभी चलूँ, छह महीने में फिर लौट आऊँगा। अपनी जायदाद तो बच जायगी। नहीं छह महीने में रहने का क्या है। जाने-आने का एक महीना लग जायगा। घर में पन्द्रह दिन से ज्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जिऊँ, वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन में निश्चय करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं। हमारे नीति शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है; पर वास्तव में यह कितना भ्रममूलक है ! कुँवर सुरेशसिंह की नववधू मंगलाकुमारी गृह-कार्य में निपुण, पति के इशारे पर प्राण देने वाली, अत्यंत विचारशीला, मधुर-भाषिणी और धर्म-भीरु स्त्री थी; पर सौंदर्य-विहीन होने के कारण पति की आँखों में काँटे के समान खटकती थी। सुरेशसिंह बात-बात पर उस पर झुँझलाते, पर घड़ी भर में पश्चात्ताप के वशीभूत हो कर उससे क्षमा माँगते; किंतु दूसरे ही दिन वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी कि उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति

भ्रष्ट न थे। वह दम्पति जीवन ही में आनंद, सुख, शांति, विश्वास, प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। और दाम्पत्य सुख से वंचित हो कर उन्हें अपना समस्त जीवन नीरस, स्वाद-हीन और कुंठित जान पड़ता था। फल यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज होंगे। स्वामी को खुश रखने के लिए अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती। नौकरों को अपराध लगा कर आत्मरक्षा करना चाहती। पति को प्रसन्न रखने के लिए उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेलना की; पर उठने के बदले वह पति की नजरों से गिरती ही गयी। नित्य नये शृंगार करती, पर लक्ष्य से दूर होती जाती थी। पति की एक मधुर मुस्कान के लिए, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिए उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़प कर रह जाता था। लावण्य-विहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चंगुल भर आटे से संतुष्ट हो जाय। वह भी पति का सम्पूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुन्दरियों से अधिक, क्योंकि वह इसके लिए असाधारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न में निष्फल हो कर और भी संतप्त होती थी।

धीरे-धीरे पति पर से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पना-हीन मनुष्य से मैं भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था। शीतला का अनुपम रूपलालित्य भी उसकी कामनाओं का बाधक था; बल्कि यह उसकी आशालताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुन्दरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते। प्रेम की शक्ति अपार है; पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय-द्वार पर बैठी हुई मंगला को अंदर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेष बदल कर आवे। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा करते थे, उसे बलात् निकाल देना चाहते थे; किंतु सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मंगला का मुख देखने आयी थी उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की एक झलक देख ली थी। वह एक झलक मानो एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया, उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकांत में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते यह निश्चय करने के लिए कि उनमें क्या अंतर है ? एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है? पर उसके मन का यह खिंचाव केवल एक चित्रकार या कवि का रसास्वादन-मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उसके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। यह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रखूँगा। यदि वह सुन्दर नहीं है, तो उसका क्या दोष ? पर उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता था। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते थे; पर एक पक्षाघात-पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देख कर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते थे। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का उन्हें साहस ही न होता था। पर जब मंगला ने अंत को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करना शुरू कर

दिया, वह उनसे उच्छृंङ्खलता का व्यवहार करने लगी, तो उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया; घर में आना-जाना छोड़ दिया।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी। पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बगीचों में भी न जाता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गयी थी, जो जहाँ था, वहीं मुर्दा-सा पड़ा था। आग से सेके हुए मृदंग की भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गये थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते थे, जैसे साधारण संघर्षण से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार कदम टहलते थे, फिर हाँफ कर बैठ जाते थे। नौकरों पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते। सहसा उन्हें अंदर से गाने की आवाज सुनायी दी। चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बेवक्त की शहनाई है ! यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है और इन सबको गाने की सूझी है ! मंगला ने बुलाया होगा, और क्या। लोग नाहक कहते हैं कि स्त्रियों का जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन-निद्रा, राग-रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियों का है। घंटे भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बंद भी होगा या नहीं। सब व्यर्थ में गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रही हैं।

अंत को न रहा गया। जनानखाने में आ कर बोले—यह तुम लोगों ने क्या काँव-काँव मचा रखी है ? यह गाने-बजाने का कौन-सा समय है ? बाहर बैठना मुश्किल हो गया !

सन्नाटा छा गया। जैसे शोरगुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय। सभी ने सिर झुका लिये और सिमट गयीं।

मंगला तुरंत उठकर सामने वाले कमरे में चली गयी। पति को बुलाया और आहिस्ते से बोली—क्यों इतना बिगड़ रहे हो ?

"मैं इस वक्त गाना नहीं सुनना चाहता।"

"तुम्हें सुनाता ही कौन है ? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है ?"

"फजूल की बमचंख..."

"तुमसे मतलब ?"

"मैं अपने घर में यह कोलाहल न मचने दूँगा ?"

"तो मेरा घर कहीं और है ?"

सुरेशसिंह इसका उत्तर न देकर बोले—इन सबसे कह दो, फिर किसी वक्त आयें।

मंगला—इसलिए कि तुम्हें इनका आना अच्छा नहीं लगता ?

"हाँ, इसीलिए।"

"तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे ? तुम्हारे यहाँ मित्र आते है, हँसी-ठट्ठे की आवाज अंदर सुनायी देती है। मैं कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बंद कर दो। तुम मेरे कामों में दस्तंदाजी क्यों करते हो ?"

सुरेश ने तेज हो कर कहा—इसलिए कि मैं घर का स्वामी हूँ।

मंगला—तुम बाहर के स्वामी हो; यहाँ मेरा अधिकार है।

सुरेश—क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो ? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा ?

मंगला जरा देर चुपचाप खड़ी रही। वह पति के मनोगत भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—अच्छी बात है। जब इस घर में मेरा कोई अधिकार नहीं, तो न रहूँगी। अब

तक भ्रम में थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नहीं था। जिस स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार नहीं, उसका उसकी सम्पत्ति पर भी कोई अधिकार नहीं हो सकता।

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—बात का बतंगड़ क्यों बनाती हो ! मेरा यह मतलब न था। कुछ का कुछ समझ गयी।

मंगला—मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। सावधान हो कर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं !

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही यह और जली-कटी सुनायेगी, उसे वहीं छोड़ कर बाहर चले आये।

प्रातःकाल ठंडी हवा चल रही थी। सुरेश खुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मंगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मंगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोंछ रही हैं। कई नौकर आस-पास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास हैं। मानो बहू विदा हो रही है।

सुरेश समझ गये कि मंगला को कल की बात लग गयी। पर उन्होंने उठ कर कुछ पूछने की, मनाने की या समझाने की चेष्टा नहीं की। यह मेरा अपमान कर रही है, मेरा सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे, जाय। मुझसे कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे-गाछे चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन !

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे और मंगला चली गयी। उनकी तरफ मुँह उठा कर भी न ताका।

4

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुकेदार की औरत के लिए यह मामूली बात न थी। हर किसी को हिम्मत न पड़ती थी कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़ कर किनारे खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार पर खड़ी करुण-कौतूहल से देखती थीं और आँखों से कहती थीं—हा निर्दयी पुरुष ! इतना भी न हो सका कि एक डोला पर तो बैठा देता !

इस गाँव से निकल कर उस गाँव में पहुँची, जहाँ शीतला रहती थी। शीतला सुनते ही द्वार पर आ कर खड़ी हो गयी और मंगला से बोली—बहन, जरा आ कर दम ले लो।

मंगला ने अंदर जा कर देखा तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ था। दालान में एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी। चारों ओर दरिद्रता के चिह्न दिखायी देते थे।

शीतला ने पूछा—यह क्या हुआ ?

मंगला—जो भाग्य में लिखा था।

शीतला—कुँवर जी ने कुछ कहा-सुना था।

मंगला—मुँह से कुछ न कहने पर भी तो मन की बात छिपी नहीं रहती।

शीतला—अरे, तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गयी ?

दुःख की अंतिम दशा संकोच-हीन होती है। मंगला ने कहा—चाहती, तो अब भी पड़ी रहती। उसी घर में जीवन कट जाता। पर जहाँ प्रेम नहीं, पूछ नहीं, मान नहीं, वहाँ अब नहीं रह सकती।

शीतला—तुम्हारा मैका कहाँ है ?

मंगला—मैके कौन मुँह ले कर जाऊँगी ?

शीतला—तब कहाँ जाओगी ?

मंगला—ईश्वर के दरबार में। पूछूँगी कि तुमने मुझे सुन्दरता क्यों नहीं दी ? बदसूरत क्यों बनाया ? बहन, स्त्री के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूप-हीन हो। शायद पहले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती हैं। रूप से प्रेम मिलता है और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं है।

यह कह कर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नहीं। सोचा—इसे क्या खिलाऊँगी। आज तो चूल्हा जलने की भी कोई आशा नहीं।

उसके जाने के बाद वह देर तक बैठी सोचती रही, मैं कैसी अभागिन हूँ। जिस प्रेम को न पा कर यह बेचारी जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया। इसे जेवर की क्या कमी थी ? क्या ये सारे जड़ाऊ जेवर इसे सुखी रख सके? इसने उन्हें पाँव से ठुकरा दिया। उन्हीं आभूषणों के लिए मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा ! न जाने वह (विमलसिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं !

अपनी लालसा को, तृष्णा को वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। मंगला की दशा देख कर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गयी।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गये थे। शीतला को अब उनके बारे में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगी थीं। आठों पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगा करती थी।

देहात के छोटे-मोटे जमींदारों का काम डाँट-डपट, छीन-झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गये। कोई जोतनेवाला न मिला। इस ख़याल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमलसिंह आ गये, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपये उधार ले कर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफियत रही। अबकी महाजन ने रुपये नहीं दिये। शीतला के गहनों के सिर गयी। दूसरा साल समाप्त होते-होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गयी। फाके होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा देवर, ननद और आप—चार प्राणियों का खर्च था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और मुसीबत हुई कि मैके में एक फौजदारी हो गयी। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गये। दो छोटे भाई, एक बहन और माता चार प्राणी और सर पर आ डटे। गाड़ी पहले मुश्किल से चलती थी, अब जमीन में धँस गयी।

प्रातःकाल से कलह आरंभ हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता; कभी भोजन बनने पर भी गाली-गलौज के कारण खाने की नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जा कर गन्ने और मटर खाते; बुढ़िया दूसरों के घर जा कर अपना दुखड़ा रोती और ठकुरसोहाती कहती, पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्री के मैकेवालों का प्राधान्य हो जाता है। इस संग्राम में प्रायः विजय-पताका मैकेवालों ही के हाथ में रहती है। किसी भाँति घर अनाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन ? शीतला की माँ कहती, चार दिन के लिए आयी हूँ, तो क्या चक्की चलाऊँ ?

सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली की तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है ? विवश हो कर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तंग आ जाते। शीतला कभी माँ के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती, लेकिन दोनों ही उसे झिड़क देतीं। माँ कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास कहती, मेरी छाती पर सौत ला कर बैठा दी, अब बातें बनाती है ? इस घोर विवाद में शीतला अपना विरह-शोक भूल गयी। सारी अमंगल शंकाएँ इस विरोधाग्नि में शांत हो गयीं। बस, अब यही चिंता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो ? माँ और सास, दोनों ही का यमराज के सिवा और कोई ठिकाना न था; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकड़ों उपाय सोचती; पर उस पथिक की भाँति, जो दिन भर चल कर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गयी थी। चारों तरफ निगाहें दौड़ाती कि कहीं कोई शरण का स्थान है ? पर कहीं निगाह न जमती।

एक दिन वह इसी नैराश्य की अवस्था में द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत में, चित्त की उद्विग्नता में, इंतजार में द्वार से हमें प्रेम हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेशसिंह को सामने से घोड़े पर जाते देखा। उनकी आँखें उसकी ओर फिरीं। आँखें मिल गयीं। वह झिझक कर पीछे हट गयी। किवाड़ बंद कर लिये। कुँवर साहब आगे बढ़ गये। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर साड़ी फटी हुई थी, चारों तरफ उसमें पैबंद लगे हुए थे। वह अपने मन में न जाने क्या कहते होंगे ?

कुँवर साहब को गाँववालों से विमलसिंह के परिवार के कष्टों की खबर मिली थी। वह गुप्तरूप से उनकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने पीछे आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमें संदेह नहीं कि कुँवर साहब मन में शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जाग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुंदरी मेरी नहीं हो सकती ? विमल का मुद्दत से पता नहीं। बहुत सम्भव है कि वह अब संसार में न हो। किंतु वह इस दुष्कल्पना को विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुन कर भी वह उसकी सहायता करते हुए डरते थे। कौन जाने, वासना यही वेष रख कर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात करना चाहती हो। अंत को लालसा की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गयी। वह शीतला के घर उसका हालचाल पूछने गये। मन में तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट में हो और मैं उसकी बात भी न पूछूँ ? पर वहाँ से लौटे, तो बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गयी थीं और नौका मोह वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह! यह मनोहर छवि ! यह अनुपम सौंदर्य !

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह शरीर तेरी भेंट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिंता नहीं। इस स्वर्गीय आनंद से मैं अपने को वंचित नहीं कर सकता ? वह मुझसे भाग नहीं सकती। इस हृदय को छाती से निकाल कर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल मर गया। नहीं मरा, तो अब मरेगा, पाप क्या है ? बात नहीं। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है ? क्या उसके अधरों....

अकस्मात् वह ठिठक गये जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय। मनुष्य में बुद्धि के अंतर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण-क्षेत्र में हिम्मत हार कर भागनेवाले सैनिकों को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है, वैसे ही इस अज्ञात बुद्धि ने सुरेश को सचेत कर दिया। वह सँभल गये। ग्लानि से उनकी आँखें भर आयीं। वह कई मिनट तक किसी दंडित कैदी की भाँति क्षुब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—कितना सरल है। इस विकार के हाथी को सिंह से नहीं, चिंउटी से मारूँगा। शीतला को एक बार 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शांत हो जायगा। शीतला ! बहन ! मैं तेरा भाई हूँ !

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—बहन, तुमने इतने कष्ट झेले पर मुझे खबर तक न दी ! मैं कोई गैर न था। मुझे इसका दुःख है। खैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा। इस पत्र के साथ उन्होंने अनाज और रुपये भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—भैया, क्षमा करो जब तक जिऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।

5

कई महीने बीत गये। संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाये थे। इतने में सुरेश आ कर आँगन में बैठ गये।

शीतला ने पूछा—कहाँ से आते हो भैया ?

सुरेश—गया था जरा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ ? इनाम और बढ़ा दूँ ?

शीतला—तुम्हारे पास रुपये बढ़े हैं; फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आवेंगे।

सुरेश—एक बात पूछूँ, बताओगी ? किस बात पर तुमसे रूठे थे ?

शीतला—कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या ? मैंने कहा (लजा कर), तो ब्याह क्यों किया ? बस, बातों ही बातों में तकरार हो गयी।

इतने में शीतला की सास आ गयी। सुरेश ने शीतला की माँ और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिए यहाँ अब शांति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—बेटा तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अन्दर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थी। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अन्त को उसे देश से निकाल कर इसने दम लिया।

शीतला ने रुष्ट हो कर कहा—क्या यही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं ? देश-विदेश जाना मरदों का काम ही है।

सुरेश—यूरोप में तो धनभोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहन ने यूरोप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होती। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुंदरता देते हो, तो यूरोप में जन्म दो।

शीतला ने व्यथित हो कर कहा—जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई

हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गये हैं !

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुखकांति मलिन हो गयी है। पतिवियोग में भी गहनों के लिए इतनी लालायित है ! बोले—अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।

यह वाक्य कुछ अपमानसूचक स्वर में कहा गया था; पर शीतला की आँखें आनन्द से सजल हो आयीं, कंठ गद्‌गद् हो गया। उसके हृदय-नेत्रों के सामने मंगला के रत्न-जटित आभूषणों का चित्र खिंच गया। उसने कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली; पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था—मैं तुम्हारी हूँ !

6

कोयल आम की डालियों पर बैठ कर, मछली शीतल निर्मल जल में क्रीड़ा करके और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भर कर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहन कर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वह दिन भर आईने के सामने खड़ी रहती है; कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आयी है। वह घर का एक तिनका भी नहीं उठाती। उसके स्वभाव में एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन शृंगार क्या है ? सोयी हुई काम-वासना को जगाने का घोर नाद, उद्दीपन का मंत्र। शीतला जब नख-शिख से सज कर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे। वह द्वार पर आ कर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियों की प्रशंसा से उसे संतोष नहीं होता। गाँव के पुरुषों को वह शृंगाररस विहीन समझती है। इसलिए सुरेशसिंह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे, अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गयी थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर में दीपक जल रहा था। उसने कुँवर साहब के बगीचे से बेले के फूल मँगवाये थे और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिए नहीं सुरेश के लिए। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने के लिए उसके पास और था ही क्या ?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज सुनायी दी, और दम भर में विमलसिंह ने मकान के अंदर कदम रखा। उनके एक हाथ में संदूक था, दूसरे हाथ में एक गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला, जैसे कोई कैदी जेल से निकल कर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ चले। मैना पिंजरे में तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंक कर सिर उठाया। घबरा कर बोली, "कौन ?" फिर पहचान गयी। तुरंत फूलों को एक कपड़े से छिपा दिया। उठ खड़ी हुई और सिर झुका कर पूछा—इतनी जल्दी सुध ली ?

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो-हो कर कभी शीतला को देखता और कभी घर को, मानो किसी नये संसार में पहुँच गया है। यह वह अध-खिला फूल न था, जिसकी पंखुड़ियाँ अनुकूल जलवायु न पा कर सिमट गयी थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जल-कणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ। विमल उसकी

सुंदरता पर पहले भी मुग्ध था; पर यह ज्योति वह अग्निज्वाला थी, जिससे हृदय में ताप और आँखों में जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट ! उसके सिर में एक चक्कर-सा आ गया। जमीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तंभित खड़ी थी। वह पानी लाने नहीं दौड़ी, उसने पति के चरण नहीं धोये, उसको पंखा तक नहीं झला। हतबुद्धि-सी हो गयी थी। उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगाई थी ! उस पर तुषार पड़ गया। बास्तव में इस मलिनवदन, अर्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का जमींदार विमल न था। वह मजदूर हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले बिना नहीं रहता। मजदूर सुंदर वस्त्रों में भी मजदूर ही रहता है।

सहसा विमल की माँ चौंकी। शीतला के कमरे में आयी, तो विमल को देखते ही मातृ-स्नेह से विह्वल हो कर उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणों पर सिर रखा। उसकी आँखों से आँसुओं की गरम-गरम बूँदें निकल रही थीं। माँ पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी !

एक क्षण में विमल ने कहा—अम्माँ !

कंठ-ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

माँ ने प्रश्न समझ कर कहा—नहीं बेटा, यह बात नहीं है।

विमल—यह देखता क्या हूँ ?

माँ—स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे ?

विमल—सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था ?

माँ—तुम्हारी खोज लेने के लिए। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।

विमल—बहुत अच्छा होता।

शीतला ने ताने से कहा—अपनी ओर से तुमने सबको मार ही डाला था। फूलों की सेज नहीं बिछा गये थे !

विमल—अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।

शीतला—तुम किसी के भाग्य के विधाता हो ?

विमलसिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—अम्माँ, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में खून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिए तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता; पर इसे न पा सका !

यह कह कर वह कमरे से निकल आया और माँ के कमरे में लेट रहा। माँ ने तुरंत उसका मुँह और हाथ-पैर धुलाये। वह चूल्हा जला कर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शांत हो गयी; लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। जोर का बुखार चढ़ आया। लंबी यात्रा की थकान और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक संताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। माँ बैठी पंखा झलती और रोती थी। दूसरे दिन भी

वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिए भी न आयी। इन्होंने मुझे कौन से सोने के कौर खिला दिये हैं, जो इनकी धौंस सहूँ ? यहाँ तो 'जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे विदेश।' किसी की फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखा कर तो गये थे ? क्या लाद लाये !

संध्या के समय सुरेश को खबर मिली। तुरंत दौड़े हुए आये। आज दो महीने के बाद उन्होंने उस घर में कदम रखा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविन्द पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उसके बारे में जो अनुचित संदेह किया था, उसके लिये वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्यों ही सुना कि सुरेशसिंह आये हैं, तुरंत शीशे के सामने गयी। केश छिटका लिये और विपद् की मूर्ति बनी हुई विमल के कमरे में आयी। कहाँ तो विमल की आँखें बंद थीं, मूर्च्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते ही आँखें खुल गयीं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देख कर बोला—अभी आयी है ? आज के तीसरे दिन आना। कुँवर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।

शीतला उलटे पाँव चली गयी। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया। मन में सोचा, कितना रूप-लावण्य है; पर कितना विषाक्त ! हृदय की जगह केवल शृंगार-लालसा !

आतंक बढ़ता गया। सुरेश ने डाक्टर बुलवाये; पर मृत्यु-देव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है। किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकाल कर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे, पर उन्हें दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना उनका काम है। और उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है ! यह नित्य नये रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुण्य-माला। कभी सिंह बन जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप में दिखायी देते हैं, तो कभी जल के रूप में।

तीसरे दिन, पिछली रात को, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अंत हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्रायः रात ही को सबकी नजर बचा कर आते हैं और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते हैं। आकाश के फूल मुरझाये हुए थे। वृक्षसमूह स्थिर थे; पर शोक में मग्न, सिर झुकाये हुए। रात शोक का बाह्यरूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ा क्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्तनाद सुनायी दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिए मृत्यु-देव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी और घबरायी हुई मरण-शय्या की ओर चली। उसने मृतदेह पर निगाह डाली और भयभीत हो कर एक पग पीछे हट गयी। उसे जान पड़ा, विमलसिंह उसकी ओर अत्यंत तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक में उसे भयंकर ज्योति दिखायी पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेशसिंह से भेंट हो गयी। कातर स्वर में बोली—मुझे यहाँ डर लगता है। उसने चाहा कि रोती हुई इनके पैरों पर गिर पड़ूँ, पर वह अलग हट गये।

7

जब किसी पथिक को चलते-चलते ज्ञात होता है कि मैं रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिए बड़े वेग से चलता है ! झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों

हो गया ? सुरेश भी अब शांति-मार्ग पर आने के लिए विकल हो गये। मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगीं। हृदय में वास्तविक सौंदर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमें कितना प्रेम, कितना त्याग, कितनी क्षमा थी ! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी-कभी वह तड़प जाते। आह ! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मैं योंही जड़वत् पड़ा रहा और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गयी ! मंगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कहीं, वे उन्हें मालूम थीं; पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मंगला शांत प्रकृति की थी। वह इतनी उद्दंडता नहीं कर सकती। उसमें क्षमा थी, वह इतना विद्वेष नहीं कर सकती। उनका मन कहता था कि वह जीती है और कुशल से है। उसके मैकेवालों को कई पत्र लिखे; पर वहाँ व्यंग्य और कटुवाक्यों के सिवा और क्या रखा था ? अंत को उन्होंने लिखा—अब उस रत्न की खोज में स्वयं जाता हूँ। या तो ले कर ही आऊँगा, या कहीं मुँह में कालिख लगा कर डूब मरूँगा।

इस पत्र का उत्तर आया—अच्छी बात है, जाइए, पर यहाँ से होते हुए जाइएगा। यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।

सुरेशसिंह को इन शब्दों में आशा की झलक दिखायी दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नहीं लिया।

ससुराल में किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नहीं किया। सभी के मुँह फूले हुए थे। ससुर जी ने तो उन्हें पति-धर्म पर एक लम्बा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आ कर बैठ गयी और मुस्करा कर बोली—जीजा जी, कोई सुंदरी अपने रूप-हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे ?

सुरेश—(गंभीर स्वर से) कुटिला !

साली—और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप-हीन स्त्री को त्याग दे ?

सुरेश—पशु !

साली—और जो पुरुष विद्वान् हो ?

सुरेश—पिशाच !

साली—(हँस कर) तो मैं भागती हूँ। मुझे आपसे डर लगता है।

सुरेश—पिशाचों का प्रायश्चित्त भी तो स्वीकार हो जाता है।

साली—शर्त यह है कि प्रायश्चित्त सच्चा हो।

सुरेश—यह तो वह अंतर्यामी ही जान सकते हैं।

साली—सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा। मगर दीदी को ले कर इधर ही से लौटिएगा।

सुरेश की आशा-नौका फिर डगमगायी। गिड़गिड़ा कर बोले—प्रभा, ईश्वर के लिए मुझ पर दया करो। मैं बहुत दुःखी हूँ। साल भर से ऐसा कोई दिन नहीं गया कि मैं रो कर न सोया हूँ।

प्रभा ने उठ कर कहा—अपने किये का क्या इलाज ? जाती हूँ, आराम कीजिए।

एक क्षण में मंगला की माता आकर बैठ गयी और बोली—बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देश-विदेश घूम आये हो, सुंदर बनने की कोई दवा कहीं नहीं देखी ?

सुरेश ने विनय-पूर्वक कहा—माता जी, अब ईश्वर के लिए और लज्जित न कीजिए।

माता—तुमने तो मेरी प्यारी बेटी के प्राण ले लिये ! मैं क्या तुम्हें लज्जित करने से भी गयी ? जी में तो था कि ऐसी-ऐसी सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे; पर मेहमान हो, क्या जलाऊँ ? आराम करो।

सुरेश आशा और भय की दशा में पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—जाती क्यों नहीं, जागते तो हैं ? किसी ने जवाब दिया—लाज आती है।

सुरेश ने आवाज पहचानी। प्यासे को पानी मिल गया। एक क्षण में मंगला उनके सम्मुख आयी और सिर झुका कर खड़ी हो गयी। सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखायी दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुका हो।

रूप वही था, पर आँखें और थीं।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' में, अगस्त, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-6 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित।]

कौशल

पंडित बालकराम शास्त्री की धर्मपत्नी माया को बहुत दिनों से एक हार की लालसा थी और वह सैकड़ों ही बार पंडित जी से उसके लिए आग्रह कर चुकी थी; किंतु पंडित जी हीला-हवाला करते रहते थे। यह तो साफ-साफ न कहते थे कि मेरे पास रुपये नहीं हैं—इससे उनके पराक्रम में बट्टा लगता था—तर्कनाओं की शरण लिया करते थे। गहनों से कुछ लाभ नहीं एक तो धातु अच्छी नहीं मिलती; उस पर सोनार रुपये के आठ-आठ आने कर देता है और सबसे बड़ी बात यह है कि घर में गहने रखना चोरों को नेवता देना है। घड़ी-भर शृंगार के लिए इतनी विपत्ति सिर पर लेना मूर्खों का काम है। बेचारी माया तर्क-शास्त्र न पढ़ी थी, इन युक्तियों के सामने निरुत्तर हो जाती। पड़ोसिनों को देख-देखकर उसका जी ललचा करता था, पर दुःख किससे कहे। यदि पंडित जी ज्यादा मेहनत करने के योग्य होते तो यह मुश्किल आसान हो जाती। पर वे आलसी जीव थे, अधिकांश समय भोजन और विश्राम में व्यतीत किया करते थे। पत्नी जी की कटूक्तियाँ सुननी मंजूर थी, लेकिन निद्रा की मात्रा में कमी न कर सकते थे।

एक दिन पंडित जी पाठशाला से आये तो देखा कि माया के गले में सोने का हार विराज रहा है। हार की चमक से उसकी मुख-ज्योति चमक उठी थी।

उन्होंने उसे कभी इतनी सुन्दर न समझा था। पूछा—यह हार किसका है ?

माया बोली—पड़ोस में जो बाबू जी रहते हैं उन्हीं की स्त्री का है। आज उनसे मिलने गयी थी, यह हार देखा, बहुत पसंद आया। तुम्हें दिखाने के लिए पहन कर चली आयी। बस, ऐसा ही एक हार मुझे बनवा दो।

पंडित—दूसरे की चीज नाहक माँग लायी। कहीं चोरी हो जाय तो हार तो बनवाना ही पड़े, ऊपर से बदनामी भी हो।

माया—मैं तो ऐसा ही हार लूँगी। बीस तोले का है।

पंडित—फिर वही जिद।

माया—जब सभी पहनती हैं तो मैं ही क्यों न पहनूँ ?

पंडित—सब कुएँ में गिर पड़ें तो तुम भी कुएँ में गिर पड़ोगी। सोचो तो, इस वक्त इस हार के बनवाने में छः सौ रुपये लगेंगे। अगर एक रु. प्रति सैकड़ा भी ब्याज रख लिया जाय तो पांच वर्ष में छः सौ रुपये के लगभग एक हजार रुपये हो जायेंगे। लेकिन पांच वर्ष में तुम्हारा हार मुश्किल से तीन सौ रुपये का रह जायगा। इतना बड़ा नुकसान उठाकर हार पहनने से क्या सुख ? यह हार वापस कर दो, भोजन करो और आराम से पड़ी रहो। यह कहते हुए पंडित जी बाहर चले गये।

रात को एकाएक माया ने शोर मचा कर कहा—चोर ! चोर ! हाय, घर में चोर ! मुझे घसीटे लिए जाते हैं।

पंडित जी हकबका कर उठे और बोले—कहाँ, कहाँ ? दौड़ो, दौड़ो।

माया—मेरी कोठरी में गया है। मैंने उसकी परछाईं देखी।

पंडित—लालटेन लाओ, ज़रा मेरी लकड़ी उठा लेना।

माया—मुझसे तो मारे डर के उठा नहीं जाता।

कई आदमी बाहर से बोले—कहाँ हैं पंडित जी, कोई सेंध पड़ी है क्या ?

माया—नहीं, नहीं, खपरैल पर से उतरे हैं। मेरी नींद खुली तो कोई मेरे ऊपर झुका हुआ था। हाय राम ! यह तो हार ही ले गया ! पहने-पहने सो गयी थी। मुये ने गले से निकाल लिया। हाय भगवान् !

पंडित—तुमने हार उतार क्यों न दिया था ?

माया—मैं क्या जानती थी कि आज ही यह मुसीबत गिर पड़ने वाली है, हाय भगवान्!

पंडित—अब हाय-हाय करने से क्या होगा ? अपने कर्मों को रोओ ! इसीलिए कहा करता था कि सब घड़ी बराबर नहीं आती, न जाने कब क्या हो जाय। अब आयी समझ में मेरी बात ! देखो और कुछ तो नहीं ले गया ?

पड़ोसी लालटेन लिये आ पहुँचे। घर में कोना-कोना देखा।

करियाँ देखीं, छत पर चढ़ कर देखा, अगवाड़े-पिछवाड़े देखा, शौच-गृह में झाँका, कहीं चोर का पता न था।

एक पड़ोसी—किसी जानकार आदमी का काम है।

दूसरा पड़ोसी—बिना घर के भेदिये के कभी चोरी होती नहीं। और कुछ तो नहीं ले गया ?

माया—और तो कुछ नहीं गया। बरतन सब पड़े हुए हैं। संदूक भी बन्द पड़े हुए हैं। निगोड़े को ले ही जाना था तो मेरी चीजें ले जाता। परायी चीज ठहरी। भगवान्, उन्हें कौन मुँह दिखाऊँगी।

पंडित—अब गहने का मजा मिल गया न ?

माया—हाय, भगवान्, यह अपजस बदा था।

पंडित—कितना समझा के हार गया, तुम न मानीं, न मानीं। बात की बात में छः सौ रुपये निकल गये ! अब देखूँ भगवान् कैसे लाज रखते हैं।

माया—अभागे मेरे घर का एक-एक तिनका चुन ले जाते तो मुझे इतना दुःख न होता। अभी बेचारी ने नया ही बनवाया था।

पंडित—खूब मालूम है, बीस तोले का था ?

माया—बीस ही तोले का तो कहती थीं।

पंडित—बधिया बैठ गयी और क्या ?

माया—कह दूँगी, घर में चोरी हो गयी। क्या जान लेंगी ? अब उनके लिए कोई चोरी थोड़े ही करने जायगा !

पंडित—तुम्हारे घर से चीज गयी, तुम्हें देनी पड़ेगी। उन्हें इससे क्या प्रयोजन कि चोर ले गया या तुमने उठा कर रख लिया। पतियायेंगी ही नहीं।

माया—तो इतने रुपये कहाँ से आयेंगे ?

पंडित—कहीं न कहीं से तो आयेंगे ही, नहीं तो लाज कैसे रहेगी; मगर की तुमने बड़ी भूल।

माया—भगवान् से मंगनी की चीज भी न देखी गयी। मुझे काल ने घेरा था, नहीं तो घड़ी भर गले में डाल लेने से ऐसा कौन-सा बड़ा सुख मिल गया ? मैं हूँ ही अभागिनी।

पंडित—अब पछताने और अपने को कोसने से क्या फायदा ? चुप हो के बैठो, पड़ोसिन से कह देना, घबराओ नहीं, तुम्हारी चीज जब तक लौटा न देंगे, तब तक हमें चैन न आयेगा।

2

पंडित बालकराम को अब नित्य ही चिंता रहने लगी कि किसी तरह हार बने। यों अगर टाट उलट देते तो कोई बात न थी। पड़ोसिन को संतोष ही करना पड़ता, ब्राह्मण से डाँड़ कौन लेता; किन्तु पंडित जी ब्राह्मणत्व के गौरव को इतने सस्ते दामों न बेचना चाहते थे। आलस्य छोड़ कर धनोपार्जन में दत्तचित्त हो गये।

छः महीने तक उन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं जाना। दोपहर को सोना छोड़ दिया, रात को भी बहुत देर तक जागते। पहले केवल एक पाठशाला में पढ़ाया करते थे। इसके सिवा ब्राह्मण के लिए खुले हुए एक सौ एक व्यवसायों में वह सभी को निंदनीय समझते थे। पर अब पाठशाला से आ कर संध्या समय एक जगह 'भागवत की कथा' कहने जाते, वहाँ से लौट कर ग्यारह-बारह बजे रात तक जन्म-कुंडलियाँ, वर्ष-फल आदि बनाया करते। प्रातःकाल मंदिर में 'दुर्गा जी का पाठ' करते। माया पंडित जी का अध्यवसाय देख-देख कर कभी-कभी पछताती कि कहाँ से कहाँ मैंने ये विपत्ति सिर पर ली। कहीं बीमार पड़ जायें तो लेने के देने पड़ें। उनका शरीर क्षीण होते देख कर उसे अब यह चिंता व्यथित करने लगी। यहाँ तक कि पाँच महीने गुजर गये।

एक दिन संध्या समय वह दिया-बत्ती करने जा रही थी कि पंडित जी आये, जेब से पुड़िया निकाल कर उसके सामने फेंक दी और बोले—लो, आज तुम्हारे ऋण से मुक्त हो गया।

माया ने पुड़िया खोली तो उसमें सोने का हार था, उसकी चमक-दमक, उसकी सुंदर बनावट देख कर उसके अंतःस्थल में गुदगुदी-सी होने लगी। मुख पर आनंद की आभा दौड़ गयी। उसने कातर नेत्रों से देख कर पूछा—खुश हो कर दे रहे हो या नाराज हो कर ?

पंडित—इससे क्या मतलब ? ऋण तो चुकाना ही पड़ेगा, चाहे खुशी से हो या नाखुशी से।

माया—यह ऋण नहीं है।

पंडित—और क्या है ! बदला सही।

माया—बदला भी नहीं है।

पंडित—फिर क्या है ?

माया—तुम्हारी....निशानी ?

पंडित—तो क्या ऋण के लिए कोई दूसरा हार बनवाना पड़ेगा ?

माया—नहीं-नहीं, वह हार चोरी नहीं गया था। मैंने झूठ-मूठ शोर मचाया था।

पंडित—सच ?

माया—हाँ, सच कहती हूँ।

पंडित—मेरी कसम ?

माया—तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ।

पंडित—तो तुमने मुझसे कौशल किया था ?

माया—हाँ ?

पंडित—तुम्हें मालूम है, तुम्हारे कौशल का मुझे क्या मूल्य देना पड़ा।

माया—क्या छः सौ रुपये से ऊपर ?

पंडित—बहुत ऊपर ? इसके लिए मुझे अपने आत्मस्वातंत्र्य को वलिदान करना पड़ा।

[हिन्दी कहानी। 'चांद' में, अगस्त, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित।]

प्रतिशोध

माया अपने तिमंजिले मकान की छत पर खड़ी सड़क की ओर उद्विग्न और अधीर आंखों से ताक रही थी और सोच रही थी, वह अब तक आए क्यों नहीं ? कहां देर लगाई ? इसी गाड़ी से आने को लिखा था। गाड़ी तो आ गई होगी, स्टेशन से मुसाफिर चले आ रहे हैं। इस वक्त तो कोई दूसरी गाड़ी नहीं आती। शायद असबाब वगैरह रखने में देर हुई, यार-दोस्त स्टेशन पर बधाई देने के लिए पहुंच गए हों, उनसे फुर्सत मिलेगी तब घर की सुध आएगी। उनकी जगह मैं होती तो सीधे घर आती। दोस्तों से कह देती, जनाब, इस वक्त मुझे माफ कीजिए, फिर मिलिएगा। मगर दोस्तों में तो उनकी जान बसती है !

मिस्टर व्यास लखनऊ के नौजवान मगर अत्यंत प्रतिष्ठित बैरिस्टरों में हैं। तीन महीने से वह एक राजनीतिक मुकदमे की पैरवी करने के लिए सरकार की ओर से लाहौर

गए हुए हैं। उन्होंने माया को लिखा था—जीत हो गई। पहली तारीख को मैं शाम की मेल से जरूर पहुंचूंगा। आज वही शाम है। माया ने आज सारा दिन तैयारियों में बिताया। सारा मकान धुलवाया। कमरों के सजावट के सामान साफ कराए, मोटर धुलवाई। यह तीन महीने उसने तपस्या के काटे थे। मगर अब तक मिस्टर व्यास नहीं आए।

उसकी छोटी बच्ची तिलोत्तमा आकर उसके पैरों से चिमट गई और बोली—अम्मां, बाबूजी कब आएंगे ?

माया ने उसे गोद में उठा लिया और चूमकर बोली—आते ही होंगे बेटी, गाड़ी तो कब की आ गई।

तिलोत्तमा—मेरे लिए अच्छी-अच्छी गुड़ियां लाते होंगे।

माया ने कुछ जवाब न दिया। इंतजार अव गुस्से में बदलता जाता था। वह सोच रही थी, जिस तरह मुझे हजरत परेशान कर रहे हैं, उसी तरह मैं भी उनको परेशान करूंगी। घंटे-भर तक बोलूंगी ही नहीं। आकर स्टेशन पर बैठे हुए हैं ! जलाने में उन्हें मजा आता है। यह उनकी पुरानी आदत है। दिल को क्या करूं! नहीं, जी तो यही चाहता है कि जैसे वह मुझसे बेरुखी दिखलाते हैं, उसी तरह मैं भी उनकी बात न पूछूं!

यकायक एक नौकर ने ऊपर आकर कहा—वहूजी, लाहौर से यह तार आया है।

माया अंदर-ही-अंदर जल उठी। उसे ऐसा मालूम हुआ कि जैसे बड़े जोर की हरारत हो गई हो। बरबस खयाल आया—सिवाय इसके और क्या लिखा होगा कि इस गाड़ी से न आ सकूंगा। तार दे देना कौन मुश्किल है। मैं भी क्यों न तार दे दूं कि मैं एक महीने के लिए मैके जा रही हूं। नौकर से कहा—तार ले जाकर कमरे में मेज पर रख दो। मगर फिर कुछ सोचकर उसने लिफाफा ले लिया और खोला ही था कि कागज हाथ से छूटकर गिर पड़ा। लिखा था—मिस्टर व्यास को आज दस बजे रात किसी बदमाश ने कत्ल कर दिया।

2

कई महीने बीत गए, मगर खूनी का अब तक पता नहीं चला। खुफिया पुलिस के अनुभवी लोग उसका सुराग लगाने की फिक्र में परेशान हैं। खूनी को गिरफ्तार करा देने वाले को बीस हजार रुपये इनाम दिए जाने का ऐलान कर दिया गया है। मगर कोई नतीजा नहीं।

जिस होटल में मिस्टर व्यास ठहरे थे, उसी में एक महीने से माया ठहरी हुई है। उस कमरे से उसे प्यार-सा हो गया है। उसकी सूरत इतनी बदल गई है कि अब उसे पहचानना मुश्किल है। मगर उसके चेहरे पर बेकसी या दर्द का पीलापन नहीं क्रोध की गर्मी दिखाई पड़ती है। उसकी नशीली आंखों में अब खून की प्यास है और प्रतिशोध की लपट। उसके शरीर का एक-एक कण प्रतिशोध की आग से जला जा रहा है। अब यही उसके जीवन का ध्येय, यही उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा है। उसके प्रेम की सारी निधि अब यही प्रतिशोध का आवेग है। जिस पापी ने उसके जीवन का सर्वनाश कर दिया उसे अपने सामने तड़पते देखकर ही उसकी आंखें ठंडी होंगी। खुफिया पुलिस भय और लोभ, जांच और पड़ताल से काम ले रही है, मगर माया ने अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए एक दूसरा ही रास्ता अपनाया है। मिस्टर व्यास को प्रेत-विद्या से लगाव था। उनकी संगति में माया ने भी कुछ आरंभिक अभ्यास किया था। उस वक्त उसके लिए यह एक मनोरंजन था। मगर अब यही

उसके जीवन का संबल था। वह रोजाना तिलोत्तमा पर अमल करती और रोज-ब-रोज अभ्यास बढ़ाती जाती थी। वह उस दिन का इंतजार कर रही थी जब वह अपने पति की आत्मा को बुलाकर उससे खूनी का सुराग लगा सकेगी। वह बड़ी लगन से, बड़ी एकाग्रचित्तता से अपने काम में व्यस्त थी। रात के दस बज गए थे। माया ने कमरे को अंधेरा कर दिया था और तिलोत्तमा पर अभ्यास कर रही थी। यकायक उसे ऐसा मालूम हुआ कि कमरे में कोई दिव्य व्यक्तित्व आया। बुझते हुए दीपक की अंतिम झलक की तरह एक रोशनी नजर आई।

माया ने पूछा—आप कौन हैं ?

तिलोत्तमा ने हंसकर कहा—तुम मुझे नहीं पहचानतीं ? मैं ही तुम्हारा मनमोहन हूं जो दुनिया में मिस्टर व्यास के नाम से मशहूर था।

"आप खूब आए। मैं आपसे खूनी का नाम पूछना चाहती हूं।"

"उसका नाम है, ईश्वरदास।"

"कहां रहता है ?"

"शाहजहांपुर।"

माया ने मुहल्ले का नाम, मकान का नम्बर, सूरत-शक्ल, सब कुछ खूब विस्तार के साथ पूछा और एक कागज पर नोट कर लिया। तिलोत्तमा जरा देर में उठ बैठी जब कमरे में फिर रोशनी हुई तो माया का मुर्झाया हुआ चेहरा विजय की प्रसन्नता से चमक रहा था। उसके शरीर में एक नया जोश लहरें मार रहा था कि जैसे प्यास से मरते हुए मुसाफिर को पानी मिल गया हो।

उसी रात को माया ने लाहौर से शाहजहांपुर जाने का इरादा किया।

3

रात का वक़्त, पंजाब मेल बड़ी तेजी से अंधेरे को चीरती हुई चली जा रही थी। माया एक सेकेंड क्लास के कमरे में बैठी सोच रही थी कि शाहजहांपुर में वह कहां ठहरेगी, कैसे ईश्वरदास का मक़ान तलाश करेगी और कैसे उससे खून का बदला लेगी। उसके बगल में तिलोत्तमा बेखबर सो रही थी। सामने ऊपर के बर्थ पर एक आदमी नींद में गाफिल पड़ा हुआ था।

यकायक गाड़ी का कमरा खुला और दो आदमी कोट-पतलून पहने कमरे में दाखिल हुए। दोनों अंग्रेज थे। एक माया की तरफ बैठा और दूसरा दूसरी तरफ। माया सिमटकर बैठ गई। इन आदमियों का यों बैठना उसे बहुत बुरा मालूम हुआ। वह कहना चाहती थी, आप लोग दूसरी तरफ बैठें, पर वही औरत जो खून का बदला लेने जा रही थी, सामने यह खतरा देखकर कांप उठी। वह दोनों शैतान उसे सिमटते देखकर और करीब आ गए। माया अब वहां न बैठी रह सकी। वह उठकर दूसरे बर्थ पर जाना चाहती थी कि उनमें से एक ने उसका हाथ पकड़ लिया। माया ने जोर से हाथ छुड़ाने की कोशिश करके कहा—तुम्हारी शामत तो नहीं आई है, छोड़ दो मेरा हाथ, सुअर ?

इस पर दूसरे आदमी ने उठकर माया को सीने से लिपटा लिया और लड़खड़ाती हुई जबान से बोला—वेल, हम तुमको बहुत-सा रुपया देगा।

माया ने उसे सारी ताकत से ढकेलने की कोशिश करके कहा—हट जा हरामजादे, वर्ना अभी तेरा सर तोड़ दूंगी।

दूसरा आदमी भी उठ खड़ा हुआ और दोनों मिलकर माया को बर्थ पर लिटाने की कोशिश करने लगे। यकायक यह खटपट सुनकर ऊपर के बर्थ पर सोया हुआ आदमी चौंका और उन बदमाशों की हरकत देखकर ऊपर से कूद पड़ा। दोनों गोरे उसे देखकर माया को छोड़ उसकी तरफ झपटे और उसे घूंसे मारने लगे। दोनों उस पर ताबड़तोड़ हमले कर रहे थे और वह हाथों से अपने को बचा रहा था। उसे वार करने का कोई मौका न मिलता था। यकायक उसने उचककर अपने बिस्तरे में से एक छुरा निकाल लिया और आस्तीनें समेटकर बोला—तुम दोनों अगर अभी बाहर न चले गए तो मैं एक को भी जीता न छोड़ूंगा।

दोनों गोरे छुरा देखकर डरे मगर वह भी निहत्थे न थे। एक ने जेब से रिवाल्वर निकाल लिया और उसकी नली उस आदमी की तरफ करके बोला—निकल जाओ, रैस्कल !

माया थरथर कांप रही थी कि न जाने क्या आफत आने वाली है। मगर खतरा हमारी छिपी हुई हिम्मतों की कुंजी है। खतरे में पड़कर हम भय की सीमाओं से आगे बढ़ जाते हैं और वह कुछ कर गुजरते हैं जिस पर हमें खुद हैरत होती है। वही माया जो अब तक थरथर कांप रही थी, बिल्ली की तरह कूदकर उस गोरे की तरफ लपकी और उसके हाथ से रिवाल्वर खींचकर गाड़ी के नीचे फेंक दिया। गोरे ने खिसियाकर माया को दांत काटना चाहा मगर माया ने जल्दी से हाथ खींच लिया और खतरे की जंजीर के पास जाकर उसे जोर से खींचा। दूसरा गोरा अब तक किनारे खड़ा था। उसके पास कोई हथियार न था इसलिए वह छुरी के सामने न आना चाहता था। जब उसने देखा कि माया ने जंजीर खींच ली तो भीतर का दरवाजा खोलकर भागा। उसका साथी भी उसके पीछे-पीछे भागा। चलते-चलते छुरी वाले आदमी ने उसे इतने जोर से धक्का दिया कि वह मुंह के बल गिर पड़ा। फिर तो उसने इतनी ठोकरें, इतनी लातें और इतने घूंसे जमाए कि उसके मुंह से खून निकल पड़ा। इतने में गाड़ी रुक गई और गार्ड लालटेन लिए आता दिखाई दिया।

4

मगर वह दोनों शैतान गाड़ी को रुकते देखकर बेतहाशा नीचे कूद पड़े और उस अंधेरे में न जाने कहां खो गए। गार्ड ने भी ज्यादा छानबीन न की और करता भी तो उस अंधेरे में पता लगना मुश्किल था। दोनों तरफ खड्ड थे, शायद गाड़ी किसी नदी के पास थी। वहां दो क्या दो सौ आदमी उस वक्त बड़ी आसानी से छिप सकते थे। दस मिनट तक गाड़ी खड़ी रही, फिर चल पड़ी।

माया ने मुक्ति की सांस लेकर कहा—आप आज न होते तो ईश्वर ही जाने मेरा क्या हाल होता। आपके कहीं चोट तो नहीं आई ?

उस आदमी ने छुरे को जेब में रखते हुए कहा—बिल्कुल नहीं। मैं ऐसा बेसुध सोया हुआ था कि उन बदमाशों के आने की खबर ही न हुई। वर्ना मैंने उन्हें अंदर पांव ही न रखने दिया होता। अगले स्टेशन पर रिपोर्ट करूंगा।

माया—जी नहीं, खामखाह की बदनामी और परेशानी होगी। रिपोर्ट करने से कोई फायदा नहीं। ईश्वर ने आज मेरी आबरू रख ली। मेरा कलेजा अभी तक धड़-धड़ कर रहा है। आप कहां तक चलेंगे ?

"मुझे शाहजहांपुर जाना है।"

"वहीं तक तो मुझे भी जाना है। शुभ नाम क्या है ? कम-से-कम अपने उपकारक के नाम से तो अपरिचित न रहूं।"

"मुझे तो ईश्वरदास कहते हैं।"

माया का कलेजा धक् से हो गया। जरूर यह वही खूनी है, इसकी शक्ल-सूरत भी वही है जो उसे बतलाई गई थी। उसने डरते-डरते पूछा—आपका मकान किस मुहल्ले में है?

"....में रहता हूं।"

माया का दिल बैठ गया। उसने खिड़की से सिर बाहर निकालकर एक लंबी सांस ली। हाय ! खूनी मिला भी तो ऐसी हालत में जब वह उसके एहसान के बोझ से दबी हुई है ! क्या उस आदमी को वह खंजर का निशाना बना सकती है, जिसने बगैर किसी परिचय के सिर्फ हमदर्दी के जोश में ऐसे गाढ़े वक्त में उसकी मदद की? जान पर खेल गया ? वह एक अजीब उलझन में पड़ गई। उसने उसके चेहरे की तरफ देखा, शराफत झलक रही थी। ऐसा आदमी खून कर सकता है, इसमें उसे संदेह था।

ईश्वरदास ने पूछा—आप लाहौर से आ रही हैं न ? शाहजहांपुर में कहां जाइएगा ?

"अभी तो कहीं धर्मशाला में ठहरूंगी, मकान का इंतजाम करना है।"

ईश्वरदास ने ताज्जुब से पूछा—तो वहां आप किसी दोस्त या रिश्तेदार के यहां नहीं जा रही हैं ?

"कोई न कोई मिल ही जाएगा।"

"यों आपका असली मकान कहां है ?"

"असली मकान पहले लखनऊ था, अब कहीं नहीं है। मैं बेवा हूं।"

5

ईश्वरदास ने शाहजहांपुर में माया के लिए एक अच्छा मकान तय कर दिया। एक नौकर भी रख दिया। दिन में कई बार हाल-चाल पूछने के लिए आता। माया कितना ही चाहती थी कि उसके एहसान न ले, उससे घनिष्ठता न पैदा करे, मगर वह इतना नेक, इतना बामुरौवत और शरीफ था कि माया मजबूर हो जाती थी।

एक दिन वह कई गमले और फर्नीचर लेकर आया। कई खूबसूरत तस्वीरें भी थीं। माया ने त्यौरियां चढ़ाकर कहा—मुझे साज-सामान की बिल्कुल जरूरत नहीं, आप नाहक तकलीफ करते हैं।

ईश्वरदास ने इस तरह लज्जित होकर कि जैसे उससे कोई भूल हो गई हो, कहा—मेरे घर में यह चीजें बेकार पड़ी थीं, लाकर रख दीं।

"मैं इन टीम-टाम की चीजों की गुलाम नहीं बनना चाहती।"

ईश्वरदास ने डरते-डरते कहा—अगर आपको नागवार हो तो उठवा ले जाऊं ?

माया ने देखा कि उसकी आंखें भर आई हैं, मजबूर होकर बोली—अब आप ले आए

हैं तो रहने दीजिए, मगर आगे से कोई ऐसी चीज न लाइएगा।

एक दिन माया का नौकर न आया। माया ने आठ-नौ बजे तक उसकी राह देखी। जब अब भी वह न आया तो उसने जूठे बर्तन मांजना शुरू किया। उसे कभी अपने हाथ से चौका-बर्तन करने का संयोग न हुआ था। बार-बार अपनी हालत पर रोना आता था। एक दिन वह था कि उसके घर नौकरों की एक पलटन थी, आज उसे अपने हाथों बर्तन मांजने पड़ रहे हैं। तिलोत्तमा दौड़-दौड़कर बड़े जोश से काम कर रही थी। उसे कोई फिक्र न थी। अपने हाथों से काम करने का, अपने को उपयोगी साबित करने का ऐसा अच्छा मौका पाकर उसकी खुशी की कोई सीमा न रही। इतने में ईश्वरदास आकर खड़ा हो गया और माया को बर्तन मांजते देखकर बोला—यह आप क्या कर रही हैं ? रहने दीजिए, मैं अभी एक आदमी को बुलाए लाता हूं। आपने मुझे क्यों न खबर दी, राम-राम, उठ आइए वहां से।

माया ने लापरवाही से कहा—कोई जरूरत नहीं। आप तकलीफ न कीजिए। मैं अभी मांज लेती हूं।

"इसकी जरूरत भी क्या, मैं एक मिनट में आता हूं।"

"नहीं, आप किसी को न लाइए, मैं इतने बर्तन बड़ी आसानी से धो लूंगी।"

"अच्छा तो लाइए, मैं भी आपकी कुछ मदद करूं।"

यह कहकर उसने डोल उठा लिया और बाहर से पानी लेने दौड़ा। पानी लाकर उसने मंजे हुए बर्तनों को धोना शुरू किया।

माया ने उसके हाथ से बर्तन छीनने की कोशिश करके कहा—आप मुझे क्यों शर्मिंदा करते हैं ? रहने दीजिए, मैं अभी साफ किये डालती हूं।

"आप मुझे शर्मिंदा करती हैं या मैं आपको शर्मिंदा कर रहा हूं ? आप यहां मुसाफिर हैं, मैं यहां का रहने वाला हूं, मेरा धर्म है कि आपकी सेवा करूं। आपने एक ज्यादती तो यह की कि मुझे जरा भी खबर न दी, अब दूसरी ज्यादती यह कर रही हैं। मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।"

ईश्वरदास ने जरा देर में सारे बर्तन साफ करके रख दिए। ऐसा मालूम होता था कि वह ऐसे कामों का आदी है। बर्तन धोकर उसने सारे बर्तन पानी से भर दिए और तब माथे से पसीना पोंछता हुआ बोला—बाजार से कोई चीज लानी हो तो बतला दीजिए, अभी ला

माया—जी नहीं, माफ कीजिए, आप अपने घर का रास्ता लीजिए।

ईश्वरदास—तिलोत्तमा, आओ, आज तुम्हें सैर करा लाएं।

माया—जी नहीं, रहने दीजिए। वह इस वक्त सैर करने नहीं जाती।

माया ने यह शब्द इतने रूखेपन से कहे कि ईश्वरदास का मुंह उतर गया। उसने दुबारा कुछ न कहा। चुपके से चला गया। उसके जाने के बाद माया ने सोचा मैंने उसके साथ कितनी बेमुरौती की। रेलगाड़ी की उस दुखद घटना के बाद उसके दिल में बराबर प्रतिशोध और मनुष्यता में लड़ाई छिड़ी हुई थी। अगर ईश्वरदास उस मौके पर स्वर्ग के एक दूत की तरह न आ जाता तो आज उसकी क्या हालत होती, यह खयाल करके उसके रोएं खड़े हो जाते थे, और ईश्वरदास के लिए उसके दिल की गहराइयों से कृतज्ञता के शब्द

निकलते। क्या अपने ऊपर इतना बड़ा एहसान करने वाले के खून से वह अपने हाथ रंगेगी ? लेकिन उसी के हाथों उसे यह मनहूस दिन भी तो देखना पड़ा ! उसी के कारण तो उसने रेल का वह सफर किया था वर्ना वह अकेले बिना किसी दोस्त या मददगार के सफर ही क्यों करती ? उसी के कारण तो आज वह वैधव्य की विपत्तियां झेल रही है और सारी उम्र झेलेगी। इन बातों का खयाल करके उसकी आंखें लाल हो जातीं, मुंह से एक गर्म आह निकल जाती और जी चाहता इसी वक्त कटार लेकर चल पड़े और उसका काम तमाम कर दे।

6

आज माया ने अंतिम निश्चय कर लिया। उसने ईश्वरदास की दावत की थी। यही उसकी आखिरी दावत होगी। ईश्वरदास ने उस पर एहसान जरूर किए हैं लेकिन दुनिया में कोई एहसान, कोई नेकी उस शोक के दाग को मिटा सकती है ? रात के नौ बजे ईश्वरदास आया तो माया ने अपनी वाणी में प्रेम का आवेग भरकर कहा—बैठिए, आपके लिए गर्म-गर्म पूड़ियां निकालूं !

ईश्वरदास—क्या अभी तक आप मेरे इंतजार में बैठी हुई हैं ? नाहक गर्मी में परेशान हुईं।

माया ने थाली परसकर उसके सामने रखते हुए कहा—मैं खाना पकाना नहीं जानती। अगर कोई चीज अच्छी न लगे तो माफ कीजिएगा।

ईश्वरदास ने खूब तारीफ कर-करके एक-एक चीज खाई। ऐसी स्वादिष्ट चीजें उसने अपनी उम्र में कभी नहीं खाई थीं।

"आप तो कहती थीं मैं खाना पकाना नहीं जानती।"

"तो क्या मैं गलत क़हती थी ?"

"बिल्कुल गलत। आपने खुद अपनी गलती साबित कर दी। ऐसे खस्ते मैंने जिंदगी में कभी नहीं खाए थे।"

"आप मुझे बनाते हैं। अच्छा साहब, बना लीजिए !"

"नहीं, मैं बनाता नहीं, बिल्कुल सच कहता हूं। किस चीज की तारीफ करूं ? चाहता हूं कि कोई ऐब निकालूं लेकिन सूझता ही नहीं। अबकी बार मैं अपने दोस्तों की दावत करूंगा तो आपको एक दिन तकलीफ दूंगा।"

"हां, शौक से कीजिए, मैं हाजिर हूं।"

खाते-खाते दस बजे गए। तिलोत्तमा सो गई। गली में भी सन्नाटा हो गया। ईश्वरदास चलने को तैयार हुआ, तो माया बोली—क्या आप चले जाएंगे ? क्यों न आज यहीं सो रहिए ? मुझे कुछ डर लग रहा है। आप बाहर के कमरे में सो रहिएगा, मैं अंदर आंगन में सो रहूंगी।

ईश्वरदास ने क्षण-भर सोचकर कहा—अच्छी बात है। आपने पहले कभी न कहा कि आपको इस घर में डर लगता है वर्ना मैं किसी भरोसे की बुड्ढी औरत को रात को सोने के लिए ठीक कर देता।

ईश्वरदास ने तो कमरे में आसन जमाया, माया अंदर खाना खाने गई। लेकिन आज

उसके गले के नीचे एक कौर भी न उतर सका। उसका दिल जोर-जोर से धड़क रहा था। दिल पर एक डर-सा छाया हुआ था। ईश्वरदास कहीं जाग पड़ा तो ? उसे उस वक्त कितनी शर्मिंदगी होगी।

माया ने कटार को खूब तेज कर रखा था। आज दिन-भर उसने उसे हाथ में लेकर अभ्यास किया। वह इस तरह वार करेगी कि खाली ही न जाय। अगर ईश्वरदास जाग ही पड़ा तो भी जानलेवा घाव लगेगा।

जब आधी रात हो गई और ईश्वरदास के खर्राटों की आवाजें कानों में आने लगीं तो माया कटार लेकर उठी पर उसका सारा शरीर कांप रहा था। भय और संकल्प, आकर्षण और घृणा एक साथ कभी उसे एक कदम आगे बढ़ा देतीं, कभी पीछे हटा देतीं। ऐसा मालूम होता था कि जैसे सारा मकान, सारा आसमान चक्कर खा रहा है। कमरे की हर एक चीज घूमती हुई नजर आ रही थी। मगर एक क्षण में यह बेचैनी दूर हो गई और दिल पर डर छा गया। वह दबे पांव ईश्वरदास के कमरे तक आई, फिर उसके कदम वहीं जम गए। उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। आह, मैं कितनी कमजोर हूं। जिस आदमी ने मेरा सर्वनाश कर दिया, मेरी हरी-भरी खेती उजाड़ दी, मेरे लहलहाते हुए उपवन को वीरान कर दिया, मुझे हमेशा के लिए आग के जलते हुए कुंडों में डाल दिया, उससे मैं खून का बदला भी नहीं ले सकती ! वह मेरी ही बहनें थीं, जो तलवार और बंदूक लेकर मैदान में लड़ती थीं, दहकती हुई चिता में हंसते-हंसते बैठ जाती थीं। उसे उस वक्त ऐसा मालूम हुआ कि मिस्टर व्यास सामने खड़े हैं और उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा कर रहे हैं। कह रहे हैं, क्या तुम मेरे खून का बदला न लोगी ? मेरी आत्मा प्रतिशोध के लिए तड़प रही है। क्या उसे हमेशा-हमेशा यों ही तड़पाती रहोगी ? क्या यही वफा की शर्त थी ? इन विचारों ने माया की भावनाओं को भड़का दिया। उसकी आंखें खून की तरह लाल हो गईं, होंठ दांतों के नीचे दब गए और कटार के हत्थे पर मुट्ठी बंध गई। एक उन्माद-सा छा गया। उसने कमरे के अंदर पैर रखा मगर ईश्वरदास की आंखें खुल गई थीं। कमरे में लालटेन की मद्धिम रोशनी थी। माया की आहट पाकर वह चौंका और सिर उठाकर देखा तो खून सर्द हो गया—माया प्रलय की मूर्ति बनी हाथ में नंगी कटार लिए उसकी तरफ चली आ रही थी !

वह चारपाई से उठकर खड़ा हो गया और घबड़ाकर बोला—क्या है बहन ? यह कटार क्यों लिए हुए हो ?

माया ने कहा—यह कटार तुम्हारे खून की प्यासी है क्योंकि तुमने मेरे पति का खून किया है।

ईश्वरदास का चेहरा पीला पड़ गया। बोला—मैंने ?

"हां तुमने, तुम्हीं ने लाहौर में मेरे पति की हत्या की, जब वे एक मुकदमे की पैरवी करने गए थे। क्या तुम इससे इंकार कर सकते हो ? मेरे पति की आत्मा ने खुद तुम्हारा पता बतलाया है।"

"तो तुम मिस्टर व्यास की बीवी हो ?"

"हां, मैं उनकी बदनसीब बीवी हूं और तुम मेरा सोहाग लूटने वाले हो ! गो तुमने मेरे ऊपर एहसान किए हैं, लेकिन एहसानों से मेरे दिल की आग नहीं बुझ सकती। वह तुम्हारे खून से ही बुझेगी।"

ईश्वरदास ने माया की ओर याचना-भरी आंखों से देखकर कहा—अगर आपका यही फैसला है तो लीजिए यह सर हाजिर है। अगर मेरे खून से आपके दिल की आग बुझ जाए तो मैं खुद उसे आपके कदमों पर गिरा दूंगा। लेकिन जिस तरह आप मेरे खून से अपनी तलवार की प्यास बुझाना अपना धर्म समझती हैं उसी तरह मैंने भी मिस्टर व्यास को कत्ल करना अपना धर्म समझा। आपको मालूम है, वह एक राजनीतिक मुकदमे की पैरवी करने लाहौर गए थे। लेकिन मिस्टर व्यास ने जिस तरह अपनी ऊंची कानूनी लियाकत का इस्तेमाल किया, पुलिस को झूठी शहादतों के तैयार करने में जिस तरह मदद दी, जिस बेरहमी और बेदर्दी से बेकस और ज्यादातर बेगुनाह नौजवानों को तबाह किया, उसे मैं सह न सकता था। उन दिनों अदालत में तमाशाइयों की बेइंतहा भीड़ रहती थी। सभी अदालत से मिस्टर व्यास को कोसते हुए जाते थे। मैं तो मुकदमे की हकीकत को जानता था, इसलिए मेरी अंतरात्मा सिर्फ कोसने और गालियां देने से शांत न हो सकती थी। मैं आपसे क्या कहूं। मिस्टर व्यास ने आंख खोलकर समझ-बूझकर झूठ को सच साबित किया और कितने ही घरानों को बेचिराग कर दिया। आज कितनी मांएं अपने बेटों के लिए खून के आंसू रो रही हैं, कितनी ही औरतें रंडापे की आग में जल रही हैं। पुलिस कितनी ज्यादतियां करे, हम परवाह नहीं करते। पुलिस से हम इसके सिवा और कोई उम्मीद भी नहीं रखते। उसमें ज्यादातर जाहिल, शोहदे, लुच्चे भरे हुए हैं। सरकार ने इस महकमे को कायम ही इसलिए किया है कि वह रिआया को तंग करे। मगर वकीलों से हम इंसाफ की उम्मीद रखते हैं। हम उनकी इज्जत करते हैं। वे उच्चकोटि के पढ़े-लिखे, सजग लोग होते हैं। जब ऐसे आदमियों को हम पुलिस के हाथों की कठपुतली बना हुआ देखते हैं तो हमारे क्रोध की सीमा नहीं रहती। मैं मिस्टर व्यास का प्रशंसक था, मगर जब मैंने उन्हें बेगुनाह मुल्जिमों से जबरन जुर्म का इकबाल कराते देखा तो मुझे उनसे नफरत हो गई। गरीब मुल्जिम रात-रात-भर उल्टे लटकाए जाते थे। सिर्फ इसलिए कि वह अपना जुर्म, जो उन्होंने कभी नहीं किया, इकबाल कर लें ! उनकी नाक में लाल मिर्च का धुआं डाला जाता था ! मिस्टर व्यास यह सारी ज्यादतियां सिर्फ अपनी आंखों से देखते ही नहीं थे, बल्कि उन्हीं के इशारे पर वह की जाती थीं।

माया के चेहरे की कठोरता जाती रही। उसकी जगह जायज गुस्से की गर्मी पैदा हुई। बोली—इसका आपके पास कोई सबूत है कि उन्होंने मुल्जिमों पर ऐसी सख्तियां कीं ?

"यह सारी बातें आमतौर पर मशहूर थीं। लाहौर का बच्चा-बच्चा जानता है। मैंने खुद आंखों से देखीं, इसके सिवा मैं और क्या सबूत दे सकता हूं। उन बेचारों का बस इतना कसूर था कि वह हिन्दुस्तान के सच्चे दोस्त थे, अपना सारा वक्त प्रजा की शिक्षा और सेवा में खर्च करते थे। खुद भूखे रहते थे, प्रजा पर पुलिस और हुक्काम की सख्तियां न होने देते थे, यही उनका गुनाह था और इसी गुनाह की सजा दिलाने में मिस्टर व्यास पुलिस के दाहिने हाथ बने हुए थे !"

माया के हाथ से खंजर गिर पड़ा। उसकी आंखों में आसू भर आए, बोली—मुझे मालूम न था कि वे ऐसी हरकतें भी कर सकते हैं।

ईश्वरदास ने कहा—यह न समझिए कि मैं आपकी तलवार से डरकर वकील साहब पर झूठे इल्जाम लगा रहा हूं। मैंने कभी जिंदगी की परवाह नहीं की। मेरे लिए कौन रोने

वाला बैठा हुआ है जिसके लिए जिंदगी की परवाह करूं। अगर आप समझती हैं कि मैंने अनुचित हत्या की है तो आप इस तलवार को उठाकर इस जिंदगी का खात्मा कर दीजिए, मैं जरा भी न झिझकूंगा। अगर आप तलवार न उठा सकें तो पुलिस को खबर कर दीजिए, वह बड़ी आसानी से मुझे दुनिया से रुखसत कर सकती है। सबूत मिल जाना मुश्किल न होगा। मैं खुद पुलिस के सामने अपने जुर्म का इकबाल कर लेता मगर मैं इसे जुर्म नहीं समझता। अगर एक जान के जाने से सैकड़ों जानें बच जाएं तो वह खून नहीं है। मैं सिर्फ इसलिए जिंदा रहना चाहता हूं कि शायद किसी ऐसे ही मौके पर मेरी फिर जरूरत पड़े।

माया ने रोते हुए कहा—अगर तुम्हारा बयान सही है तो मैं अपना खून माफ करती हूं। तुमने जा किया या बेजा किया, इसका फैसला ईश्वर करेंगे। तुमसे मेरी प्रार्थना है कि मेरे पति के हाथों जो घर तबाह हुए हैं उनका मुझे पता बतला दो, शायद मैं उनकी कुछ सेवा कर सकूं।

['इन्तकाम' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। 'जमाना', अक्टूबर, 1923 में प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित। हिन्दी रूप 'प्रतिशोध' शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित।]

सत्याग्रह

हिज एक्सेलेंसी वाइसराय बनारस आ रहे थे। सरकारी कर्मचारी, छोटे से बड़े तक उनके स्वागत की तैयारियाँ कर रहे थे। इधर काँग्रेस ने शहर में हड़ताल मनाने की सूचना दे दी थी। इससे कर्मचारियों में बड़ी हलचल थी। एक ओर सड़कों पर झंडियाँ लगायी जा रही थीं, सफाई हो रही थी; पंडाल बन रहा था; दूसरी ओर फौज और पुलिस के सिपाही संगीनें चढ़ाये शहर की गलियों में और सड़कों पर कवायद करते फिरते थे। कर्मचारियों की सिरतोड़ कोशिश थी कि हड़ताल न होने पाये, मगर काँग्रेसियों की धुन थी कि हड़ताल हो और जरूर हो। अगर कर्मचारियों को पशुबल का जोर है तो हमें नैतिक बल का भरोसा, इस बार दोनों की परीक्षा हो जाय कि मैदान किसके हाथ रहता है।

घोड़े पर सवार मैजिस्ट्रेट सुबह से शाम तक दूकानदारों को धमकियाँ देता फिरता कि एक-एक को जेल भिजवा दूँगा, बाजार लुटवा दूँगा, यह करूँगा और वह करूँगा! दूकानदार हाथ बाँध कर कहते—हुजूर बादशाह हैं, विधाता हैं; जो चाहें कर सकते हैं। पर हम क्या करें ? काँग्रेसवाले हमें जीता न छोड़ेंगे। हमारी दूकानों पर धरने देंगे, हमारे ऊपर बाल बढ़ायेंगे, कुएँ में गिरेंगे, उपवास करेंगे। कौन जाने, दो-चार प्राण ही दे दें तो हमारे मुँह पर सदैव के लिए कालिख पुत जायगी। हुजूर उन्हीं काँग्रेसवालों को समझायें, तो हमारे ऊपर बड़ा एहसान करें। हड़ताल न करने से हमारी कुछ हानि थोड़े ही होगी। देश के बड़े-बड़े आदमी आवेंगे, हमारी दूकानें खुली रहेंगी, तो एक के दो लेंगे, महँगे सौदे बेचेंगे, पर करें क्या, इन शैतानों से कोई बस नहीं चलता।

राय हरनंदन साहब, राजा लालचंद और खाँबहादुर, मौलवी महमूदअली तो कर्मचारियों

से भी ज्यादा बेचैन थे। मैजिस्ट्रेट के साथ-साथ और अकेले भी बड़ी कोशिश करते थे। अपने मकान पर बुला कर दूकानदारों को समझाते, अनुनय-विनय करते, आँखें दिखाते, इक्के-बग्गीवालों को धमकाते, मजदूरों की खुशामद करते; पर काँग्रेस के मुट्ठी-भर आदमियों का कुछ ऐसा आतंक छाया हुआ था कि कोई इनकी सुनता ही न था। यहाँ तक कि पड़ोस की कुँजड़िन ने भी निर्भय हो कर कह दिया—हुजूर, चाहे मार डालो पर दूकान न खुलेगी। नाक न कटवाऊँगी। सबसे बड़ी चिंता यह थी कि कहीं पंडाल बनाने वाले मजदूर, बढ़ई, लोहार वगैरह काम न छोड़ दें; नहीं तो अनर्थ ही हो जायगा। रायसाहब ने कहा—हुजूर, दूसरे शहरों से दूकानदार बुलवायें और एक बाजार अलग खोलें।

खाँ साहब ने फरमाया—वक्त इतना कम रह गया है कि दूसरा बाजार तैयार नहीं हो सकता। हुजूर कांग्रेसवालों को गिरफ्तार कर लें, या उनकी जायदाद जब्त कर लें, फिर देखिए कैसे काबू में नहीं आते !

राजा साहब बोले—पकड़-धकड़ से तो लोग और झल्लायेंगे। काँग्रेस से हुजूर कहें कि तुम हड़ताल बंद कर दो, तो सबको सरकारी नौकरी दे दी जायगी। उसमें अधिकांश बेकार लोग पड़े हैं, यह प्रलोभन पाते ही फूल उठेंगे।

मगर मैजिस्ट्रेट को कोई राय न जँची। यहाँ तक कि वायसराय के आने में तीन दिन और रह गये।

2

आखिर राजा साहब को एक युक्ति सूझी। क्यों न हम लोग भी नैतिक बल का प्रयोग करें? आखिर काँग्रेसवाले धर्म और नीति के नाम पर ही तो यह तूमार बाँधते हैं। हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण करें, शेर को उनके माँद में पछाड़ें। कोई ऐसा आदमी पैदा करना चाहिये, जो व्रत करे कि दूकानें न खुलीं, तो मैं प्राण दे दूँगा। यह जरूरी है कि वह ब्राह्मण हो और ऐसा जिसको शहर के लोग मानते हों, आदर करते हों। अन्य सहयोगियों के मन में भी यह बात बैठ गयी। उछल पड़े। रायसाहब ने कहा—बस, अब पड़ाव मार लिया। अच्छा, ऐसा कौन पंडित है, पण्डित गदाधर शर्मा ?

राजा—जी नहीं, उसे कौन मानता है ? खाली समाचार-पत्रों में लिखा करता है। शहर के लोग उसे क्या जानें ?

रायसाहब—दमड़ी ओझा तो है इस ढंग का।

राजा—जी नहीं, कालेज के विद्यार्थियों के सिवा उसे और कौन जानता है ?

रायसाहब—पंडित मोटेराम शास्त्री ?

राजा—बस, बस। आपने खूब सोचा। बेशक वह है इस ढंग का। उसी को बुलाना चाहिए। विद्वान् है, धर्म-कर्म से रहता है। चतुर भी है। वह अगर हाथ में आ जाय तो फिर बाजी हमारी है।

रायसाहब ने तुरंत पंडित मोटेराम के घर संदेश भेजा। उस समय शास्त्रीजी पूजा पर थे। यह पैगाम सुनते ही जल्दी से पूजा समाप्त की और चले। राजा साहब ने बुलाया है, धन्य भाग ! धर्मपत्नी से बोले—आज चंद्रमा कुछ बली मालूम होते हैं। कपड़े लाओ, देखूँ, क्यों बुलाया है ?

स्त्री ने कहा—भोजन तैयार है करते जाओ; न जाने कब लौटने का अवसर मिले।

किंतु शास्त्रीजी ने आदमी को इतनी देर खड़ा रखना उचित न समझा। जाड़े के दिन थे। हरी बनात की अचकन पहनी, जिस पर लाल शंजाफ लगी हुई थी। गते में एक जरी का दुपट्टा डाला। फिर सिर पर बनारसी साफ़ा बाँधा। लाल चौड़े किनारे की रेशमी धोती पहनी, और खड़ाऊँ पर चले। उनके मुख से ब्रह्मतेज टपकता था। दूर ही से मालूम होता था कि कोई महात्मा आ रहे हैं। रास्ते में जो मिलता, सिर झुकाता; कितने ही दूकानदारों ने खड़े हो कर पैलगी की। आज काशी का नाम इन्हीं की बदौलत चल रहा है, नहीं तो और कौन रह गया है। कितना नम्र स्वभाव है। बालकों से हँस कर बातें करते हैं। इस ठाट से पंडितजी राजा साहब के मकान पर पहुँचे। तीनों मित्रों ने खड़े हो कर उनका सम्मान किया। खाँ बहादुर बोले—कहिए पंडितजी, मिजाज तो अच्छे हैं ? वल्लाह, आप नुमाइश में रखने के काबिल आदमी हैं। आपका वजन तो दस मन से कम न होगा।

रायसाहब—एक मन इल्म के लिए दस मन अक्ल चाहिए। उसी कायदे से एक मन अक्ल के लिए दस मन का जिस्म जरूरी है, नहीं तो उसका बोझ कौन उठाये?

राजा साहब—आप लोग इसका मतलब नहीं समझ सकते। बुद्धि एक प्रकार का नजला है, जब दिमाग में नहीं समाती, जिस्म में आ जाती है।

खाँ साहब—मैंने तो बुजुर्गों की जबानी सुना है कि मोटे आदमी अक्ल के दुश्मन होते हैं।

रायसाहब—आपका हिसाब कमजोर था, वरना आपकी समझ में इतनी बात जरूर आ जाती कि जब अक्ल और जिस्म में एक और दस की निस्बत है, तो जितना ही मोटा आदमी होगा, उतना ही उसकी अक्ल का वजन भी ज्यादा होगा।

राजा साहब—इससे यह साबित हुआ कि जितना मोटा आदमी, उतनी ही मोटी उसकी अक्ल।

मोटेराम—जब मोटी अक्ल की बदौलत राज-दरबार में पूछ होती है तो मुझे पतली अक्ल ले कर क्या करना है !

हास-परिहास के बाद राजा साहब ने वर्तमान समस्या पंडितजी के सामने उपस्थित की और उसके निवारण का जो उपाय सोचा था, वह भी प्रकट किया ! बोले—बस, यह समझ लीजिए कि इस साल आपका भविष्य पूर्णतया अपने हाथों में है। शायद किसी आदमी को अपने भाग्य-निर्णय का ऐसा महत्त्वपूर्ण अवसर न मिला होगा। हड़ताल न हुई, तो और तो कुछ नहीं कह सकते, आपको जीवन-भर किसी के दरवाजे जाने की जरूरत न होगी। बस, ऐसा कोई व्रत ठानिए कि शहरवाले थर्रा उठें। काँग्रेसवालों ने धर्म की आड़ ले कर इतनी शक्ति बढ़ायी है। बस, ऐसी कोई युक्ति निकालिए कि जनता के धार्मिक भावों को चोट पहुँचे।

मोटेराम ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—यह तो कोई ऐसा कठिन काम नहीं है। मैं तो ऐसे-ऐसे अनुष्ठान कर सकता हूँ कि आकाश से जल की वर्षा कर दूँ; मरी के प्रकोप को भी शांत कर दूँ; अन्न का भाव घटा-बढ़ा दूँ। काँग्रेसवालों को परास्त कर देना तो कोई बड़ी बात नहीं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे महानुभाव समझते हैं कि जो काम हम कर सकते हैं, वह कोई नहीं कर सकता। पर गुप्त विद्याओं का उन्हें ज्ञान ही नहीं।

खाँ साहब—तब तो जनाब, यह कहना चाहिए कि आप दूसरे खुदा हैं। हमें क्या मालूम था कि आप में कुदरत है; नहीं तो इतने दिनों तक क्यों परेशान होते ?

मोटेराम—साहब, मैं गुप्त-धन का पता लगा सकता हूँ। पितरों को बुला सकता हूँ, केवल गुण-ग्राहक चाहिए। संसार में गुणियों का अभाव नहीं, गुणज्ञों का ही अभाव है—गुन ना हिरानो गुन-गाहक हिरानो है।

राजा—भला इस अनुष्ठान के लिए आपको क्या भेंट करना होगा ?

मोटेराम—जो कुछ आपकी श्रद्धा हो।

राजा—कुछ बतला सकते हैं कि यह कौन-सा अनुष्ठान होगा ?

मोटेराम—अनशन-व्रत के साथ मंत्रों का जप होगा। सारे शहर में हलचल न मचा दूँ तो मोटेराम नाम नहीं !

राजा—तो फिर कब से।

मोटेराम—आज ही हो सकता है। हाँ, पहले देवताओं के आवाहन के निमित्त थोड़े से रुपये दिला दीजिए।

रुपये की कमी ही क्या थी। पंडितजी को रुपये मिल गये और वह खुश-खुश घर आये। धर्म पत्नी से सारा समाचार कहा। उसने चिंतित हो कर कहा—तुमने नाहक यह रोग अपने सिर लिया ! भूख न बरदाश्त हुई, तो ? सारे शहर में भद्द हो जायगी, लोग हँसी उड़ावेंगे। रुपये लौटा दो।

मोटेराम ने आश्वासन देते हुए कहा—भूख कैसे न बरदाश्त होगी ? मैं ऐसा मूर्ख थोड़े ही हूँ कि यों ही जा बैठूँगा। पहले मेरे भोजन का प्रबंध करो अमृतियाँ, लड्डू, रसगुल्ले मँगाओ। पेट-भर भोजन कर लूँ। फिर आध सेर मलाई खाऊँगा, उसके ऊपर आध सेर बादाम की तह जमाऊँगा। बची-खुची कसर मलाईवाले दही से पूरी कर दूँगा। फिर देखूँगा, भूख क्योंकर पास फटकती है। तीन दिन तक तो साँस ही न ली जायगी, भूख की कौन चलावे। इतने में तो सारे शहर में खलबली मच जायगी। भाग्य-सूर्य उदय हुआ है, इस समय आगा-पीछा करने से पछताना पड़ेगा। बाजार न बंद हुआ, तो समझ लो मालामाल हो जाऊँगा, नहीं तो यहाँ गाँठ से क्या जाता है ! सौ रुपये तो हाथ लग ही गये।

इधर तो भोजन का प्रबंध हुआ उधर पंडित मोटेराम ने डौंडी पिटवा दी कि संध्या-समय टाउनहाल मैदान में पंडित मोटेराम देश की राजनीतिक समस्या पर व्याख्यान देंगे, लोग अवश्य आयें। पंडितजी सदैव राजनीतिक विषयों से अलग रहते थे। आज वह इस विषय पर कुछ बोलेंगे, सुनना चाहिये। लोगों को उत्सुकता हुई, पंडित जी का शहर में बड़ा मान था। नियत समय पर कई हजार आदमियों की भीड़ लग गयी। पंडित जी घर से अच्छी तरह तैयार हो कर पहुँचे। पेट इतना भरा हुआ था कि चलना कठिन था। ज्यों ही यह वहाँ पहुँचे, दर्शकों ने खड़े हो कर इन्हें साष्टांग दंडवत्-प्रमाण किया।

मोटेराम बोले—नगरवासियों, व्यापारियों, सेठों और महाजनों ! मैंने सुना है तुम लोगों ने काँग्रेस वालों के कहने में आ कर बड़े लाट साहब के शुभागमन के अवसर पर हड़ताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है ? वह चाहें, तो आज तुम लोगों को तोप के मुँह पर उड़वा दें, सारे शहर को खुदवा डालें। राजा हैं, हँसी-ठट्टा नहीं। वह तरह देते जाते हैं, तुम्हारी दीनता पर दया करते हैं और तुम गउओं की तरह हत्या के बल खेत

चरने को तैयार हो ! लाट साहब चाहें तो आज रेल बंद कर दें। डाक बंद कर दें, माल का आना-जाना बंद कर दें। तब बताओ, क्या करोगे वह चाहें तो आज सारे शहर वालों को जेल में डाल दें। बताओं क्या करोगे ? तुम उनसे भाग कर कहाँ जा सकते हो ? है कहीं ठिकाना ! इसलिए जब इस देश में और उन्हीं के अधीन रहना है, तो इतना उपद्रव क्यों मचाते हो ? याद रखो, तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी में है ! ताऊन के कीड़े फैला दें तो सारे नगर में हाहाकार मच जाय। तुम झाडू से आँधी को रोकने चले हो ? खबरदार जो किसी ने बाजार बंद किया; नहीं तो कहे देता हूँ, यहीं अन्न-जल बिना प्राण दे दूँगा।

एक आदमी ने शंका की—महाराज, आपके प्राण निकलते-निकलते महीने भर से कम न लगेगा। तीन दिनों में क्या होगा ?

मोटेराम ने गरज कर कहा—प्राण शरीर में नहीं रहता, ब्रह्मांड में रहता है। मैं चाहूँ तो योगबल से अभी प्राण त्याग कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें चेतावनी दे दी, अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मेरा कहना मानोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा। न मानोगे, हत्या लगेगी, संसार में कहीं मुँह न दिखला सकोगे। बस, यह लो, मैं यहीं आसन जमाता हूँ।

३

शहर में यह समाचार फैला, तो लोगों के होश उड़ गये। अधिकारियों की इस नयी चाल ने उन्हें हतबुद्धि-सा कर दिया। काँग्रेस के क़र्मचारी तो अब भी कहते थे कि यह सब पाखंड है। राजभक्तों ने पंडित को कुछ दे दिला कर यह स्वांग खड़ा किया है। जब और कोई बस न चला, फौज, पुलिस, कानून सभी युक्तियों से हार गये, तो यह नयी माया रची है। यह और कुछ नहीं, राजनीति का दिवाला है। नहीं पंडितजी ऐसे कहाँ देश-सेवक थे जो देश की दशा से दुःखी हो कर व्रत ठानते। इन्हें भूखा मरने दो, दो दिन में बोल जायेंगे। इस नयी चाल की जड़ अभी से काट देनी चाहिए ! कहीं यह चाल सफल हो गयी, तो समझ लो, अधिकारियों के हाथ में एक नया अस्त्र आ जायगा और वह सदैव इसका प्रयोग करेंगे। जनता इतनी समझदार तो है नहीं कि इन रहस्यों को समझे। गीदड़-भभकी में आ जायगी।

लेकिन नगर के बनिये-महाजन, जो प्रायः धर्मभीरु होते हैं ऐसे घबरा गये कि उन पर इन बातों का कुछ असर ही न होता था। वे कहते थे—साहब, आप लोगों के कहने से सरकार से बुरे बने, नुकसान उठाने को तैयार हुए, रोजगार छोड़ा, कितनों के दिवाले हो गये, अफसरों को मुँह दिखाने लायक नहीं रहे। पहले जाते थे, अधिकारी लोग 'आइए आइए सेठजी' कह कर सम्मान करते थे; अब रेलगाड़ियों में धक्के खाते हैं, पर कोई नहीं सुनता; आमदनी चाहे कुछ हो न हो, बहियों की तौल देख कर कर (टैक्स) बढ़ा दिया जाता है। यह सब सहा, और सहेंगे, लेकिन धर्म के मामले में हम आप लोगों का नेतृत्व नहीं स्वीकार कर सकते। जब एक विद्वान्, कुलीन, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण हमारे ऊपर अन्न-जल त्याग कर रहा है, तब हम क्योंकर भोजन करके टाँगें फैला कर सोयें ? कहीं मर गया, तो भगवान् के सामने क्या जवाब देंगे ?

सारांश यह है कि काँग्रेसवालों की एक न चली। व्यापारियों का एक डेपुटेशन नौ बजे रात पंडित जी की सेवा में उपस्थित हुआ। पंडित जी ने आज भोजन तो खूब डट कर किया था, लेकिन डट कर भोजन करना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। महीने में

प्रायः बीस दिन वह अवश्य ही न्योता पाते थे और निमंत्रण में डट कर भोजन करना एक स्वाभाविक बात है। अपने सहभोजियों की देखा-देखी, लाग-डाँट की धुन में, या गृह-स्वामी के सविनय आग्रह से और सबसे बढ़ कर पदार्थों की उत्कृष्टता के कारण, भोजन मात्रा से अधिक हो ही जाता है। पंडित जी की जठराग्नि ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती रहती थी। अतएव इस समय भोजन का समय आ जाने से उनकी नीयत कुछ डावाँडोल हो रही थी। यह बात नहीं कि वह भूख से व्याकुल थे। लेकिन भोजन का समय आ जाने पर अगर पेट अफरा हुआ न हो, अजीर्ण न हो गया हो तो मन में एक प्रकार की भोजन की चाह होने लगती है। शास्त्री जी की इस समय यही दशा हो रही थी। जी चाहता था, किसी खोंचेवाले को पुकार कर कुछ ले लेते, किंतु अधिकारियों ने उनकी शरीर-रक्षा के लिए वहाँ कई सिपाहियों को तैनात कर दिया था। वे सब हटने का नाम न लेते थे। पंडित जी की विशाल बुद्धि इस समय यही समस्या हल कर रही थी कि इन यमदूतों को कैसे टालूँ ? खामख्वाह इन पाजियों को यहाँ खड़ा कर दिया ! मैं कोई कैदी तो हूँ नहीं कि भाग जाऊँगा।

अधिकारियों ने शायद वह व्यवस्था इसलिए कर रखी थी काँग्रेसवाले जबरदस्ती पंडित जी को वहाँ से भगाने की चेष्टा न कर सकें। कौन जाने, वे क्या चाल चलें। ऐसे अनुचित और अपमानजनक व्यवहारों से पंडितजी की रक्षा करना अधिकारियों का कर्त्तव्य था।

वह अभी इस चिंता में थे कि व्यापारियों का डेपुटेशन आ पहुँचा। पंडितजी कुहनियों के बल लेटे हुए थे, सँभल बैठे। नेताओं ने उनके चरण छू कर कहा—महाराज, हमारे ऊपर आपने क्यों यह कोप किया है ? आपकी जो आज्ञा हो, वह हम शिरोधार्य करें। आप उठिए, अन्न-जल ग्रहण कीजिए। हमें नहीं मालूम था कि आप सचमुच यह व्रत ठाननेवाले हैं, नहीं तो हम पहले ही आपसे विनती करते। आप कृपा कीजिए, दस बजने का समय है। हम आपका वचन कभी न टालेंगे।

मोटेराम—ये काँग्रेसवाले तुम्हें मटियामेट करके छोड़ेंगे ! आप तो डूबते ही हैं; तुम्हें भी अपने साथ ले डूबेंगे ! बाजार बन्द रहेगा, तो इससे तुम्हारा ही टोटा होगा; सरकार को क्या ? तुम नौकरी छोड़ दोगे, आप भूखों मरोगे; सरकार को क्या ? तुम जेल जाओगे, आप चक्की पीसोगे, सरकार को क्या ? न जाने इन सबको क्या सनक सवार हो गयी है कि अपनी नाक काट कर दूसरों का असगुन मानते हैं। तुम इन कुपंथियों के कहने में न आओ। क्यों दूकानें खुली रखोगे ?

सेठ—महाराज, जब तक शहर-भर के आदमियों की पंचायत न हो जाय, तब तक हम इसका बीमा कैसे ले सकते हैं। काँग्रेसवालों ने कहीं लूट मचवा दी, तो कौन हमारी मदद करेगा ? आप उठिए, भोजन पाइए, हम कल पंचायत करके आपकी सेवा में जैसा कुछ होगा, हाल देंगे।

मोटेराम—तो फिर पंचायत करके आना।

डेपुटेशन जब निराश हो कर लौटने लगा, तो पंडितजी ने कहा—किसी के पास सुँघनी तो नहीं है ?

एक महाशय ने डिबिया निकाल कर दे दी।

लोगों के जाने के बाद मोटेराम ने पुलिसवालों से पूछा—तुम यहाँ क्यों खड़े हो?

सिपाहियों ने कहा—साहब का हुक्म है, क्या करें ?

मोटेराम—यहाँ से चले जाओ।

सिपाही—आपके कहने से चले जायँ ? कल नौकरी छूट जाएगी, तो आप खाने को देंगे ?

मोटेराम—हम कहते हैं, चले जाओ; नहीं तो हम ही यहाँ से चले जायँगे। हम कोई कैदी हैं, जो तुम घेरे खड़े हो ?

सिपाही—चले क्या जाइएगा, मजाल है।

मोटेराम—मजाल क्यों नहीं है बे ! कोई जुर्म किया है ?

सिपाही—अच्छा, जाओ तो देखें ?

पंडितजी—ब्रह्म-तेज में आ कर उठे और एक सिपाही को इतनी जोर से धक्का दिया कि वह कई कदम पर जा गिरा। दूसरे सिपाहियों की हिम्मत छूट गयी। पंडित जी को उन सब ने थल-थल समझ लिया था, पराक्रम देखा, तो चुपके से सटक गये।

मोटेराम अब लगे इधर-उधर नजरें दौड़ाने कि कोई खोंचेवाला नजर आ जाय, उससे कुछ लें। किन्तु ध्यान आ गया, कहीं उसने किसी से कह दिया, तो लोग तालियाँ बजाने लगेंगे। नहीं, ऐसी चतुराई से काम करना चाहिये कि किसी को कानोंकान खबर न हो। ऐसे ही संकटों में तो बुद्धिबल का परिचय मिलता है। एक क्षण में उन्होंने इस कठिन प्रश्न को हल कर लिया।

दैवयोग से उसी समय एक खोंचेवाला जाता दिखायी दिया। ग्यारह बज चुके थे, चारों तरफ सन्नाटा छा गया था। पंडितजी ने बुलाया—खोंचेवाले, ओ खोंचेवाले !

खोंचेवाला—कहिए क्या दूँ ? भूख लग आयी न ? अन्न-जल छोड़ना साधुओं का काम है, हमारा-आपका नहीं।

मोटेराम—अबे क्या कहता है ? यहाँ क्या किसी साधु से कम हैं ? चाहें तो महीनों पड़े रहें और भूख-प्यास न लगे। तुझे तो केवल इसलिए बुलाया है कि जरा अपनी कुप्पी मुझे दे। देखूँ तो वहाँ क्या रेंग रहा है। मुझे भय होता है कि साँप न हो।

खोंचेवाले ने कुप्पी उतार कर दे दी। पंडितजी उसे ले कर इधर-उधर जमीन पर कुछ खोजने लगे। इतने में कुप्पी उनके हाथ से छूट कर गिर पड़ी, और बुझ गयी। सारा तेल बह गया। पंडितजी ने उसमें एक ठोकर और लगायी कि बचा खुचा तेल भी बह जाय।

खोंचेवाला—(कुप्पी को हिला कर) महाराज, इसमें तो जरा भी तेल नहीं बचा। अब तक चार पैसे का सौदा बेचता, आपने यह खटराग बढ़ा दिया।

मोटेराम—भैया, हाथ ही तो है, छूट गिरी, तो अब क्या हाथ काट डालूँ ? यह लो पैसे, जा कर कहीं से तेल भरा लो।

खोंचेवाला—(पैसे ले कर) तो अब तेल भरवा कर मैं यहाँ थोड़े ही आऊँगा।

मोटेराम—खोंचा रखे जाओ, लपक कर थोड़ा तेल ले लो; नहीं मुझे कोई साँप काट लेगा तो तुम्हीं पर हत्या पड़ेगी। कोई जानवर है जरूर। देखो, वह रेंगता है। गायब हो गया। दौड़ जाओ पट्ठे, तेल लेते आओ, मैं तुम्हारा खोंचा देखता रहूँगा। डरते हो तो अपने रुपये-पैसे लेते जाओ।

खोंचेवाला बड़े धर्म-संकट में पड़ा। खोंचे से पैसे निकालता है तो भय है, कि

पंडितजी अपने दिल में बुरा न मानें। सोचें मुझे बेईमान समझ रहा है। छोड़ कर जाता है तो कौन जाने, इनकी नीयत क्या हो। किसी की नीयत सदा ठीक नहीं रहती। अंत को उसने यही निश्चय किया कि खोंचा यहीं छोड़ दूँ, जो कुछ तकदीर में होगा, वह होगा। वह उधर बाजार की तरफ चला, इधर पंडितजी ने खोंचे पर निगाह दौड़ायी, तो बहुत हताश हुए। मिठाई बहुत कम बच रही थी। पाँच-छः चीजें थीं, मगर किसी में दो अदद से ज्यादा निकालने की गुंजाइश न थी। भंडा फूट जाने का खटका था। पंडितजी ने सोचा--इतने से क्या होगा ? केवल क्षुधा और प्रबल हो जायगी, शेर के मुँह खून लग जायगा ? गुनाह बेलज्जत है। अपनी जगह पर जा बैठे। लेकिन दम-भर के बाद प्यास ने फिर जोर किया। सोचे--कुछ तो ढारस हो ही जायगा। आहार कितना ही सूक्ष्म हो, फिर भी आहार ही है। उठे, मिठाई निकाली; पर पहला ही लड्डू मुंह में रखा था कि देखा, खोंचेवाला तेल की कुप्पी जलाये कदम बढ़ाता चला आ रहा है, उसके पहुँचने के पहले मिठाई का समाप्त हो जाना अनिवार्य था। एक साथ दो चीज मुँह में रखीं। अभी चुबला ही रहे थे कि वह निशाचर दस कदम और आगे बढ़ आया। एक साथ चार चीजें मुंह में डालीं और अधकुचली ही निगल गये। अभी 6 अदद और थीं, और खोंचेवाला फाटक तक आ चुका था। सारी की सारी मिठाई मुँह में डाल ली अब न चबाते बनता है, न उगलते। वह शैतान मोटर कार की तरह कुप्पी चमकाता हुआ चला ही आता था। जब वह बिलकुल सामने आ गया, तो पंडित जी ने जल्दी से सारी मिठाई निगल ली। आखिर आदमी ही थे, कोई मगर तो थे नहीं। आँखों में पानी भर आया, गला फँस गया, शरीर में रोमांच हो आया, जोर से खाँसने लगे। खोंचेवाले ने तेल की कुप्पी बढ़ाते हुए कहा यह लीजिए देख लीजिए, चले तो हैं आप उपवास करने पर प्राणों का इतना डर है। आपको क्या चिंता, प्राण भी निकल जायँगे, तो सरकार बाल-बच्चों की परवस्ती करेगी।

पंडितजी को क्रोध तो ऐसा आया कि इस पाजी को खोटी-खरी सुनाऊँ, लेकिन गले से आवाज न निकली। कुप्पी चुपके से ले ली और झूठ-मूठ इधर-उधर देख कर लौटा दी।

खोंचेवाला--आपको क्या पड़ी जो चले सरकार का पच्छ करने ? कहीं कल दिन-भर पंचायत होगी, तो रात तक कुछ तय होगा। तब तक तो आपकी आँखों में तितलियाँ उड़ने लगेंगी।

यह कह कर वह चला गया और पंडितजी भी थोड़ी देर तक खाँसने के बाद सो रहे।

4

दूसरे दिन सबेरे ही से व्यापारियों ने मिसकौट करनी शुरू की। उधर काँग्रेसवालों में भी हलचल मची। अमन-सभा के अधिकारियों ने भी कान खड़े किये। यह तो इन भोले-भाले बनियों को धमकाने की अच्छी तरकीब हाथ आयी। पंडित-समाज ने अलग एक सभा की और उसमें यह निश्चय किया कि पंडित मोटेराम को राजनीतिक मामलों में पड़ने का कोई अधिकार नहीं। हमारा राजनीति से क्या संबंध ? ग़रज़ सारा दिन इसी वाद-विवाद में कट गया और किसी ने पंडितजी की खबर न ली। लोग खुल्लमखुल्ला कहते थे कि पंडितजी ने एक हजार रुपये सरकार से ले कर यह अनुष्ठान किया है। बेचारे पंडितजी ने रात तो लोट-पोट कर काटी, पर उठे तो शरीर मुरदा-सा जान पड़ता था। खड़े होते थे, आँखें

तिलमिलाने लगती थीं, सिर में चक्कर आ जाता था। पेट में जैसे कोई बैठा हुआ कुरेद रहा हो। सड़क की तरफ आँखें लगी हुई थीं कि लोग मनाने तो नहीं आ रहे हैं। संध्योपासना का समय इसी प्रतीक्षा में गया। इस समय पूजन के पश्चात् नित्य नाश्ता किया करते थे। आज अभी मुँह में पानी भी न गया। न-जाने वह शुभ घड़ी कब आयेगी। फिर पंडिताइन पर बड़ा क्रोध आने लगा। आप तो रात को भर-पेट खा कर सोयी होंगी, इस वक्त भी जलपान कर ही चुकी होंगी, पर इधर भूल कर भी न झाँका कि मरे या जीते हैं। कुछ बात करने के बहाने से क्या थोड़ा-सा मोहनभोग बना कर न ला सकती थीं ? पर किसे इतनी चिंता है ? रुपये ले कर रख लिये, फिर जो कुछ मिलेगा, वह भी रख लेंगी। मुझे उल्लू बनाया।

किस्सा-कोताह पंडितजी ने दिन-भर इंतजार किया, पर कोई मनानेवाला नजर न आया। लोगों के दिल में जो यह संदेह पैदा हुआ था कि पंडितजी ने कुछ ले-दे कर वह स्वाँग रचा है, स्वार्थ के वशीभूत हो कर यह पाखंड खड़ा किया है, वही उनको मनाने में बाधक होता था।

5

रात को नौ बज गये थे। सेठ भोंदूमल ने जो व्यापारी-समाज के नेता थे निश्चयात्मक भाव से कहा—मान लिया, पंडितजी ने स्वार्थवश ही यह अनुष्ठान किया है; पर इससे वह कष्ट तो कम नहीं हो सकता, जो अन्न-जल के बिना प्राणी-मात्र को होता है। यह धर्म-विरुद्ध है कि एक ब्राह्मण हमारे ऊपर दाना-पानी त्याग दे और हम पेट भर-भर कर चैन की नींद सोयें। अगर उन्होंने धर्म के विरुद्ध आचरण किया है, तो उसका दंड उन्हें भोगना पड़ेगा। हम क्यों अपने कर्त्तव्य से मुँह फेरें ?

काँग्रेस के मंत्री ने दबी हुई आवाज से कहा—मुझे तो जो कहना था, वह मैं कह चुका। आप लोग समाज के अगुआ हैं, जो फैसला कीजिए, हमें मंजूर है। चलिए मैं अभी आपके साथ चलूँगा। धर्म का कुछ अंश मुझे भी मिल जायगा; पर एक विनती सुन लीजिये—आप लोग पहले मुझे वहाँ जाने दीजिए। मैं एकांत में उनसे दस मिनट बातें करना चाहता हूँ। आप लोग फाटक पर खड़े रहिएगा। जब मैं वहाँ से लौट आऊँ तो फिर जाइएगा। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी ? प्रार्थना स्वीकृत हो गयी।

मंत्रीजी पुलिस-विभाग में बहुत दिनों तक रह चुके थे, मानव-चरित्र की कमजोरियों को जानते थे। वह सीधे बाजार गये और पांच रु. की मिठाई ली। उसमें मात्रा से अधिक सुगंध डालने का प्रयत्न किया, चाँदी के वरक लगवाये और एक दोने में लिये रूठे हुए ब्रह्मदेव की पूजा करने चले। एक झझ्झर में ठंडा पानी लिया और उसमें केवड़े का जल मिलाया। दोनों ही चीजों से खुशबू की लपटें उड़ रही थीं। सुगंध में इतनी उत्तेजित शक्ति है, कौन नहीं जानता। इससे बिना भूख की भूख लग जाती है, भूखे आदमी की तो बात ही क्या ?

पंडित जी इस समय भूमि पर अचेत पड़े हुए थे। रात को कुछ नहीं मिला। दस-पाँच छोटी-छोटी मिठाइयों का क्या जिक्र ! दोपहर को कुछ नहीं मिला। और इस वक्त भी भोजन की बेला टल गयी थी। भूख में अब आशा की व्याकुलता नहीं; निराशा की शिथिलता थी। सारे अंग ढीले पड़ गये थे। यहाँ तक कि आँखें भी न खुलती थीं। उन्हें खोलने की बार-बार

चेष्टा करते; पर वे आप-ही-आप बंद हो जातीं। ओठ सूख गये थे। जिंदगी का कोई चिह्न था, तो बस, उनका धीरे-धीरे कराहना। ऐसा संकट उनके ऊपर कभी न पड़ा था। अजीर्ण की शिकायत तो उन्हें महीने में दो-चार बार हो जाती थी, जिसे वह हड़ आदि की फंकियों से शांत कर लिया करते थे; पर अजीर्णावस्था में ऐसा कभी न हुआ था कि उन्होंने भोजन छोड़ दिया हो। नगर-निवासियों को, अमन-सभा को, सरकार को, ईश्वर को, काँग्रेस को और धर्म-पत्नी को जी-भर कर कोस चुके थे। किसी से कोई आशा न थी। अब इतनी शक्ति भी न रही थी कि स्वयं खड़े हो कर बाजार जा सकें। निश्चय हो गया था कि आज रात को अवश्य प्राण-पखेरू उड़ जायँगे। जीवन-सूत्र कोई रस्सी तो है ही नहीं कि चाहे जितने झटके दो, टूटने का नाम न ले !

मंत्रीजी ने पुकारा—शास्त्री जी !

मोटेराम ने पड़े-पड़े आँखें खोल दीं। उनमें ऐसी करुण वेदना भरी हुई थी, जैसे किसी बालक के हाथ से कौआ मिठाई छीन ले गया हो।

मंत्रीजी ने दोने की मिठाई सामने रख दी और झझ्झर पर कुल्हड़ औंधा दिया। इस काम से सुचित हो कर बोले—यहाँ कब तक पड़े रहिएगा ?

सुगंध ने पंडित जी की इंद्रियों पर संजीवनी का काम किया। पंडित जी उठ बैठे और बोले—देखो, कब तक निश्चय होता है।

मंत्री—यहाँ कुछ निश्चय-विश्चय न होगा। आज दिन-भर पंचायत हुई थी, कुछ तय न हुआ। कल कहीं शाम को लाट साहब आयेंगे। तब तक तो आपकी न जाने क्या दशा होगी ? आपका चेहरा बिल्कुल पीला पड़ गया है !

मोटेराम—यहीं मरना बदा होगा, तो कौन टाल सकता है ? इस दोने में कलाकंद है क्या ?

मंत्री—हाँ, तरह-तरह की मिठाइयाँ हैं। एक नातेदार के यहाँ बैंना भेजने के लिए विशेष रीति से बनवायी हैं। .

मोटेराम—जभी इनमें इतनी सुगंध है। जरा दोना खोलिए तो ?

मंत्रीजी ने मुस्करा कर दोना खोल दिया और पंडितजी नेत्रों से मिठाइयाँ खाने लगे। अंधा आँखें पा कर भी संसार को ऐसे तृष्णापूर्ण नेत्रों से न देखेगा। मुँह में पानी भर आया। मंत्रीजी ने कहा—आपका व्रत न होता, तो दो-चार मिठाइयाँ आपको चखाता। 5 रु. सेर के दाम दिये हैं।

मोटेराम—तब तो बहुत ही श्रेष्ठ होंगी। मैंने बहुत दिन हुए कलाकंद नहीं खाया।

मंत्री—आपने भी तो बैठे-बैठाये झंझट मोल ले लिया। प्राण ही न रहेंगे, तो धन किस काम आयेगा ?

मोटेराम—क्या करूँ, फँस गया, मैं इतनी मिठाइयों का जलपान कर जाता था। (हाथ से मिठाइयों को टटोल कर) भोला की दूकान की होंगी ?

मंत्री—चखिए दो-चार ?

मोटेराम—क्या चखूँ ? धर्म-संकट में पड़ा हूँ।

मंत्री—अजी चखिए भी ! इस समय जो आनंद प्राप्त होगा, वह लाख रुपये से भी नहीं मिल सकता। कोई किसी से कहने जाता है क्या ?

मोटेराम—मुझे भय किसका है। मैं यहाँ दाना-पानी बिना मर रहा हूँ, और किसी को परवा ही नहीं। तो फिर मुझे क्या डर ? लाओ, इधर दोना बढ़ाओ। जाओ, सबसे कह देना शास्त्रीजी ने व्रत तोड़ दिया। भाड़ में जाय बाजार और व्यापार ! यहाँ किसी की चिंता नहीं। जब धर्म नहीं रहा, तो मैंने ही धर्म का बीड़ा थोड़े ही उठाया है !

यह कह कर पंडितजी ने दोना अपनी तरफ खींच लिया और लगे बढ़-बढ़ कर हाथ मारने। यहाँ तक कि एक पल-भर में आधा दोना समाप्त हो गया। सेठ लोग आ कर फाटक पर खड़े थे, मंत्री ने जा कर कहा—जरा चल कर तमाशा देखिए। आप लोगों को न बाजार खोलना पड़ेगा; न खुशामद करनी पड़ेगी। मैंने सारी समस्याएँ हल कर दीं। यह काँग्रेस का प्रताप है।

चाँदनी छिटकी हुई थी। लोगों ने आ कर देखा, पंडितजी मिठाई ठिकाने लगाने में वैसे ही तन्मय हो रहे हैं, जैसे कोई महात्मा समाधि में मग्न हो।

भोंदूमल ने कहा—पंडितजी के चरण छूता हूँ। हम लोग तो आ ही रहे थे, आपने क्यों जल्दी की ? ऐसी जुगुत बताते कि आपकी प्रतीज्ञा भी न टूटती और कार्य भी सिद्ध हो जाता।

मोटेराम—मेरा काम सिद्ध हो गया। यह अलौकिक आनंद है, जो धन के ढेरों से नहीं प्राप्त हो सकता। अगर कुछ श्रद्धा हो, तो इसी दूकान की इतनी ही मिठाई और मँगवा दो। (हम यह कहना भूल गए कि मंत्रीजी को मिठाई लेकर मैदान में आते समय पुलिस के सिपाही को चार आने पैसे देने पड़े थे। यह नियम-विरुद्ध था; लेकिन मंत्रीजी ने इस बात पर अड़ना उचित न समझा—लेखक।)

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। मासिक पत्रिका 'माधुरी', दिसम्बर, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'सत्याग्रह' शीर्षक से ही 'खाक-ए-परवाना' में संकलित।]

नाग-पूजा

प्रातःकाल था। आषाढ़ का पहला दौंगड़ा निकल गया था। कीट-पतंग चारों तरफ रेंगते दिखायी देते थे। तिलोत्तमा ने वाटिका की ओर देखा तो वृक्ष और पौधे ऐसे निखर गये थे जैसे साबुन से मैले कपड़े निखर जाते हैं। उन पर एक विचित्र आध्यात्मिक शोभा छायी हुई थी मानों योगीवर आनंद में मग्न पड़े हों। चिड़ियों में असाधारण चंचलता थी। डाल-डाल, पात-पात चहकती फिरती थीं। तिलोत्तमा बाग में निकल आयी। वह भी इन्हीं पक्षियों की भाँति चंचल हो गयी थी। कभी किसी पौधे को देखती, कभी किसी फूल पर पड़ी हुई जल की बूँदों को हिलाकर अपने मुँह पर उनके शीतल छींटे डालती। लाल बीरबहूटियाँ रेंग रही थीं। वह उन्हें चुनकर हथेली पर रखने लगी। सहसा उसे एक काला वृहत्काय साँप रेंगता दिखायी दिया। उसने चिल्ला कर कहा—अम्माँ; नाग जी जा रहे हैं। लाओ थोड़ा-सा दूध उनके लिए कटोरे में रख दूँ।

अम्माँ ने कहा—जाने दो बेटी, हवा खाने निकले होंगे।

तिलोत्तमा—गर्मियों में कहाँ चले जाते हैं ? दिखायी नहीं देते।

माँ—कहीं जाते नहीं बेटी, अपनी बाँबी में पड़े रहते हैं।

तिलोत्तमा—और कहीं नहीं जाते ?

माँ—बेटी हमारे देवता हैं, और कहीं क्यों जायँगे ? तुम्हारे जन्म के साल से ये बराबर यहीं दिखायी देते हैं ? किसी से नहीं बोलते। बच्चा पास से निकल जाय, पर जरा भी नहीं ताकते। आज तक कोई चुहिया भी नहीं पकड़ी।

तिलोत्तमा—तो खाते क्या होंगे ?

माँ—बेटी, यह लोग हवा पर रहते हैं। इसी से इनकी आत्मा दिव्य हो जाती है। अपने पूवर्जन्म की बातें इन्हें याद रहती हैं। आनेवाली बातों को भी जानते हैं। कोई बड़ा योगी जब अहंकार करने लगता है तो उसे दंडस्वरूप इस योनि में जन्म लेना पड़ता है। जब तक प्रायश्चित्त पूरा नहीं होता, तब तक वह इस योनि में रहता है। कोई-कोई तो सौ-सौ. दो-दो सौ वर्ष तक जीते रहते हैं।

तिलोत्तमा—इसका पूजा न करो, तो क्या करें।

माँ—बेटी कैसी बच्चों की-सी बातें करती हो। नाराज जो जायँ तो सिर पर न जाने क्या विपत्ति आ पड़े। तेरे जन्म के साल पहले-पहल दिखायी दिये थे। तब से साल में दस-पाँच बार अवश्य दर्शन दे जाते हैं। इनका ऐसा प्रभाव है कि आज तक किसी के सिर में दर्द तक नहीं हुआ।

2

कई वर्ष हो गये। तिलोत्तमा बालिका से युवती हुई। विवाह का शुभ अवसर आ पहुँचा। बारात आयी, विवाह हुआ, तिलोत्तमा के पति-गृह जाने का मुहूर्त्त आ पहुँचा।

नयी वधू का शृंगार हो रहा था। भीतर बाहर हलचल मची हुई थी, ऐसा जान पड़ता था भगदड़ पड़ी हुई है। तिलोत्तमा के हृदय में वियोग-दुःख की तरंगें उठ रही हैं। वह एकांत में बैठ कर रोना चाहती है। आज माता-पिता, भाईबंद, सखियाँ-सहेलियाँ सब छूट जायेंगी। फिर मालूम नहीं कब मिलने का संयोग हो। न जाने अब कैसे आदमियों से पाला पड़ेगा। न जाने उनका स्वभाव कैसा होगा। न जाने कैसा बर्ताव करेंगे। अम्माँ की आँखें एक क्षण भी न थमेंगी। मैं एक दिन के लिए कहीं चली जाती थी तो वे रो-रोकर व्यथित हो जाती थीं। अब यह जीवनपर्यन्त का वियोग कैसे सहेंगी? उनके सिर में दर्द होता था तो जब तक मैं धीरे-धीरे न मलूँ, उन्हें किसी तरह कल-चैन ही न पड़ती थी। बाबू जी को पान बनाकर कौन देगा ? मैं जब तक उनका भोजन न बनाऊँ, उन्हें कोई चीज़ रुचती ही न थी ? अब उनका भोजन कौन बनायेगा ? मुझसे इनको देखे बिना कैसे रहा जायेगा ? यहाँ जरा सिर में दर्द भी होता था तो अम्माँ और बाबू जी घबरा जाते थे। तुरंत वैद्य-हकीम आ जाते थे। वहाँ न जाने क्या हाल होगा। भगवन् बंद घर में कैसे रहा जायेगा ? न जाने वहाँ खुली छत है या नहीं। होगी भी तो मुझे कौन सोने देगा ? भीतर घुट-घुट कर मरूँगी। जगने में ज़रा देर हो जायेगी तो ताने मिलेंगे। यहाँ सुबह को कोई जगाता था, तो अम्माँ कहती थीं सोने दो। कच्ची नींद जाग जायेगी तो सिर में पीड़ा होने लगेगी। वहाँ व्यंग्य सुनने पड़ेंगे, बहू आलसी है, दिनभर खाट पर पड़ी रहती है। वे (पति) तो बहुत सुशील मालूम होते हैं। हाँ, कुछ

अभिमानी अवश्य हैं। कहीं उनका स्वभाव निठुर हुआ तो....?

सहसा उनकी माता ने आ कर कहा—बेटी, तुमसे एक बात कहने की याद न रही। वहाँ नाग-पूजा अवश्य करती रहना। घर के और लोग चाहे मना करें; पर तुम इसे अपना कर्त्तव्य समझना। अभी मेरी आँखें जरा-जरा झपक गयी थीं। नाग बाबा ने स्वप्न में दर्शन दिये।

तिलोत्तमा—अम्माँ, मुझे भी उनके दर्शन हुए हैं, पर मुझे तो उन्होंने बड़ा विकराल रूप दिखाया। बड़ा भयंकर स्वप्न था।

माँ—देखना, तुम्हारे घर में कोई साँप न मारने पाये। यह मंत्र नित्य अपने पास रखना।

तिलोत्तमा अभी कुछ जवाब न देने पायी थी कि अचानक बारात की ओर से रोने के शब्द सुनायी दिये, एक क्षण में हाहाकार मच गया। भयंकर शोक-घटना हो गयी। वर को साँप ने काट लिया। वह बहू को विदा कराने आ रहा था। पालकी में मसनद के नीचे एक काला साँप छिपा हुआ था। वर ज्यों ही पालकी में बैठा, साँप ने काट लिया।

चारों ओर कुहराम मच गया। तिलोत्तमा पर तो मानों वज्रपात हो गया। उसकी माँ सिर पीट-पीट कर रोने लगी। उसके पिता बाबू जगदीशचंद्र मूर्च्छित हो कर गिर पड़े। हृद्रोग से पहले ही से ग्रस्त थे। झाड़-फूंक करने वाले आये, डॉक्टर बुलाये गये, पर विष घातक था। ज़रा देर में वर के होंठ नीले पड़ गये, नख काले हो गये, मूर्च्छा आने लगी। देखते-देखते शरीर ठंडा पड़ गया। इधर उषा की लालिमा ने प्रकृति को आलोकित किया, उधर टिमटिमाता हुआ दीपक बुझ गया।

जैसे कोई मनुष्य बोरों से लदी हुई नाव पर बैठा हुआ मन में झुँझलाता है कि यह और तेज क्यों नहीं चलती, कहीं आराम से बैठने की जगह नहीं, यह इतनी हिल क्यों रही है, मैं व्यर्थ ही इसमें बैठा; पर अकस्मात् नाव को भँवर में पड़ते देख कर उसके मस्तूल से चिपट जाता है, वही दशा तिलोत्तमा की हुई। अभी तक वह वियोग-दुःख में ही मग्न थी, ससुराल के कष्टों और दुर्व्यवस्थाओं की चिंताओं में पड़ी हुई थी। पर, अब उसे होश आया कि इस नाव के साथ मैं भी डूब रही हूँ। एक क्षण पहले वह कदाचित् जिस पुरुष पर झुँझला रही थी, जिसे लुटेरा और डाकू समझ रही थी, वह अब कितना प्यारा था। उसके बिना अब जीवन एक दीपक था, बुझा हुआ। एक वृक्ष था; फल-फूल विहीन। अभी एक क्षण पहले वह दूसरों की ईर्ष्या का कारण थी, अब दया और करुणा की।

थोड़े ही दिनों में उसे ज्ञात हो गया कि मैं पति-विहीन हो कर संसार के सब सुखों से वंचित हो गयी !

3

एक वर्ष बीत गया। जगदीशचंद्र पक्के धर्मावलम्बी आदमी थे, पर तिलोत्तमा का वैधव्य उनसे न सहा गया। उन्होंने तिलोत्तमा के पुनर्विवाह का निश्चय कर लिया। हँसनेवालों ने तालियाँ बजायीं पर जगदीश बाबू ने हृदय से काम लिया। तिलोत्तमा पर सारा घर जान देता था। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई बात न होने पाती; यहाँ तक कि वह घर की मालकिन बना दी गयी थी। सभी ध्यान रखते कि उसका रंज ताजा न होने पाये। लेकिन उसके चेहरे

पर उदासी छायी रहती थी, जिसे देखकर लोगों को दुःख होता था। पहले तो माँ भी इस सामाजिक अत्याचार पर सहमत न हुई; लेकिन बिरादरीवालों का विरोध ज्यों-ज्यों बढ़ता गया उसका विरोध ढीला पड़ता गया। सिद्धांत रूप से तो प्रायः किसी को आपत्ति न थी किन्तु उसे व्यवहार में लाने का साहस किसी में न था। कई महीनों के लगातार प्रयास के बाद एक कुलीन सिद्धांतवादी, सुशिक्षित वर मिला। उसके घरवाले भी राजी हो गये। तिलोत्तमा को समाज में अपना नाम बिकते देख कर दुःख होता था। वह मन में कुढ़ती थी कि पिता जी नाहक मेरे लिए समाज में नक्कू बन रहे हैं। अगर मेरे भाग्य में सुहाग लिखा होता तो यह वज्र ही क्यों गिरता। उसे कभी-कभी ऐसी शंका होती थी कि मैं फिर विधवा हो जाऊँगी। जब विवाह निश्चित हो गया और वर की तस्वीर उसके सामने आयी तो उसकी आँखों में आँसू भर आये। चेहरे से कितनी सज्जनता, कितनी दृढ़ता, कितनी विचारशीलता टपकती थी। वह चित्र को लिये हुए माता के पास गयी और शर्म से सिर झुकाकर बोली—अम्माँ, मुझे मुँह तो न खोलना चाहिए, पर अवस्था ऐसी आ पड़ी है कि बिना मुँह खोले रहा नहीं जाता। आप बाबू जी को मना कर दें। मैं जिस दशा में हूँ संतुष्ट हूँ। मुझे ऐसा भय हो रहा है कि अबकी फिर वही शोक घटना…

माँ ने सहमी हुई आँखों से देख कर कहा—बेटी कैसी अशकुन की बात मुँह से निकाल रही हो। तुम्हारे मन में भय समा गया है। इसी से यह भ्रम होता है। जो होनी थी, वह हो चुकी। अब क्या ईश्वर तुम्हारे पीछे पड़े ही रहेंगे ?

तिलोत्तमा—हाँ, मुझे तो ऐसा मालूम होता है ?

माँ—क्यों, तुम्हें ऐसी शंका क्यों होती है ?

तिलोत्तमा—न जाने क्यों ? कोई मेरे मन में बैठा हुआ कह रहा है कि फिर अनिष्ट होगा। मैं प्रायः नित्य डरावने स्वप्न देखा करती हूँ। रात को मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कोई प्राणी जिसकी सूरत साँप से बहुत मिलती-जुलती है मेरी चारपाई के चारों ओर घूमता है। मैं भय के मारे चुप्पी साध लेती हूँ। किसी से कुछ कहती नहीं।

माँ ने समझा यह सब भ्रम है। विवाह की तिथि नियत हो गयी। यह केवल तिलोत्तमा का पुनसंस्कार न था, बल्कि समाज-सुधार का एक क्रियात्मक उदाहरण था। समाज-सुधारकों के दल दूर से विवाह में सम्मिलित होने के लिए आने लगे, विवाह वैदिक रीति से हुआ। मेहमानों ने खूब व्याख्यान दिये। पत्रों ने खूब आलोचनाएँ कीं। बाबू जगदीशचंद्र के नैतिक साहस की सराहना होने लगी। तीसरे दिन बहू के विदा होने का मुहूर्त्त था।

जनवासे में यथासाध्य रक्षा के सभी साधनों से काम लिया गया था। बिजली की रोशनी से सारा जनवासा दिन-सा हो गया था। भूमि पर रेंगती हुई चींटी भी दिखायी देती थी। केशों में न कहीं शिकन थी, न सिलवट और न झोल। शामियाने के चारों तरफ कनातें खड़ी कर दी गयी थीं। किसी तरफ से कीड़ों-मकोड़ों के आने की सम्भावना न थी; पर भावी प्रबल होती है। प्रातःकाल के चार बजे थे। तारागणों की बारात विदा हो रही थी। बहू की विदाई की तैयारी हो रही थी। एक तरफ शहनाइयाँ बज रही थीं। दूसरी तरफ से विलाप की आर्त्तध्वनि उठ रही थी। पर तिलोत्तमा की आँखों में आँसू न थे, समय नाजुक था। वह किसी तरह घर से बाहर निकल जाना चाहती थी। उसके सिर पर तलवार लटक रही थी।

रोने और सहेलियों से गले मिलने में कोई आनंद न था। जिस प्राणी का फोड़ा चिलक रहा हो उसे जर्राह का घर बाग में सैर करने से ज़्यादा अच्छा लगे, तो क्या आश्चर्य है।

वर को लोगों ने जगाया। बाजा बजने लगा। वह पालकी में बैठने को चला कि वधू को विदा करा लाये। पर जूते में पैर डाला ही था कि चीख मार कर पैर खींच लिया। मालूम हुआ, पाँव चिनगारियों पर पड़ गया। देखा तो एक काला साँप जूते में से निकल कर रेंगता चला जाता था। देखते-देखते गायब हो गया। वर ने एक सर्द आह भरी और बैठ गया। आँखों में अँधेरा छा गया।

एक क्षण में सारे जनवासे में खबर फैल गयी, लोग दौड़ पड़े। औषधियाँ पहले ही रख ली गयी थीं। साँप का मंत्र जाननेवाले कई आदमी बुला लिये गये थे। सभी ने दवाइयाँ दीं। झाड़-फूँक शुरू हुई। औषधियाँ भी दी गयीं, पर काल के सामने किसी का वश न चला। शायद मौत साँप का वेश धर कर आयी थी। तिलोत्तमा ने सुना तो सिर पीट लिया। वह विकल होकर जनवासे की तरफ दौड़ी। चादर ओढ़ने की भी सुधि न रही। वह अपने पति के चरणों को माथे से लगा कर अपना जन्म सफल करना चाहती थी। घर की स्त्रियों ने रोका। माता भी रो-रोकर समझाने लगी। लेकिन बाबू जगदीशचंद्र ने कहा—कोई हरज नहीं, जाने दो। पति का दर्शन तो कर ले। यह अभिलाषा क्यों रह जाय। उसी शोकान्वित दशा में तिलोत्तमा जनवासे में पहुँची, पर वहाँ उसकी तस्कीन के लिए मरनेवाले की उल्टी साँसें थीं। उन अधखुले नेत्रों में असह्य आत्मवेदना और दारुण नैराश्य।

4

इस अद्भुत घटना का समाचार दूर-दूर तक फैल गया। जड़वादीगण चकित थे, यह क्या माजरा है। आत्मवाद के भक्त ज्ञातभाव से सिर हिलाते थे मानों वे त्रिकालदर्शी हैं। जगदीशचंद्र ने नसीब ठोंक लिया। निश्चय हो गया कि कन्या के भाग्य में विधवा रहना ही लिखा है। नाग की पूजा साल में दो बार होने लगी। तिलोत्तमा के चरित्र में भी एक विशेष अन्तर दीखने लगा। भोग और विहार के दिन भक्ति और देवाराधना में कटने लगे। निराश प्राणियों का यही अवलम्ब है।

तीन साल बीते थे कि ढाका विश्वविद्यालय के अध्यापक दयाराम ने इस किस्से को फिर ताजा किया। वे पशु-शास्त्र के ज्ञाता थे। उन्होंने साँपों के आचार-व्यवहार का विशेष रीति से अध्ययन किया। वे इस रहस्य को खोलना चाहते थे। जगदीशचंद्र को विवाह का संदेशा भेजा। उन्होंने टाल-मटोल किया। दयाराम ने और भी आग्रह किया। लिखा, मैंने वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए यह निश्चय किया है। मैं इस विषधर नाग से लड़ना चाहता हूँ। वह अगर सौ दाँत लेकर आये तो भी मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, वह मुझे काट कर आप ही मर जायेगा। अगर वह मुझे काट भी ले तो मेरे पास ऐसे मंत्र और औषधियाँ हैं कि मैं एक क्षण में उसके विष को उतार सकता हूँ। आप इस विषय में कुछ चिंता न कीजिए। मैं विष के लिए अजेय हूँ। जगदीशचंद्र को अब कोई उज्र न सूझा। हाँ, उन्होंने एक विशेष प्रयत्न यह किया कि ढाके में ही विवाह हो। अतएव वे अपने कुटुम्बियों को साथ लेकर विवाह के एक सप्ताह पहले गये। चलते समय अपने संदूक, बिस्तर आदि खूब देखभाल कर रखे कि साँप कहीं उनमें छिप कर न बैठ जाये। शुभ लग्न में

विवाह-संस्कार हो गया। तिलोत्तमा विकल हो रही थी। मुख पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था, पर संस्कार में कोई विघ्न-बाधा न पड़ी। तिलोत्तमा रो-धोकर ससुराल गयी। जगदीशचंद्र घर लौट आये, पर ऐसे चिंतित थे जैसे कोई आदमी सराय में खुला हुआ संदूक छोड़ कर बाजार चला जाय।

तिलोत्तमा के स्वभाव में अब एक विचित्र रूपांतर हुआ। वह औरों से हँसती-बोलती आराम से खाती-पीती सैर करने जाती, थियेटरों और अन्य सामाजिक सम्मेलनों में शरीक होती। इन अवसरों पर प्रोफेसर दयाराम से भी बड़े प्रेम का व्यवहार करती, उनके आराम का बहुत ध्यान रखती। कोई काम उनकी इच्छा के विरुद्ध न करती। कोई अजनबी आदमी उसे देख कर कह सकता था, गृहिणी हो तो ऐसी हो। दूसरों की दृष्टि में इस दम्पति का जीवन आदर्श था, किन्तु आंतरिक दशा कुछ और ही थी। उनके साथ शयनागार में जाते ही उसका मुख विकृत हो जाता, भौहें तन जातीं, माथे पर बल पड़ जाते, शरीर अग्नि की भाँति जलने लगता, पलकें खुली रह जातीं, नेत्रों से ज्वाला-सी निकलने लगती और उसमें से झुलसती हुई लपटें निकलतीं, मुख पर कालिमा छा जाती और यद्यपि स्वरूप में कोई विशेष अंतर न दिखायी देता; पर न जाने क्यों भ्रम होने लगता, यह कोई नागिन है। कभी-कभी वह फुंकारने भी लगती। इस स्थिति में दयाराम को उसके समीप जाने या उससे कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ती। वे उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध थे, किन्तु इस अवस्था में उन्हें उससे घृणा होती। उसे इसी उन्माद के आवेग में छोड़ कर बाहर निकल आते। डॉक्टरों से सलाह ली, स्वयं इस विषय की कितनी ही किताबों का अध्ययन किया, पर रहस्य कुछ समझ में न आया, उन्हें भौतिक विज्ञान में अपनी अल्पज्ञता स्वीकार करनी पड़ी।

उन्हें अब अपना जीवन असह्य जान पड़ता। अपने दुस्साहस पर पछताते। नाहक इस विपत्ति में अपनी जान फँसायी। उन्हें शंका होने लगी कि अवश्य कोई प्रेत-लीला है। मिथ्यावादी न थे, पर जहाँ बुद्धि और तर्क का कुछ वश नहीं चलता, वहाँ मनुष्य विवश हो कर मिथ्यावादी हो जाता है।

शनैः-शनैः उनकी यह हालत हो गयी कि सदैव तिलोत्तमा से सशंक रहते। उसका उन्माद, विकृत मुखाकृति उनके ध्यान से न उतरते। डर लगता कि कहीं यह मुझे मार न डाले। न जाने कब उन्माद का आवेग हो। यह चिंता हृदय को व्यथित किया करती। हिप्नाटिज्म, विद्युतशक्ति, और कई नये आरोग्य-विधानों की परीक्षा की गयी। उन्हें हिप्नाटिज्म पर बहुत भरोसा था; लेकिन जब यह योग भी निष्फल हो गया तो वे निराश हो गये।

5

एक दिन प्रोफेसर दयाराम किसी वैज्ञानिक सम्मेलन में गए हुए थे। लौटे तो बारह बज गये थे। वर्षा के दिन थे। नौकर-चाकर सो रहे थे। वे तिलोत्तमा के शयनगृह में यह पूछने गये कि मेरा भोजन कहाँ रखा है। अंदर कदम रखा ही था कि तिलोत्तमा के सिरहाने की ओर उन्हें एक अति भीमकाय काला साँप बैठा हुआ दिखायी दिया। प्रो. साहब चुपके से लौट आये। अपने कमरे में जा कर किसी औषधि की एक खुराक पी और पिस्तौल तथा साँगा लेकर फिर तिलोत्तमा के कमरे में पहुँचे। विश्वास हो गया कि यह वही मेरा पुराना

शत्रु है। इतने दिनों में टोह लगाता हुआ यहाँ आ पहुँचा। पर इसे तिलोत्तमा से क्यों इतना स्नेह है। उसके सिरहाने यों बैठा हुआ है मानों कोई रस्सी का टुकड़ा है। यह क्या रहस्य है। उन्होंने साँपों के विषय में बड़ी अद्भुत कथाएँ पढ़ी और सुनी थीं, पर ऐसी कुतूहलजनक घटना का उल्लेख कहीं न देखा था। वे इस भाँति सशस्त्र हो कर फिर कमरे में पहुँचे तो साँप का पता न था। हाँ, तिलोत्तमा के सिर पर भूत सवार हो गया था। वह बैठी हुई आग्नेय नेत्रों से द्वार की ओर ताक रही थी। उसके नयनों से ज्वाला निकल रही थी जिसकी आँच दो गज तक लगती। इस समय उन्माद अतिशय प्रचंड था। दयाराम को देखते ही बिजली की तरह उन पर टूट पड़ी और हाथों से आघात करने के बदले उन्हें दाँतों से काटने की चेष्टा करने लगी। इसके साथ ही अपने दोनों हाथ उनकी गरदन में डाल दिये। दयाराम ने बहुतेरा चाहा; एड़ी-चोटी तक का जोर लगाया कि अपना गला छुड़ा लें, लेकिन तिलोत्तमा का बाहुपाश प्रतिक्षण साँप की केड़ली की भाँति कठोर एवं संकुचित होता जाता था। उधर यह संदेह था कि इसने मुझे काटा तो कदाचित् इसे जान से हाथ धोना पड़े। उन्होंने अभी जो औषधि पी थी, वह सर्प विष से अधिक घातक थी। इस दशा में उन्हें यह शोकमय विचार उत्पन्न हुआ। यह भी कोई जीवन है कि दम्पति का उत्तरदायित्व तो सब सिर पर सवार, पर उसका सुख नाम का नहीं, उलटे रात-दिन जान का खटका। यह क्या माया है। वह साँप कोई प्रेत तो नहीं है जो इसके सिर आकर यह दशा कर दिया करता है। कहते हैं ऐसी अवस्था में रोगी पर जो चोट की जाती है, वह प्रेत पर ही पड़ती है। नीची जातियों में इसके उदाहरण भी देखे हैं। वे इसी हैस-बैस में पड़े हुए थे कि उनका दम घुटने लगा। तिलोत्तमा के हाथ रस्सी के फंदों की भाँति उनकी गरदन को कस रहे थे। वे दीन असहाय भाव से इधर-उधर ताकने लगे। क्योंकर जान बचे, कोई उपाय न सूझ पड़ता था। साँस लेना दुस्तर हो गया, देह शिथिल पड़ गयी, पैर थरथराने लगे। सहसा तिलोत्तमा ने उनके बाँहों की ओर मुँह बढ़ाया। दयाराम काँप उठे। मृत्यु आँखों के सामने नाचने लगी। मन में कहा—यह इस समय मेरी स्त्री नहीं, विषैली भयंकर नागिन है। इसके विष से जान बचनी मुश्किल है। अपनी औषधि पर जो भरोसा था, वह जाता रहा। चूहा उन्मत्त दशा में काट लेता है तो जान के लाले पड़ जाते हैं। भगवान् ? कितना विकराल स्वरूप है ? प्रत्यक्ष नागिन मालूम हो रही है। अब उलटी पड़े या सीधी इस दशा का अंत करना ही पड़ेगा ? उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अब गिरा ही चाहता हूँ। तिलोत्तमा बार-बार साँपों की भाँति फुंकार मार कर जीभ निकाले हुए उनकी ओर झपटती थी। एकाएक वह बड़े कर्कश स्वर से बोली—'मूर्ख? तेरा इतना साहस कि तू इस सुंदरी से प्रेमालिंगन करे।' यह कह कर वह बड़े वेग से काटने को दौड़ी। दयाराम का धैर्य जाता रहा। उन्होंने दाहिना हाथ सीधा किया और तिलोत्तमा की छाती पर पिस्तौल चला दिया। तिलोत्तमा पर कुछ असर न हुआ। उसकी बाँहें और भी कड़ी हो गयीं। आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। दयाराम ने दूसरी गोली दाग दी। यह चोट पूरी पड़ी। तिलोत्तमा का बाहु-बंधन ढीला पड़ गया। एक क्षण में उसके हाथ नीचे को लटक गये, सिर झुक गया और वह भूमि पर गिर पड़ी।

तब वह दृश्य देखने में आया जिसका उदाहरण कदाचित् अलिफलैला और चंद्रकांता में भी न मिले। वहीं पलंग के पास, जमीन पर एक काला, दीर्घकाय सर्प पड़ा तड़प रहा था। उसकी छाती और मुँह से खून की धारा बह रही थी।

दयाराम को अपनी आँखों पर विश्वास न आता था। यह कैसी अद्भुत प्रेत-लीला थी! समस्या क्या है। किससे पूछूँ ? इस तिलस्म को तोड़ने का प्रयत्न करना मेरे जीवन का एक कर्त्तव्य हो गया। उन्होंने साँगे से साँप की देह में एक कोचा मारा और फिर वे उसे लटकाये हुए आँगन में लाये। बिलकुल बेदम हो गया था। उन्होंने उसे अपने कमरे में ले जाकर एक खाली संदूक में बंद कर दिया। उसमें भुस भरवा कर बरामदे में लटकाना चाहते थे। इतना बड़ा गेहुँवन साँप किसी ने न देखा होगा।

तब वे तिलोत्तमा के पास गये। डर के मारे कमरे में कदम रखने की हिम्मत न पड़ती थी। हाँ, इस विचार से कुछ तस्कीन होती थी कि सर्प प्रेत मर गया है तो उसकी जान बच गयी होगी। इस आशा और भय की दशा में वे अंदर गये तो तिलोत्तमा आईने के सामने खड़ी केश सँवार रही थी।

दयाराम को मानों चारों पदार्थ मिल गये। तिलोत्तमा का मुख-कमल खिला हुआ था। उन्होंने कभी उसे इतना प्रफुल्लित न देखा था। उन्हें देखते ही वह उनकी ओर प्रेम से चली और बोली—आज इतनी रात तक कहाँ रहे ?

दयाराम प्रेमोन्मत्त हो कर बोले—एक जलसे में चला गया था। तुम्हारी तबीयत कैसी है ? कहीं दर्द नहीं है ?

तिलोत्तमा ने उनको आश्चर्य से देख कर पूछा—तुम्हें कैसे मालूम हुआ ? मेरी छाती में ऐसा दर्द हो रहा है, जैसे चिलक पड़ गयी हो।

[हिन्दी कहानी। 'प्रेम-पचीसी' (हिन्दी कहानी संग्रह) में प्रथम बार संकलित-प्रकाशित। प्रथम संस्करण : विक्रमी सम्वत् 1980 (1923) ई. 'प्रेमचंद विश्वकोश' भाग-1 के अनुसार दिसम्बर, 1923 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-7 में संकलित।]

●●●